श्री आचार्य महावीरकीर्ति
स्मृति ग्रन्थ

साधूनां दर्शनं पुण्यं,
तीर्थभूताः हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं,
सद्यः साधु - समागमः ॥

आचार्य महावीरकीर्ति ग्रन्थमाला का तीसरा पुष्प

श्री आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ

प्रकाशक :—
प्रबन्धकारिणी समिति
आचार्य महावीरकीर्ति दि० जैन धर्मप्रचारिणी संस्था
अवागढ़ (एटा) उत्तरप्रदेश

सम्पादक-मण्डल

डा० लालबहादुर जैन शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०
पं० वर्धमान पार्श्वनाथ जैन शास्त्री
पं० महेन्द्रकुमार जैन 'महेश' शास्त्री
(प्राचार्य) नरेन्द्रप्रकाश जैन एम० ए०, एल० टी०
पं० धर्मप्रकाश जैन शास्त्री

■

प्रकाशन-तिथि

महावीर जयन्ती : अप्रैल १९७८
श्री वीर निर्वाण सं० २५०४

■

मूल्य

चालीस रुपए

—: मुद्रक :—

कल्पना प्रेस, कासगंज
(प्रथम तीन खण्ड)

सेवा सदन मुद्रणालय, फीरोजाबाद
(अंतिम दो खण्ड तथा आवरण)

Param Pujya Samadhi Samrat 108 Paramparacharya
Parmeshthi Bhagwan Shree Mahaveerkirtiji Maharaj
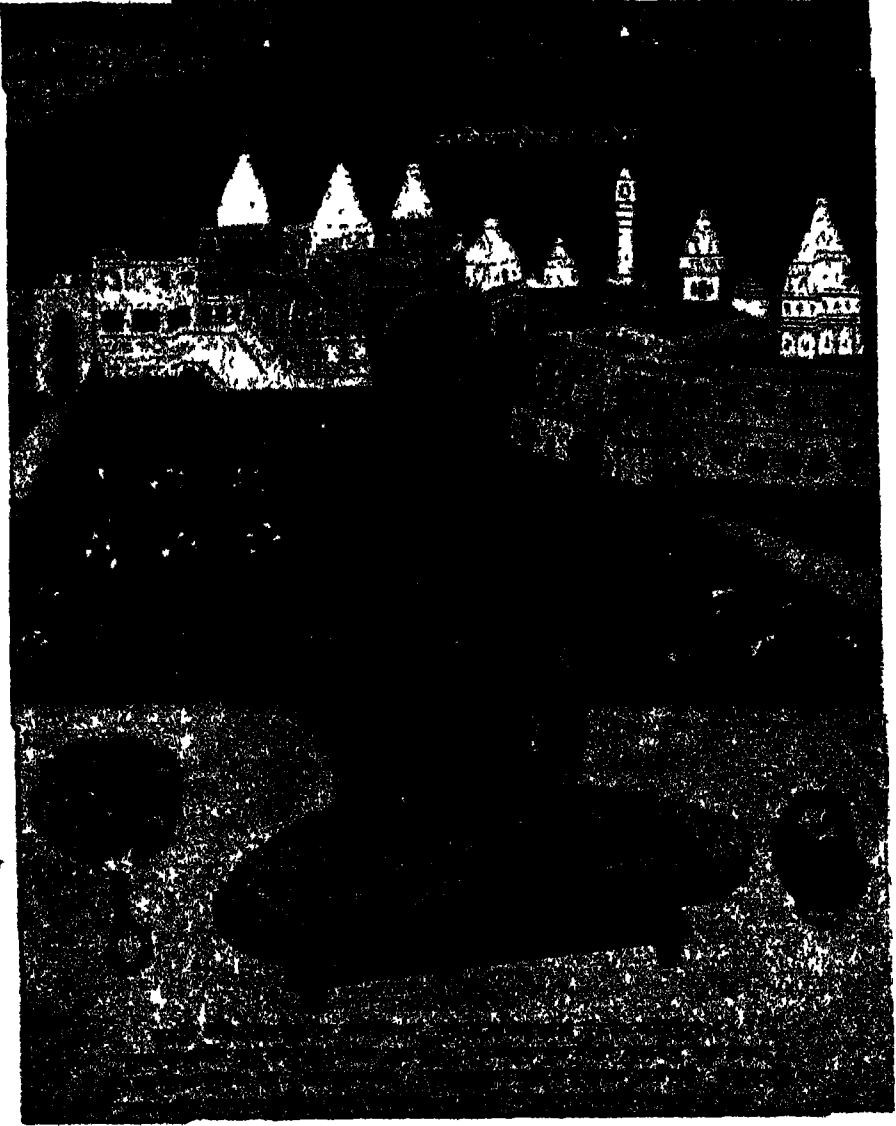
परम पूज्य समाधिसम्राट तीर्थंभक्तशिरोमणि १०८ परम्पराचार्य
परमष्ठीभगवान श्री महावीरकीर्तिजी गुरुमहाराज साहब

प्रकाशकीय

●●

चिरप्रतीक्षित 'आचार्य श्री महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ' अपने प्रिय पाठकों के हाथों में सौंपते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसका प्रकाशन कई वर्ष पूर्व ही अपेक्षित था किन्तु 'श्रेयान्सि बहुविघ्नानि' के अनुसार लगातार कुछ - न - कुछ ऐसा घटता गया, जिसके कारण इस दीर्घ अन्तराल को कम न किया जा सका। पूज्य आचार्यश्री के शिष्य पूरे भारत में बिखरे हुए हैं। उनसे इस ग्रन्थ के लिये लेख, संस्मरण, कविता आदि प्राप्त करना एक श्रमसाध्य कार्य था। बहुतों को तो कई-कई कार्ड लिखने पड़े। यों सामग्री के संचयन में ही काफी वक्त लग गया। फिर यह सोचा गया कि उसका सम्पादन शीर्षस्थ विद्वानों के द्वारा होना चाहिये, ताकि उसकी निर्दोषिता एवं प्रामाणिकता असंदिग्ध रहे। फलतः यह कार्य क्रम-क्रम से व्याख्यान- वाचस्पति श्री पं० वर्धमान पार्श्वनाथजी शास्त्री, शोलापुर एवं सिद्धान्तवेत्ता डा० लालबहादुरजी शास्त्री, दिल्ली को सौंपा गया। दोनों ही समाज के सर्वमान्य, साथ ही व्यस्ततम विद्वान हैं। इससे सम्पूर्ण कलेवर के अवलोकन-संशोधन में समय तो अधिक लगा, परन्तु उसमें विशेष निखार आ गया। मुद्रण की शुद्धता एवं सुविधा की दृष्टि से अनेक रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ नये सिरे से करानी पड़ीं। अतः इतना सब कुछ करने-कराने में प्रकाशन-कार्य का लगातार स्थगित होते रहना स्वभाविक ही था।

पहले इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण आर्थिक भार समाज के ख्यातिलब्ध श्रीमन्त रावसाहब सेठ चाँदमलजी पाण्ड्या ने वहन करने का आश्वासन दिया था, पर हमारे दुर्दैव ने उन्हें हमसे बीच में ही छीन लिया। जब वह जीवित थे, पत्राचार द्वारा इस कार्य की प्रगति के बारे में निरन्तर पूछताछ करते रहते थे। समाज-सेवा धर्म-रक्षा एवं तीर्थ-सम्पोषण के साथ ही साहित्य-संवर्धन में उनकी गहरी रुचि थी।

उनके आकस्मिक निधन से हम हतप्रभ रह गये और इस कारण भी इस ग्रन्थ के आकार ग्रहण करने में विलम्ब हुआ। बाद में अवागढ़ की 'आचार्य महावीरकीर्ति दि० जैन धर्मप्रचारिणी संस्था' ने यह कार्य हाथ में लिया और बड़ी तत्परता से उसे आगे बढ़ाया। आज यह जिस रूप में आपके सामने है, उसके लिये हम संस्था के आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वरूप-निर्धारण से लेकर प्रकाशन की संयोजना तक का सम्पूर्ण श्रेय पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागरजी महाराज को है। वही इसके प्रमुख सूत्रधार एवं प्रेरणा स्रोत रहे हैं। ग्रन्थ में प्रयुक्त विपुल सामग्री एवं चित्रादि का संकलन भी उन्ही के श्रम का प्रतिफल है। उनके अटूट संकल्प एवं वरद हस्त के बिना इस इतने बड़े व्ययसाध्य कार्य का सम्पन्न होना दुर्लभ ही था। ग्रन्थ का अस्तित्व उनकी ही अटूट लगन का परिणाम है, इसमें किंचित्मात्र भी संदेह नहीं है।

श्रीमद् क्षुल्लकजी विश्ववंद्य आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के सुयोग्य एवं प्रबुद्ध शिष्यों में से एक हैं। वह अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी हैं। उनका अधिकांश समय तत्व-चिन्तन, स्वाध्याय एवं धर्म-चर्चा में व्यतीत होता है। नई पीढ़ी को आत्मोपयोगी शिक्षा और संस्कार देने में उनकी विशेष रुचि रही है। जहाँ-जहाँ उनका प्रवास हुआ है, वहाँ-वहाँ उन्होंने शिक्षण-शिविरो के सफल आयोजन किए हैं। उनकी शैली इतनी सरस और रोचक है कि बच्चे स्वतः उस ओर आकर्षित होते हैं। कट्टर आगमभक्त होने पर भी वह प्रगतिशील विचारों के धनी हैं। देश-प्रदेश में धर्म-प्रचार के महान कार्य में वर्तमान वैज्ञानिक साधनों के उपयोग के वह प्रबल पक्षधर हैं। आचार्यश्री के सात्विक विचारों के व्यापक प्रसार में उनका उल्लेख्य एवं महत्वपूर्ण योगदान है।

अपने दीक्षा-गुरू की कीर्ति-रक्षा का विचार उन्हें गत अनेक वर्षों से उद्वेलित करता रहा है। इस ग्रन्थ का निर्माण भी उनकी इसी भावना का परिचायक है। **आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी महाराज इस शताब्दी के महानतम सन्तों में से एक थे। वह सम्यक् चारित्र की साकार प्रतिमा थे। उनके प्रखर एवं निर्दोष तपश्चरण की तुलना सम्भव नहीं है। विद्वत्ता में तो वह अप्रतिम थे ही। सम्पूर्ण भारत उनसे प्रभावित था। ऐसे असाधारण सन्त के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का सर्वाङ्ग चित्रण इसलिए आवश्यक था कि जिससे आगामी पीढ़ियां उनसे प्रेरणा लेकर स्व-पर-कल्याण कर सकें।**

इतिहास का भी यह तकाजा था कि उस उद्भट विद्वान एवं अद्वितीय सन्यासी के प्रति न्याय हो। उनके सम्बन्ध में कुछ ग्रन्थ पहले भी निकले है किन्तु ऐसा बृहद् ग्रन्थ पहली बार ही सामने आया है। क्षुल्लकजी निश्चय ही इसके लिए धन्यवादार्ह हैं।

जिस संस्था की ओर से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है, उसकी स्थापना भी पूज्य क्षुल्लकजी महाराज के द्वारा ही हुई है। अपनी अनुपम और आकर्षक कार्य-पद्धति से इस संस्था ने अल्पावधि में ही अखिल भारतीय स्तर की ख्याति अर्जित कर ली है। अवागढ़ (जिला एटा, उ० प्र०) में उसका अपना भव्य भवन है, उसके पास प्रचार के आधुनिकतर साधन हैं तथा समाज के विशिष्ट विद्वानों व श्रीमन्तों का सहयोग-सम्बल उसे प्राप्त है। धर्म-प्रचार, साहित्य-प्रकाशन, शिक्षण-प्रशिक्षण, विद्वत-सत्कार, दया-दान आदि के जो कार्य उसके माध्यम से हुए और हो रहे हैं, वे स्तुत्य और अनुकरणीय हैं। संस्था का अपना संविधान है। किसी भी प्रकार की अनियमितता के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। सब कुछ सुविचारित और सुसंगठित है। एक आदर्श संस्था के रूप में उसका नामोल्लेख गर्व एवं गौरव के साथ किया जा सकता है। इस बृहदाकार ग्रन्थ के प्रणयन-प्रकाशन द्वारा उसने अपनी निर्मल कीर्ति में चार चाँद ही लगाये हैं।

इस स्मृति ग्रन्थ की योजना को साकार रूप देने में जिन-जिनका योगदान रहा है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना मात्र औपचारिकता ही होगा। उस सहयोग का महत्व आभार से बहुत अधिक है। जिन विद्वज्जनों की रचनाओं से यह ग्रन्थ समृद्ध हुआ है, उनके प्रति कृतज्ञता क्या शब्दों में व्यक्त की जा सकती है! इसी प्रकार अर्थ और श्रम का सहकार देने वालों के प्रति अपने हृदय की विनयाञ्जलि अर्पित करने के लिए क्या कोई भाषा सक्षम है! ऐसे सभी लोग सहृदय और संवेदनशील हैं, बिना कहे-लिखे ही वे समझ लेंगे कि उनके प्रति हमारे हृदय में क्या है।

बहुत प्रतीक्षा के बाद जो प्रसाद मिलता है, वह अधिक स्वादिष्ट लगता है। आशा है, यह ग्रन्थ भी आपको पसन्द आयेगा। कैसा है, इसका निर्णय सुधी पाठक ही करेंगे। अपने कर्तव्य का पालन कर सके, हमें तो बस इतना ही सन्तोष है। विज्ञेषु किमधिकम्?

— [signature]

१०४—नईबस्ती,
फीरोजाबाद

एम० ए०, एल० टी०
प्रचार मंत्री

श्री आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन हेतु सहायता देने वालों की सूची

५००)०० सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी झाऊगंज, पटनासिटी
२६१)०० श्री दि० जैन समाज मलावन, (एटा)
१११)०० ,, डा० नेमीचन्द्र जैन जलेसर (एटा)
१११)०० ,, सेठानी ज्ञानमाला जैन जलेसर (एटा)
१११)०० ,, भंवरलालजी जैन कलकत्ता—७
१११)०० ,, हरचरणलाल सतीशचन्द जैन राजपुर (एटा)
१११)०० ,, स्व० राजेन्द्रकुमार जैन की स्मृति में राजपुर (एटा)
१११)०० ,, सेठ पूरनचन्द कैलाशचन्द जैन आगरा (उ० प्र०)
१११)०० ,, ध० प० स्व० लाला गुलजारीलाल जैन अवागढ (एटा)
१११)०० ,, मूलचन्द हरेशचन्द जैन आगरा (उ० प्र०)
१११)०० ,, श्योप्रसाद धन्यकुमार जैन बजाज अवागढ
१११)०० ,, श्रीनिवास जयचन्द जैन बजाज अवागढ
१११)०० ,, प्रेमचन्द्र जैन कैमिस्ट अवागढ़
१११)०० ,, धर्मप्रकाश जैन शास्त्री अवागढ़
१११)०० ,, सेठ रज्जूलाल बाबूलालजी जैन आगरा
१११)०० श्रीमती ध० प० सेठ पूरनचन्दजी जैन आगरा

प्रस्तावना

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी की स्मृति में उनका यह स्मृति ग्रन्थ पाठकों के हाथ मे पहुँचाते हुये मुझे प्रसन्नता हो रही है। आचार्य महाराज लगभग पचास वर्ष पहले मेरे बाल सहाध्यायी थे। तब यह कल्पना भी नहीं थी कि हममें से एक अपने समय के प्रखर प्रभावशाली महान् दिगम्बर जैनाचार्य का उत्तरदायित्व निभाएंगे और दूसरा उनके इस महान उत्तरदायित्व को स्मृति ग्रन्थ के रूप में निबद्ध कर जनमानस तक पहुँचायेगा। इसे जन्मान्तर के संस्कारों का फल ही कहा जा सकता है।

दिगम्बर मुनियों की परम्परा इस देश में प्राचीनकाल से है। हिन्दू परम्परा में जिन चार प्रकार के मुनियों का उल्लेख मिलता है-कुटिचक, महोदक, हंस, परमहंस-उनमें परमहंस साधु नग्न ही रहा करते थे। एक समय था जब इन परमहंस साधुओं का बाहुल्य था। धीरे २ जैसे २ समय निकृष्ट आता गया वैसे २ परमहंस साधुओं मे कमी आती गई और परमहंस साधु सर्वथा विरल हो गये। फिर भी जैनों मे इन साधुओं की परम्परा आज भी मौजूद है। योग वाशिष्ठ अध्याय १५ श्लोक ८ में जहां रामचन्द्रजी के वैराग्य का प्रकरण है वहा रामचन्द्रजी कहते हैं :—

नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनोयथा॥

मैं राम नही हूं, मेरी कोई वाञ्छा नहीं है, न किसी पदार्थ को मैं चाहता हूँ, मैं तो भगवान जिन की तरह अपनी आत्मा में ही शांति का इच्छुक हूँ।

दिगम्बर जैन साधु भी किसी प्रकार की कोई अभिलाषा नही रखता, न उसका बाह्य वस्तु में कोई लगाव है। वह स्वयं जिन का अनुयायी है। अतः जिन की तरह ही आध्यात्मिक शांति चाहता है। इससे स्पष्ट है कि योगवाशिष्ठ में रामचन्द्रजी जैन साधु (परमहंस) बनने के लिये लालायित हैं।

भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक ग्रंथ मे पाणितलभोजी दिगम्बर बनने की अभिलाषा प्रकट की है। वे लिखते हैं:-

एकाकी निस्पृहः शान्तः, कर्म निर्मूलनेक्षमः।
कदाहं सम्भविष्यामि, पाणिपात्रो दिगम्बरः॥

अकेला, निस्पृह, शान्त, कर्मों को नष्ट करने में समर्थ, पाणितलभोजी दिगम्बर मैं कब होऊंगा।

इस तरह हम देखते है कि प्राचीन भारतीय दर्शन ने दिगम्बरत्व को बड़ा सम्मान दिया है। ये दिगम्बर साधु श्रमण कहलाते थे। जैसा कि 'श्रमणावातवसना' कहकर उल्लेख किया गया है। रामायण बालकांड सर्ग १४ श्लोक २२ में श्रमणों का उल्लेख किया गया है-*"तापसा भुञ्जते-चापि श्रमणा भुजते तथा"* अर्थात् राजा जनक के घर तापस एवं श्रमण भी आहार करते थे। 'श्रमण' शब्द का अर्थ वही टीका में दिगम्बर लिखा है और दिगम्बर वे होने हैं जो वस्त्रादि रहित सर्वथा नग्न रहते है।

अतः साधुओं की प्राचीन परम्परा दैगम्बरी रही है जिसके प्रतीक स्वरूप आज भी जैनों में दिगम्बर जैन मुनि विचरण कर रहे है।

उन्ही दिगम्बर जैन साधुओ की परम्परा मे आचार्य महावीरकीर्तिजी थे। उनका त्याग तपश्चरण अद्भुत था। वे जिनकल्पी साधु नही थे, क्योंकि वे वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी नहीं थे। फिर भी उनकी तपस्या जिनकल्पी साधु से कम नहीं थी। कृश शरीर होते हुये भी जो कठोर तपश्चरण पू० आचार्य महाराज करते थे, वह आज के युग में अन्यत्र असम्भव है। धूप और वर्षा में घंटों खड़े रह कर ध्यान करना, पहाड़ों की चोटी पर यथासम्भव पहुँच जाना, मौन साधना में ही समय का काफी विस्तार व्यतीत करना आज के साधुओं में उन्हीं के वश की बात थी। व्यक्ति की धनाढ्यता उन्हें प्रभावित नही करती थी। व्यक्ति का पांडित्य उन्हें हतप्रभ नही कर सकता था। व्यक्ति के अनाचार और

कुत्सित आचरण के लिये उनमें कोई गुंजाइश नहीं थी। उनके हृदय उनकी वाणी और उनके कर्म में कोई अन्तर नहीं था। व्यक्ति द्वारा की गई खुशामद से परे किन्तु यथार्थता के अत्यंत नजदीक थे।

'आगमचक्खू साहू' के वह मूर्तिमान प्रतीक थे। सामान्य साधुओं का वचन अर्थ का अनुधावन करता है, किन्तु आचार्यश्री के वचनों का अर्थ अनुधावन करता था। उनकी अनेक भविष्यवाणियों ने जनता को प्रभावित किया था। इस प्रकार आचार्य महावीरकीर्तिजी में जो असाधारणता थी उसी ने जैन समाज को उनके इस स्मृतिग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा दी। फलस्वरूप यह पाठकों के हाथ में है।

आचार्य महावीरकीर्ति परमपूज्य आचार्य शांतिसागरजी की ही परम्परा में थे। वे भले ही उनके पट्टधर शिष्यों में नहीं थे, पर पट्टधर शिष्यों द्वारा जो धार्मिक समाज का उपकार हुआ उसमें आचार्य महावीरकीर्तिजी का हिस्सा भी कम नहीं है। उन्होंने आचार-विचार की वही परम्परा डाली जिसका वपन परम पूज्य शांतिसागरजी महाराज ने किया था। यज्ञोपवीत की अनिवार्यता को उन्होंने बल दिया। शुद्ध खान-पान को ही उन्होंने प्रोत्साहन दिया। सज्जातित्व के विनाश के खतरे से सदा जनता और व्यक्ति को सावधान किया। देव-पूजा आदि षट्कर्मों की प्रवृत्ति के लिये सदा गृहस्थों को प्रेरणा दी। इसके अतिरिक्त चतुर्विध संघ में अनुशासन बनाये रखने के लिये उन्होंने सदा अपने प्रभाव का सदुपयोग किया। आराधना-सार में आचार्य के अवपीडक गुण का उल्लेख है जिसका आशय यह है कि आचार्य का संघ पर इतना कठोर अनुशासन होना चाहिये जिससे संघ का कोई साधु आचार्य के समक्ष अपने दोषों को उसी तरह उगल दे जिस प्रकार सिंह के भय से दूसरे हिंसक जीव अपना भोजन उगल देते हैं। कहना न होगा यह अवपीड़क गुण आचार्य महावीरकीर्ति में विलक्षण था। संघ का प्रत्येक साधु उनके नियन्त्रण में अनुशासनबद्ध होकर अपनी चर्या का पालन करता था। यों भी आचार्य महावीरकीर्ति जब गृहस्थी में महेन्द्रकुमार थे, तब भी अपने नाम के साथ अपना उपनाम 'सिंह' जोड़ते थे। कौन जानता है कि प्रतिदिन उन्हें महेन्द्रकुमार 'सिंह' पुकारे जाने से संस्कार वश मुनि अवस्था में उनकी वृत्ति सिंहवृत्ति बन गई हो, क्योंकि आगम का उल्लेख है कि दिगम्बर जैन साधु की वृत्ति सिंह वृत्ति होती है। अपनी उसी सिंहवृत्ति के कारण वे आदर्श यथार्थवादी साधु थे। स्पष्टवादिता उनकी रग-रग में थी और इसके लिये वे बड़े से बड़े व्यक्ति के सामने यथार्थ कहने से नहीं हिचकिचाते थे। हमने अपने जीवन में यह अवपीडक गुण या तो परमपूज्य मुनि चन्द्रसागरजी में देखा था या फिर महावीरकीर्तिजी में देखा। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे संघों में अनुशासन नहीं रहता था या नहीं रहता है। संघ प्रायः सभी अनुशासनबद्ध हैं पर उक्त दोनों साधुओं में इसकी विशेषता थी।

आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज परम पूज्य आचार्य वीरसागरजी महाराज से दीक्षित थे। यह भी संयोग की ही बात है कि आचार्य शांतिसागरजी से दीक्षित होकर उनके शिष्य वीरसागर बन गये और वीरसागरजी से दीक्षित होकर उनके शिष्य महावीरकीर्ति बन गये। इन वीर और महावीर साधुओं ने अतिवीर तीर्थङ्कर के शासन की जो ध्वजा फहराई वह जैन इतिहास (१२वीं शताब्दी के बाद) में एक अभूतपूर्व मिसाल है। पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि जहाँ आचार्य शांति-सागरजी का स्मृति ग्रन्थ बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुका है वहाँ आचार्य महावीरकीर्ति का यह स्मृति ग्रन्थ पाठकों के हाथ में पहुँच गया है और आचार्य वीरसागरजी स्मृति ग्रन्थ बहुत शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है। ये तीनों ही ग्रन्थ रत्नत्रय की तरह सदा पाठकों को आध्यात्मिक प्रेरणा देते रहेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

■ ■

प्रस्तुत ग्रन्थ ५ खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में श्रद्धांजलि एवं संस्मरण हैं। आचार्यश्री को उनके जीवन में न जाने कितने भक्तों ने श्रद्धा की आँखों से देखा है, न जाने कितनों ने उनकी पूजा की है, न जाने कितनों ने

उन्हें सुना है, उन सबको एकत्र करना कठिन ही नहीं असंभव था। अतः कुछ चुनिंदा व्यक्तियों की भावभीनी श्रद्धांजलियां ही इसमें संकलित की जा सकी हैं। उन सब श्रद्धांजलियों को पढ़कर पाठको को उनके उस गम्भीर व्यक्तित्व के दर्शन होंगे।

इन श्रद्धाञ्जलियों में उत्तर से लेकर दक्षिण तक के श्रद्धालुओं की श्रद्धाञ्जलियों संगृहीत की गई हैं। इन श्रद्धाञ्जलियों से लगता है जैसे भक्तों ने अपना हृदय ही आचार्य श्री के चरणों में उड़ेल दिया है और सहसा शांति-पाठ के उस मर्मस्पर्शी श्लोक की याद आती है जिसमें लिखा है 'मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्' अर्थात् मेरा हृदय भगवन्! तुम्हारे दोनों चरणों में लीन रहे। भक्ति का प्रगाढ़ रूप आत्म समर्पण है। उसमें मनुष्य अपना सब कुछ भूल जाता है और अपने आराध्य में ही स्वयं के अस्तित्व से उसे तृप्ति होती है। पूज्य आचार्य महाराज के प्रति श्रद्धाजलियां के इसी प्रकार के भावोद्गार प्रकट किये गये है। इस खण्ड मे छोटी बड़ी कुल मिलाकर सौ से अधिक श्रद्धाञ्जलियाँ संगृहीत की गई है, जो सभी श्रद्धा की उफनती हुई नदियां है, जिसे देखकर आँखे तृप्त होती हैं।

इसी तरह संस्मरणों की शृङ्खला भी संकलित की गई है जिसका संबंध उनके बाल्यकाल से लेकर आचार्य पद के अंत समय तक के जीवन से है। इन संस्मरणों में आचार्य महाराज के द्वारा भविष्य-कथनों की दिव्य झांकियां प्रदर्शित की गई है। उनके कठोर तपश्चरणों का उल्लेख किया गया है। उनके भाषण एवं प्रवचनो के रोचक वर्णन है। समय २ पर उनके मुख से निकली हुई विविध सूक्तियो का सकलन है। उनके चातुर्मास कितने कहां हुये, उनका वर्णन है तथा उन चातुर्मासों से संबंधित उनके संस्मरण भी हैं। श्रद्धालुओं ने अपने व्यक्तिगत संबंधों को लेकर भी कुछ संस्मरण प्रस्तुत किये है। कुछ संस्मरण घटनाओं से सम्बन्धित है।

महाराज के पास तरह तरह के लोग आते थे। कोई अपनी असहायता और अभावों को लेकर आता था और महाराज के समक्ष रोता था तो महाराज उनकी असहायता-अभावों को मिटाकर उसकी सहायता करते थे। कुछ लोगो को यह समझाकर कहते थे भाई तुम्हारा कोई नहीं है और देखो हमारा भी कोई नहीं है, तुम्हारे पास कुछ नही है और हमारे पास भी कुछ नही है लेकिन हम दुःखी नहीं है तो तुम क्यो दुःखी होते हो। जहां तुम्हें यह भान है कि तुम्हारा कोई नही है, वहां तुम्हें यह भी भान होना चाहिये कि तुम भी किसी के नहीं हो। महाराज के यह युक्तियुत सारगर्भित वचन सुनकर दुखियों में आत्म बल जागृत होता था और इस प्रकार से उनके दुःख का बोझ हल्का होता था। संस्मरणों मे इस प्रकार की अनेक घटनाओ का वर्णन है जो हृदय को स्पर्श करती हैं साथ ही आचार्य महाराज के प्रभुत्व को सूचित करती है।

अनेक प्रमुख जैन कवियों, आर्यिकाओं एवं विद्वानों ने संस्कृत और हिन्दी में अपनी पद्यबद्ध विनयाञ्जलियाँ भी प्रस्तुत की है। उनमें उनकी भक्ति-भावना का प्राधान्य है तथा सभी कवितायें ओज और प्रसाद गुण से युक्त है।

■ ■

दूसरा खण्ड महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व से संबंधित है। जिन्होंने आचार्य महाराज को निकट से देखा है वे जानते है कि आचार्य महाराज अपना असाधारण व्यक्तित्व साथ ही लेकर जन्मे थे। विद्यार्थीकाल मे भी वे असाधारण व्यक्ति बनकर ही रहे, पंडिताई के समय भी उनका असाधारण व्यक्तित्व रहा और जब साधु अवस्था में आये तब भी उनकी असाधारण साधुता के सबने दर्शन किये। विभिन्न व्यक्तियों की दृष्टि से उनका यह व्यक्तित्व इस स्मृति ग्रन्थ में संकलित किया गया है, जिसे पढ़कर पाठक आचार्यश्री की परोक्षता को भी प्रत्यक्ष कर सकेंगे।

आचार्य महाराज के वंश वृक्ष के दिग्दर्शन के साथ २ ग्रन्थ में उनका प्रामाणिक इतिवृत्त भी दिया गया है। उनकी धार्मिक शिक्षा के विषय मे एक लेख मे बताया गया है कि वे धार्मिक अध्ययन के लिये मोरेना में प्रविष्ट हुये और वहा से मैट्रिक परीक्षा पास की, पर यह भूल भ्रम मे लिखा

गया है। आचार्य महाराज का विद्यार्थीकाल ब्यावर दि० जैन महाविद्यालय महासभा एवं इन्दौर के सर हुकमचन्द महाविद्यालय, से ही संबंधित रहा है।

आचार्यश्री का विहार और उनके वर्षायोग का भी इस ग्रन्थ में सुन्दर विवेचन है और सबसे बड़ा रोमाञ्चक वर्णन उनपर आये हुये उपसर्गों का है। बावनगजा तीर्थ में मधुमक्खियो का उपसर्ग, बीकानेर में किसी बदमाश द्वारा उनपर लाठी प्रहार, पुरुलिया के समीप शराबी गुण्डों द्वारा भीषण गुण्डागर्दी, सम्मेद शिखर पर भाले की नोंक के भीषण आतङ्क में शीतरात्रि का कालक्षेप, सर्पदंश के भयानक उपद्रव में भी अखंड स्थिरता इत्यादि ऐतिहासिक प्रसङ्गों का वर्णन इस ग्रन्थ में बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। हमारी समझ में आज के अन्य साधुओं पर भी उपसर्ग तो हुये होंगे पर आचार्य महावीरकीर्ति की यह उपसर्गों की परम्परा अद्भुत है और उन सभी उपसर्गों मे आध्यात्मिक बल से उन्होंने जो विजय प्राप्त की वह अपने आप मे उससे भी अधिक अद्भुत है।

तपश्चर्या और इन उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने से महाराज का अध्यात्म बल इतना अधिक बढ़ गया कि उसके प्रभाव से उनमें अनेक चमत्कारिक सिद्धियाँ उत्पन्न हो गईं। इन चमत्कारिक सिद्धियों के कारण नैपाल की महारानी सुश्री लक्ष्मीदेवी उनकी भक्त बन गई और उन्होंने जैन धर्म धारण कर लिया।

सम्मेद शिखर के कुएं का पानी दूषित तो था ही, साथ ही कम भी बहुत था। आचार्य ने अपने कमण्डलु के जल को मंत्रित करके डाला तो पानी न केवल शुद्ध हो गया, प्रत्युत वह इतना अधिक हो गया कि आज तक उस पानी में कोई कमी नहीं आई है।

एक बार आपने पक्षियों की विभिन्न बोलियों को लेकर आगामी वर्षा की भविष्यवाणी की और सचमुच १५ मिनट बाद पौन घण्टे तक अच्छी खासी वर्षा हुई। इस तरह की लगभग २०-२५ घटनाएँ हैं, जिनका उनके अध्यात्मबल से संबन्ध था। यह अध्यात्मबल हर मनुष्य प्राणी प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि वह आत्मा की शक्ति को विकरण से बचावे। आत्मा की शक्ति का विकरण मन-वचनकाय की चेष्टाओं से होता है। जो जितनी अधिक मनवचनकाय की चञ्चलता रखता है, वह आत्मा की दृष्टि से उतना ही कमजोर रहता है। उसका फल यह होता है कि उसकी स्मृतिशक्ति अत्यधिक कमजोर हो जाती है, हृदय कमजोर होने लगता है। मुनि इसीलिये मौन साधना करते हैं, चित्त निरोध करते हैं, तीन गुप्तियों का पालन इसी दृष्टि से होता है कि आत्मा सबल हो। अनेक ऋद्धियों का प्राप्त हो जाना यह उसी सबलता का प्रमाण है। सब जानते हैं कि आचार्य महावीरकीर्ति कठोर तपस्वी थे। आत्मा की शक्ति को विकरण से बचाने के लिये वे बाह्य साधना के रूप में प्राय. तीर्थों पर चौमासा करते थे और अन्तरङ्ग साधना के लिये वे पहाड़ पर आहार के बाद चले जाते थे और घंटों आत्म साधना में लीन रह कर लगभग ३-४ बजे नीचे उतरते थे। इस तरह वे वास्तविक चित्त निरोध करते थे। यही कारण था कि आचार्य श्री मे मांत्रिक शक्ति भी पर्याप्त थी और उस मंत्र बल से वे न केवल भविष्य कथन भी करते थे अपितु असाध्य रोग तथा दैवी प्रकोप को जनता के हित मे शांत करते थे। कुछ लोगों का कहना रहता है कि मुनियों को मंत्रतंत्र का प्रयोग नही करना चाहिये। यह ठीक है पर इसका निषेध स्वार्थ-सिद्धि (अपनी पूजा प्रतिष्ठा या आर्थिक दृष्टिकोण) के लिए है। जहां तक किसी जीव की घोर विपत्ति से उद्धार करने की बात है, वहां मुनि चाहे तो उसका प्रयोग कर सकता है। आ० मानतुंग, विष्णुकुमार मुनि आदि के उदाहरण किये जा सकते है। आचार्य महावीरकीर्ति अपने आप में अत्यन्त निरीह एवं उत्कृष्ट आकिंचन व्रत के धारी थे, यहां प्रलोभन या स्वार्थ का कोई प्रश्न ही नही उठता। आचार्य महाराज की शरण में अनेक लोग दूर २ से आते थे। वे मनुष्य के आगमन का प्रयोजन भी जान जाते थे और कभी अपने आप ही (प्रश्न करने से पहले) उसे उसकी वेदना और उसके प्रतीकार का उपाय बता दिया करते थे। आप जिन यन्त्रों का एवं औषधियों का प्रयोग

कर किसी धार्मिक व्यक्ति का हित करते थे वे सब प्रयोग इस ग्रन्थ में भी संकलित किये हैं।

महाराज से दीक्षित शिष्यों की गणना लगभग पचास-साठ की होगी। उनमें कई आचार्य हैं, कई साधु हैं, अनेक आर्यिकायें हैं, क्षुल्लक-ऐलक भी बहुत हैं तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी महिलाएँ भी हैं। इन श्रावक त्यागियों में महाराज के स्वर्गवास के बाद अनेकों ने मुनि दीक्षा ले ली है। अन्त में उनके समाधिमरण का इतिहास भी दिया गया है। इस प्रकार महाराज के व्यक्तित्व को इतिहास और धर्म दोनों दृष्टिकोणों से स्मृतिग्रन्थ में चर्चित किया गया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आचार्य श्री के जहां-जहां स्मारक बने हैं, उसकी चर्चा भी इस ग्रन्थ में की गई है। संक्षेप में ऐसी कोई बात छोड़ी नहीं है जो आचार्य महावीरकीर्ति के व्यक्तित्व का समर्थन करते है। उनके व्यक्तित्व से उनकी लोकोत्तरता का भान हुये बिना नहीं रहता।

महाराज का व्यक्तित्व लोगों की दृष्टि के अनुसार जैसा कुछ वर्णन किया गया है उसका समर्थन ज्योतिष शास्त्र से भी मिलता है। ज्योतिष के अनुसार उनकी ग्रह कुण्डली, ग्रहों का फल, दशाक्रम के आधार से फल का विवेचन दिया गया है। इन ग्रहों के फल से उनके जीवन की सभी घटनाएँ यथाक्रम से आती जाती हैं। अतः ज्योतिष शास्त्र पर विश्वास करने वालों को भी आचार्य श्री के व्यक्तित्व से परितुष्टि होगी।

■■

तृतीय खण्ड में प्रायः सैद्धान्तिक लेखों का ही संग्रह किया गया है। इसमें समस्त जैनधर्म का मूलाधार स्याद्वाद है। उस पर आर्यिका रत्न महाविदुषी आर्यिका माता पूज्य ज्ञानमतीजी का सुन्दर लेख है। इसमें स्याद्वाद पर होने वाले विभिन्न मत-मतान्तरों के आक्षेपों का शास्त्र सम्मत सुन्दर समाधान किया गया है। माताजी ने जहां अनेक गंभीर शास्त्रों की टीका लिखी है वहीं कुछ स्वतंत्र रचनाएँ भी की हैं। अष्टसहस्री जैसे कष्टसहस्री ग्रन्थ की विशद टीका लिखकर आपने जैन वाङ्मय की अभूतपूर्व प्रभावना की है। अपने उसी गम्भीर ज्ञान के आधार पर लिखा गया 'स्याद्वाद' लेख जहां ग्रन्थ के अनुरूप है वही पाठकों की बुद्धि को भी विशद करता है।

दूसरा लेख पूज्य आर्यिका माता सुपार्श्वमतीजी का है। सुपार्श्वमतीजी अत्यन्त मेधाविनी एवं प्रखर वक्ता हैं। आगम ज्ञान में कहीं स्खलन नहीं है। आपका लेख है 'नरस्य सारं किल व्रतधारणम्' अर्थात् 'मनुष्य जन्म का सार व्रत धारण करना है।' माताजी का यह लेख सम्यक् चारित्र की आवश्यकता पर है। उन्होंने चारित्र-परिपालन को ही मनुष्य जन्म का सार कहा है, जो वास्तविकता के अनुकूल है। मात्र ज्ञान से ही परितुष्ट रहने वाले व्यक्ति अपने आपको धोका देते हैं। ज्ञान का फल चारित्र धारण करना है। यदि वह धारण नहीं किया जाता तो ज्ञान निष्फल है। लेख में अनेक आगम प्रकरण और सूक्तियों का सङ्कलन है और उनके आधार पर अपने लेख्य विषय को स्पष्ट किया गया है। एक सूक्ति देखिये :—

श्रुताय येषां न शरीरवृद्धिः श्रुतं चरित्राय च येषु नैव।
तेषां बलित्वं ननु पूर्व कर्म व्यापार भारोद्वहनाय मन्ये॥

—यशस्तिलकचंम्पू

अर्थात् जिनका जीवन श्रुतज्ञान के लिये नहीं है और श्रुतज्ञान चारित्र के लिये नहीं है उनका बलवान बने रहना पूर्व कर्म के व्यापार-भार को ढोने के लिये ही है। कैसा सुन्दर विवेचन है। इसी को गागर में सागर कहते हैं।

तीसरा लेख "निश्चय व्यवहार धर्म एवं निश्चय व्यवहार नय" है। यह पं० महेन्द्रकुमारजी 'महेश' ऋषभदेव का लिखा हुआ है। लेख में दोनों नयों और दोनों धर्मों की उपयोगिता बताई गई है। साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि निश्चय धर्म साध्य है और व्यवहार धर्म उसका साधन है और जहां तक निश्चय नय व्यवहार नय का प्रश्न है, ये दोनों नय भी वस्तु की भेदाभेदात्मक स्थिति को समझने तक हैं। स्थिति समझ लेने के बाद

दोनों नयों का विकल्प छोड़कर मुमुक्षु आत्मा को मध्यस्थ हो जाना चाहिये। ग्रन्थ में अपने समर्थन के लिये महेशजी ने पर्याप्त आगम प्रमाणों को उद्धृत किया है। लेख संग्राह्य है। उसे हृदयङ्गम करने पर आज के निश्चय व्यवहार का विवाद शान्त हो सकता है।

चौथा लेख पं० हेमचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० अजमेर का है। इसमे द्रव्यलिंग एवं भावलिंग का विवेचन है। कार्य की सिद्धि मे द्रव्य और भाव दोनों की ही आवश्यकता होती है। मात्र द्रव्यलिंग कार्यकारी नहीं है और न केवल भावलिङ्ग कार्यकारी है। मोक्षाभिलाषी को दोनों ही लिङ्ग धारण करने पड़ते है। यह बात दूसरी है कि एकान्त द्रव्यलिंग को स्वीकार करने वालों के सामने भावलिङ्ग पर जोर दिया जाता है और एकान्तः भावलिङ्ग को स्वीकार करने वालों के लिये द्रव्यलिङ्ग पर जोर दिया जाता है। विद्वान लेखक ने यथास्थान दोनों ही द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग को शास्त्राधार से आवश्यक बताया है। इस संबंध मे अनेको प्रमाण उपस्थित किये है। आगे चलकर द्रव्यलिङ्ग और भावलिंग की पहचान को लेकर लिखा है—भाव क्षण-क्षण मे परिवर्तनीय हैं। अतः किस समय साधु के क्या भाव हैं, इसे कौन जान सकता है। केवल द्रव्यलिङ्ग स्थायी है। अतः उसे ही देखकर नमस्कार आदि किया जा सकता है। यह ठीक है कि सम्यग्दर्शन के साथ ही भावलिङ्ग की व्यवस्था है पर सम्यकत्व की अन्तरङ्गतः पहचान करना अत्यन्त कठिन है। अतः चाहे जिसको द्रव्यलिङ्गी मान लेना मनगढ़न्त हो सकता है, शास्त्रसम्मत नहीं। लेखक का निष्कर्ष है कि भगवान जिनेन्द्र में भक्ति ही सम्यग्दर्शन है क्योंकि जिनेन्द्र भक्ति मे ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है।

पांचवां लेख 'भगवान महावीर की सर्वज्ञता' को लेकर डा० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री एम० ए० पी एच० डी० का है। इसमें सर्वज्ञ शब्द की विवेचना करते हुये सर्वज्ञता की सिद्धि युक्ति और प्रमाण से की गई है। साथ ही महावीर की सर्वज्ञता के प्रमाण भी उपस्थित किये हैं। प्राचीन काल में सर्वज्ञता को लेकर मीमांसक ने सर्वज्ञ मानने वालों पर अच्छे खासे तार्किक प्रहार किये थे। उनका जवाब यथास्थान जैनाचार्यों ने दिया है। उसी का अपने ढंग से सुन्दर सङ्कलन कर डा० शास्त्री ने तर्कशास्त्र से अनभिज्ञ जिज्ञासुओं को अच्छी दिशा दी है।

छठा लेख श्री रामसिंहजी जैन एम. ए; एल. टी. आगरा का है। लेख का विषय है 'निश्चय-व्यवहार'। लेख में निश्चय व्यवहार का स्वरूप बताते हुये दोनों को वस्तु सिद्धि में उपयोगी बताया है। शास्त्रों में स्थान स्थान पर व्यवहार को निश्चय का साधक तथा शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का साधक बताया है। इस संबंध में अनेकों आर्ष प्रमाणों को उपस्थित किया गया है। लेख पाठनीय हैं।

सातवां लेख प्रेमसागर जैन दिल्लीका है। इसमे लोक कल्याण के लिये अहिंसा की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। भागवत आदि ग्रन्थों मे अहिंसा की आवश्यकता को सिद्ध किया है।

आठवां लेख "उपचरित कथन मे शास्त्रीय दृष्टिकोण" श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना का है। इसमें वचन के प्रकार और उनके अभिधेय पदार्थों का विवरण देते हुये अभिधेय पदार्थों का मुख्य और उपचरित रूप में विश्लेषण किया गया है। साथ ही लक्ष्य और व्यंग्य रूप शब्द शक्तियों का प्रतिपादन किया गया है। इसी आधार पर विद्वान लेखक ने कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि सुन्दर और सापेक्ष कथन प्रस्तुत किया है। इस सापेक्ष कथन से ही यह सिद्ध होता है कि मिट्टी द्वारा घट के कर्तृत्व मे कुम्भकार निश्चित सहायक है, अतः उसे भी कर्ता कहा जाता हो तो उसी का नाम उपचार है। ऐसा नहीं है कि वहां कुम्भकार कुछ नहीं करने से अकिंचित्कर है। लेख विस्तृत है, साथही अनेक शास्त्रीय रहस्यों से भरपूर है। २१ दिन के शास्त्री सोनगढ़ी पंडित इस लेख के समझने की क्षमता ही नहीं रखते। अतः उनसे इस लेख के हृदयङ्गम करने की आशा करना व्यर्थ है। हां, जो क्रमशः अध्ययन करके विद्वान बने हैं उन्हें इस लेख का अवश्य मनन करना चाहिये।

नवां लेख डा० ज्योतिप्रसादजी जैन लखनऊ का है। इसमें सुंदर ढंग से श्रावक के प्राथमिक गुणों का विवेचन किया है। आठ मूलगुणों का तथा सप्त व्यसन के त्याग का विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों से निर्णय किया गया है। शेष लेख हैं— जैन धर्म की महत्ता, विश्व शान्ति का अमोघ उपाय, अहिंसा और अपरिग्रह, देव पूजा एक चिन्तन, जैनागम में गृहस्थाचार, चारित्तं खलु धम्मो, देवदर्शन क्यों, मुनि निन्दा का दुष्परिणाम, वर्तमान स्थिति पर सिंहावलोकन, आत्मकल्याण का प्रशस्त मार्ग ध्यान, हमारा लक्ष्य। ये सभी लेख विषय दृष्टि से गहन और गम्भीर खोज के साथ लिखे गये हैं। विभिन्न आर्ष प्रमाणों से अभिधेयार्थ को सुस्थित एवं दृढ़ किया गया है। जो लोग या विद्वान मुनि निन्दायें करके अपनी आजीविका आदि सम्पन्न करते है उन्हें दिवाकरजी के लेख का मनन करना चाहिये। स्वयं आचार्य महावीरकीर्तिजी भी यही कहा करते थे कि तुम गुरुओ की पूजा नही कर सकते तो उनकी निंदा भी मत करो। इससे मिथ्यात्व कर्म पर बज्रलेप तो होता ही है, साथ ही अन्य शारीरिक कष्ट भी उठाने पडते हैं। कोढ़, कैंसर, कंगाली, कुमृत्यु, कुख्याति आदि सब कुछ हो सकता है। इस तरह तृतीय खण्ड में अच्छे सैद्धान्तिक लेखों का संग्रह है। संगृहीत लेखो को क्षु० शीतलसागरजी ने बडे श्रम से चयन कर ग्रन्थ को उपयोगी बनाया है।

■■

चतुर्थ खण्ड मे ऐतिहासिक लेखों का संग्रह है। इसमे लगभग ६ लेख है। पहला लेख-मध्यकाल में बिहार में जैनधर्म शीर्षक डा० नेमीचन्द शास्त्री, आरा का है। नाम के अनुरूप इस लेख में जैनधर्म किस प्रकार बिहार मे प्रचलित था, इसका कुछ प्रमाणों के साथ उल्लेख किया गया है। विदेशी विद्वानों के इस सम्बन्ध मे अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। लेखक का मत है-मध्यकाल में जैन उपासकों का विघटन प्रारम्भ होने पर सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से इस प्रदेश का अत्यधिक महत्व है।

दूसरे लेख मे डा० दरबारीलालजी कोठिया ने श्रमण और वैदिक संस्कृति का कुछ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुये यह निष्कर्ष निकाला है कि वैदिक संस्कृति क्रियाप्रधान धर्म रहा है। एकेश्वरवाद की कल्पना इसमे बाद में आई है। श्रमण संस्कृति प्रारम्भ से ही अध्यात्म प्रधान रही है। लेख का कलेवर छोटा होकर भी वैदिक और श्रमण संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन में रुचि प्रकट करता है।

तीसरा लेख डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य का है। इसमे महाकवि असग के वर्द्धमान चरित्र को लेकर सुन्दर समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। साथ ही काव्य का परिचय भी दिया गया है।

चतुर्थ लेख 'जैन संस्कृति के प्रतीक मौर्य कालीन कतिपय शिलालेख शीर्षक डा० पुष्यमित्र जैन का लिखा हुआ है। इसमे उन सभी शिलालेखों की चर्चा की गई है जिनका सम्बन्ध जैन प्रतीको से है। लेखक ने 'देवाना प्रिय' शब्द के बारे में एक शंका उठाई है कि अशोक ने जैन होकर भी 'देवाना प्रिय' शब्द का शिलालेखों में क्यों प्रयोग किया है ? जबकि वैदिक संस्कृति मे 'देवानां प्रिय' शब्द का अर्थ मूर्ख होता है। इसके समाधान मे लेखक के अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि 'देवानां प्रिय' या देवानु प्रिय शब्द का प्रयोग न केवल शिलालेखों मे किन्तु जैन शास्त्रो मे भी यथास्थान पर मिलता है। परन्तु शंका का एक भाग अधूरा ही रह जाता है कि जैन शास्त्रों ने भी आखिर ऐसा शब्द जिसका अर्थ मूर्ख होता है क्यों अपने सम्मान के लिये अपनाया ? लेखक की तरफ से इसका भी कोई उत्तर प्रस्तुत किया जाना था। हमारी समझ में श्रमण संस्कृति से ईर्षा के कारण देवाना प्रिय का अर्थ 'मूर्ख' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कर लिया गया है। यज्ञ में पशुओ की बलि देवो का प्रिय होती है अतः देवों की प्रिय वस्तु पशु ही हो सकती है। यही नही बल्कि ईर्षावश ही 'बुद्ध' शब्द का लेकर बुद्धू शब्द का प्रचलन शुरू किया जिसका अर्थ भी मूर्ख होता है। जैन साधुओं की नग्नता और लुंचन

क्रिया को लेकर नंगा-लुच्चा शब्द का प्रचलन हुआ है। अस्तु लेख जैनधर्म के उज्ज्वल अतीत को प्रकट करता है। पठनीय है।

पांचवां लेख 'आगरा का हिन्दी जैन साहित्य' है। इसमें विद्वान लेखक श्री प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाशजी M A. ने आगरा के कवियों का परिचय एवं उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगरा पंडितो की नगरी रही है। अत: उक्त कवियों का फलना-फूलना वहाँ स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध में एक पुराना दोहा प्रचलित है :—

आतमज्ञानी आगरे, पंडित सांगानेर।
पक्षपात गुजरात में, निन्दा जैसलमेर॥

इससे सिद्ध है कि आध्यात्मिक विद्वान् आगरे में होते आये हैं। पं० द्यानतरायजी, पं० बनारसीदासजी, पांडे रूपचन्दजी आदि ये आगरे की ही देन थे। लेखक ने इस सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है।

छटा लेख श्री विमलकुमारजी सोरया एम.ए. शास्त्री का है। लेख का शीर्षक है "जैन साहित्य एवं वास्तु कला"। लेख में प्रस्तुत विचार सर्वथा नये हैं और एक पुरानी वस्तुओं की नई याद उपस्थित करते हैं। श्री सोरयांजी अध्यवसायी एवं निष्ठावान विद्वान हैं, तथा बहुत अच्छे लेखक हैं। आपका यह लेख एक नई जिज्ञासा प्रकट करता है।

सातवां लेख श्री विजयकुमारजी जैन साहित्य-प्राकृताचार्य का "जैन धर्म मे उपासना और उसका महत्व" शीर्षक है। उपासनातत्व को लेकर विभिन्न स्तुतियों द्वारा आपने उपास्य-उपासक, उपासना और उसके फल का सुन्दर विवेचन किया है। नव देवताओं की की चर्चा मे 'अरहंतसिद्धसाधुत्रितयं·······' पद का अर्थ अरहंत, सिद्ध, साधु इन तीनों की··················अर्थ किया गया है। इसमें पाठकों को भ्रम होता है। अत: स्पष्ट अर्थ यह होना चाहिये-अरहन्त, सिद्ध और तीन साधु (आचार्य उपाध्याय, मुनि)। ऐसा करने से स्पष्ट अर्थ का बोध होता है। श्री विजयकुमारजी का प्रयास स्तुत्य है, और भक्तों को भगवान की उपासना के लिये प्रेरित करता है।

आठवां लेख 'दिगम्बर जैन मुनि' शीर्षक श्री सुमेरचन्द जैन शास्त्री एम० ए० साहित्यरत्न दिल्ली का है। इसमें दि० जैन साधुओं की वृत्ति, उनका स्वरूप आदि का विवेचन करते हुये प्राचीन जैन साधुओं का इतिवृत्त भी दिया है। साथ ही साधुओं के सर्वोपरि प्रभाव की चर्चा भी की है, मुनि संघों के विहार आदि का परिचय दिया है। सोमदेव सूरी के एक श्लोक 'पद्मिनी राजहन्साश्च·····' इत्यादि श्लोक का चतुर्थ चरण इस प्रकार लिखा गया है 'दुर्भिक्षं तत्र नो भवेत्'जो छन्द-शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा गलत है। पाठ होना चाहिये 'सुभिक्षं तत्र वैभवेत्' अर्थात् पद्मिनी, राजहन्स एवं निर्ग्रन्थ साधु जिस देश में जाते हैं वहां निश्चय ही सुकाल होता है। यशस्तिलक में यही पाठ है।

लेख में दिगम्बर साधु की स्पष्ट झांकी मिलती है। इस खंड में सङ्कलित सभी लेख महत्वपूर्ण हैं। आचार्य महावीरकीर्ति भी इसी प्रकार के ऐतिहासिक साधु हो गये हैं। भविष्य में जब कभी इस काल का इतिहास लिखा जायगा, तब आचार्य महावीरकीर्ति का भी साधु शिरोमणियों में उल्लेख किया जायगा।

पांचवां खण्ड—ग्रन्थ का पांचवा खण्ड महत्वपूर्ण है। इसमे मंत्र शास्त्र का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है और उन सभी मंत्रों का संग्रह किया गया है, जिनका ज्ञान आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी को था। मंत्र शब्द का अर्थ क्या है, मंत्रो के कितने भेद हैं और उनका क्या कार्य है, मंत्र सिद्धि के लिये पीठों का वर्णन, किस मंत्र में कौन से पकवानों का प्रयोग होता है, मंत्रों में बीजाक्षरों का क्या स्थान है, मंत्रों के अंग कौन से हैं, मंत्र जाप का प्रकार क्या है इत्यादि बहुत सी जानने योग्य बातें हैं। इसके अतिरिक्त णमोकार मन्त्र की जाप के लिये अनेक ज्ञातव्य बातो का विवेचन किया गया है। मंत्र साधना के पूर्व विघ्नबाधाओं को दूर करने के लिये रक्षा मंत्रों का भी वर्णन किया गया

है। इसके साथ ही भक्तामर मंत्रों का, ऋषि मण्डल मंत्रों का, कलिकुंड पार्श्वनाथ मंत्रों का भी परिचय, साधना विधि तथा फल आदि का प्रतिपादन किया गया है।

मंत्रों के बाद यन्त्रों का वर्णन किया गया है और उनके बारे में कुछ बातों को समझाया गया है, जिसका जानना आवश्यक है। यंत्रों की आकृतियाँ भी दी गई है। ये यन्त्र संख्या में लगभग ८३ है। इन यंत्रों की साधन विधि, जप, इसके फलों का क्रमश. पृथक २ वर्णन है। इसके बाद यात्रा में शकुन विचार ज्योतिष शास्त्र के अनुसार दिया गया है। इसके बाद रिष्टो पर विचार किया गया है, जो हमारे देखने में विस्तृत विवेचन के साथ पहले ही आया है।

इसके बाद उन अनुभूत औषधियों का उल्लेख है, जिनका प्रयोग कभी २ आचार्य महाराज दुखी, संकटापन्न धर्मात्मा प्राणियो को बताते थे।

इस तरह यह पाचवा खण्ड भी अपनी अलग ही विशेषता को लेकर संग्रहीत है। सम्भवतः यह संकलन सार्वजनिक रूप से जैन समुदाय मे पहली बार प्रकाशित हो रहा है।

ग्रन्थ का प्रकाशन

आ० महाराज की स्मृति मे इस ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना लगभग ५-६ वर्ष से चल रही थी। स्व० सेठ चांदमलजी गौहाटी के परामर्श से इस ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय हुआ था। सम्पूर्ण सामग्री का संकलन क्षु० शीतल-सागरजी द्वारा किया गया। उन्होंने यह ग्रंथ मेरे पास संपादन के लिये भेजा। मैंने इसे धीरे २ आदि से अन्त तक देखा। कुछ संशोधन के साथ परिवर्तन किये। बाद में पुनः यह ग्रन्थ पूज्य क्षुल्लकजी को उनकी आज्ञानुसार भेज दिया गया। क्षुल्लकजी ने अपनी देखरेख मे अवागढ (उ० प्र०) मे बैठकर इसके प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया। इसमें सन्देह नही इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे पूज्य क्षुल्लकजी ने अत्यधिक श्रम किया है। यह वृहद्काय ग्रन्थ वस्तुतः उन्ही की देन है। इसके लिए क्षुल्लकजी का जितना उपकार माना जाय, थोड़ा है।

मेरी कार्य व्यस्तता के कारण इसकी प्रस्तावना कुछ विलम्ब से लिखी गई है। इसका मुझे खेद है। आशा है यह ग्रन्थ पाठकों को पसन्द आयेगा। आचार्य महावीर-कीर्तिजी के प्रति यह सच्ची श्रद्धांजलि है। मैं उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में किसी न किसी रूप में सहयोग प्रदान किया है। ग्रन्थ के सम्पादन में कही कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिये मैं पाठकों के समक्ष क्षमाप्रार्थी हूँ। साथ ही इस प्रस्तावना को समाप्त करने के पहले एक बार पुन. परमपूज्य आचार्य महावीरकीर्तिजी को त्रियोग से नमस्कार करता हूँ।

—(डा०) लालबहादुर शास्त्री
गांधीनगर, दिल्ली

卐 शुद्धि-पत्रक 卐

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२६	३	वरिसायले	वरिसायाले
२६	८	बाहिरसायणा	बाहिरमयगा
२६	११	कल	काल
७०	१८	मंत्रं तंत्र	मंत्र
७४	५	गृहसत्तम'	गृहिमत्तम
८५	१८	उनाक	उनका
८८	१६	सासत्कार	का सत्कार
१००	१४	आकस्मात्	अकस्मात्
१०२	१६	पं० सुमेरे	पं० सुमेरु
१०५	१६	बारह	ठारह
११३	६	चालाया	चलाया

(खण्ड २ का शुद्धि-पत्रक)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
११८	२	अठारह वर्ष	अठारह हजार वर्ष
११६	१	बशं	वंश
१२१	१३	झगते	झगड़ते
१२३	१६	सभी	सभा
१२६	२८	मोक्षामार्गी	मोक्षमार्गी
१२६	२५	कालायोग	कालयोग
१४४	८	डालवाया	डलवाया
१४५	१	आभाव	अभाव
१५४	१२	नासिक	नासिका
१५५	११	बहता	बहाना
१७०	२६	प्रद्युम्मन	प्रद्युम्न
१७१	२६	शातिशय	सातिशय
१७३	२३	अवार्त	आवर्त
१७४	८	शब्दर्णव	शब्दार्णव
१७५	१८	वत्रं	वक्त्रं
१८०	६	स्वर्गगन्त	स्वर्गान्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१८६	६	शतभवा	शतभिषा
१८८	२६	शब्दर्णव	शब्दार्णव
१९०	३	मोक्षा	मोक्ष
१९०	५	मंच्येष्यां	मंदये
१९१	१४	विस्मशान्ति	दिस्मरन्ति
१९२	१०	आविनश्वर सुख करे	अविनश्वर सुख को
१९२	१८	यशास्तिलक	यशस्तिलक
१९२	११	स्थित से	स्थिति से
१९२	२०	एताच्चित्रं	एतच्चित्रं
१९३	२५	गुणै	गुरौ
१९३	२०	नपसेतू	नय से तू
१९४	५	चरं	चिरं
१९४	८	कुटुम्बिः	कुटुम्बिनः
१९४	१०	वस्त्रा	वस्त्र
१९६	८	तुम्हाथे	तुम्हारे
१९८	३१	स्थिति	स्थित
१९९	२	तथा	के
२००	३	तिर्थंकर	तीर्थङ्कर
२००	१२/१४/१५	चूनगिरि	चूलगिरि
२०२	१५	दृष्टिगोचार	दृष्टिगोचर
२०७	२	अगामी	आगामी
२०८	२०	मिन्ठा	मीण्डा
२०९	१६	प्रक्षालय	प्रक्षाल
२१०	१२	जन्म	जन्य
२१०	१६	अनाध	अनाद्य
२११	८	शीलादि	शीतादि
२१४	११	महात्म्य	माहात्म्य
२१५	१८	हयान	ध्यान
२१९	१६	गर	नगर
२२४	२४	गजा	गूंजा
२२६	५	'संघ प्रियवर पहुंचा, उस ओर बड़ा सम्मान हुआ' की जगह 'संग में कांटे भी होते आये हैं' शुद्ध है।	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२२६	२१	भी	तभी
२२८	१५	देख	देखा
२२८	२५	सम्मेदशिखरजी	सम्मेदशिखरजी से
२३५	१५	टीक	ठीक
२३५	१७	अपेक्ष	अपेक्षा

(खण्ड २ का शुद्धि—पत्रक)

५	१६	चत्याय	चैत्यालय
६	२०	रागस्थ	रागस्थ
७	२४	उस	उसे
७	२६	मस्यम्	मस्मयम्
६	२६	लब्धनब्धी	लब्धमब्धी
२/३	३१/३२	२३४/२३५	२/३
१३	१३	दानों	दोंनो
१४	१६	इन	इस
१६	१६	परीक्षण	परीक्षक
१६	२५	धारण	धारणा
२०	५	अहापोह	ऊहापोह
२०	७	नपापेक्ष	नयापेक्ष
२०	२६	उक्किशट्व	उक्किट्ट
२०	३०	ठत्थि	णत्थि
२४	१३	तृणङरोत्पादन	तृणाकुरोत्पादन
२४	१६	हृष्टव्य	दृष्टव्य
२४	२०	युद्धा	सुद्धा
२४	२१	कुच्च	सुदा
२४	२६	प्रज्ञाप्ति	प्रज्ञप्ति
२८	२८	तज्ज्योति	तज्जयनि
३०	१३	णयाद	णया दु
३६	२६	देसणणण	दंसण णाण
४५	१४	प्रति–	प्रतिपादित
५२	१३	मामार्थ्य	सामर्थ्य
५२	१३	महाकारि	महूकारि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
६४	१८	अत्युत्पन्न	अभ्युत्पन्न
६४	३१	समीचन	समीचीन
९१	२५	कि	किस
९५	२७	माभिपूज्यं नमि	मभिपूज्यं नमि
१००	७	नाभानं	नामानं
१११	१५	इसके	इससे
११५	१५	उत्साद	उत्पाद
११६	१२	र्पाथवी	पार्थिवी

(खण्ड ४ का शुद्धि-पत्रक)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१०	२५	थे	वे
१७	१४	अदान	आदान
२३	२०	सथा	साथ
१८	२९	संगीत	संगति
२०	३४	भक्ताम्बर	भक्तामर
४८	१०	प्रान्ति	प्राप्ति
४८	११	शास्य	शास्त्र
५०	९	जन्स	जन्म
५१	१८	सुजानगढ	नागौर
५९	२६	ज्ञानम	ज्ञानमद

(खण्ड ५ का शुद्धि-पत्रक)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१३	१०	परमेष्ठि	परमेष्ठी
१६	२४	अरइन्ताणं	अरहन्ताणं
५१	२८	अतास	अतीस
५९	२४	और	और बारहवें
५९	२५	बारहवें लिखा है	लिखा है
६३	२६	अकली	अकेली
६४	१९	हससे	हमसे

विषयानुक्रमणिका

खण्ड १

श्रद्धाञ्जलियां एवं संस्मरण

खण्ड २

आचार्य श्री का व्यक्तित्व और कृतित्व

खण्ड ३

जैनधर्म और दर्शन

खण्ड ४

इतिहास के झरोखे से

परिशिष्ट

खण्ड
१
श्रद्धाञ्जलियाँ
एवं
संस्मरण

मंगल-स्वरूप

महामन्त्र-णमोकार

णमो अरहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं

पूज्य गुरुदेव !

लाखों सन्मार्ग लगाये तुम ।
लाखों शिवमार्ग बताये तुम ॥

लाखों लाखों का कर कल्याण ।
कर चले एक दम तुम प्रयाण ॥

महावीर कीर्ति शत-शत प्रणाम ।
महावीर कीर्ति गुरुवर प्रणाम ॥

—क्षुल्लक शीतल सागर

श्रद्धाञ्जलियाँ

पच महाव्रत : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, पचसमिति : ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदाननिक्षेपण, पंच-इन्द्रियनिरोध : स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और कर्ण प्रकीर्णकसप्त : केशलुंचन, अचैलक्य, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थिति-भोजन, दिन में एकाहार, षडावश्यक क्रिया : सामयिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। नभोमंडल में नक्षत्र सत्ताईस हैं और श्रमण जैन मुनि के मूलगुण अठ्ठाईस हैं। धीर, वीर, नरसिंह इन अठ्ठाईस मूलगुणों का पालन कर पृथ्वी पर नक्षत्रों से अधिक रोचिष्णु होते है। सर्व सावद्यविरत, पर-हितनिरत, सर्वस्व त्यागी, परमविरागी, मोहममताजयी, काम-विजयी, तप-त्यागसंयमादर्श, महाव्रत-पालक, दिगम्बराचार्य श्री महावीरकीर्ति गुरुदेव, जिन्होंने मुझे स्व-समय में स्थित किया, उन के चरण कमलों मे त्रिवार, त्रिकाल, सविनय मैं श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

—मुनि विद्यानन्द
(उपाध्याय पद विभूषित)

आचार्यचरणेषु श्रद्धाञ्जलिः

व्याध्याघ्राविकीर्णं विषयमृगगणं कामक्रोधाहिसर्पम् ।
दुःखक्षोणीरुहाढ्यां भवगहनवनं वीक्ष्य संसारभीतः ।।

हित्वाकुष्टस्वकम्यान् विषयविषधरान् कर्मनिर्मूलनाय ।
यो जग्राहाविसिन्धोः पदकमलसमीपे च निर्ग्रन्थदीक्षां ।। (१)

ध्यायं ध्यायं जिनेन्द्रक्रम जलजयुगं मोक्षलक्ष्मीनिकेतम् ।
पायं पायं भक्त्या जिनवरगदितो तत्त्वपीयूषधाराम् ।।

जातः स्वात्मावलोकी शमदमनिलयो जैनधर्माभिनन्दी ।
श्रद्धापुष्पैर्भजेऽहं विमलमणिममध्यं महावीरकीर्तिम् ।। (२)

तीर्थं क्षेत्र विहारी प्रथितपृथुगुणः मुक्तिरामाभिलाषी ।
रागद्वेषापहारी हितमितवचनैः भंव्य संबोधकारी ।।

बाह्यान्तर्ग्रन्थत्यागी परममृतसमं सर्वतत्त्वोपकारी ।
तं साधूनामधीशं स्थिरविशदधियं संस्तुवे साधुसेव्यं ।। (३)

ज्ञानी ध्यानी तपस्वी भविजननुतपादः प्रास्तमिथ्यापवादः ।
जीवाजीवादितत्त्वं प्रगटन निपुणं भव्यलोकैकबन्धुः ।।

यो ज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमिति भृतामग्रणी मुक्तसङ्गः ।
तं ध्यानासक्त चित्तं जिनवचसि रतं संस्तुवे सन्मुनीन्द्रम् । (४)

भक्त्या मुनिं सकल वत्सलसप्रभावं,
विश्रेवयामि वरमंत्रपदं स्तवीमि ।
क्लेशार्णवप्रभवदुःखदुःखभीता,
भक्त्या नमामि तव पादयुगं सुपार्श्वम् ।। (५)

—विदुषी आर्यिका सुपार्श्वमति

आगमप्राण तपस्वी

वर्तमान समय के मुनीश्वरों में आचार्य महावीर कीर्ति जी का जीवन अत्यन्त गौरवपूर्ण तथा श्रद्धा का आधार-केन्द्र रहा है। उन्होंने धर्म, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र शरीर-विज्ञान आदि अनेक शास्त्रों के अन्तस्तल का अमित अध्ययन किया था और अनेक भाषाओं पर प्रभुत्व भी प्राप्त किया था। विचार के इस बिन्दु से वे देश के लोकोत्तर सत्पुरुष रहे।

आगमप्राण तपस्वी:- उन्हे अपने प्राणो से भी अधिक संयम और जिनवाणी की आज्ञानुसार आचरण करना प्रिय लगता था। संकटों को आमंत्रण देकर अपने आत्म-बल के द्वारा परीषहों को जीतना उनके जीवन की विशेषता रही है। वे शास्त्र की गहराई को जानते थे; इसलिए अपना समय मौन, तत्वचिन्तन और आत्मध्यान में लगाया करते थे।

मैने सिद्धवरकूट, बडवानी, गजपंथा, मांगीतुंगी, श्री महावीरजी, श्रमणबेलगोला आदि पवित्र प्रदेशों में उन महामुनि के दर्शन किये। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर और बाल-सुलभ पवित्रता से अलंकृत था। जब कोई मूर्ख उनके पास आकर विवेकशून्य प्रलाप करता था, तो वे शांत भाव से मुस्कराते हुये उस जीव पर दया की वर्षा करते थे।

मनस्वी साधुराज:- अध्यात्मपूर्ण जीवन और आत्मध्यान की दृष्टि से वे बहुत बडे मनस्वी मुनिराज थे। बडवानी मे भगवान आदिनाथ (बावनगजाजी) के समक्ष मैने उन्हें चार-पांच घंटे अकम्प शरीर युक्त हो ध्यान मुद्रा में देखा। अर्धनिमीलित नेत्र धारण किए हुए वे आत्मा का आनन्द ले रहे थे। वह चित्र उन साधुराज के दिवंगत होने पर भी मेरे मन-मन्दिर में स्पष्ट रूप में अभी विद्यमान है। वे भय-विमुक्त निस्पृह मनस्वी साधुराज थे।

सिद्धिसंपन्न:- मंत्रशास्त्र यथार्थ मे बडे-बडों की पहुँच के परे की वस्तु है। महान् साधक के रूप मे महावीर कीर्ति महाराज ने जो सिद्धियां प्राप्त की थीं, वे अन्य सम्प्रदाय के समक्ष जैन साधु को उच्चता प्रदान करती थी। ज्योतिष शास्त्र में भी उन्होंने प्रवीणता प्राप्त की थी। वे अद्भुत साधक और ज्ञानी यति थे।

मागीतुंगी में आर्यिका माता विजयमती जी (बी०ए० न्यायतीर्थ) ने मुझ से कहा था "पंडित जी! महाराज के पास अगाध ज्ञान और अपूर्व सिद्धियो का भंडार है। आप कुछ प्राप्त कर लीजिये।" मैं सोचता था, कभी इनके पास पहुँचूंगा।

इस बार इन साधुराज का विचार शिखर जी में चातुर्मास का सुनने में आया था। मैंने सोचा था अब की बार पर्यूषण पर्व इनके चरणों में ही व्यतीत करूँगा; किन्तु क्रूर यमराज ने उन पर प्रहार कर ही दिया। 'यमस्य करुणा नास्ति' यह कथन सत्य निकला।

अब वे गुरुदेव बाल-ब्रह्मचारी योगीन्द्र होने के कारण संयम और समाधि के प्रसाद से देवों के इन्द्र बने होंगे। उन समयोद्योतक श्रमणराज महावीर कीर्ति जी के पुण्य चरणों को हमारा शतशः वन्दन है।

—सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री,
सिवनी

आदर्श उपसर्गजियी साधु

श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी श्रमण संस्कृति के आदर्श और निर्ग्रन्थ परम्परा को प्रगति प्रदान करने वाले विद्वान साधु थे। आचार्य श्री ने अपने अन्तिम कई चातुर्मास तीर्थ स्थानों के एकान्त स्थल में घोर उपसर्ग सहते हुये व्यतीत किये। प्रायः ध्यान और मौन में ही वे रहा करते थे। उनका सफल तपस्वी जीवन रहा है। निर्दोष और कठिन दिगम्बर व्रत को धारण करते हुये आचार्य श्री ने अपने धर्मोपदेश से अगणित भव्यप्राणियों का उपकार किया है। उनके चरणों में मेरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

—पं नाथूलाल शास्त्री
इन्दौर (म०प्र०)

परमपूज्य आचार्य महाराज

श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्ति जी एक समय लश्कर पधारे थे। श्रवण बेलगोला में भी मुझे उनके दर्शन व प्रवचन श्रवण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वे बड़े ही विद्वान् एवं अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। उनका वियोग हो जाने से समस्त भारत-वर्षीय जैन समाज को बड़ा ही दुःख हुआ है। ऐसे महान् विद्वान् परमपूज्य आचार्य श्री को मैं अपनी ओर से श्रद्धाञ्जलि भेज रहा हूँ।

—मिश्रीलाल पाटनी
लश्कर (म०प्र०)

श्रद्धाप्रसूनाञ्जलिः

व्याप्तः सर्वत्र भूमौ शशधरधवलः शम्भुहासापहासी
कीर्तिस्तोमो यदीयो जनयति नितरां क्षीरपाथोधिशङ्काम् ।
यस्मिन् सम्मग्नकाया अमरपतिगजो विभ्राजदभ्रतारा:,
शुभ्रा जाताः स वन्द्योऽजनि मुनिमहितः श्री महावीर कीर्तिः ।।   (१)

विमलगुणमणीनां मालयालंकृतो यः,
सदसि मुनिजनानामग्रगण्यो बभूव ।
मुनिगणगणनीयं श्री महावीरकीर्ति-
मधिगतसुरलोकं केन सं संस्मरन्ति ॥   (२)

नाना शास्त्र-समुद्र मन्थन भवत्सद्बोधरत्नाश्रयः,
शौचाचार विचारचारु चरितः श्रद्धा पवित्रालयः ।
संसेहे मधुमक्षिकाविजनिताः पीडा असह्याश्च य-
स्तस्मै श्रीगुरवेऽर्प्यतेऽत्र भवते श्रद्धाञ्जलिः प्रश्रयात् ।।   (३)

वाराणसी]   —अमृतलाल जैन दर्शनाचार्य

---

* रहस्य *

"चूड़ी की खनक, पायल की झनक से-,
राग नहीं, वैराग्य मिला ।
'चिर सुहाग की नगरी' के,
कर्दम में स्वर्णिम कमल खिला ॥"

—प्रकाश अमेय

अपूरणीय क्षति

वर्तमान समय में मनुष्य का शारीरिक बल दिन प्रति-दिन घटता जा रहा है, कई बार खाकर भी शरीर में शक्ति एवं स्फूर्ति नही आती, यह क्षीणता स्वयमेव आ रही है। कुछ तो श्रावक प्रमाद वश शरीर के दास बने हुए हैं किन्तु हीन संहनन के कारण कठिन तपश्चर्या की भावना होते हुए भी साधु तीव्र गर्मी, सर्दी को झेल नहीं सकते। यदि शरीर संहनन से अधिक काम लिया जाता है तो धर्म-ध्यान में बाधा उपस्थित हो जाती है। अब से २५-५० वर्ष पूर्व पहले के, और अब के संहनन में बड़ा परिवर्तन आ गया है।

ऐसी परिस्थिति में भी साधु यथाशक्ति तपश्चर्या कर रहे हैं। उन्ही में से थे महान तपस्वी, उपसर्गजयी, प्रकाण्ड विद्वान, बालब्रह्मचारी, प्रातः स्मरणीय, विश्ववंद्य आचार्य शिरोमणि महावीर कीर्ति जी महाराज जिनकी उम्र ६१ वर्ष की होते हुए भी नवजवान के समान स्फूर्ति थी। वे अद्वितीय गुणों के भंडार थे। उनका असामयिक निधन दिगम्बर जैन समाज के लिए महान क्षोभ का विषय है।

जैन धर्म में सल्लेखना का बडा महत्व बतलाया है। जीवन भर की साधना का फल अन्त समय के परिणामों पर अवलम्बित रहता है और समाधि को सुधारने के लिए यावज्जीवन पुरुषार्थ किया जाता है, क्योंकि समाधि के समय कई प्रकार की शारीरिक, मानसिक विकलतायें उपस्थित हो जाती है, कई प्रकार के तूफान आते है जिनका निवारण, पूर्वाभ्यास एवं साधु समागम से ही किया जा सकता है, यदि समाधि के समय में धर्मात्माओं का सान्निध्य मिल जाता है तो समाधि सुधर सकती है, अन्यथा अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प-पूर्वक मरण होकर दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। स्व० आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज को समाधिरत साधु या श्रावक की वैयावृत्ति करने की तीव्र रुचि थी। यही कारण था कि आप परमपूज्य गुरुवर आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के अन्तिम चातुर्मास में (खानिया जयपुर में) उनके निकट आगये एवं अन्तिम समय तक उनकी सुश्रूषा करते रहे।

उन्हीं दिनों में हमें भी आपके निकट सहवास में लगभग ६ माह रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों वे संघस्थ साधुओं एवं श्रावकों को न्याय, व्याकरण, सिद्धान्तादि ग्रन्थों का अध्ययन कराते थे। उनमें से अष्टसहस्री, राजवार्तिक, अनगार धर्मामृत, शब्दार्णव चन्द्रिका आदि ग्रन्थों के अध्ययन में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। वे अध्ययन कराते हुए कई अनुभव की बातें बताते रहते थे।

प्रकरण आने पर शिष्यों का मनोबल बढ़ाने के लिए हमेशा कहा करते थे, कि—"पठितव्यं खलु पठितव्य अग्रे-अग्रे स्पष्ट भविष्यति।"

आज उन्हीं की देन है कि मुझ जैसी अल्पज्ञ को अष्ट सहस्त्री जैसे न्याय के महान एवं क्लिष्टतम ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने का साहस एवं शक्ति प्राप्त हो सकी। उन्हीं दिनों लगभग ६ माह तक अध्ययन क्रम चलता रहा किन्तु विशाल ग्रन्थ एवं अनेक विषय होने से सबका अध्ययन पूर्ण नहीं हो पाया। क्योंकि चातुर्मासोपरात आ० श्री शिव सागर जी महाराज का गिरनार-यात्रार्थ विहार होने से आपका समागम नहीं रहा। मन में बड़ा दुःख हुआ कि इन अपूर्ण विषयों का अध्ययन कौन करायेगा ? तब आचार्य श्री महावीर कीर्ति महाराज ने बडे प्रेम से कहा कि— जिनवाणी का विनय करते हुए श्रुति-भक्ति आदि पूर्वक गुरु का स्मरण करके भगवान के समक्ष बैठकर अध्ययन अध्यापन करने से स्वयमेव ज्ञान का क्षयोपशम वृद्धिगत होता है, भगवान के समक्ष बैठने से असत्य भाषण का विशेष भय रहता है, एवं भगवान की कृपा-प्रसाद से क्लिष्ट विषय सरल बन जाते हैं, आचार्य श्री के आशीर्वाद मे यह सिद्धि प्रत्यक्ष में प्राप्त हुई। इस ब्यावर नगर मे १३ वर्ष पूर्व ब्र० राजमलजी (वर्तमान मुनि श्री अजितसागर जी) क्षु० जिनमती जी (वर्तमान आर्यिका श्री जिनमती जी) आदि को अनेक अपठित एवं अपूर्ण पठित ग्रन्थों का अध्ययन गुरु प्रसाद के बल से ही कराया गया। गुरुओं के कृपा-प्रसाद से तो संसार-समुद्र पार किया जा सकता है। कहा भी है—

ग्रंथार्थतो गुरु परंपरया यथावत्, श्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान् ।
ये ग्राहयन्त्युभय नीति-बलेन सूत्रं, रत्नत्रय प्रणयिनो गुरवः स्तुमस्तान् ॥

ग्रन्थ एवं उसके अर्थ को गुरु-परम्परा-गुरु मुख से यथावत् पढ़कर एवं अवधारित करके जो साधु भव-समुद्र से भयभीत हैं तथा निश्चय और व्यवहार रूप दोनों नयों का अवलंबन लेकर अपने शिष्यो को सूत्रादि ग्रन्थ पढ़ाते है, उन रत्नत्रय धारी आचार्य परमेष्ठियों का हम स्तवन करते हैं। गुरु परम्परा से समझे बिना विपर्यास भी हो जाता है। बिना गुरु के आधार के पूर्वापर सम्बन्ध समझे बिना यथावत् समझ मे नहीं आता। जिन्हें एक शब्द का भी विपर्यास होने से अनन्त संसार में परिभ्रमण का भय है और जो गुरु स्वयं रत्नत्रय से पवित्र होते हैं, वे ही सच्चे हितकारी होते हैं। आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज में सभी गुण विद्यमान थे।

अन्य विषयों में तो आप निपुण थे ही, साथ ही मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, निमित्त, आयुर्वेद आदि का भी अच्छा ज्ञान था। आप एक विशिष्ट तपस्वी साधु थे। वर्तमान त्यागियों में आप सर्वोपरि थे। आपके जीवन में असाधारण विशेषतायें रही है। आपकी सभी क्रियाओं में बड़ी सतर्कता एवं सावधानी रहती थी। देवगुरुशास्त्र के महान विनयी थी। प्रमाद तो आपको छू तक नहीं सका था। स्वाध्याय करते समय यदि कमर के नीचे हाथ लग जाता तो हाथ धोकर ग्रन्थ को स्पर्श करते। कहते थे कि जिनवाणी सर्वज्ञ तुल्य है, सूर्य सदृश है। जिनवाणी भगवान के समान आदरणीय है जिनवाणी के विनय से ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी कारण उन दिनों आपने यादगार रूप में जिनमती माताजी को "आत्मानुशासन" कंठस्थ करने को कहा।

पू० आचार्य श्री के वचनों से बड़ा आत्मिक बल मिलता था। आपके वचनों में बड़ी सिद्धि थी, शिष्यों पर अनुग्रह-निग्रह में आप अत्यन्त निपुण थे। यही कारण था कि आप एक विशाल संघ के अधिनायक बने। आप शिष्यों के सुख-दुःख का तो पूरा ध्यान रखते ही थे, साथ ही ज्ञानार्जन की भी उचित व्यवस्था स्वयं करते थे, "आपका जीवन एक ग्रन्थ रूप था।"

किसी भी वीतराग साधु की समाधि होने पर खेद तो होता ही है किन्तु आप जैसे महान् सूर्य का अस्त हो जाना अधिक दुःखप्रद प्रतीत होता है, क्या कोई ऐसी माता है जो ऐसे नर रत्न को जन्म देकर आचार्य श्री की पूर्ति कर सके?

विद्वान पंडित होकर त्याग-मार्ग में लगने के उदाहरण बहुत कम दृष्टिगत होते हैं। उसमें कई कारण हैं, कोई तो क्षेमक्षेम करने में लगे रहते है कोई ज्ञान से गर्विष्ट होकर अपने को ही सर्वज्ञ समझने लग जाते हैं, कोई शक्तिहीनता या प्रमाद से त्याग-मार्ग में अग्रसर नहीं होते। वर्तमान में विद्वान होकर साधु बनने वालों में स्व० आचार्य श्री सुधर्मसागर जी महाराज, आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज एवं आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ज्ञात होते हैं। धनिकों में त्यागी बनने का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बम्बई के जौहरी मोतीलाल जी (फर्म-घासीराम पूनमचन्द्र) ने प्रस्तुत किया जो कि वर्तमान में आ० क० श्री श्रुतसागर जी महाराज के संघ में पू० श्री सुबुद्धिसागर जी मुनिराज के नाम से विख्यात है।

इस दुष्कर काल में जैनेश्वरी दीक्षा को अंगीकार कर कठिन तपश्चर्या को धारण करने वाले विरले ही महापुरुष है जोकि स्वयं नग्न दिगम्बर वीतरागमुद्रा धारण कर साक्षात मोक्ष का मार्ग बतला रहे है।

आज आचार्य जी हमारे समक्ष नही है किन्तु उनका आदर्श हमारे सन्मुख है जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को पवित्र एवं उज्ज्वल बना सकता है, उनकी अमिट देन इस पृथ्वी-मण्डल पर चिरकाल तक रहकर उनके नाम को अमर बनाये रखेगी। शत-शत हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

—आर्यिकारत्न ज्ञानमती

विवेकी बनें!

प्रातः स्मरणीय परम पूज्य आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज के अन्तिम बार पुण्य दर्शन हमें मूडबद्री (मंगलौर) में प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपने एक प्रवचन सभा में जनता को सम्बोधित करते हुए कहा कि जैनियों के द्वारा चर्म वस्तुओं का प्रयोग पशुओं की हत्या को बढ़ावा तो दे ही रहा है साथ-साथ अहिंसा के प्रचार को अप्रभावशाली भी बना रहा है।

—जिनेन्द्रप्रकाश जैन
एटा (उ०प्र०)

卐 चतुर्थकाल जैसे साधु 卐

प्राकृत भाषा की लघुयोगभक्ति में कहा गया है।

"गिह्मे गिरिसिहरत्था, वरिसायले रुक्खमूल रयणीसु।
सिसिरे बाहिरसायणा, ते साहू वंदिमो णिच्चं॥"

इसी का लगभग संस्कृतानुवाद रूप में निम्न आर्या छन्द पाया जाता है—

प्रावृट्काले सविद्युत्प्रपतितसलिले वृक्षमूलाधिवासाः,
हेमन्ते रात्रिमध्ये प्रतिविगतभयाः काष्ठवत्त्यक्तदेहाः।
ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्ता गिरिशिखरगताः स्थानकूटान्तरस्थाः,
ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगणवृषभा मोक्षनिःश्रेणिभूताः॥

हमने अनेकों बार पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज को ग्रीष्म-काल में पर्वतों (सम्मेदशिखर, राजगृही, खंडगिरि, उदयगिरि और मन्दारगिरि आदि) के शिखरों पर, वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे तथा शिशिर ऋतु में खुले स्थानों पर कायोत्सर्ग की मुद्रा में मेरुवत् अडिग ध्यान करते देखा है। इससे विदित होता है कि आचार्य श्री शरीर से अत्यन्त निर्मोही थे तथा तपश्चरण करने में चतुर्थकाल के साधुओं की उपमा को धारण करते थे। उनके चरणों में शतशत वंदन।

—क्षुल्लक शीतलसागर

भविष्यवक्ता : आचार्य श्री

परमपूज्य, तारण-तरण, तपोनिधि, महान् उपसर्ग विजेता, सिद्धक्षेत्र वंदना-भक्त शिरोमणि स्वर्गीय आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज; शांत स्वभावी, सरल प्रकृति तपस्वी साधु थे। उनसे सबसे पहली बार मेरी भेंट श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र बावन गजाजी बडवानी में हुई। पूज्य श्री से मैंने अपना भविष्य पूछा तो बताया कि तुम अब गृहस्थी में न रह सकोगे। पूज्य श्री का कहा सच निकला। मैं पूज्य गुरुओं के साथ रहने लग गया आगे चलकर महामस्तकाभिषेक के समय फिर भेंट हुई। कुछ दिन उनके सम्पर्क में रहा। साधु बनने के विषय में पूछा तो बताया कि अभी एक वर्ष की देरी है। कर्मयोग से मैं आचार्य श्री के प्रथम शिष्य आचार्यरत्न विमलसागर जी महाराज के पास सुजानगढ़ (राजस्थान) गया और वहां पर क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की। उनका वचन अक्षरशः सत्य हुआ। मैं ऐसे पूज्यगुरु श्री आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के चरणों में नत मस्तक होकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं।

—क्षुल्लक रतनसागर

श्री महावीरकीर्त्याचार्यस्तुतिः

(भुजङ्ग प्रयात छंद)

सुरत्नत्रयाख्यं निधिं संदधानः ।
तथापि द्विधासंगमुक्तो विवस्त्रः ।।
सुकाव्यपुण्यस्य रत्नाकरो यः ।
स्तुवे तं महावीरकीर्तिं मुनीन्द्रम् ।। (१)

(अनुष्टुप्छन्द)

महाव्रतधरो धीरो, गुप्तिसमितिनायकः ।
आवश्यक क्रियासक्तो, भव्यजीवनदायकः ।। (२)
पंचगुरुषु रागी सन्, विरागी विषयेषु च ।
भव्याम्भोरुह भास्वांस्त्वं, सिद्धांताम्बुधिचन्द्रमाः ।। (३)
आगमज्ञोसि गभीरः, उपसर्ग परीषहान् ।
सहिष्णुः शांतिमूर्तिस्त्वं, सुजनप्रीणनक्षमः ।। (४)
स्मितास्यः क्रोधजिन्मोहमायामत्सर दूरगः ।
ध्यानाध्ययनयोः रक्तः, विकथाशून्य मानसः ।। (५)
भाषाष्टादश विज्ञानी, विद्वान् सार्वोपदेशकः ।
मनोज्ञो लोकविल्लोक प्रियः सन्मार्गलोचनः ।। (६)
सर्वत्र भारते पद्भ्यां, विहरन्ननुकम्पया ।
सर्वेषांहित संशास्ता, त्वमकारणबांधवः ।। (७)
आचार्ये पाठके साधौ, त्रिःपरमे पदे स्थितः ।
श्री महावीर कीर्ते ! भो !, सम्यग्ज्ञान चरित्रभाक् ।। (८)
मौनिन् ! ज्ञानिन् ! महाध्यानिन् ! हे विद्यागुरुयोगिराट् ।
विश्वशांतिप्रकुर्वाणो, भवान् विजयतां चिरम् ।। (९)
भगवंस्त्वत्प्रसादेन, लब्धा विद्या सुदुर्लभा ।
प्रतिपित्साम्यहं सूयं, ज्ञानं सौख्यमनश्वरं ।। (१०)

अनेक भवसंचितं सकलपापराशिं मुने ! ।
विविक्षुरनिशं जिनेन्द्र पद पंकजे संरतः ।।
मुमुक्षितसनेच्छया सततमात्मानं ध्यायसि ।
नमोऽस्तु गुरुवर्य ! ते परमयोग संसिद्धये ।। (११)

—आर्यिकारत्न ज्ञानमति

उपसर्ग-विजेता

भारत-वसुन्धरा पर अनेक विभूतियों ने जन्म धारण किया और अनेक रत्न असाधारण गुणों से विभूषित होकर स्वर्गगामी हुये। यद्यपि इस असार संसार में उनका भौतिक शरीर तो नहीं है परन्तु वे यश. शरीर से सदा विद्यमान रहेंगे।

उन्हीं विभूतियों में से एक दिव्य विभूति आचार्य प्रवर, परमपूज्य, बहुभाषाविद् आध्यात्मिक संत १०८ श्री महावीरकीर्ति जी भी हुये। वे यथा नाम तथा गुण वाले थे। आपने अपने आचार्यत्व काल में विश्व हितैषी, जनोद्धारक, सार्वभौम जैन धर्म का डंका क्रियात्मक रूप से जगत में बजवा दिया, जिसकी ध्वनि अधुना भी श्रवणगोचर हो रही है।

आपकी संगठन शक्ति बढ़ी चढ़ी थी, यही कारण था कि विशाल संघ सहित सदा विहार करते रहे। लेकिन कभी भी इस संघ में कटुता, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण नही देखे गये। इस विपरीत भ्रातृभाव, मैत्री, प्रमोद और सौहार्द के भाव ही देखे गये।

आचार्य श्री सदा स्व-पर कल्याण मे निरत रहते थे। वे स्वयं भी पद्मासन या खड्गासन लगाकर २-२, ४-४ घन्टे तक ध्यानस्थ रहते थे। उपसर्ग सहन करने के लिये तो मानों आचार्य श्री ने जन्म ही लिया था। उन पर समय-समय पर किसी न किसी प्रकार के उपसर्ग हुआ करते थे। सर्प, सिंह, व्याघ्र, अग्नि की बाधा को वे तुच्छ समझते थे। शरीर पर घोर उपसर्ग होते रहने पर भी वे सदा सिद्ध भगवान के ध्यान में मग्न रहते थे। शरीर में अचलता और भावों में मेरु के समान स्थिरता उनका स्वाभाविक गुण था। यहां तक देखा गया कि उनकी तपस्या के प्रभाव से प्रभावित हिंसक जन्तु भी उनको आधार मान, अपने को सुखी अनुभव करते थे।

ऐसे दयालु, तपस्वी, उपसर्ग विजेता, भक्त-शिरोमणि आचार्य प्रमुख के स्वर्गगामी होने से एक ऐसा अनोखा रत्न विलीन हो गया है, जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में तो क्या, कभी भी नहीं हो सकती है। यह क्षति जैन समाज की ही नहीं, अपितु अखिल भारतवर्ष की है। अत: मैं अपनी ओर से एवं श्री दि० जैन आदर्श महिला विद्यालय की ओर से करबद्ध विनम्र यह श्रद्धाञ्जलि आचार्य श्री के चरणों में अर्पित करती हूँ।

—ब्र० कमलाबाई जैन
संचालिका:- श्री दि० जैन आदर्श महिला विद्यालय
श्री महावीर जी (राजस्थान)

साधु-समाधि-सुधारक

आपके असामयिक और आकस्मिक स्वर्गवास की बात जानकर हृदय एकदम शून्यसा हो गया। विश्व और समाज का एक जाज्वल्यमान महा सन्त सदा-सदा के लिये अपने पीछे एक अमर कीर्ति छोड़कर चला गया। आपके वियोग से समाज में एक अपूरणीय क्षति हो गई है।

यह सर्व विदित है कि आपका जीवन उच्च कोटि का रहा है। वि० सं० १९६७ बैसाख बदी ९ को फिरोजाबाद निवासी, पद्मावती पुरवाल जाति के भूषण पिता रतनलाल जी माता बूंदादेवी की कुक्षि से आपका जन्म हुआ था। आप इस भारत-भू पर महेन्द्रकुमार जी के नाम से प्रख्यात होकर उच्च शिक्षा पाते हुए न्याय तीर्थ हो गये थे। आप प्रतिभाशाली थे। कई विद्याओं-भाषाओं और निमित्त शास्त्र पर भी आपका अधिकार था। जीवन में वैराग्य की ओर ही आपका चिन्तन रहा करता था, अतएव पिताजी द्वारा किये गये विवाह के प्रस्ताव को भी आपने ठुकरा दिया।

तीव्र विरक्ति के फलस्वरूप आचार्य वीरसागर महाराज से आपने क्षु० दीक्षा सं० १९९५ में टाकाटोका में ग्रहण की। फिर विशेष वैराग्यवश हो आपने आचार्य आदिसागर जी से सं० १९९९ में कार्तिक शुक्ला ११ के दिन दक्षिण भारत के उदगाव में मुनि दीक्षा लेकर जनता को भव्योपदेश करते हुए सर्वत्र विहार किया। जनता को खूब धर्मामृत का पान कराया। अनेकों त्यागी-व्रती बनाये। आप में एक विशेष गुण यह था कि साधु की समाधि कराने के समाचार आते ही आप कठिनाइयों को पार करते हुए पहुँच जाते थे। आपका कहना था कि एक साधु की समाधि कराना एक सौ नये मुनि बनाने से भी बढ़कर है। आप अपनी धुन एवं सिद्धांत-विचारों के पक्के थे।

अपने जीवन में अनेक उपसर्ग और परीषह धैर्यपूर्वक सहन किये। अन्त में आप श्री सम्मेद शिखर जी में ही 'अपनी समाधि हो' इस विचार से विहार करने जा रहे थे कि आप डबल नमोनिया-पीड़ित हो गये, और आपको मेहसाना (गुजरात) में ही माह बदी ६ सं० २०२- को इस कराल काल ने ग्रास बना लिया।

मुझ सेवक को भी आपकी सेवा व संघ-परिचर्या में रहने का समय-समय पर अवसर मिला है। सपत्नीक आपकी चरण सेवा में होते हुए अपने को धन्य समझा है। दुःख है कि अन्त समय में आपसे साक्षात्कार न हो सका। अन्तिम संस्कार में पहुँचकर आपके भौतिक देह का दर्शन पाकर ही संतोष करना पड़ा। मैं पुनीत श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ और अर्हन्त प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि आपकी आत्मा शीघ्र ही विदेह-वास कर स्वरूप-सम्पत्ति की उपभोक्ता बने। मैं जो सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक बना, यह आपकी ही देन है। आगे निर्ग्रन्थ पद धारण कर सकूँ, ऐसा आपका आशीर्वाद चाहता हूँ। परमपूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज! आपके चरणों में सेवक का शत शत वंदन।

लाडनू (राजस्थान) **—ब्र० शिवकरण जैन अग्रवाल**

युग प्रवर्तक महापुरुष

पूज्य महावीरकीर्ति जी महाराज इस युग के ख्यातिप्राप्त, शास्त्रज्ञाता एवं धर्म संरक्षक थे। वे विद्वानों को साहित्य सृजन की ओर भी प्रेरित करते थे। उन्होंने मुझे 'भद्रबाहुसंहिता' के संपादन की प्रेरणा दी और साथ ही अपनी बहुमूल्य पांडुलिपि भी संपादन के उपयोग हेतु प्रदान की थी। वे 'विद्या-नुवादांग' का संशोधन और संपादन मुझ से कराना चाहते थे तथा उन्होंने इस कार्य के लिए कई बार प्रेरित भी किया। अभी तक पर्याप्त पाण्डुलिपियाँ प्राप्त न हो सकने के कारण मैं उनकी इस इच्छा को पूरा नहीं कर सका हूँ।

निश्चयतः, आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज ज्योतिष और मन्त्रवाद के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी सरल प्रकृति आज भी मुझे स्मरण है। इस युग में जिन्होंने जैन धर्म का प्रचार व प्रसार किया है, उन महापुरुषों में आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी भी परिगणित हैं। मैं युग-प्रवर्तक उक्त दिवंगत आचार्य श्री के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करता हुआ आपके इस प्रकाशन सम्बन्धी प्रयास की श्लाघा करता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ जैनधर्म, दर्शन और साहित्य का एक कोश होगा।

—(स्व०) डा० नेमीचन्द्र जैन शास्त्री
एम०ए०, पी-एच० डी०

आरा (बिहार)

सदाचार के पोषक

श्री पूज्य महावीरकीर्ति महाराज सदाचार के पूर्णतया पोषक, स्पष्टवक्ता, विद्वानों का आदर करने वाले एवं कठोर तपस्वी थे। विचार विमर्श में विरोध पक्ष की सुनने की क्षमता रखते थे तथा उचित को मानते भी थे। मैं उनके गुणों में आदर रखता हुआ पूज्यवर के प्रति अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करता हूँ।

एटा (उ०प्र०) **—मनोहरलाल जैन शास्त्री**

शत-शत नमस्कार है

श्री महावीर कीर्ति मुनिवर को, मेरा शत-शत नमस्कार है ॥

जहाँ धर्म से शुष्क धरा थी, वहाँ धर्म का स्रोत बहाया,
जहाँ भटकते हुये प्राण थे, उन्हें ज्ञान का पन्थ दिखाया।
यह मानव पर्याय, क्यों मिली, इसका निश्चित ध्येय बताया,
आच्छादित अज्ञान तिमिर में, जैनधर्म का रवि चमकाया ॥
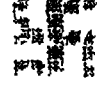
मुनि की अद्भुत आत्मशक्ति का, ज्ञान अलौकिक चमत्कार है।
श्री महावीर कीर्ति मुनिवर को, मेरा शत-शत नमस्कार है ॥ (१)

उनके गहन सदुपदेशो से, सीधा पथ ज्ञान का पाया,
शिव तक जाने का भविकों को, स्याद्वाद का मर्म सुनाया।
धर्म-विमुख अज्ञानी जन को, धर्म-रहस्य सदा समझाया,
बीहड औ बजर हृदयो मे, नय का निर्झर-नीर बहाया ॥

उनके द्वारा वही लोक मे, लोक हितैषी धर्म-धार है।
श्री महावीर कीर्ति मुनिवर को, मेरा शत-शत नमस्कार है ॥ (२)

आचार्यों की ज्ञान-गिरा मे नय-सरिता गर्भित रहती है,
ऐसी सरिता धरती-तल पर, सुख-संगम बनकर बहती है।
उनका जल पीकर मुमुक्षुजन, जिज्ञासा पर जय पाते है,
अपने ज्ञानदीप का रवि, दर्शन के द्वारा चमकाते है ॥

प्राप्त आत्म अनुभूति नहीं तो, सारा जीवन निराधार है।
श्री महावीर कीर्ति मुनिवर को, मेरा शत-शत नमस्कार है ॥ (३)

मुनि महावीर कीर्ति जी द्वारा, जो धार्मिक सम्पदा मिली है,
आत्मलोक के ज्ञान-कुञ्ज मे, यत्र तत्र सर्वत्र खिली है।
धर्म अहिसा गर्भित रचना, यह आचार्यों की सस्कृति है,
अब भी इस पतनोन्मुख युग मे, उनका दिव्यज्ञान जागृति है ॥

उनके बिना आज यह दिखता, सूना-सूना जग असार है।
श्री महावीर कीर्ति मुनिवर को मेरा शत-शत नमस्कार है ॥ (४)

रामपुर (उ०प्र०) —आशुकवि कल्याणकुमार 'शशि'

आगमचक्षु कठोरतपस्वी

श्री १०८ पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज प्रबुद्ध मुनियों में से एक थे। उन्होंने आगम का विधिवत् अध्ययन कर उसका अनुगमन किया था। उन्होंने अपनी सरल तथा उत्साहवर्धक पाठन शैली से कितने ही शिष्यों का जीवन समुन्नत बनाया था।

विद्याध्ययन का फल सम्यक् चरित्र को धारण करना है। उसके बिना 'ज्ञानं भार क्रियां बिना' के सिद्धांतानुसार कोरा ज्ञान एक भार रूप ही है, ऐसी आपकी श्रद्धा थी और उसी श्रद्धा के अनुसार आपने विद्याध्ययन के अनन्तर महाव्रत धारण किये थे।

आपकी आगम निष्ठा और तपश्चर्या श्लाघनीय थी। आपकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था। आपके स्वर्गस्थ हो जाने से भव्य जीव हित देशना से वञ्चित हो गये हैं। आपके चरणों में मेरी नम्र श्रद्धाञ्जलि है।

—डा० पन्नालाल साहित्याचार्य
मन्त्री
भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
सागर (म० प्र०)

सच्चे योगी

पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज, सच्चे-योगी, तपस्वी एवं कर्मठ साधु थे, जिन्होंने अपने जीवन का बहुभाग योग-साधन, तीर्थस्थान एवं धर्मोपदेश में व्यतीत किया। उनके अभाव की पूर्ति होना अति दुष्कर है। उनके प्रति मैं सविनय अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं।

—रामप्रसाद जैन शास्त्री
श्री महावीर हायर सेकण्डरी स्कूल
लाडनूं (राजस्थान)

* पाँच प्रेरक प्रसंग *

पंडित महेन्द्रसिंह जी (बाद मे आचार्य महावीरकीर्ति जी) की और सेठ छदामीलाल जी की घनिष्ट मित्रता थी। वे दोनों साथ-साथ चन्द्रप्रभु मन्दिर में दर्शन करने में लिये जाते थे। एक दिन बात-चीत में पंडित जी ने कहा— मैं तो साधु बनने की इच्छा करता हूँ, जिससे मानव-जीवन सफल हो, और आप ? सेठजी ने उत्तर दिया— मैं तो करोडपति बनने की इच्छा करता हूँ, जिससे खूब धर्म की प्रभावना कर सकूं।

दोनों की इच्छायें जिन-दर्शन से फलवती हुई। दोनो ने अपनी दिशा में उतना कार्य किया कि जितना भी उनमें शक्य और सम्भव था।

卐 २ 卐

'यदि आप मेरे हाथ से आहार लेंगे तो मैं आपके संघ को विहार के लिए सभी सुख-सुविधायें जुटा दूंगा।'— फीरोजाबाद के सुप्रसिद्ध सेठ छदामीलाल ने कहा। 'तुम्हारे हाथ से आहार की बात तो बहुत दूर की है, मैं तुम्हारे यहां से आये पदार्थ भी नही लूंगा।'— आचार्य महावीरकीर्ति जी ने कहा, मुझे मालूम है कि तुम्हारे लडके ने अन्य जाति में विवाह किया है। पहले उसके यहां भोजन करना छोड़ो, उसकी पृथक व्यवस्था करो, फिर मुझ से आहार के लिये कहना तो मैं विचार करूंगा।

卐 ३ 卐

आचार्य महावीरकीर्ति जी कुन्थलगिरि चातुर्मास में पहाड़ पर ध्यान के लिये जाते थे। एक स्त्री के रुदन की ध्वनि सुनी तो आचार्य श्री ने उसके रुदन का कारण श्रावकों से पूछा। उन्होंने बताया— यह स्त्री कहती है कि मेरा सम्बन्ध अन्य जाति में हुआ था। मेरा पति मर गया तो घर के लोग कहते है, घर से बाहर निकलो, हमारा तुम्हारा क्या सम्बन्ध ?

शायद इसीलिये आचार्य श्री विजातीय विवाह के विरोधी थे।

卐 ४ 卐

आचार्य श्री ससंघ बिहार करते हुये डूंगरपुर (राजस्थान) में पहुँचे। आहार के बाद— 'मन्दिर में उपदेश होगा' कहकर सामायिक करने लगे। थोड़ी देर बाद मन्दिर में महाराज श्री का स्वर्णोपदेश प्रारम्भ हो गया। चूंकि नरेश भी महाराज श्री का उपदेश सुनने के इच्छुक थे, इसलिये उन्होंने संघपति के सम्मुख चर्चा की, पर वे उन्हें बातों में टालते रहे कि शायद नरेश जैन मन्दिर में न जावें,

पर जैसे ही बातों में विदित हुआ कि राजा तो सभी धर्मों को सम्मान देता है तो वे साथ लेकर मन्दिर चले।

नरेश ने मंदिर में पूजन योग्य सामग्री भगवान के सम्मुख चढ़ाई। श्रद्धा-विनय लिये नमस्कार किया। तदनन्तर आचार्य श्री को भी अर्घ्य चढ़ाकर नमस्कार किया और प्रवचन सुनकर अतीव हर्ष प्रकट किया, अपना अहोभाग्य माना।

卐 ५ 卐

आचार्य श्री चन्देरी में थे। अनायास ही उनकी दृष्टि एक महिला पर पड़ी। उसके विषय में लोगों से पूछा तो विदित हुआ कि वे महाराज श्री के सहाध्यायी सुमित्र पंडित दयाचन्द्र जी की गृहिणी हैं। उन्होंने तत्काल कहा— बहिन तुम यहाँ! अरे तुम्हारे पति तो बड़ी विपत्ति में हैं। तुम शीघ्र ही उनके समीप जाकर उन्हें सान्त्वना दो।

यह सुनकर उस महिला ने घर वालों से पत्र लिखवाया। जो उत्तर आया, उससे विदित हुआ कि पंडित जी की नौकरी छूट गई है और वे मरणासन्न अवस्था में है।

महिला ने मन में कहा— 'आज भी सत्यवादी दूरदर्शी मुनि मिलते है।'

जावरा (म०प्र०) —सन्तोषकुमार जैन 'सरोज'

महावीरकीर्ति का नाम रहेगा

मरने के राही सभी जीव हैं, एक रोज मर जाते है।
किन्तु धन्य उनको जो, अपना नाम अमर कर जाते हैं॥
चमक रही है ज्योति उन्हीं की, वह प्रकाश फैलाते हैं।
अमृतवाणी को किरणों से, सबका मन हर्षाते हैं॥
सिंह केसरी सम मुनिवर जी, नगरों नगर विचरते हैं।
जिन शासन का मार्ग बता, कल्याण जीव का करते हैं॥
बहुत दिनों पश्चात् हस्तियाँ, ऐसी भू पर आती हैं।
जिनके गुण-गौरव की जग में, सुयश-ध्वजा फहराती हैं॥
जब तक चमके चाँद सितारे, बहती गंगा-यमुना धार।
महावीरकीर्ति का नाम रहेगा, 'प्रेम' रटेगा सब संसार॥

आगरा] —सूरजभान जैन 'प्रेम'

शंका का समाधान

प्रातः स्मरणीय १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के दर्शन का सौभाग्य मुझे सर्व प्रथम उस समय प्राप्त हुआ जब आप खानियांघाट-जयपुर में विराजमान थे। मैं जिस समय वहाँ पहुँचा, आप आहारार्थ उठ चुके थे। श्री ब्र० सूरजमल जी से निवेदन किया कि मैं महाराज से अत्यावश्यक कार्यवश मिलने आया हूँ। कैसे मिलना हो सकता है, बताइये ? ब्रह्मचारीजी बोले—महाराज से मिलना बड़ा कठिन है, कल बात हो सकेगी। मैंने कहा— 'मैं तो आज ही वापिस लौटूंगा। कोई प्रयत्न कीजिये।' बात समाप्त हो गई और ब्रह्मचारी जी आहार देने चले गये चौके में ! मैं भी इस प्रकार वहाँ जाकर खड़ा हो गया कि आचार्य महाराज की दृष्टि मुझ पर पड़ जाय और हुआ भी ऐसा ही।

आहार निर्विघ्न समाप्त हो गया। ब्रह्मचारी जी ने मेरा मनोरथ कह दिया और मुझे सामायिक के बाद दस मिनट का समय दिया गया। मैं यथा समय उपस्थित हुआ पर चित्त में कुछ भय लगा हुआ था, न जाने कैसी बीते। अपरिचित होने हुये भी मैं पूर्णत. आश्वस्त था। महाराज श्री मुझसे अजमेर तथा मेरे परिवार के नाते पूर्व ही परिचित थे।

दूसरी नसियां में उद्यान की मध्य कोठरी उनकी सामायिक स्थल था। मैंने नमस्कार किया। आचार्य जी ने कोठरी के कपाट बन्द करा दिये और जल्दी ही विचार प्रकट करने के लिये कहा। मैंने निवेदन किया कि मुझे मन्त्र सम्बन्धी सन्देह है, विशेषतः कलिकुण्ड मंत्र मंत्र के सम्बन्ध में। मैं आपके अनुभव जानना चाहता हूँ। विद्यानुवाद पास में ही था। तत्काल खोलकर इस प्रकरण के कई पाठान्तर मुझे बताये और अनेक अशुद्धियों का दिग्दर्शन कराया। मुझे उसी दिन मन्त्र-शास्त्र पर विशेष आस्था हुई तथा मंत्र साधनाओं में इस युग के व्यक्तियों का प्रवेश क्यों नहीं होता है ? इसका कारण ज्ञात हुआ। यह नितान्त सत्य है कि बिना गुरु के निर्देशन के मन्त्र-फल-प्राप्ति कठिन है। आजकल तो अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो रही है। मार्ग निर्देशक और अनुभवी मन्त्र शास्त्रज्ञ कोई विरले ही है।

मैंने उत्सुकतावश पूछ ही लिया—महाराज ऐसा सुनता आ रहा हूँ, मंत्र-साधन करना त्यागी वर्ग के लिये निषिद्ध है। कई धार्मिक इसे मिथ्यात्व मानते हैं, क्या यह ठीक है ?

वे प्रसन्न मुद्रा में बोले—"आज का त्यागी वर्ग उतना आत्म-बली नहीं है कि विद्यासाधन के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करे। गुरु-निर्देशन के अभाव में इस प्रक्रिया में हानि भी हो जाती है, अतः कोई इस ओर नहीं आता।'

इस पर मैंने कहा कि आप इस ओर क्यों अभिरुचि रखते हैं ? क्या यह संयम-बाधक कार्य नहीं है ? आचार्य श्री का उत्तर था कि हमारा लक्ष्य आत्म-कल्याण ही है। हम सांसारिक वैभव तथा वासना को छोड़कर महाव्रती बने हैं। हमें रत्नत्रय का लाभ चाहिये। पर हम जब ध्यान में एकाग्र नहीं हो पाते हैं, तब जिनेन्द्र भक्ति करते हैं। जिनेन्द्र गुण-स्मरण भक्ति का ही अंग है और मन्त्रों में जितनी अक्षरावलि है, वह श्रुतज्ञान रूप या पंच परमेष्ठी शब्द वाचक है। उनका स्मरण करने से आत्म-शक्ति बढ़ती है तथा मन्त्राधिष्ठित देवता हमारी ओर आकर्षित होते हैं। इन देवताओं को हम आशीर्वाद देते हैं। ये देवगण धर्म-वात्सल्य-युक्त होते हैं और हमारे भक्तों को आशीर्वादात्मक लाभ प्राप्त करा देते हैं। लोग यह समझते हैं कि हमने लाभ कराया है, पर वास्तविक बात यह है कि हम तो मन्त्रों की आराधना करते हैं। हमें भाव-शुद्धि प्रिय है। यदि इस प्रक्रिया से हमारे द्वारा प्रदत्त मन्त्र से किसी का पुण्य किसी के निमित्त से उदय में आजाय तो हमारी कोई हानि नहीं, प्रत्युत् जैन-धर्म की प्रभावना होती है।

मेरी शंका का समाधान हो गया था।

अजमेर —धर्मालंकार पं० हेमचन्द्र जैन शास्त्री

श्रद्धासुमन

गुरुवर श्री १०८ पूज्य महावीरकीर्ति जी महाराज के पुण्य स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं पूज्य श्री की महान् आत्मा से कामना करता हूँ कि हम सब साधर्मी भाइयों को आपस के वैर-विरोधों को मिटाकर वात्सल्यता से रहने की व अन्य जैनेत्तर दर्शनकारों के प्रति माध्यस्थ भाव सदैव बना रहे, ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें तथा मैं अपनी ओर से उनके पावन चरणों में हार्दिक श्रद्धा-सुमन अर्पण करता हूँ।

लश्कर (राज०) —भगवतीप्रसाद 'बरैया'

महती क्षति

वास्तव में महावीरकीर्ति जी जैसा निर्भीक और धर्मवेत्ता, जो कि १८ भाषाओं के ज्ञाता थे, ऐसा तपस्वी विद्वान् साधु होना असम्भव है।

देवबन्द (सहारनपुर) —पं० लक्ष्मीचन्द्र जैन शास्त्री

मुमुक्षुओं के लिये मोक्ष शास्त्र
आचार्य श्री

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी का तपःपूत जीवन जैन-समाज के भावी वर्ग के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। वे चारित्र शिरोमणि आध्यात्मिक संत थे, जो अपनी उच्चतम दीक्षा के द्वारा निरन्तर अपने जीवन को उन्नत बनाते चले गए और जब उन्होंने पार्थिव शरीर का त्याग भी किया, तब भी उनके योग्य शिष्यों की एक शृंखला समाज का मार्गदर्शन करने के लिए विद्यमान है।

महाराज श्री का जन्म उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद नगर में वैशाख कृष्ण ९, विक्रमाब्द १९६७ को और इस लोक से प्रयाण गुजरात के महसाना नगर में माघ कृष्णा ६ विक्रमाब्द २०२८ को हुआ। उनका ६१ वर्ष का वंदनीय जीवन मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष-शास्त्र के समान था। वे मुनिगण मुकुट एवं महान् तपस्वी और उद्भट विद्वान थे। उनके जीवन के पवित्र एवं प्रेरक सन्दर्भ आज भी दीप-स्तम्भ की भांति साधकों के मार्ग-दर्शक हैं।

पद्मावती पुरवाल राजकोषाध्यक्ष श्री नेमीचन्द मोदी जी के परिवार में आचार्य श्री का जन्म हुआ। आपके पिता का नाम श्री रतनलाल था तथा आप पांच भाई थे। आचार्य श्री बाल्यकाल से ही वैरागी थे। जब वे मां के गर्भ में थे, तब उनकी माताश्री के वैराग्य-पूर्ण भाव थे, जिनका संस्कार आचार्य श्री पर पड़ा। उन्होंने मुरैना, इन्दौर, आदि के सुप्रसिद्ध विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की और शास्त्री, न्यायतीर्थ आदि परीक्षाएं पास कीं, जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए तो माता पिता ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु वैरागी का विवाह न हो सका, उनका विरक्त मन संसार में अनुरक्त न हो सका। संवत् १९९५ में आपने आचार्य वीरसागर जी से क्षुल्लक दीक्षा ली और ३२ वर्ष की अवस्था में आपने आचार्य आदिसागर जी से मुनि-दीक्षा ली और आपका नाम महावीरकीर्ति हुआ। आप वक्तृत्व कला में मर्मज्ञ थे, आपके गुरु महाराज जी ने उन्हें अपना आचार्य पद प्रदान कर स्वर्गारोहण किया और आपने सारे देश में अपने गुरु की आदर्शवाणी के प्रसार का निश्चय कर मंगल-विहार किया।

आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज दक्षिण भारत के बेलगाव जिले की शेडवाल नगरी में पधारे। वहां रत्नत्रयपुरी के अशोकवृक्ष के नीचे सन् १९४६ में आप को विधिवत् आचार्य पदवी से विभूषित किया गया। रत्नत्रयपुरी में रहते हुए आपने सुभग लोल कीर्तिकार से कन्नड भाषा का ज्ञान

प्राप्त किया और फिर कन्नड में भी उपदेश देने लगे। आप कन्नड के सुप्रसिद्ध कवि रत्नाकर के 'रत्नाकर शतक' का भली-भाँति मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करते थे। आपके प्रवचन में बहुत अच्छी उपस्थिति रहती थी। गाँव में ४५ से ७० चौके लगते थे। खेडवाल के जनमानस पर आपका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और लोगों में धर्म के प्रति रुचि पैदा हो गई। उस समय मैं सत्रह वर्ष का था और महाराज श्री की सेवा में निरन्तर रहता था। भाद्रपद शुद्ध १४ सन् १९४५ को मैंने आचार्य श्री से अखण्ड ब्रह्मचर्य-अणुव्रत की दीक्षा ग्रहण की। उसके बाद माता-पिता को बुलाकर अपने साथ ले जाने के लिए और दीक्षा देने के संबंध में उन्होंने दोनों बातों की अनुमति ली। दोनों ने प्रसन्न चित्त से अनुमति प्रदान की। वहाँ से आचार्य श्री का संघ मंगल विहार करते हुए ऐनापुर नामक ग्राम में पहुँचा। वहाँ के पाटिल और नागरिकों ने भव्य स्वागत किया। आचार्य श्री संघ सहित एक माह तक वहीं विराजे।

आचार्य श्री अपने संघ में शिष्यों को एक घण्टे धर्म पढ़ाते थे। उसके बाद आगे कृष्णा नदी के किनारे गुण्डवाड नामक छोटे से ग्राम में पाँच दिन के लिये निवास किया। यहाँ पर लोगों को अच्छा धर्म-प्रबोध दिया। इस गांव मे तेली, धोबी, कुम्हार और बढ़ई छोड़कर सब जैन ही रहते हैं। वहाँ से संघ का विहार होते हुए सिरगुर नामक ग्राम पहुँचा। वहाँ तीन दिन रुकने के पश्चात संघ तमदड्डी गांव में, जो भव्य पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर का मन्दिर है, वहाँ त्यागी निवासगृह में विराजमान हुआ। एक माह के पश्चात् फाल्गुन शुद्ध १३ को मुझे आचार्य श्री ने क्षुल्लक दीक्षा दी। आस-पास के इलाके के भक्तगण इस अवसर पर बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। दीक्षा की रात मुझे गुफा में एक बिच्छू ने काट खाया, जिससे मैं रात भर न सो सका। दो दिन बाद वहाँ से आगे विहार करते हुए हलीगली पहुँचे, जहाँ पर आचार्य पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु की अनेक गुफाएँ विद्यमान हैं। ईसापूर्व ३६५ की बनी हुई उन गुफाओं में संघ जाकर ठहरा। एक घण्टे के लिए नगर में आहार के लिए जाते, बाकी सारा समय तत्त्वचर्चा एवं धर्म ध्यान में व्यतीत करते। उनके साथ रहकर हमने मुनिचर्या के अनेक अनुभव प्राप्त किये।

आज भी उनकी छत्रछाया हमारी स्मृति में विद्यमान है।

मेरठ] —मुनि श्री विद्यानन्द जी

—∞—

❋ सत्यमेव जयते ❋

'सत्यमेव जयते' भारत राष्ट्र का जीवन सूत्र है। इसका अर्थ है सत्य ही जीतता है। यह 'ही' क्या कहती है ? 'ही' कहती है कि 'अन्त में'। मतलब यह कि बीच में असफलता के लाख समुद्र आयें पर सत्य उनमें डूबता नहीं, पार जाता है।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

·········महापुरुष मिलते हैं पुण्य महान से !

शीतल अमृत झरे चन्द्र से, ज्योति मिले दिनमान से ।
किन्तु जगत को महापुरुष, मिलते हैं पुण्य-महान से ॥

जिन्हें इष्ट से प्रीति न होती, भीति न होती द्वेष से ।
करुणामय जिनका अन्तर, जो लगते हैं शिशु वेष से ॥
ऐसे वीतराग-प्रभु के लघुनन्दन जो मुनिराज हैं—
उनके दर्शन-वन्दन से, बच जाते मानव क्लेश से ॥

रत्न-राशियाँ मिलें सिन्धु से, स्वर्ण मिले या खान से ।
किन्तु जगत को महापुरुष, मिलते हैं पुण्य महान से ॥

तप से ताप हटा कर अघ का, बरसाते रस-धार जो ।
आत्म-शुद्धि को लेते है, आचरणों का आधार जो ॥
ध्यान-साधना की सुगन्ध से, सुख देते संसार को—
परिभाषा बन कर सुधर्म की, कर जाते भव पार जो ॥

ज्ञान भले सम्मान दिलाए, बुद्धि बढे विज्ञान से ।
किन्तु जगत को महापुरुष, मिलते हैं पुण्य महान से ॥

जिनकी वाणी होती है, हित-मित-प्रिय के प्यार-सी ।
जिनकी पावन-मुद्रा लगती, गिरि के ठोस उभार-सी ॥
इच्छायें यों रखते वश मे, जैसे चालक यान को—
उनकी कीर्त्ति-सुवास चतुर्दिक, खिलती मलय-बयार सी ॥

नव प्रकाश से तम ढल जाये, ऋतु बदले मधु-गान से ।
किन्तु जगत को महापुरुष, मिलते है पुण्य महान से ॥

—प्रकाश जैन साहित्यरत्न
सम्पादक 'युगवीर' पटना

मर्यादा पुरुषोत्तम के पुनीत संस्मरण

संसार कटु वृक्षस्य, द्वे फले ह्यमृतोपमे ।
सुभाषित रसास्वादः संगतिः सुजनैर्जनैः ॥ —भर्तृहरि

वस्तुतः संसार महाकटु है । उसमें भी कलियुग-हुण्डाव सर्पिणी-काल । वर्तमान युग की भयंकरता में मानव जीवन त्रस्त हो रहा है । मानवता कांप रही है । चारों ओर अत्याचार अनाचार अनीति और उत्पात छाये हुए हैं । इस विषम परिस्थिति में सुख और शान्ति के दो ही सरल उपाय है— १. मधुर भाषण २. सत्पुरुषों, का समागम । साधु-संतों का दर्शन मात्र ही पुण्य वर्द्धक, पाप-नाशक, कल्याणकारक और हितसाधक है । कहा भी है—

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थं भूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं, सद्यः साधु समागमः ॥

साधुजन जीवन्त तीर्थ हैं । जड़भूत तीर्थ तो समय आने पर फल प्रदान करते है, किन्तु सत्साधुओं का समागम तत्क्षण ही उत्तम-शुभ फल प्रदान करता है । उसमे भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं का संगम तो उभय लोक में सुख प्रदान करता है । मेरे हृदय में बचपन से ही सज्जन के गुणों में अनुराग रहा है । साधु-दर्शन को मेरी आँखें सतत तरसती रहती हैं, मै यथा शक्ति साधुजनों के सम्पर्क-सेवा में रहने का प्रयत्न करती रही । सिद्धक्षेत्र भक्त-शिरोमणि, समाधि-सम्राट् चारित्र रत्न, उद्भट विद्वान, जैन सिद्धांत पारंगत, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र विद्या विशारद, परमपूज्य, परम-निस्पृही, वीतरागी, दिगम्बर गुरुदेव श्री १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज की यशोगाथा सुनते ही मेरी आत्मा प्रफुल्ल हो उठती, मन उनके चरणों में लोटने को मचलता, शरीर रोमांचित हो जाता और मैं श्री १००८ बाहुबलि स्वामी के समक्ष नत मस्तक हो उनके शीघ्र दर्शन की भावना को प्रतिफलित होने की प्रार्थना करती ।

कभी-कभी मन अधीर हो जाता, क्या करूँ ? कैसे उन तपोधन ऋषिवर को पाऊँ ? वह कौन-सा दिन होगा कि उनकी सौम्यभाव-संयुक्त छवि का अवलोकन कर अपने को भी समता रस वाली बना सकूँगी ? संसार-शरीर-भोगों से विरक्त उस साकर प्रतिमा-स्वरूप गुरुवर्य को कब पाऊँ ? उनकी अनुपम वाणी ही मेरे उपादान को जगा सकेगी । उनका वैराग्य और त्याग अवश्य मेरे जीवन-तम को ज्योतिमान कर सकेगा । उनकी प्रेरणा से ही मेरी सद्गति होगी । उनके ज्ञान-लोक में :मेरा

अविद्या-तिमिर नष्ट हो सकेगा। उन महात्मा की चरण रज से मेरा मस्तिष्क पावन हो जायेगा आदि और भी अनेकों ऊहा-पोह तर्क-वितर्क सागर की लहरों के समान उठते और असहाय की भांति मचल कर बिखर जाते, परन्तु उनकी क्षीण-छाया अवश्य रह जाती।

"भावना भव नाशिनी" एक कवि ने कहा—

सांची जाकी लगन है वीर निबाहत टेक।
ओछा महाफल देत हैं और जात विसेक॥

जो दृढ़ प्रतिज्ञा, पूर्ण पुरुषार्थ से, सच्चे हृदय से किसी कार्य में संलग्न होता है, उसकी प्रयोजन-सिद्धि होकर ही रहती है। सांसारिक कार्य-सिद्धि ही नहीं सम्पूर्ण कर्म नाशक महाआनन्द स्वरूप चिद्-चमत्कार स्वरूप ज्ञानानन्द मोक्ष पद की भी सिद्धि हो जाती है। अस्तु, लगभग १९६१ के परम तपोधन ऋषिराज श्री १०८ महावीरकीर्ति जी गुरुराज विहार करते हुए श्री परम-पावन महातीर्थ सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेद शिखर जी के दर्शनार्थ आये। मार्ग में आपका संघ आरा नगर में पधारा। मेरा मन बांसों उछल रहा था। असीम खुशी थी। अब जी भर कर आपका दर्शन करूंगी। अमृतोपम उपदेशामृत-पान करूंगी। उनके जीवन के प्रकाश में अपने जीवन को भी आलोकित करूंगी।

संघ आया। चारों ओर धूमधाम मची। मैं विद्यार्थिनी भी थी और शिक्षिका भी। आरा आश्रम में ब्र० पं० विदुषीरत्न चन्दाबाई जी के संरक्षण में मेरा विद्याभ्यास हुआ और वहीं अध्यापिकी एवं आश्रम की देख-भाल करने का अवसर भी मिला हुआ था। अस्तु संघ के ठहराने आदि की व्यवस्था का अधिकांश कार्य मुझ पर ही रहा। गुरुदेव के दर्शन से परम शांति मिली। मैंने जैसा सुना था वैसा ही नहीं, उससे भी कहीं अधिक साधित, तपस्वी, ध्यानी, मौनी, मितभाषी आपको पाया।

आपका ब्रह्मचर्यव्रत महा कठोर था। इन्द्रिय-दमन अद्वितीय था। आप हजारों नर-नारियों के समक्ष उपदेश करते किन्तु नारी समाज की ओर कभी भी पूर्ण दृष्टि से नहीं देखते। मैं तो आपके उन्मेष नेत्रों को देखने के लिए बहुत आतुर हुई और चकित भी। हम कुछ लड़कियों ने इसका उपाय खोजा कि जिस समय गुरु महाराज श्री १०८ बाहुबलि स्वामी के दर्शनार्थ जाते तो हम लोग बड़े-बड़े घड़े भर कर जिनाभिषेक करने पीछे सीढ़ियों से चढ़ आते। आचार्य श्री को जिनाभिषेक देखने का अति अनुराग था। बस पूर्ण नेत्रों को खोल कर वे अभिषेक देखते, प्रभु की सौम्य छवि का अवलोकन करते और हम उनके निर्विकार, शान्त, मूर्तिमान स्वरूप का अच्छी तरह दर्शन कर लेते। यह था उनका इन्द्रिय-संयम, जिनभक्ति, जिनेन्द्र दर्शन का अनूठा अनुराग।

गुरुदेव का ध्यान बेजोड़ था। घंटों एकासन से खड़े रहकर आत्म-चिन्तन करते थे। अधिकांश समय स्वाध्याय में लीन रहते। थोड़ा समय उपदेश-प्रवचन करते। एक दिन उपदेश करते समय आपने ब्र० पं० चन्दाबाई जी से कहा— देखो बांट कर खाना चाहिए, अपना ही अपना पेट नहीं भरना, तुम्हारे पास दो लड़कियां हैं, यह (मुझे दिखाकर) सरस्वती और शान्ति। इस सर्वत को मुझे दे दो। यदि अब नहीं दोगी तो यह फिर आयेगी अवश्य। कह कर आप मुस्कराये और स्मित हास्य सहित बोले— आजसे इस का नामकरण मैं करता हूं "सरस्वती देवी।"

मेरे जीवन ने करवट बदली। गुरुदेव की भविष्यवाणी शीघ्र ही सत्य होने को मानो आतुर हुई। आपकी दूरदर्शिता प्रत्यक्ष होना चाहती थी। दो रोज के बाद मेरी भावना त्याग की ओर बढ़ी। मेरा मन गुरुदेव को आहार देने को तरसने लगा। मैं अब चुप न रह सकी। चर्या का समय आया, गुरुदेव कमण्डलु लेकर श्री मानस्तम्भ के पास शुद्धि कर रहे थे, मैं श्री फल लेकर वहाँ पहुंच गयी। मुझे देखते ही आपने अति वात्सल्य से पीछी उठायी और साथ ही दो उंगलियां भी। मैं समझ गई, मैंने कहा—'गुरुदेव क्रमश: मार्ग पर बढ़ाइये, अभी प्रतिमा नहीं लूंगी, मात्र शूद्रजल का त्याग करने आयी हूं।' कहकर श्री फल चढ़ाया, नमस्कार किया और गुरुराज का आशीर्वाद लेकर आई। माँ चन्दाबाई से कहा तो उन्होंने भी हंसकर कहा "महाराज की भविष्यवाणी अवश्य सच्ची होगी।" अच्छा किया। आहार दो। मेरी मनोकामना फलित हुई।

संध्याकाल गुरुदेव ध्यानारूढ़ हुए। मैं कुछ सहाध्यायी छात्राओं के साथ चुपचाप आपकी ध्यान-मुद्रा का दर्शन करती रही। आपके ललाट से मानों कोई अनुपम तेज निकल रहा था। चेहरा ज्योतिर्मय चमक रहा था, मानों ब्रह्मचर्य का तेज फूट रहा हो, शील की चिनगारियां निकल रही हों, तप का धाम झलझला रहा हो अथवा त्याग की किरणें फैल रही हों। जो हो, मुझे उस समय कोई अदृश्य शक्ति प्रेरणा दे रही थी कि "तुम इनके चरणों में रहकर अवश्य इस निंद्य मिथ्यात्व से प्राप्त स्त्री पर्याय का छेदन करोगी।" उत्साह और उमंग से भर मैंने श्री जिन भगवान की आरती की और सबके साथ गुरु महाराज की भी। आचार्य श्री का ध्यान समाप्त हुआ। समय पाकर मैंने अपना हाथ बढ़ाते हुए गुरुदेव से नमस्कार पूर्वक प्रार्थना की "महाराज श्री "मैं दीक्षा लूंगी कि नहीं मेरी हस्त रेखा देखिये न।" महाराज श्री जी ने क्षण भर देखकर और कुछ विचार कर संकेत किया—अवश्य लोगी, किन्तु अभी समय लगेगा। मैंने पुन: साहस बटोरा और प्रश्न किया "आपके करकमलों द्वारा होगी ? आपने उसी समय नकारात्मक सिर हिला दिया।" मैंने कुछ हतोत्साह हो कहा—मेरी तो तीव्र भावना आपके चरणों में रहने की है, गुरुदेव ! आपने आश्वासन दिया, रहोगी अवश्य। मैं बड़े असमंजस में पड़ी यह विरोधी आशीर्वाद सुनकर। परन्तु आज वह भविष्यवाणी सत्य होकर कार्यान्वित हो चुकी। मेरी दीक्षा सन् १९६२ में चैत्रबदी ३ शनिवार को आपकी भविष्यवाणी के अनुसार आपके प्रथम शिष्य तपोनिधि गुरुवर श्री १०८ आ० विमलसागर जी महाराज के कर कमलों द्वारा आगरा में सम्पन्न हुई और तीन वर्ष बाद ही आपका दर्शन एवं समागम दीक्षा-गुरु के साथ बड़वानी बावन गजासिद्ध क्षेत्र में हुआ। साथ ही चातुर्मास भी। आपका निमित्त ज्ञान, सामुद्रिक शास्त्र विज्ञान, ज्योतिष विद्या ज्ञान अगाध और अद्वितीय था। आपकी बहुमुखी प्रतिभा को पाकर मैं ही नहीं समस्त जैन समाज धन्य था, सनाथ था।

अब मेरा अधिकांशत: समय आपके ही सान्निध्य में व्यतीत होता था। मध्याह्नकाल में एक दिन जब मैं आपके ही साथ श्री आदीश्वर प्रभु के समक्ष कायोत्सर्गासन से सामायिक कर रही थी, आपने कहा 'देखो अब यह स्त्री नहीं पुरुष है। जो भगवान की छवि का एकाग्र दृष्टि से दर्शन कर ध्यान करता है, वह अवश्य ही पुरुष पर्याय धारण कर शीघ्र संसार से पार होता है, स्त्री का स्त्रीलिंग छिद जाता है। जिनेन्द्र प्रभु की सौम्य वीतराग मुद्रा के चिन्तन का अचिन्त्य माहात्म्य है। मेरा

तो दृढ़ विश्वास है, गुरुदेव की अटलवाणी अक्षरशः सत्य होगी ।

समय बीतने लगा । तेजी से गुरु-भक्ति बढ़ने लगी, समयानुसार प्रश्नोत्तरों से मैं अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने का उद्योग करती परन्तु तृष्णा बढ़ती जाती । एक दिन आचार्य श्री से पूछा "गुरुदेव मेरी तीव्र आकांक्षा है कि आप के मुखारबिन्द से योग्य सिद्धांत-शास्त्र और आचार शास्त्रों का अध्ययन करूँ ।" गुरुदेव प्रश्न सुनते ही गम्भीर मुद्रा में हो गये । कुछ क्षण मौन रहकर आपने उत्तर दिया "इसके लिए तो समय चाहिए ।" मैंने विशेष उत्सुकता और नम्रता से निवेदन किया– "अब मुझे और करना ही क्या है आचार्य श्री ? यह तो सही है ध्यान-अध्ययन ही साधु जीवन है" परन्तु चातुर्मास के बाद विहार भी तो करना होगा ?, गुरुदेव ने मुस्करा कर कहा । पुनः मैंने गिड़गिड़ा कर कहा "क्या आप मुझे अपने संघ में नही रख सकते ? मैं तो अब आप ही के साथ रहूँगी, आपको रखना ही पडेगा । मैं इस स्वर्ण अवसर को नही खो सकती, चाहे जो हो मुझे अपने साथ रहने की आज्ञा देनी ही पड़ेगी, एक साथ कई बातें कह मैंने आपके चरण पकड लिए और मासूम बच्चे की भाँति उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी । आपने बड़े शान्त भाव से कहा "बहुत जबरदस्त है महाराज यह, देखो अभी रोती है । पर देख चाहे जो हो, मैं तेरे गुरु की परवानगी के बिना नहीं रक्खूँगा । किसी की वस्तु पर नियत चलाना सत्पुरुषो का काम नहीं है । "मैं तिलमिला उठी । मुझे विश्वास न था कि मेरे परमपूज्य गुरुवर्य श्री १०८ आ० विमलसागर जी महाराज सरलता से आज्ञा देंगे । मैंने कहा यह तो असंभव-सा है । महाराज श्री मै जब रहना चाहती हूँ तो इसमें आपका क्या दोष ?" "यही तो तेरा बचपन है" आपने उंगली से संकेत करते हुए कहा "गुरु-आज्ञा बिना हरगिज नही रक्खूँगा ।" कोई चारा न देख कहा, गुरु महराज आज्ञा दे दें, इस के लिए आप ही उपाय बताइये । बस-आपने आदीश्वर प्रभु की मूर्ति की ओर हाथ जोड़ कर कहा-भगवान की भक्ति से सब कार्य सिद्ध होते है, असंभव भी संभव हो जाता है, पत्थर भी पिघल जाता है क्या विमलसागर नही पिघलेगा, अवश्य तुम्हारी कामना सफल होगी । ऐसी प्रगाढ़ अटल श्रद्धा थी आपकी जिनभक्ति में । आपके कथनानुसार मैं अधिकांश समय श्री आदिप्रभु की स्तुति-भक्ति-दर्शन और ध्यान में व्यतीत करने लगी ।

एक दिन आपने कहा "भाई मैं जंगली साधु हूँ मुझे सिद्ध क्षेत्रों मे अनुराग है, मैं प्रायः जगलों में ही रहता हूँ, चातुर्मास करना हूँ । न मेरा कोई संघपति है और न मेरे पास कोई साधन । आहार-विहार सब भगवान के नाम पर चलता है । उपसर्ग-परीषह सहना, भूखों मरना पड़ेगा मेरे साथ । सहोगी ? मैंने तीव्र उत्कण्ठा से कहा "साधु जीवन का आनन्द तो इसी मे है गुरुदेव, इन्द्रिय जन्य विषय-भोगों का मजा तो गृहस्थावस्था में बहुत लिया, उसमें शांति नही मिली तभी तो यह साधु अवस्था धारण की है, अब तो त्याग-वैराग्य का ही सच्चा आनन्द लेना है ।" ठीक है तो तैयार हो मार सहने को, देखो वास्तव मे सिद्धि का साधन तो यही है—

सपयत्थं तित्थयरे अभिगत बुद्धिस्स सुत्तरो यस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजम तव णाण दंसणं तस्स ।।
तम्हा णिव्वुदि कामं णिस्संगो णिम्मम्मो हवेइ तहा ।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं तत्तो लहु णिव्वाण पप्पोति ।।

अर्थात् उच्चतम पद शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन, संयम, ज्ञान तप दर्शन रहने पर भी यदि ममत्व भाव है तो आत्म-सिद्धि नहीं हो सकती, मोक्ष प्राप्ति के लिए तो निर्मम निःसंग-आरम्भ परिग्रह से पूर्णतः नव कोटि से दूर रहना चाहिए। तिल तुष मात्र भी परिग्रह संसार भ्रमण का कारण है, परम विरक्त होकर सिद्ध भगवान का ध्यान करने से शीघ्र मुक्ति प्राप्त हो जाती है। आरम्भ परिग्रह की बात भी साधु को नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त कथन से आपका गंभीर शास्त्र अध्ययन तर्कणाशक्ति, दूरदर्शिता, निमित्तविज्ञान पारंगतता तो प्रकट होती ही है, साथ ही निस्पृहता, लोकज्ञता और व्यवहार कुशलता का भी परिचय प्राप्त होता है। साथ ही अद्वितीय वात्सल्य, परोपकारिता और धर्मानुराग भी प्रकट हुए बिना नहीं रहता।

इसी चातुर्मास की घटना है। एक अग्रवाल परिवार इन्दौर से आया। माता, पुत्र और पुत्रवधू। मुझे उसका नाम याद नहीं परन्तु उसका बेटा डाक्टर है, उसकी गुरुभक्ति भी विशेष थी। बहुत कुछ प्रार्थना करने पर भी आपने उससे आहार लेना स्वीकार नही किया। आपने स्पष्ट कह दिया कि तुम निर्दोष हो, तुम्हारा जाति कुल वंश परम्परा शुद्ध है परन्तु तुम्हारे छोटे बेटे ने खण्डेलवाल की लड़की से विवाह किया है, विजाति विवाह करने वाले का ही नहीं, उसके हाथ का जो खाता-पीता है, हम उसके हाथ का भी आहार नही लेते। बेचारी बुढ़िया रोने लगी और कहा—महाराज ! मैंने उसे अनुमति नहीं, दी मैं क्या करूं ? मेरा क्या दोष है ? मेरा उद्धार कैसे होगा ? आप ही मेरी रक्षा का उपाय बतलाइये। आपने उसे दूसरी प्रतिमा के व्रत प्रदान किये और सभा में प्रतिज्ञा कराई कि जीवन भर उस विजाति विवाह करने वाले दम्पत्ति (बेटा-बहू) के हाथ का पानी नहीं पीऊँगी। इसी प्रकार उसके बड़े बेटे ने भी प्रतिज्ञा की कि अब हमारा और उसका खान-पान सम्बन्धी कोई व्यवहार नहीं रहेगा। इतना करने पर ही आपने उसके यहाँ आहार लिया। वस्तुतः आपका जीवन मर्यादा पुरुषोत्तम महाराजा रामचन्द्र जी का स्मरण कराता है। लोक-मर्यादा, धर्म-मर्यादा, समाज-मर्यादा का उल्लंघन तनिक भी आपको सहन नहीं होता था। विजाति विवाह का जिस प्रकार खण्डन करते थे, उसी प्रकार विधवा विवाह का भी जोरदार विरोध करने में दक्ष थे। इनका नाम भी सुनना नही चाहते थे। वे दृष्टान्त में कहा करते थे— अर्क कीर्ति ने सुलोचना के प्रति कहा था कि—

नाऽहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी भवदप्रियः ।
परासुरधुनैव स्यात्किं मे विधवया तया ॥२॥

अर्थात् अब ईर्ष्या या मात्सर्य से क्या प्रयोजन ? यद्यपि मैं अभी जयकुमार को प्राण-रहित कर सकता हूं परन्तु अब तो सुलोचना विधवा हो जायेगी, उससे मेरा क्या प्रयोजन ? अर्थात् विधवा स्त्री भोगने योग्य नहीं हो सकती।

आपके संघ में उस समय प्रभाचन्द्र नामक श्रावक व्यवस्थापक था। उसने एक दिन मुझसे कहा— "माता जी आचार्य महाराज ने कहा है कि "मेरे संघ के साधु चटाई नहीं रख सकते, किसी को पत्रादि

नहीं लिख सकते, घड़ी आदि कुछ भी नहीं रखते, पूरे नंगे नवाब रहना पड़ेगा। आप कैसे रहेंगी, माताजी! महाराज किसी की परवा नहीं करते, कोई मरे चाहे जीवे, वे तो अपने आत्म ध्यान में मौन बैठे रहते हैं, किसी से बात नहीं करते, आप रहना तो चाहती हैं पर बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा, ये तो कभी किसी व्यवस्था की बात नहीं करते, आप क्या करेंगी?" मैंने सब कुछ खूब ध्यान से सुना, विचार किया, चिन्तन के अनन्तर उत्तर दिया, 'आचार्य श्री के सभी सिद्धांत आगमानुकूल हैं, भगवान की वाणी के अनुसार चलना चाहिए।' अरे! ओखली में सिर दिया तो चोटों से डरना क्या? आचार्य श्री ने एक दिन स्वामी श्री कुन्दकुन्द की गाथा सुनाई थी—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवो जेमेहि मा बहु जंपह ।
दुक्खं सह जिणणिद्दा मित्ति भावेण सुट्ठु संवेगं ॥

अर्थात् हे साधु! शुद्ध निर्दोष भिक्षा ग्रहण करो, एकान्त जंगल मे निवास करो, अल्पाहार करो, मौन धरो, अल्प निद्रा लो, दुखों को सहन करने का अभ्यास करो, साम्यभाव से संवेग की वृद्धि करो। आचार्य श्री के जीवन में ये सभी बातें साकार रूप में विद्यमान हैं, मुझे भी इन्हें जीवन में उतारना है। मैं अवश्य उन्हीं के चरणों में रहूँगी। आज ही से चटाई बिछाना छोड़ देती हूँ, लो तुम ले जाओ। मुझे तो विश्वास है भैया—

अज्ञानोपास्ति अज्ञानं ज्ञानी ज्ञानसमाश्रय: ।
ददाति यस्तु यस्याऽस्ति सुप्रसिद्धमिदं वच: ॥

उनके पास जो हो, वही मुझे चाहिए और मेरी अंत:करण की लगन है तो मैं हर प्रकार से चेष्टा कर इन गुणों को अवश्य यथाशक्ति ग्रहण करूँगी।

अब विशेष रूप से मेरा प्रयत्न इसी विषय में था कि गुरु महाराज आज्ञा दे दें। "भावना भव नाशिनी" के अनुसार सफलता मिली। एक दिन बहुत कुछ प्रार्थना करने पर गुरु महाराज प्रसन्न हुए और कहा—"चलो, तुम नही मानती हो तो तुम्हें गुरुदेव को समर्पण कर देता हूँ" कह उठे और श्री पार्श्वनाथ भगवान के मन्दिर में जहाँ श्री १०८ श्री महावीरकीर्त्ति जी महाराज विराजमान थे, जाकर नमस्कार किया और प्रार्थना की "गुरुदेव ये दोनों बच्चे-बच्ची (अर्थात् मैं और १०८ मुनि श्री सन्मति सागर जी) आपके पास अध्ययन करना चाहते है, जब तक इनकी इच्छा हो पढ़ाइये।" हमने भी नमस्कार किया। गुरुदेव ने हम दोनों को शिष्य रूप में स्वीकार किया। हम भी परम तपस्वी, गुरुदेव को पाकर हर्ष से फूले नहीं समा रहे थे।

सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र पर निमित्त-नैमित्तक विषय की अधिक चर्चा होती। एक दिन संध्या समय प्रतिक्रमण के बाद मैं अपने गुरुभाई श्री १०८ मुनि सन्मति सागर जी महाराज के साथ समाधि-शतक का अध्ययन कर रही थी, आप उधर ही से निकले "साथ में कमंडलु लिये रतनलाल जी सेठ बड़ौदिया थे। आपने कहा, देखो इन लोगों की विद्या में कितनी रुचि है, एक मिनट भी बरबाद नहीं

करते, माँ बेटा के समान दिन भर अध्ययनरत रहते हैं। ऐसा ही साधु होना चाहिए। "आगम चक्खू साहू" भगवान ने आगम ही साधु का नेत्र कहा है। उपर्युक्त उद्‌गारों से आपके हृदय की पवित्रता, निर्मल भावना, सरल व्यवहार, अगाधवात्सल्य अपरिमित विद्यानुराग और संयम एवं संयमी के प्रति सद्भावना स्पष्ट प्रकट होती है। वस्तुतः आपका हृदय माँ का और मस्तिष्क सच्चे पिता का था।

ध्यान-अध्ययन आपके प्राण थे। कुन्थलगिरि की घटना है। अपराह्न काल में तीन बजे मौन के बाद, आप जिन-वंदन कर रहे थे, मैं प्रतिदिन के समान आपके साथ ही थी। सहसा आपने पूछा—विजय, तीन प्रकार के वैराग्यों में तुम्हें कौनसा सच्चा वैराग्य है ? मैं कुछ झिझकी किन्तु सत्य छिपे न कभी छिपाये, आग छिपे न रुई लपटाये। मैंने हाथ जोड़ कर कहा— महाराज श्री संसार-वैराग्य और भोग-वैराग्य, जितना है उतना शरीर-वैराग्य अभी तक नहीं है। सर्दी-गर्मी सहन नहीं हो पाती। खाना-पीना भोगादि से घृणा है। आपने सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा "वह भी अर्थात् शरीर-वैराग्य भी हो जायेगा। मैंने देखा है, आहार में तुम्हें समाधान रहता है। कितना सूक्ष्म निरीक्षण था, उनको शिष्यों के जीवन का। देखो, मैं जैसा करूँ वैसा तुम कभी करने की चेष्टा मत करना पर जैसा मैं कहूँ वैसा ही करना, वैसा करते रहे तो अवश्य सच्चे साधु बने रहोगे। तपस्या में बड़ी ताकत है महाराज, जो नहीं होने वाला है, वह भी तप से सुसाध्य हो जाता है।

> यद्दूरं यद्दूरासाध्यं यच्च दूरेव्यवस्थितं ।
> तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः ॥

बस इसे याद रखो। इसका सामायिक-ध्यान किया करो। देखो, जो आरम्भ-परिग्रह विषय-कषायों की चर्चा भी नहीं करता है, उनका नाम भी नहीं लेता, उसे सब कुछ स्वयमेव मिल जाता है। जो लोग वस्तुतः भक्ति करते हैं, उन्हें अंतरंग में शांति भी मिलती है।

एक बात है महाराज, ये दुनिया के लोग बड़े मक्कार है, बेईमान हैं, जानते हो मेरे सामने तुम्हारी निन्दा करेंगे, चुगली करेंगे और तुमसे मेरी बुराई करेंगे। हम-तुमको लड़ा देंगे और फिर स्वयं हमारा साधुओं का मजाक उड़ायेंगे कि देखो देखो साधु होकर लड़ते हैं, ये साधु हैं क्या ये तो सदा-बहार हैं, द्रव्य लिंगी हैं इत्यादि। इसलिए मैया जन सम्पर्क से सदा दूर रहना। पूज्यपाद स्वामी का यही आदेश है—

> जनेभ्यो वाक् ततः संसर्गः मनश्चित्त विभ्रमः ।
> भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥

देखो तुम जितने ही मौन से रहोगे, तुम्हें उतना ही आनन्द आयेगा, शांति मिलेगी, तुम्हारे सम्पूर्ण कार्य स्वयमेव सिद्ध होते आयेंगे।

"मौनं सर्वार्थ साधनं" मौन में बड़ी ताकत है, महाराज ! मौन से आत्म-बल बढ़ता है, वचन गुप्ति से दृढ़ संकल्प आता है, विचार और तर्कणा से शक्ति बढ़ती है, धैर्य आता है, निर्ममता और

निस्पृहता आ जाती है। उपसर्ग-परीषह सहन करने का साहस होता है, धृति-बल बढ़ता है, स्मरण शक्ति पैनी हो जाती है। बस मौन से रहा करो।

ऊन-पावागिरि में आप रत्नत्रय, के मन्दिर में विराजमान थे, ध्यान कर चुकने पर हम लोग सब साधु नमस्कार कर बैठे थे। आपने पूछा, "विजयामती तुम्हें समुदाय में रहना पसंद है या एकाकी ?" मैं निर्निमेष दृष्टि से आपकी शांत मुद्रा को देखती रही। कुछ क्षण बाद धीरे से मैंने कहा "अंतरङ्ग से तो मैं एकान्त ही अधिक पसंद करती हूँ किन्तु साधु समुदाय से स्वाध्याय, आहारादि क्रियाओं में सहयोग भी पसंद है।" आपने उसी शांत-भाव से उत्तर दिया, तब तुम मेरे पास रह सकोगी। आप हजारों साधु चाहते थे पर सब रहने वाले साधुता में हों। सदैव याद रखो "मर्दनं गुण वर्द्धनं" जो गुरुजनों के नियन्त्रण में रह कर तदनुसार चलेगा वह पत्थर से पारस हो जायेगा। "मैं डंडे लगाता हूँ तो क्या, तुम्हारी अक्ल तो ठिकाने आ जाती है न" दुनियाँ के चारे न लगना, आरम्भ-परिग्रह का स्वप्न भी नहीं देखना, पक्के अयाचक बनो, पीछी कमण्डलु लेकर भी आत्मा का दर्शन नहीं किया तो यह वेष निरर्थक है, यह तीर्थंकर का वेष ले, साधु झुका तो जिन-लिंग का अपमान होगा। यह तीन लोक का झण्डा है। तुम झुके तो धर्म का अपमान है, अतः क्षमी और दमी बनो। मै तेरा पृथक संघ बनाऊँगा। आर्यिकाओं का संघ स्वतन्त्र ही होना चाहिए। तू भी थोड़ा स्वतन्त्र उद्योग कर। मेरा क्या ठिकाना है, बूढ़ा बैल कब तक जुतेगा। वीतराग परम्परा का निर्वाह होना चाहिए। सब महावीरकीर्ति बनो, इत्यादि। आपके मर्मस्पर्शी वाक्य अब भी प्रतिध्वनित होते रहते है।

गिरनार मे आपने अद्भुत चमत्कार दिखलाया। वहाँ की शासन देवता अम्बिकादेवी (कूष्माण्डिनी) देवी का साक्षात् चमत्कार हुआ। अत्यन्त क्रूर स्वाभावी मिथ्यादृष्टी बाबालोग भी स्वयमेव झुक गये। उन्होने भगवान श्री १००८ नेमीश्वर प्रभु की टोंक पर पंचामृताभिषेक, पूजन आदि करने दी। उनके महंत ने धर्मशाला में आकर गुरुदेव से पर्वतराज की वन्दना के लिए स्वयं साथ जाकर वन्दना कराने की प्रार्थना की। ऐसे परमगुरु का जीवन भर सान्निध्य प्राप्त होगा और मेरी अंतिम समाधि सिद्ध होगी, यह अटल आकांक्षा थी परन्तु कर्म निर्दय है वह क्यो किसी की सुनने लगा।

संघ विहार कर महसाना आया और वह मरयाना के रूप में प्रकट हुआ। यहाँ श्री १०८ आ० श्री की समाधि हो गई और मैं अधकचरी अवस्था में ही अनाथ हो गई, मैं ही नहीं सारा दिगम्बर जैन समाज ही पंगु-अनाथ सा हो गया। अब तो एक ही चारा है मात्र उनके आदर्शों और आज्ञाओं का पुनीत स्मरण करते हुए तदनुसार चलने का।

मैं परम पावन १००८ श्री सम्मेद शिखर जी सिद्ध क्षेत्र अनन्त सिद्ध परमात्मा और चतुर्विंशति, पंच परमेष्ठी के पादमूल में अनन्त नमस्कार कर यही प्रार्थना करती हूँ कि उन परमगुरु के समान मेरा जीवन ठोस बने और अन्तिम समाधि सिद्ध कर स्त्री पर्याय का विच्छेद कर सकूँ।

ॐ शांति, गुरु चरणों में नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु।

—विदुषी आर्यिका विजयमती जी

है सजल वन्दन हमारी

प्रकाश जैन 'अमेय'
अलेसर (एटा)

स्वर्ण-पृष्ठों पर नहीं, मन-पृष्ठ पर अंकित रहोगे।
'क्या न कर सकता मनुज?' यह सत्य युग-युग से कहोगे।
देह से हो दूर, जन-जन के हृदय में तुम समाये।
ज्यों सुगन्धित वस्तु जलकर, दूर तक विस्तार पाये ॥

'कीर्ति' हे 'महावीर' अब, संसार की थाती रहेगी।
'विमल' है विस्तार तेरा, ज्ञान की ख्याती रहेगी।
खनकतीं दिन-रात चूड़ी, वहाँ प्रादुर्भाव पाया।
किन्तु तेरे भाषणों की खनक को है कौन पाया ?

स्वर्ण से उपदेश थे जो. शास्त्र की टकसाल ढाले।
तपस्या की ज्वाल से थे, पके संयम-तार-डाले ॥
मोक्ष का अधिकार पाने, को दिये जो ज्ञान-कगन।
दे न पावेगा कभी, 'चूड़ी-नगर' का कोई नन्दन ॥

नदी की थी तीव्रधारा, या कि तेरे प्रवचन थे।
सूर्य लाखों जल रहे, या तुम तपस्या में लगन थे ॥
दौड़ झंझावात की थी, या तुम्हारा पर्यटन था।
एक चाबुक सा लगा, या कसौटी का कसन था ॥

सीपी फिरोजाबाद को में, बूंद देवी बिमल मोती।
वन्दना की कामिनी निज, नेत्र-जल से चरण धोती ॥
शास्त्र की सिद्धान्त-वधुएँ, हुईं विधवा हे ब्रह्मचारी
युग-पुरुष महावीर कीर्ति, है सजल वन्दन हमारी ॥

महान दयालु आचार्य

एक आचार्य में जितने गुण होने चाहिये, वे सब गुण एकत्रित होकर आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी में समावेशित थे। वे महान् विद्वान तो थे ही, साथ ही कुशल संघ प्रशासक, शिष्य प्रशिष्यों के प्रति धर्मानुरागेण परम वात्सल्य कर्ता, महान् तपस्वी एवं प्रखर तथा निर्भीक प्रवक्ता, आर्षमार्गानुगामी, समग्र जीवों के प्रति महान् कारुणिक अदम्य साहस के धनी थे।

उनके ओजपूर्ण प्रवचन विरोधियों को भी नतमस्तक कर देते थे। उनकी प्रवचन शैली इतनी सरल सुगम एवं सरस थी कि जिसे सुनकर कठोर हृदय के व्यक्ति भी द्रवित हो जाते थे। शास्त्रों के मर्म को वे अपनी भाषा में इतने प्रभावक शब्दो मे प्रतिपादित करते थे कि अल्पज्ञों के भी दिल-दिमाग उसे हृदयंगम कर लेते थे।

जिस तरह वे अपने श्रावक जीवन में समाज के अग्रणी थे, उसी तरह संघ व्यवस्था में विरक्तों के भी श्रद्धास्पद एवं महान् अग्रणी बन गये थे। सदा ही ज्ञान, ध्यान, तप में रत रहते थे। उनका अधिकांश समय स्वाध्याय एवं आत्म चिंतवन में व्यतीत होता था। जैन-धर्म की प्रभावना कैसे हो? इस पर विद्वत्वर्ग से सदा ही विचार विमर्श किया करते थे।

विद्वानों के प्रति उनके हृदय में अत्यन्त धर्मानुराग था। विद्वानो का समाज मे सम्मान बढ़े, यह उनकी आकांक्षा जहाँ थी, वहाँ यह भी उनकी प्रेरणा थी कि विद्वान् स्पष्टवक्ता बनें, चन्द रुपयो में अपनी आत्मा को न बेचें। उनमे विद्या-बुद्धि रूपी अपूर्व धन राशि विद्यमान है, वे अपने को अचेतन धन के धनियों से किसी कदर हीन न समझे। विद्वान् तो देश और समाज के आभूषण हैं, गौरव हैं, प्रेरणा स्रोत है। एक विद्वान् जितना राष्ट्र और समाज को दे सकता है और राष्ट्र तथा समाज को जितना समुन्नत बना सकता है, उतना हजार धनिक नही बना सकते है।

विद्वानों के वे महान् प्रेरणा-स्रोत थे। वे अनेक विद्याओ व भाषाओ के जहाँ अनुपम ज्ञाता थे वहाँ वे घोर तपस्वी भी थे। जिन्होंने उन्हें ध्यान करते देखा है, छहढाला के इस छन्द को प्रत्यक्ष देखते थे कि "जिनकी सुथिर मुद्रा देख मृगगण, उपल खाज-खुजावते" वस्तुत: वे इतने ही सुथिर और एकाग्रचित्त हो जाते थे। घंटों इसी मुद्रा में खड़े-२ ध्यान किया करते थे।

उपवास के दिनों में उनका तेज अधिक बढ़ जाता था। भाषा में भी अधिक ओज आ जाता था। यह उनके महान् तप का ही प्रभाव था। वे घोर उपसर्गों व परषिहों को भी महान् सरल व

शान्त वातावरण की तरह सहन करते थे । कभी बेचैनी व आक्रोश के भाव उनके प्रशान्त चेहरे पर दृष्टिगत नहीं होते थे । श्री सिद्ध क्षेत्र गिरनार पहाड़ पर हुए उपसर्ग को उन्होंने जिस धीरता और वीरता से सहन किया था, वह किसी से छिपा नहीं है । मगर आचार्य श्री फिर भी उन उपसर्गकर्त्ताओं के प्रति दयालु थे । उनका यह कृत्य, वे उनकी अज्ञता व धर्मान्धता मानते थे ।

उन्होंने कहा था कि अज्ञता और मोह मिटने पर वे अवश्य पश्चाताप करेंगे और वस्तुतः हुआ भी यही । उपसर्ग कर्त्ताओं के हृदय परिवर्तित हुए और उन्होंने अपने कृत्य पर अफसोस जाहिर किया और क्षमा माँगी ।

यह आचार्य श्री के सरल हृदय और सत्वेषु मैत्री भावना की ही विजय थी । ऐसे थे हमारे महान् आचार्य श्री १०८ श्री महावीर कीर्ति जी महाराज । आज उनके बिना हम अपने को अनाथ, असहाय-सा अनुभव कर रहे हैं । सभी ओर कुछ सूना-सूना सा प्रतीत होता है । इस अपूरणीय क्षति की कैसे पूर्ति होगी ? सर्वज्ञ ही जाने ।

हम उन परम पूज्य, महान् तपस्वी आचार्य श्री के पावन चरणों में कोटि-कोटि श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं ।

निवाई (राज०) —राजकुमार जैन शास्त्री

※ आदर्श तपस्वी ※

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज आदर्श तपस्वी थे । उन्होंने जैनधर्म के दिव्य सन्देश को अनेकानेक लोगों को दिया । उन जैसे और भी आचार्य श्री हों, जो तीर्थंकर महावीर की कीर्ति-तुल्य, जैन धर्म को सही अर्थों में जन-जन के मन-मन का धर्म बना सकें ।

कासगंज (उ०प्र०) —लालचन्द्र जैन

उत्कृष्ट ध्यानी

श्रवणबेलागोला का दर्शन हमारा अन्तिम दर्शन रहा । इसके बाद हम कहीं भी दर्शन नहीं कर सके । श्री पूज्य आचार्य महाराज विशेष कर तपोभूमि सिद्धक्षेत्रों पर ही चातुर्मास योग करते थे । आपको सामाजिक मर्यादा की विशेष चिन्ता रहती थी । आपका आगम ज्ञान और उत्कृष्ट ध्यान वचनातीत है । आज श्री आचार्य महाराज हमारे बीच नहीं हैं परन्तु उनकी गुण गरिमा, तपोप्रभाव, आत्मतेज चर्म नेत्र बन्द करते ही ज्ञान चक्षु से दृष्टिगत होते हैं ।

करिहा (मैनपुरी) —भगवत्स्वरूप जैन "भगवत्"

जिन्होंने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया

जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् तरण-तारण, तपोनिधि, बहुभाषाविद् महान् उपसर्ग विजेता, सिद्ध-तीर्थ क्षेत्र वंदना भक्त शिरोमणि, विश्ववंद्य, प्रात: स्मरणीय श्री १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज की ६ जनवरी १९७२ को महसाना (गुजरात) में समाधि हो गई। यह समाचार अतीव मर्मान्तक वेदना मूलक है।

परमपूज्य महाराज श्री कुछ दिन से बीमार थे। दि० ४ को मुझे एक तार प्राप्त हुआ था जिसमें मुझे बुलाया गया था किन्तु दुर्भाग्य से व्यस्त होने से मैं जा नहीं सका। आचार्य श्री के दर्शन का कार्यक्रम बना ही रहा था। कौन जानता था कि इतने शीघ्र नश्वर संसार को छोड़कर वे ऊर्ध्वगमन कर जायेंगे। उनके निधन से जैन समाज की ही नहीं अपितु आध्यात्मिक जगत की जो महान् क्षति हुई है, उसकी पूर्ति अब सहज संभव नहीं है।

पूज्य श्री आचार्य महाराज की मुझ पर प्रारम्भ से ही विशेष कृपा रही। मुझे एक नही अनेक बार महीनों सपरिवार उनके दिव्य दर्शन व सत्संग का लाभ मिला था। आपके तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्पर्क में जो भी आता, सदा-सदा के लिये दास बन जाता। उनके अगाध पांडित्य, कठोर साधनामय जीवन एवं शिष्य वात्सल्य प्रकृति ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया।

महाराज श्री का धर्मानुराग, गहन प्रतिभा एवं तत्व जिज्ञासु वृत्ति आश्चर्यजनक थी। न्याय, व्याकरण, सिद्धांत, आयुर्वेद व ज्योतिष के वे प्रकाण्ड विद्वान व मर्मज्ञ थे। उनका धर्म-चिन्तन तल-स्पर्शी था और एक अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता होने कारण उनके प्रवचनों का जनता पर स्थायी प्रभाव पड़ता था। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता तथा जैन सिद्धांत के सिद्ध-हस्त प्रवक्ता थे।

आचार्यवर्य तपस्वीरत्न श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज जीवन में सतत साधना रत रहे। असाध्य साधन ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। समस्त प्राणियों के प्रति उनमें दया करुणा थी। वे सभी के चरमोत्कर्ष व कल्याण के इच्छुक थे। उनका अधिकांश समय एकांत में व्यतीत होता था। उपदेश देने के उपरांत वे प्राय: मौन ही रहते थे। उनका मौन भी बड़ा प्रभावशाली था। वह अशांत व्यक्तियों के लिए निरन्तर प्रेरणा का स्रोत रहा।

पूज्य महाराज श्री ने मात्र २२ वर्ष की अवस्था में ही पू० १०८ आचार्य आदिसागर जी

महाराज से सर्व संग परित्याग कर दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी और अनवरत साधना से अपने व्यक्तित्व को निरन्तर दैदीप्यमान बनाये रखा। उनको देखते ही धर्म जिज्ञासुओं की श्रद्धा उमड़ती थी। महाराज श्री ने अपने जीवन में अत्यन्त शांतिपूर्वक अनेक उपसर्ग सहे। ऐसे महान चारित्र चूड़ामणि संस्कृति-साधक, अमर सत्यान्वेषी की दिवंगत आत्मा के प्रति मैं अपनी ओर से एवं भा० दि० जैन महासभा की ओर से भाव पूर्ण हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं। मैं उनकी मृदु कल्याणी स्मृति लिये व्यथित हूं। वे महान् तपोनिधि, मुक्ति का लाभ कर सकें। यही महावीर स्वामी से प्रार्थना है।

परमपूज्य आचार्य महाराज चले गये, किन्तु उनकी प्रेरक स्मृति हमारे लिये सदैव प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगी। उनकी दिव्य स्मृति को साकार रखने के लिए अब हमें ऐसा ठोस कार्य करना चाहिए ताकि वे हमारे बीच सदैव अमर बने रहें।

—(स्व०) रा०सा० सेठ चांदमल सरावगी
सभापति भा० दि० जैन महासभा
अजमेर (राज०)

卐 महावीरकीर्ति-वैभव 卐

महावीरकीर्ति रहनुमा बनकर, दुनियाँ में आये थे।
इस नये जमाने की खातिर, पैगाम हकीकत लाये थे॥
उपदेश सदाकत उल्फत का, जनता को सुनाने आये थे।
अदना आला की भेद भरी, दीवार गिराने आये थे॥
दुनियाँ को परस्पर प्रेम भाव, की सुधा पिलाने आये थे।
भाईचारा बढ़े किस तरह, सबक सिखाने आये थे॥
शैतानियत के जुल्मों से, जीवों को बचाने आये थे।
मानव में मानवता होवे, वे यह बतलाने आये थे॥
बस याद उन्हीं की सदा रहे, वे हमें जगाने आये थे।
श्रद्धा के सुमन 'प्रेम' अर्पित, भव-पार लगाने आये थे॥

—सूरजभान जैन 'प्रेम'
आगरा

आचार्य श्री

एक आध्यात्मिक रत्न

परमपूज्य प्रतिभाशाली अनेक भाषाओ के ज्ञाता चारित्र परायण तपोनिधि आचार्य श्री १०८ श्री महावीर कीर्ति महाराज साधु समाज के देदीप्यमान रत्न थे।

वे आगम सम्मत सिद्धान्त के प्रतिपादन में निर्भीक कुशल वक्ता थे। उनके मुख मण्डल पर सौम्यता, वीतरागता और विद्वता की स्पष्ट छाप थी।

नेपाल नरेश की बहिन जब वैधव्य के कष्ट से पीड़ित हुई और मानसिक अशान्ति का अनुभव करने लगी तो उनका सम्पर्क एक जैन श्रीमंत द्वारा महाराज श्री से हुआ। ज्योंही वे आचार्य श्री के सम्पर्क मे आईं, उन्हें शान्ति का अनुभव हुआ, आध्यात्मिक-चर्या उन्हें रुचिकर लगने लगी, जीवन में सौन्दर्य आ गया, तत्वचर्या की ओर मन आकर्षित हो गया, मानव-जीवन की सफलता की सुगन्ध चारों ओर कैसे फैले ? यह विषय उन्हें प्रिय लगने लगा, 'महाराज के संघ मे रहकर आत्मिक शान्ति प्राप्ति होती है।' यह अनुभव करने लगीं।

उनके जीवन की दिशा एकदम बदल गई। उन्होने अपने एक भाषण में कहा, "मै एक दिन में साठ से अधिक सिगरेट पी जाती थी, जीवन अत्यन्त विलासमय था परन्तु आचार्य श्री के उपदेश से प्रभावित होकर अत्यन्त सात्विक धार्मिक मेरा जीवन बन गया है, जिससे मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई मानसिक संतोष हुआ।

इस प्रकार न मालूम कितने अशान्त हृदयों को शान्ति-पुञ्जों में परिवर्तित करने का श्रेय-आचार्य श्री को है, उनके अभाव से देश का एक आध्यात्मिक रत्न खो गया, जिसकी पूर्ति का होना कठिन है।

हम जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करते है कि स्वर्गीय महान् आत्मा को शीघ्र ही शाश्वत् सुख की प्राप्ति हो। उनकी पावन स्मृति में कोई महत्वपूर्ण संस्था की स्थापना हो, जिससे ज्ञान की किरणें चारों ओर फैलें।

—सुमेरचन्द जैन शास्त्री, एम०ए०
साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ
सं० मंत्री, श्री दि० जैन शास्त्री परिषद्, दिल्ली

अनेक गुणों के धनी

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय श्री १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज एक बहु भाषाविद् मधुर भाषी बहुश्रुत विद्वान और परम तपस्वी मुनिराज थे। मुझे जयपुर में कई बार उनके दर्शन-लाभ प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपका शुभागमन अजमेर में हुआ था।

आपका अध्ययन गम्भीर था। आपने सुदूरवर्ती दक्षिण प्रदेशों मे विहार कर वहाँ के जैन शास्त्रों का मनन किया और अनेक ग्रंथों के उद्धरणों का संग्रह किया था। यही कारण था कि आपकी अनेक भारतीय भाषाओं में गति थी। आपने मन्त्र-शास्त्र के कितने ही गूढ़ रहस्यों का मनन कर, उनके प्रभाव से जन मानस को प्रभावित करते हुए जैन-धर्म की अद्वितीय प्रभावना की थी।

आपको एकांत अधिक प्रिय था। अतएव आपका अधिकांश साधु-जीवन तीर्थ-स्थानों पर ही व्यतीत हुआ। गिरनार, बडवानी, ऊन सिद्धवरकूट आदि निर्वाण क्षेत्रों पर उनके चातुर्मास हुए। जीवन के अन्तिम क्षणों में उनका बिहार सौराष्ट्र प्रदेश में हो रहा था। उनकी तीव्र भावना थी कि वे स्वयं किसी निर्वाण-स्थल पर ही अपनी समाधि संपन्न करे पर उनकी यह भावना पूर्ण नही हो पाई और कराल काल ने मध्य में ही उनकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उनका समाधि मरण तारंगा तीर्थ स्थल की ओर जाते हुए मेहसाना में हो गया।

आचार्य श्री बड़े वैयावृत्यशील थे। अतः वे समाधि इच्छुकों को सतत उत्साहित किया करते थे। 'जीवन का अत समाधि पूर्वक ही हो,' यही उनका अंतिम दृष्टिकोण था। उनके संघस्थ कई त्यागियों ने सफल समाधि मरण किया। वे अधिक अंशों में निर्यापकाचार्य थे।

अद्यतन मुनिवर्ग में उनका गणमान्य स्थान था। उनके संघ की परम्परा अब भी विद्यमान है। आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा थी। मैं भी आपके चरणों में श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

अजमेर (राज०)

—भागचन्द सोनी
(अनेक पद विभूषित)

—*— भेद —*—

वे द्रोह न करने के स्थल हैं, जो पाले जा सकते सहेतु।
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं, तो भव-जल-निधि में बनें सेतु॥

—जयशंकर 'प्रसाद'

❀ सिद्धांतप्रिय ❀

आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज से मेरा सम्बन्ध सन् १९३७ ई० से रहा है। उनकी विविध मुद्राएँ मेरे सम्मुख हैं। क्षुल्लक अवस्था की मुद्रा और इन्दौर में किये चातुर्मास की चर्चाओं की, जो गुरु-शिष्य में नित्य पर्व पर्यूषण में शीशमहल की छाया में बने पांडाल में हजारों नर-नारियों के मध्य होती थीं, वह आज भी ताजा है।

श्री महावीर जी के चातुर्मास के समय घटी गुरु-शिष्य की घटना पर मुझे जैन-संदेश में लेख लिखने पर प्रायश्चित्त करने जयपुर उस समय जाना पड़ा जब कि प्रातः स्मरणीय परमपूज्य श्रद्धेय श्री १०८ आचार्य वीरसागर जी महाराज की खानियाँ में समाधि मरण की अन्तिम घड़ी चल रही थी।

अनेकानेक प्रसंगो की यादें उनका नाम लेने ही आती हैं। वे जितनी जल्दी रुष्ट होते थे उतनी ही जल्दी क्षमा भी कर देते थे। अपने सिद्धांत के स्वयं ही पालक थे और शिष्यों से पालन कराने वाले थे। सदैव भौतिकवाद की चकाचौंध से दूर रहने वाले, गिरि-कन्दराओं, मंदिरों-क्षेत्रों पर आनंद मानने वाले आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज आज हमारे मध्य नहीं हैं पर उनका बताया मार्ग सामने है। हमें उसी पथ पर चलकर आत्म-कल्याण करना है। उनके वीतराग मार्ग पर चलने से ही कल्याण होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अ०भा०दि० जैन शास्त्रि परिषद् व श्री सराक जैन समिति के मन्त्री के नाते उन संस्थाओं की ओर से उनके सदस्यों की एवं मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

बड़ौत (मेरठ) —पं० बाबूलाल जैन जमादार

मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि

परमपूज्य, तपोनिधि चारित्र-चूडामणि स्व० श्री १०८ आ० महावीरकीर्ति जी महाराज का सर्व प्रथम समागम अजमेर (राजस्थान) में उस समय हुआ, जब उनका नाम पं० महेन्द्रसिंह शास्त्री न्याय-तीर्थ था। वे अजमेर में उस समय मालवा प्रान्तीय दि० जैन सभा के अन्तर्गत चलने वाले अनाथालय व औषधालय के प्रचारक के रूप में पधारे थे। दूसरी बार समागम श्री वीर नि० सं० २४६३ में जब आ० क० श्री चन्द्रसागर जी महाराज पीसांगन संघ सहित पधारे थे, तब हुआ था। आपने आ० क० चन्द्रसागर जी से ही ज्येष्ठ सुदी २ को सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की थी। आगे भी मेरा कई बार समागम हुआ। कितने ही बार महाराज श्री के प्रवचन सुने। पूज्य श्री के मैंने अन्तिम दर्शन व प्रवचन का लाभ बड़वानी (बावन गजाजी) में प्राप्त किया। उनके चरणों में मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

अजमेर (राज०) —सुजानमल सोनी
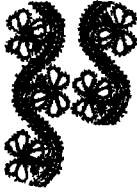
गुरुवर प्रणाम

महावीर कीर्ति शत्-शत् प्रणाम।
महावीर कीर्ति गुरुवर प्रणाम॥

(१)

तुम देश-जाति-उद्धारक थे,
तुम दया-सुधर्म प्रचारक थे।
तुम क्षमा-अहिंसा के पालक,
तुमको मेरा नित उठ प्रणाम॥

(२)

पैदल विहार तुम करते थे,
कष्टों से नहीं झिझकते थे।
दिग्-अम्बर मुद्रा-धारी थे,
अनुपम गुण के थे तुम निधान॥

(३)

आचार्य सु पद के धारी थे,
किये विविध शिष्य अनगारी थे।
मुझ जैसे क्षुल्लक किये अनेक,
किस विधि तुम गुण करूँ बखान॥

(४)

भाषा अनेक के जानकार,
प्राकृत-संस्कृत-कन्नड की लार।
अपभ्रंश-मराठी-आंग्ल आदि,
में प्रवचन करते थे महान॥

(५)

लाखों सन्मार्ग लगाये तुम,
लाखों शिवमार्ग बताये तुम।
लाखों-लाखों का कर कल्याण,
कर चले एकदम तुम प्रयाण॥

(६)

दिन छटा जनवरी गुरूवार,
उन्निस सौ बहत्तर की जो धार।
ले गया आप सम निधि को भी,
आचन्द्रदिवाकर निद्य जान॥

(७)

थी प्रबलेच्छा तुम दर्शन की,
वह घड़ी न आई शुभ दिन की।
अब तो स्वर्गों में दर्शन हों,
"क्षुल्लक शीतल" तुम करे गान॥

अवागढ़ (उ०प्र०)

—क्षुल्लक शीतल सागर

आध्यात्मिक आकाश-दीप

परमपूज्य, चारित्र-चक्रवर्ती, तपोनिधि श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज का भ्रमण जब देश में हो रहा था, उस समय कई स्थानों पर मुझे उनके परम पावन दर्शन एवं उपदेश का लाभ हुआ। अधिक समय तक उनके निकट में रहने का अवसर मुझे तब मिला, जब कि वे बावनगजा (बड़वानी) सिद्धक्षेत्र पर ससंघ चातुर्मास कर रहे थे। इस चातुर्मास का महत्व इसलिये और भी विशेष था चूंकि यहाँ उनके पट्टशिष्य त्यागमूर्ति तपोनिधि आचार्य विमलसागर जी अपने गुरु के चरणों में ससंघ विराजमान थे।

पूज्य आचार्य महाराज प्रतिदिन पहाड़ पर वन्दना हेतु जाते थे और पहाड़ से उतर कर आहार लेने के उपरांत पुन: १००८ श्री ऋषभदेव भगवान के विशालकाय प्रतिबिम्ब, जिसे ५२ गजा कहा जाता है, के समक्ष खड्गासन तपश्चरण करने ध्यानस्थ हो जाते थे। मैंने स्वयं उनकी अटूट ध्यानावस्था की मुद्रा को देखा है। ऐसा प्रतीत होता था कि दूसरी प्रतिमा खड़ी है। वे निश्चिन्त हो ध्यान में मग्न हो जाते थे।

करीब २--३० बजे श्रावकगण पहाड़ पर जाकर प्रार्थना करते थे कि महाराज सहस्रों श्रावक नीचे आपके उपदेश लाभ के लिये एकत्रित हैं तब उनकी ध्यान--मुद्रा टूटती थी और नीचे जाकर उपदेश प्रदान करते थे। ऐसे अनेक भाषाओं के ज्ञानी, आगम के महान् पंडित, दृढ़ श्रद्धानी, परम तपस्वी, निर्भीक वक्ता देखने में बहुत ही कम आते हैं। उनके स्वर्गारोहण से एक ऐसा आध्यात्मिक आकाश-दीप बुझ गया है, जो श्रावकों एव त्यागियों का सन्मार्ग प्रदर्शित कर रहा था। ऐसी अद्वितीय विभूति का पुन: दर्शन करने का सौभाग्य निकट भविष्य में हमें प्राप्त होगा, यह कहना कठिन प्रतीत हो रहा है।

कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाने में उनकी अनुपम सूझ-बूझ थी। उनकी आगम निष्ठा व तपस्या से उनका विवेक एवं बुद्धि इतनी तीक्ष्ण हो गई थी कि बड़ी से बड़ी समस्याओं को सुलझाना उनके लिये साधारण सी बात थी। समाज एवं धर्म पर आये विविध संकटों को दूर करने में वे सिद्धहस्त थे।

अपने जाज्वल्यमान जीवन से उन्होंने दिगम्बरत्व का मस्तक ऊँचा कर दिया था। उन्होंने भारत में सर्वत्र बेरोकटोक विहार कर मुनि-मार्ग को प्रशस्त बनाते हुये धर्म की जो पावन गंगा बहाई, वह चिर-स्मरणीय रहेगी।

ऐसी अजेय अतिमानवीय आत्मा की पुण्य स्मृति में करोड़ों भक्तों के साथ मै भी हार्दिक भक्ति से नत मस्तक होकर अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

—डा० नेमीचन्द्र जैन

जलेसर (एटा)

आध्यात्मिक गुणों के दिनकर

कुसंग्गे जह ओस बिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्ब माणए ।

ओह ! कुश की नोंक पर लटकता हुआ ओस बिन्दु सम यह मानव-जीवन अत्यन्त क्षणिक है। लेकिन महान् आत्माएँ भी इतनी शीघ्रता से संसार से विदा ले लें, यह तो विधाता का प्रबल प्रकोप ही है। वीरात्माओं का जीवन इतना प्रकाशवान अलौकिक रहता है कि उनके सिद्धांत, विचारों और परोपकारी भावनाओं से वह अपना भी जीवन ज्ञान-किरणों से आलोकित करने में समर्थ हो सकता है।

हमारे परमपूज्य, तपस्वीरत्न श्री आचार्य महावीरकीर्ति जी, आध्यात्मिक गुणों के ऐसे दिनकर थे, जिनसे हम संसारी प्राणियों को आत्म कल्याण-पथ पर चलने का प्रकाश मिला। महाराज श्री का जीवन साधना की आंच में तपकर पूर्ण रूपेण निखर चुका था, तभी न उनको अपने जीवन की अंतिम यात्रा का भान दो दिन पूर्व ही हो गया था। उनके अचानक स्वर्गवास के समाचार को सुनकर विश्वास तब तक नहीं हुआ, जब तक कि समाचार पत्रों में पढ़ नहीं लिया। आपके तपस्वी जीवन में आये घोर उपसर्गों के विषय में पूज्य माँ श्री ब्र० चन्द्राबाई जी से जब तब सुना करती थी तो उनकी उस वीरात्मा के प्रति अनायास मस्तक नत हो जाता था।

बड़ी ही प्रसन्नता हो रही थी कि वह अमर विभूति गिरनार जी के चातुर्मास को व्यतीत कर हमारे प्रान्त की तरफ ही शीघ्रता से बढ़ रही है, जिसके दर्शन कर हम गद्‌गद् होंगें, जिसके पावन उपदेशामृत का पान कर यह जीवन सार्थक होगा। पर सोचा कुछ था और हो कुछ गया ! सचमुच जीवन बड़ा क्षणिक है—

पता किसी को ना पड़े, कब आवेगा काल।
क्यों माया में उलझता, यह मकड़ी का जाल।।

सचमुच भविष्य अदृश्य है। क्षण-क्षण में शरीर परिवर्तित होता है। महाराज श्री का वह तपस्वी जीवन भी इतनी जल्दी हमसे छीन लिया जावेगा, यह कोई संभावना नहीं थी। परकाल के आगे तो सभी नतमस्तक है।

महाराज श्री महान् उपसर्गविजयी ऋषिराज थे, जिसका ज्वलन्त उदाहरण पू० माँ श्री ने बताया कि एक बार महाराज श्री विहार करते-करते सूर्यास्त होते ही किसी बियावान जंगल में ठहर

गये। महाराज श्री को श्रावकों ने बताया कि यहाँ तो रात्रि में शेर, बाघ आदि तक आ जाते हैं, कुछ और दूर चलें। महाराज श्री ने कहा—कुछ नहीं होगा, ठहर जाओ अब यहीं।

ससंघ महाराज श्री ठहर गये और संघ के चारों ओर पीछे के पिछले भाग से घेरा (पंक्ति) कर दिया और आदेश दिया कि अब सब लोग सामायिक को बैठ जायें। बात सत्य ही हुई। रात्रि में एक शेर-शेरनी दहाड़ते हुए उस तरफ आ गये। संघ में एक क्षुल्लक जी थे (नाम स्मरण नहीं है) जिनको मुनि दीक्षा लेनी थी। वे आवाज सुनते ही चौंक गये कि अब महान् उपसर्ग होगा। अतः उन्होंने लंगोट खोलकर प्रतिज्ञा करली कि मैं मुनिव्रत को अंगीकार करता हूँ जब तक कि उपसर्ग नहीं टलेगा।

शेर-शेरनी संघ के करीब आ गये। पर सब सावधान पचमेष्ठी के ध्यान में लीन। दोनों ने उछल-कूद कर दहाड़ कर विदा ली और महाराज श्री का वचन "कुछ नहीं होगा" सत्य हुआ।

मधु-मक्खियों के भयंकर उपसर्ग को उन्होंने शांत-चित्त ध्यानावस्था में प्राप्त होकर सहन किया। महाराज श्री मे अद्भुत सहनशीलता, परोपकारिता, की भावना विद्यमान थी। उनका यह उद्देश्य रहता था कि वे अनेक अज्ञानान्ध मनुष्य को सन्मार्ग दिखाकर उनकी आत्मा को कल्याण के मार्ग पर लगादे। परिणाम हुआ भी कि उनसे हजारों व्यक्तियों ने व्रत नियमादि ग्रहण कर जीवन को सार्थक किया कर रहे हैं। साधनामयी जीवन के अन्तिम चातुर्मास को गिरनार जी में सम्पन्न करके आपने कितने कष्टो को सह करके हम लोगो के लिए उस सिद्धक्षेत्र की यात्रा का सुगम साधन कर दिया। आपकी तपस्या को सुनकर मन कम्पित हो जाता है। आप छहों रसो के आजीवन त्यागी रहे। जीवन भर ऐसे नीरस आहार द्वारा शरीर की स्थिति को दृढ़ बनाये रखने वाले उस तपस्वी महामानव की आत्मा धन्य नहीं है? क्या वह विरागी आत्मा अब संसार के कीचड़ में फँसेगी? कभी नहीं।

महाराज श्री कीर्ति के धनी, ज्ञान दिवाकर और आध्यात्मिक रस को प्रवाहित करने वाले सचमुच मे "महावीर और कीर्तित" महामुनिराज थे। उस महाव्रतधारी धीर, वीर महाराज श्री के विषय में अधिक लिखना सूर्य को दीपक दिखाने तुल्य ही है।

आज ऋषिराज हमारे मध्य नहीं हैं, यह हमारा बड़ा ही दुर्भाग्य है, पर हमें अपने जीवन को उनके उपदेशानुसार धर्म मार्ग पर चलाकर सार्थक करना है। श्री महाराज श्री की आत्मा को शत-शत श्रद्धा सुमन समर्पित है।

पीड़ा की जिसे नहीं पीड़ा, चेहरे पर नहीं शिकन का नाम।
साधना-पथ में योद्धा विजयी, उस आत्मा को सादर प्रणाम॥

आरा (बिहार)

—सुश्री शशिप्रभा जैन "शशाङ्क"
बी०ए०, बी०एड०

आदर्श तपस्वी महावीरकीर्ति जी महाराज

सन् १९४३ से पहले पू० मुनि श्री महावीर कीर्ति जी महाराज शिखर जी जाते समय काशी पधारे थे। स्थानीय जिनालयों के दर्शन करते हुए वे भ० सुपार्श्वनाथ की पवित्र जन्म-भूमि में गङ्गा-तट पर श्री स्याद्वाद-महाविद्यालय में आये थे। ऊपर के जिनालय में बहुत देर तक भ० सुपार्श्वनाथ की मूर्ति के दर्शन अपलक दृष्टि से करते रहे। तत्पश्चात् वे मूर्ति के समक्ष फर्श पर बैठ गये। चटाई बिछा दी गई थी, पर उसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। कड़ाके की सर्दी के कारण संगमर-मर का फर्श बर्फ की भाँति ठंडा था। पं महेन्द्रकुमार जी, जो मुनि श्री के अध्ययनकाल के सहाध्यायी रहे, आदि अध्यापक तथा छात्र वहीं बैठकर ठिठुर रहे थे, पर मुनि श्री के शरीर पर ठिठुरन का कोई चिन्ह लक्षित नहीं हो रहा था। अपने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित उपदेश में उन्होंने बतलाया कि छात्र ज्ञान के साथ श्रद्धा और आचरण के धनी बनें। उनके मैदागिन धर्मशाला की ओर प्रस्थान करने पर अनुगमन करने वाले अध्यापकों और छात्रों के मुख से थोड़े से अक्षरों के हेर फेर के साथ एक ही वाक्य निकल रहा था कि आदर्श मुनि श्री महावीरकीर्ति जी महाराज महान् तपस्वी एवं उच्चकोटि के ज्ञानी हैं।

वाराणसी] —अमृतलाल जैन

भगवान महावीर के मार्ग पर

महाराज श्री के फीरोजाबाद-चातुर्मास में दर्शन करने व धर्मोपदेश सुनने का तो सौभाग्य मुझे मिला पर अन्तिम समय में चाह कर भी उनके दर्शन नहीं कर सकने का पश्चाताप जीवन भर रहेगा। उनके बताये मार्ग पर मैं बढ़ सकूँ और अपने परिवार तथा समाज को बढ़ा सकूँ तो शायद सचमुच ही मैं उन्हें श्रद्धा-ञ्जलि समर्पित कर सकने का अधिकारी हूँगा, अन्यथा नहीं। उन्होंने भगवान महावीर की पावन परम्परा आगे बढ़ाई और मैं आचार्य महावीरकीर्ति के विचारों की परम्परा देश और समाज में बढ़ा सकूँ तो अपना अहोभाग्य समझूँ।

फीरोजाबाद] —सुरेशचन्द्र जैन इसौली वाले

युग नायक महावीर कीर्ति को

धरती को वरदान बना था, जिनका जीवन सारा।
युग नायक महावीर कीर्ति को, शत-शत नमन हमारा।।

[१]

जब से तुम उठ गये, सत्य की चाल हो गई ठंडी।
लम्बी होती चली जा रही, पापों को पगडंडी।।
अपने युग के मोक्ष शास्त्र हे, समय सार के गणधर।
अमृत देने लगे आज अब, विषय भोग के बिषधर।।

कैसे पार लगें जब लहरें, खुद को कहें किनारा।
युग नायक महावीर कीर्ति को, सौ-सौ नमन हमारा।।

[२]

जो संयम से दूर, साधना पर करते हैं शंका।
अब चारित्र विहीन ज्ञान का, बोल रहा है डंका।।
भोग योग पर अब हावी है, ऐसा दृश्य न देखा।
गद्दी पर ही बैठ, मोक्ष पहुँचाने का है ठेका।।

गढ़ी जा रही मन की भाषा, आज कुतर्कों द्वारा।
युग नायक महावीर कीर्ति को, सौ-सौ नमन हमारा।।

[३]

लगती गयी मुहर आगम की, गर विपरीत दिशा पर।
संयम के सूरज की किरणें, प्रगटो नहीं निशा पर।।
तो भाषा सचमुच सुधर्म की, फसली हो जायेगी।
असली का अस्तित्व खत्म हो, नकली हो जायेगी।।

अतः स्वर्ग में हो तो आओ, 'सरस' सभी का नारा।
युग नायक महावीर कीर्ति को, शत-शत नमन हमारा।।

—सुकवि शर्मनलाल जैन "सरस"
सकरार (झांसी)

卐 छह संस्मरण 卐

१- मलपरीषह भूषण :

एक बार एक भक्त आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज की वैयावृत्य कर रहा था। गर्मी का मौसम था। महाराज के शरीर पर काफी मल चढ़ा हुआ था। वह भक्त पीठ आदि का धीरे-धीरे मल निकालने की चेष्टा करने लगा। भक्त की प्रक्रिया को महाराज समझ गये।

उन्होंने पूछा—क्या कर रहे हो ?

भक्त ने कुछ मुस्कराते हुये कहा— महाराज ! कुछ नही। वैयावृत्य ही तो कर रहा हूँ।

महाराज ने कुछ बलपूर्वक कहा— सच कहो, तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?

भक्त ने कहा— महाराज ! आपकी पीठ पर बहुत मैल जम रहा है। मैं उसे निकाल देना चाहता हूँ। आपको किंचित् भी कष्ट नहीं होने दूँगा।

महाराज ने पूछा— कोई किसी के आभूषण को अलग करे तो उसका वह कार्य उचित है या अनुचित ?

भक्त महाराज से बोला— किसी के आभूषण को उससे अलग करना तो अनुचित ही है।

इस पर महाराज तुरन्त बोल उठे— तुम्हें मालूम नहीं ? यह धूलि और पसेव के सम्मिश्रण से बना मल साधुओं का आभूषण है। अतः तुम इसे निकालने की चेष्टा मत करो।

भक्त, महाराज की इस मल परीषह जयता से अत्यधिक प्रभावित हुआ।

२- दुखिया महिला का सुधार :

आचार्य श्री दक्षिण भारत के गाँवों में धर्म प्रचार कर रहे थे। उस समय एक ग्राम के बहुत से सज्जनों ने उनके प्रवचनादि का विशेष प्रभाव देखकर अपने यहाँ की एक दर्दनाक घटना सुनाई। वे आचार्य से कहने लगे— महाराज ! इस ग्राम में एक महिला अत्यन्त दुखी है। उसके दुख को देखकर हृदय पसीज जाता है। आज तक अनेक साधु संत उसे समझा चुके हैं लेकिन वह तो भरी जवानी में पति का वियोग हो जाने से रात दिन 'हाय ! मेरा कोई नहीं, हाय ! मेरा कोई नहीं.......' यही रटन लगाया करती है। खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना भी वह भूल गई है। उसकी दशा न हमसे कही जाती है और न पूरी तरह से हम कह ही सकते हैं। हम चाहते है कि आप उसे भी कुछ सदुपदेश दें।

आचार्य श्री सुनते रहे। इसी बीच में कुछ सज्जनों ने किसी को भेजकर उस दुखिया महिला को बुला लिया। वह आचार्य श्री के सामने भी वही 'हाय ! मेरा कोई नहीं, हाय ! मेरा कोई नहीं' की रटन लगाती हुई आई।

आचार्य श्री ने उससे कहा—देख बहिन ! जो कष्ट तेरे को है वही हम को भी है। हमारे भी कोई नहीं है। हम भी अकेले ही है। तू 'हाय ! मेरा कोई नहीं, हाय ! मेरा कोई नहीं' यह रटन तो लगाती ही है, अब इसके साथ 'मैं भी किसी की नहीं, मैं भी किसी की नहीं' यह रटन भी लगाना शुरू कर।

आचार्य श्री के कहने का उस महिला पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने वैसा करना छोड़ दिया और वह दुखिया महिला उसके बाद शान्ति और सुख का अनुभव करने लगी।

३- आचार्य श्री का कुटुम्ब :

एक बार एक अजैन पण्डित जी ने पूज्य आचार्य श्री से कुटुम्ब की जानकारी करना चाही। आचार्य श्री बातचीत के दौरान में प्रश्नकर्ता की भाव भंगिमा को समझ गये।

उन्होंने कहा—पंडितजी ! आपको हमारे कुटुम्ब का भी परिचय नहीं है ?

नहीं है महाराज ! और तभी तो आपसे जानना चाहता हूँ। बताइये न, आपके कुटुम्ब में कौन-कौन हैं ? —पंडितजी ने कहा।

इस पर महाराज जी ने कहा— सुनो ! धैर्य, क्षमा, शान्ति, सत्य, दया, आदि हमारा कुटुम्ब है।

पंडित जी ने कहा— महाराज ! यह भी आपका कोई कुटुम्ब है ? आप तपस्वी होकर भी झूठ बोलते हो।

महाराज ने बड़ी शांति से उत्तर दिया— पंडितजी ! जिस कुटुम्ब को आप कुटुम्ब समझते हो वह वास्तविक कुटुम्ब नहीं है। उसका तो वियोग हो जाया करता है। हमारा जो वास्तविक कुटुम्ब है वही हमने आपको बताया है। आपने योगियों के कुटुम्ब को सूचित करने वाला संस्कृत भाषा का शार्दूल विक्रीडित छन्द सुना होगा। हम उसे बोलते है। आप ध्यान से सुनिये—

धैर्यं यस्य पिता, क्षमा च जननी, शांतिश्चिरं गेहिनी।
सत्यं सूनुरयं, दया च भगिनी, भ्राता मनः संयमः ॥
शय्या भूमितले, दिशोऽपि वसनं, ज्ञानाऽमृतं भोजनं।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे ! कस्माद् भयं योगिनः ॥

कहिये, हमने जो अपना कुटुम्ब बताया है वह सही है या नहीं ?

पंडितजी ने अपनी भूल अनुभव करते हुये बड़ी विनय के साथ कहा— महाराज ! आप सही कहते हैं। आप जैसे योगी-महात्माओं को यही कुटुम्ब चाहिए, अन्यथा हम गृहस्थों में और आप में फिर अन्तर ही क्या रहे ?

४- सच्चे समयसारी :

खण्डगिरि-उदयगिरि तीर्थ-क्षेत्र की यात्रा से आने के पश्चात् आचार्य श्री का चातुर्मास ससंघ ईसरी में हुआ था। यह विक्रम सम्वत् २०१२ की बात है। हम उस समय आचार्य श्री के पास गोमट्टसार जीवकांड, कर्मकांड आदि ग्रन्थों का शिक्षण प्राप्त करते थे।

चातुर्मास काल में आचार्य श्री के पास में कभी-कभी क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी अपनी मण्डली सहित तत्वज्ञान की पिपासा-शांति हेतु आया करते थे।

एक बार वर्णीजी, जहाँ तक विदित है पंडित कैलाशचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री, ब्रह्मचारी सुरेन्द्रनाथ जी, ब्रह्मचारी भगत प्यारेलाल जी आदि के साथ आचार्य श्री के पास आये।

सविनय बैठने के पश्चात् मण्डली में से किसी ने कहा— महाराज ! ये वर्णीजी तो समयसारी है ? संभवतया उन महाशय का अभिप्राय समयसार सम्बन्धी चर्चा का था।

महाराज ने वर्णीजी को सम्बोधन करते हुये कहा— क्यों वर्णीजी ! ठीक है ? वर्णीजी चुप रहे। कितनों ने 'मौनं सम्मतिलक्षणं' की नीति का अनुसरण किया। किन्तु आचार्य श्री से रहा न गया। वे बोले— वर्णीजी ! सच्चे समयसारी बनो।

आचार्य के इतना कहने ही वर्णीजी मुस्करा गये और कहने लगे - महाराज ! सच्चे समयसारी तो आप हैं। मैं भी आप जैसा दिगम्बर मुनि बनने का इच्छुक हूँ परन्तु शरीर काम नहीं देता।

इस पर महाराज जी ने कहा— समयसार, पर-द्रव्य को मात्र पर-द्रव्य ही जानने और मानने की शिक्षा नहीं देता, अपितु बाह्य-अभ्यान्तर से दिगम्बर मुनि बनकर कष्ट सहिष्णु बनने की भी प्रेरणा देता है। वर्णीजी ने भी अपनी सहमति दी।

५- सुधार यों करो :

एक बार मध्याह्न प्रवचन के पश्चात् एक सज्जन ने आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज से कहा— महाराज, जब भी मैं दर्शनार्थ मन्दिर जी जाता हूँ अधिकांश महिलायें बातें करती हुई पाई जाती हैं। मैं अनेकों बार उन्हें चेतावनी दे चुका हूँ। पर वे समझती ही नहीं। मेरी समझ से महिला समाज का कभी कल्याण नहीं हो सकता।

आचार्य श्री ने कहा— ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार पुरुष वर्ग अपना कल्याण कर सकता है। उसी प्रकार महिला समाज भी अपना कल्याण कर सकती है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे उसी भव से मुक्ति की अधिकारिणी नहीं।

श्री मन्दिर जी में बातें तो पुरुषवर्ग भी किया करते हैं और वे भी बार-२ कहने पर नहीं मानते।

यदि तुम्हें अपने साथ-२ दूसरों की भूलों का सुधार करना है तो उसके ढंग सीखो। किसी की भूल को सुधार करने के अनेक ढंग होते हैं। तुमने श्री मन्दिर जी में बात करती हुई महिलाओं

के सुधारने का एक ही ढंग अपनाया है। यदि अन्य ढंग भी अपनाते तो उनका अवश्य सुधार होता।

सज्जन ने विनम्रता से पूछा— महाराज ! उन्हें सुधारने का अन्य क्या ढंग हो सकता है ?

इस पर महाराज श्री कहा— तुम मुख से तो मन्दिर जी में अनेक बार बातें न करने का कह ही चुके हो, अब तुम उनके बातों में संलग्न रहते समय २–३ दिन के लिये धर्म-श्रवण की मुद्रा में (कुछ सिर झुकाकर हाथ जोड़े हुये) निकट जाकर बैठो। वे अपनी अज्ञानता पर अवश्य शर्मिन्दा होवेंगी।

सज्जन ने आचार्य श्री के द्वारा बताई गई विधि को कार्य रूप में परिणत किया और उन महिलाओं ने सचमुच में उस सज्जन से हमेशा के लिये श्रीमन्दिर जी में व्यर्थ की बातें न करने का नियम ले लिया।

इसी प्रकार आचार्य श्री कुमार्ग में लगे हुओं को सुधारने का एक अति उत्तम ढंग बताया करते थे। वे कहते थे कि 'कुमार्गी को एकांत में समझाया जाय। बुराइयों से होने वाली हानि को उसे बताया जाय। उसकी बुराई को चाहे जिससे न कहा जाय तथा उसमें जो कोई भी गुण हो उसकी सबके समक्ष प्रशंसा की जाय।'

सर्वोत्तम बात तो यह है कि हम पहले स्वयं का सुधार करें, फिर दूसरे का सुधार करें।

६- मरकर भी अमर :

दिगम्बर जैनाचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हुये कुछ दिन हुये ही थे कि एक व्यक्ति ने बड़ी उत्सुकता के साथ हम से आकर कहा 'महाराज ! अब तो आपके गुरु जी का स्वर्गवास हो गया।'

हमने पूछा— तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?

उसने कहा— समाचार पत्र में पढ़ा था कि ६ जनवरी १९७२ गुरुवार को रात्रि के ६ बजे महसाना (गुजरात) में आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया।

इसपर हमने पूछा— इससे तुम क्या समझे ?

उसने कहा— महाराज ! इसमें समझने की क्या बात है ?

'आचार्य श्री दुनियाँ से हमेशा के लिये चले गये। उनके द्वारा समाज का जो कल्याण हो रहा था, वह अब नहीं होगा' इतनी ही तो बात है।

हमने कहा— ऐसी बात नहीं है। महापुरुषों का सदैव के लिये वियोग नहीं होता। हमारे गुरु एक महान् सन्त थे। अनेक भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने लाखों का कल्याण किया है। स्वयं का वे कल्याण कर ही रहे थे। आगे वे कर्मों को काटकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। उनका तो आज भी भक्त लोग गुणगान करते हैं तथा कल भी करते रहेंगे। अतः हमारे गुरु का सदा के लिये दुनियाँ से कदापि वियोग नहीं माना जा सकता।

जो पर्याय की अपेक्षा नाशवान होकर भी द्रव्यतः गुणगरिमा से समुज्ज्वल हों, वे तो अजर अमर ही हैं।

व्यक्ति रहस्य भरी बात को समझ गया।

अलायद (एटा) —क्षुल्लक शीतल सागर

संस्मरण का आलोक

प्राची के निरभ्रानन्त में उषा का आलोक जगमगाया। सरोवरों में सुप्त सरोज आवृत हो उठे। विहगावलि की मधुर चहचहाट की शब्द-ध्वनि से संसार निद्रादेवी की गोद से उठ बैठा। मन्द शीतल समीर से उद्यानों के सुमन महक उठे और तभी मार्तण्ड की स्वर्ण रंजित किरणें विकसित हो उठीं। लो ! दिनमणि निकल आये। ऐसे ही हेम प्रभात में वन-मार्ग से निर्ग्रन्थों का नेतृत्व करने में अग्रगण्य एक महाश्रमण ससंघ विहार करते हुए ऋषभदेव तीर्थ की ओर चले आ रहे थे। श्रमणों के पुण्य-परमाणुओं से प्रकृति वासन्तीय वैभव से झूम रही थी और पर्वत-गुफाओं से निष्क्रान्त समीर मस्त कोकिल-ध्वनि में वृक्षों को नर्तन कराता हुआ महामुनि का जयघोष कर रहा था, तभी भक्त-समुदाय स्वागतार्थ आ पहुँचा और उसी क्षण "आ० महावीरकीर्ति की जय" से वायु-मण्डल गूँज उठा। सहस्रों नर-नारियों ने आ० श्री के पाद-पद्मों में सिर झुकाकर नमस्कार किया।

अहा रत्नत्रय-निधि के आलोक से आलोकित महामुनि विहार करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो स्वामी समन्तभद्र ससंघ आ रहे हों। विशाल जिन मन्दिर में प्रवेश किया और ससंघ आदि तीर्थंकर की भक्ति में ऐसे तन्मय हुए जैसे आ० मानतुङ्ग ही 'भक्तामर स्तोत्र' रच रहे हों। आचार्य श्री की जिनेन्द्र-भक्ति देखकर भक्त-समुदाय भी भक्ति के प्रवाह मे निमग्न हो गया। मुमुक्षुओं ने सम्यक् रूपेण समझा— 'जिनेन्द्र-भक्ति सम्यग्दर्शन का मूल-मन्त्र होने से मोक्ष-मार्ग में उपादेय है।'

ऋषभ-वन्दनोपरान्त नगर में प्रवेश कर मङ्गल उपदेश दिया और तभी आहार-वेला होने से संघ ने बस्ती में आहार-हेतु गमन किया। मुनियो के दर्शन से, मुनि-चर्य्या से वैराग्य का स्रोत प्रवाहित हो रहा था। अहा, आहार का कैसा विचित्र विधान, भिक्षुक होकर भी भिक्षा नहीं लेते, बुलाने पर भी नहीं आते, स्वतन्त्रता से विचरते हैं और केवल काय की स्थिरता अथवा तप-वर्द्धनार्थ पाणि-पात्र में आहार लेते हैं। मिल गया तो ठीक, नहीं मिला तो भी ठीक। कैसी उत्कृष्ट चर्य्या ! कितना कठिन आचरण ! धन्य है दिगम्बर जैन साधुओं को।

आहारोपरांत विश्राम नहीं, केवल आत्म-ध्यान, कठिन तपश्चरण। नाना परिषह सहन कर कर्म-शत्रुओं से संघर्ष करना— आत्म-निरीक्षण-परिवीक्षण कर तत्वों का चिन्तवन करना ही दिवस का कार्यक्रम था सो वैसा ही किया। अपराह्न-वेला हुई तब मुमुक्षुओं को, पथ-भ्रष्ट भोले मानवों को, सद्बोध देने के प्रयोजन से भव-भञ्जन में निष्णात तपोधन महामुनि ने ससंघ सभा-मण्डप में पदार्पण किया और उच्चासन पर विराजमान हो तब सभा मण्डप में जयघोष से हर्ष छा गया। सभा शांत होने पर आचार्य बोले—

"इस संसार में संसारी प्राणियों को अज्ञानता से कर्मबन्ध के कारण नवीन-नवीन शरीर की प्राप्ति होती है और शरीर के प्राप्त होने पर फिर से अज्ञान होता है। इस प्रकार यह परम्पर,ा बीज और अंकुर के समान अनादिकाल से चली आ रही है और इस परम्परा का नाम ही संसार है। आत्म-स्वरूप से अज्ञात प्राणी कर्मों के वशीभूत होकर निरन्तर सुख-दुखों को भोगता हुआ भवाटवी में यत्र-तत्र भटकता ही रहता है। भव-सागर से पार होने के लिए रत्नत्रय-नौका का अवलम्बन लेकर भव्यजीव निःश्रेयस-निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करते हैं, यही आत्मा का मूल धर्म है।

धर्म वही है जो संसार के दुःखों से मुक्त कर सदा के लिए परमपद मे स्थिर कर दे। इसके प्रतिकूल होना अधर्म कहा गया है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। अतः मोक्ष-मार्ग में सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र सम्यग्दर्शन से समन्वय करते हैं रत्नत्रय धर्म की तीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित जिन धर्म है, जिसे धारण कर कोई भी जीव शाश्वत सुखोपलब्धि कर सकता है।"

आचार्य श्री ने दो-चार दिन ठहर कर अपने उपदेशो मे निश्चय और व्यवहार, निमित और उपादान, तत्व-दर्शन, द्रव्य निरूपण, मुनि और गृहस्थ की चर्या, कर्म-मीमांसा, अनेकांत-स्याद्वाद, आदि विषयों का सारगर्भित विवेचन किया— जिज्ञासुओं की शंकाओ का समाधान किया। अष्टमी के शुभ दिन केश-लोंच कर संसार की असारता का दिग्दर्शन कराते हुए मुनि-धर्म का सुन्दर निरूपण किया। ऋषभदेव से ससंघ आचार्य गुजरात की ओर विहार कर गये।

आज वे पार्थिव देह में नही है तथापि उनकी कीर्ति की सुगन्ध शेष है, जिससे जन मानस सुवासित होता रहता है। आचार्य श्री सस्मरण के आलोक में परम वंदनीय श्रेष्ठ महापुरुष है, उन्हें महस्र नमस्कार हैं।

ऋषभदेव (राज०) —पं० मोतीलाल मार्तण्ड शास्त्री

एम०ए०, बी०एड०, विद्यारत्न-प्रतिष्ठाचार्य

हा गुरुदेव ! कहाँ गये !!

आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज बड़े तपस्वी, उपदेशक साधु थे। मैंने महाराज के कई बार दर्शन किये थे। महाराज अठारह भाषाओं के जानकार तथा यंत्रों-मंत्रों पर विश्वास रखने वाले थे। महाराज जिसको भी हृदय से आशीर्वाद दे देते थे उसका बेड़ा पार हो जाता था। मैं महाराज को बारम्बार नमोस्तु करता हुआ श्री वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि दिवंगत को शांति मिले एवं मुक्ति-लाभ हो।

सुजानगढ़ (राज०) —सोहनलाल पहाड़िया

भव्य सन्देश और संस्मरण

गुरु महिमा :

संसार रूपी मरुस्थल में भटकते हुए तथा दुःख रूपी सूर्य की प्रखर किरणों के आतप से त्रस्त मानव के लिए शान्तिप्रदायक सुगुरु ही है। यदि सन्मार्ग दर्शक गुरुओं के वचन रूपी दीपक नहीं होते तो मोहांधकार में पड़े हुए हम लोग हित-मार्ग को कैसे जान सकते ?

> विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं—
> सुगति कुगति मार्गौ पुण्य पापे व्यनक्ति ।
> अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो—
> भवजल निधि पोतस्तं विना नास्ति कश्चित् ॥

गुरु कुज्ञान को नष्ट करते हैं, आगमार्थ का बोध कराते हैं कुगति-सुगति का मार्ग तथा पुण्य-पाप को प्रकट करते हैं। कृत्याकृत्य भेद को प्रकट कराते हैं। गुरु ही संसार-समुद्र को पार करने के लिए नौका तुल्य हैं। गुरु के बिना ज्ञान नहीं, भेद बिना चोरी नहीं, हित-मार्ग को बताने वाले गुरु ही होते हैं। आप्त की भक्ति से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। श्रुत से भी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरुओं के प्रसाद से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है।

गुरु के भेद :

आचार्य उपाध्याय साधु के भेद से गुरु तीन प्रकार के होते है।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं, और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। पंचविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्यं चतुर्दश विद्यास्थानपारगा: एकादशांगधरा: । आचारांग धरोवा तात्कालिक स्वसमय पर समय पारगोवा मेरुरिव निश्चला: क्षितिरिव सहिष्णु: सागर इव बहि: क्षिप्तमल: सप्तभय विप्रमुक्त: आचार्य: ।

जो चौदह विद्या स्थानों के पारंगत, ग्यारह अंग के धारी, तत्कालीन स्वसमय पर समय के पारगामी, मेरु के समान निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील, समुद्र के समान बाहर फैंक दिया है मल को जिसने, सात प्रकार के भय से रहित, सिंह के समान निर्भीक, देश कुल जाति से शुद्ध, सौम्यमूर्ति, अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागी आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

उप एत्य समीपमागत्य येभ्य: सकाशात् अधीयन्ते शिष्या: इत्युपाध्याय: ।

जिनके समीप अन्य मुनिगण अध्ययन करते हैं । जो चौदह पूर्व तथा ग्यारह अंग के पाठी निर्ग्रन्थ साधु उपाध्याय कहलाते हैं । मनुष्यलोके सम्यग्ज्ञानादिभिर्मोक्षसाधकाः सर्व सत्वेषु समत्वमेति साधवः वा सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रादिभिः साधयन्ति मोक्षमार्गमिति साधवः । अनंतज्ञानादि शुद्धात्म-स्वरूपं साधयन्तीति साधवः । इस मनुष्य लोक में सम्यग्ज्ञानादि के द्वारा मोक्ष के साधक है । सर्व जीवों में जिनका समताभाव है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा मोक्ष को सिद्ध करते हैं, ऐसे दिगम्बर मुनि साधु कहलाते हैं ।

गुरुदेव महावीरकीर्ति :

इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा साधु गुण के धारी, अज्ञानी जनों को सन्मार्ग दिखाने वाले, परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, परमतपस्वी, निर्भीक वक्ता, तीर्थ भक्त, दृढ़ विश्वासी, घोरोपसर्ग विजयी, बहुभाषाविज्ञ, दशविधधर्माराधक, न्याय-व्याकरण साहित्य-ज्योतिष आयुर्वेद विषयों के मनीषी, नग्न दिगम्बर, वीतराग तपोमूर्ति श्री महावीरकीर्ति महाराज थे ।

आपकी दृष्टि में जीवन की सफलता, भोगों पर निर्भर नहीं थी । भोग जीवन को स्वार्थपूर्ण और संकीर्णतामय बनाने का मार्ग है । भोगमय जीवन उच्चतर आदर्श का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है क्योंकि सर्वोच्च ऐश्वर्य भी शनैः शनैः नष्ट होते हुए एक दिन बिल्कुल ही मिट जाता है । जब भोग-भूमि या स्वर्ग लोक में अनायास प्राप्त होने वाले भोग भी समाप्त हो सकते हैं तो संसार की अन्य विभूति क्यों नहीं नष्ट होगी ? अर्थात् अवश्य ही नष्ट होगी । प्राप्त हुए भोग भी मनुष्य भोग नही पाता । और एक दिन उसे संसार छोड़कर चला जाना पड़ता है । इन भोगों से मानव को कभी तृप्ति नही होती है ।

ज्यों-ज्यों भोग संयोग मनोहर मन वांछित फल पावे ।
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंके लहर जहर की आवे ।।

यह संसार के भोग क्षण-भंगुर नाशवान हैं । ऐसा विचार कर आपने परिवार के ममत्व को छोड़कर २५ वर्ष की वय में दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की थी । आपके जीवन में अनेक घोरोपसर्ग आये और चले गये । उनका भय आपको विचलित नहीं कर सका ।

प्रत्यक्ष देखी घटनाएँ :

(१) एक बार आप संघ सहित खण्डगिरि सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने के लिए आ रहे थे । पुरुलिया के पहले एक राजकीय सीमा आन्दोलन चल रहा था जिसमें छह मील तक जनता राजमार्ग के दोनों ओर खड़ी हुई थी । संघ की आर्यिका १०५ श्री इन्दुमति जी, अजितमति जी, क्षुल्लिका ब्राह्मीमतिजी तथा संघ के कुछ ब्रह्मचारी, ब्र श्री चांदमलजी चूड़ीवाल, ब्र० दीपचन्द जी बड़जात्या आदि श्रावकगण आगे चले गये थे । महाराज श्री परमध्यानी थे । ३ बजे तक ध्यानस्थ रहे, अनन्तर विहार करके आ रहे थे । श्री चांदमलजी बड़जात्या, केशीमलजी बड़जात्या, नेमीचन्दजी बगड़ा, झूमरमल जी बगड़ा आदि बहुत से श्रावक साथ में थे । अकस्मात् लोगो ने रास्ते में कहा— नग्न मानव को आगे नहीं जाने

देंगे। वे महाराज श्री पर प्रहार करने के लिए तत्पर हो गये। महाराज श्री उपसर्ग समझ कर वहीं पर बैठ कर ध्यानस्थ हो गये। चाँदमल जी बड़जात्या ने 'महाराज पर किसी प्रकार का प्रहार न हो, मेरे प्राण चले जायें तो कोई परवाह नहीं,' ऐसा विचार कर इस तरह से महाराज के पास खड़े हो गये कि आताताइयों ने यष्टि से प्रहार किये, जिससे उनके ऊपर चोट आयी परन्तु महाराज के शरीर पर रंच मात्र भी चोट नहीं पहुंची, जिसको देखकर लोग इधर-उधर भाग गये। यह उनके तपोबल का प्रभाव है।

एक बार आचार्य श्री सम्मेद शिखरजी की बन्दना करने के लिए पर्वतराज पर गये। वहाँ आपके लिये रात्रि में ठहरने का प्रबन्ध जलमन्दिर में किया था किन्तु जलमन्दिर के व्यवस्थापकों ने वहाँ ठहरने की आज्ञा नहीं दी। आपके साथ में १०८ श्री मल्लिसागर जी क्षु० श्री शीतलसागर जी श्रावक बजरंगलाल भी थे। आचार्य श्री गौतम टोंक पर खड़्गासन से ध्यानस्थ हो गये। उस समय भयंकर सर्दी थी। सामान्य मानव का शरीर थर-थर कांपता था। धीर-वीर महापुरुष का शरीर सर्दी से इतना कड़ा हो रहा था कि किसी के हिलाने पर भी नहीं हिल रहा था परन्तु गुरुदेव रात्रि भर वहीं खड़े रहे। रात्रि में एक नेपाली ने आचार्य श्री पर घोर उपसर्ग किया। चार घन्टे तक वहाँ उछल-कूद करता रहा किन्तु महाराज को उसका भय विचलित नहीं कर सका।

(२) पूज्य महाराज श्री को गजपंथा पहाड़ पर भयंकर जहरीले साँप ने काट लिया। सब लोग हाहाकार करने लगे। महाराज श्री के मुख पर रंच मात्र भी उदासीनता नहीं थी। वीतराग प्रभु के दर्शन करते रहे।

"विषापहार मणिमौषधानि-मंत्रं तंत्र समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्याय नामानि तवैवतानि।"

विषापहार मणि औषधि मंत्र-तंत्र सब एक तरफ है और वीतराग प्रभु का नाम एक तरफ है। उनके नाम से विषधर का विष विलीन हो गया।

पूज्य श्री के जीवन में ऐसे अनेक उपसर्ग आये और चले किन्तु उनको औपसर्गिक भय भयभीत नहीं बना सका। वे वज्र की तरह स्थिर रहे। शरीर में अचलता और भावों में सुमेरु की भाँति स्थिरता उनका स्वाभाविक गुण था। वे सर्प, सिंह, व्याघ्र, अग्नि आदि की बाधा को अत्यन्त तुच्छ समझते थे।

(३) आपको णमोकार मन्त्र पर आशातीत विश्वास था। एक बार मैं जब ब्रह्मचारिणी अवस्था में थी, उस समय महाराज श्री का बुन्देलखण्ड में विहार हुआ था। उस समय विहार करते हुए बन्धा क्षेत्र में पहुँचे। वहाँ पर आदिनाथ, अजितनाथ व संभवनाथ इन तीन तीर्थंकरों की भव्य मूर्तियाँ तलघट में विराजमान थीं। कुछ प्रतिमाएँ खण्डित भी थीं। ज्येष्ठ का महीना था। अत्यन्त गर्मी थी। गाँव भर के किसी भी कुएँ में पानी नहीं था। एक मील दूर पर नदी थी। वहाँ से पानी लाना

पड़ता था। महाराज श्री को वहां पहुंचे तीन दिन हो गये। एक दिन मैंने कहा— गुरुदेव यहाँ से कब प्रस्थान होगा ? महाराज श्री ने कहा—क्यों, तुम्हें क्या तकलीफ है ? मैंने कहा—गुरुदेव यहाँ पानी की बड़ी तकलीफ है। एक मील दूर से पानी लाया जाता है। महाराज ने पूछा— क्या तुम्हारे सामने वाले कुएँ में पानी नहीं है। मैंने कहा— गुरुदेव, नहीं है। महाराज श्री मौन रहे। प्रात: काल मैं जिन-मन्दिर में गई। भगवान् का पंचामृताभिषेक तथा शान्ति धारा की। महाराज श्री को मैंने गन्धोदक दिया। तब गुरुदेव ने संकेत किया कि यह गन्धोदक कुएँ में डाल दो। मैंने गन्धोदक कुएँ में डाल दिया तथा अपने कार्य में लग गई। दैवयोग से महाराज श्री का आहार भी मेरे घर पर हो गया। १२ बजे देखा तो कुआँ पानी से भरा हुआ था।

(४) पहले सम्मेदशिखर का पानी बहुत खराब रहता था। चातुर्मास में वहाँ रहने का साहस किसी ने नहीं किया। आचार्य श्री के चातुर्मास से सम्मेदशिखर का पानी अमृत-तुल्य हो गया। इसके बाद तो कितने ही साधुओं का चातुर्मास हो गया।

(५) सैकड़ों गाँव और नगर आपके चरणारविन्द से पवित्र हुए। जहाँ-जहाँ आपके पवित्र चरण पड़े, वहाँ-वहाँ अपूर्व धर्म प्रभावना हुई। स्थान-स्थान पर श्रद्धालु भक्तों के द्वारा आपका भव्य स्वागत हुआ। संसार में सत्पुरुषो के साथ दुर्जनों का भी अभाव नहीं है। दुर्जनों का स्वभाव है कि वे बिना कारण ही साधु पुरुषो पर अपनी दुर्जनता का प्रयोग करते हैं। आचार्य श्री पर भी दुर्जनों ने घोरोपसर्ग किये किन्तु जिस प्रकार स्वर्ण को जितना तपाया जाता है उतना ही निर्मल बनता है उसी प्रकार साधु पुरुषों पर जितने उपसर्ग आते हैं, उनकी आत्मा उतनी निर्मल बनती है। जैसे-जैसे आप पर उपसर्ग आये, वैसे-वैसे आपका ध्यान तपश्चरण उत्तरोत्तर बढ़ता गया। साधारणतया: दिगम्बर मुनि मुद्रा ही अत्यन्त दुष्कर है, परन्तु पूज्य गुरुदेव का उग्र तपश्चरण कितना और कैसा था, यह उन्हीं के अनुभव गम्य है जिन्होने उनके चरण सानिध्य का सतत् सौभाग्य प्राप्त किया।

(६) आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि— इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय को जीतना, कर्मों में मोहनीय कर्म का नाश करना, व्रतों मे ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करना और गुप्तियो में मनोगुप्ति को वश में करना, अत्यन्त ही कठिन है। किन्तु आचार्य श्री ने रसना इन्द्रिय को जीतने के लिए दुग्ध को छोड़कर शेष सभी रसों का परित्याग कर दिया था। मोहनीय कर्म को जीतने के लिए बाल्यावस्था में कुटुम्बी जनों का परित्याग कर मुनि दीक्षा ग्रहण की थी तथा त्रिलोक विजयी मन्मथ मल्ल को पछाड़ने के लिए बाल-ब्रह्मचारी रहे थे।

आधुनिक परिवेश मे, जब मनुष्य भोगी ही नही रोगी भी बन रहा है तब योगी बनने की आशा ही आकाश-कुसुम सम लगती है परन्तु आचार्य श्री ने यशोलिप्सा विहीन हो अनेकानेक लोगों को 'भोगों से भागो' का भव्य सन्देश दिया। विचार को आचार का परिधान पहनाया। अतएव गुरुदेव के चरण कमलों में नतमस्तक शत-शत वन्दन !

—विदुषी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमतीजी

संघ शिरोमणि सूरीश्वर तुम

धन्य घड़ी औ शुभ दिन भाई, हर्षित हुआ सकल परिवार ।
धन्य-२ महावीरकीर्ति मुनि, तुमने लिया मनुज अवतार ।।

[१]

तुमने जग के भोग न स्पर्शे, जग को जाना था दुःखरूप ।
यौवन पा तरुणी नहिं राचे, सब तजि भये दिगम्बर रूप ।।
जग की आँधी तुम्हें तनिक भी, सकी न विचलित रंच कभी ।
निडर और निर्भीक साहसी, तुम सा नहिं जग माँहि अभी ।।
परम तपस्वी ज्ञानी ध्यानी, संयम सकल महाव्रत धार ।
धन्य-२ महावीरकीर्ति मुनि, तुमने लिया मनुज अवतार ।।

[२]

बचपन बीता यौवन पाया, विद्यालय में पाया ज्ञान ;
शास्त्री अरु हो न्यायतीर्थ, तुम संस्कृत प्राकृत के विद्वान ।
धर्म शास्त्र अरु वैद्यक ज्योतिष, पढ़कर पण्डित श्रेष्ठ कहाय ।
व्याख्याता उपदेशक होकर, भारत में अतिशय यश पाय ।।
विद्वानों में प्रमुख कहाए, तुमरी महिमा का नहिं पार ।
धन्य-२ महावीरकीर्ति मुनि, तुमने लिया मनुज अवतार ।।

[३]

धन, कंचन यौवन अरु माया, का न तुम्हें था तिल भर मोह ।
इन्द्रिय-सुख अरु विषय-भोग से, बचपन से ही कीना द्रोह ।।
भरी जवानी में गृह तजकर, मुनिव्रत को कीना स्वीकार ।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण पर, तुमने पाया था अधिकार ।।
शांति सिन्धु अरु वीर सिन्धु के, अनुयायी सच्चे साकार ।
धन्य-२ महावीरकीर्ति मुनि, तुमने लिया मनुज अवतार ।।

[४]

झुकती दुनिया गुरुवर तुमरे, चरणों में प्रमुदित मनचाव ।
दर्शन पाकर नैन सफल थे, नर-नारी जनगण समुदाय ।।
संघ शिरोमणि सूरीश्वर तुम, नायक मुनिगण वंदित पाय ।
युग-२ नाम रहे भू-तल पर, कोटि-२ वंदन गुरुराय ।।
चले स्वर्ग आकस्मिक गुरु तुम, दुःख हमें यह रहा अपार ।
धन्य-२ महावीरकीर्ति मुनि, तुमने लिया मनुज अवतार ।।

ऋषभदेव (राज०) —पं० महेन्द्रकुमार जी 'महेश' शास्त्री

संस्मरण

छद्मस्थ मानव जीवन गुण-दोषों से संक्रान्त रहता है। गुणी और निर्गुणी का लक्षण क्या है ? किसे गुणी कहा जाय और किसे निर्गुणी ? ये प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं। सामान्यतः इसका उत्तर यही होगा कि जो रत्नत्रय धारी तपोधन हैं, आरम्भ-परीषह के सर्वथा त्यागी, विषय-कषायों से विरक्त, ज्ञान-ध्यान तप-लीन, आत्मोत्थान में संलग्न, सन्त-महन्त साधु ही ज्ञानी हैं, तभी तो उनका जीवन निर्द्वंद और निर्विकल्प होता है।

स्वामी श्री १०८ समन्तभद्राचार्य सच्चे ज्ञानी साधु का लक्षण कहते हैं—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान ध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।

उल्लिखित गुणों की परमपूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी साक्षात् मूर्ति ही थे। पूज्य गुरुवर निरन्तर ज्ञान ध्यान और तपश्चरण में तल्लीन रहते थे, आरम्भ परिग्रह का लेश मात्र भी उनके पास नहीं था। वे कहा करते थे, "साधु होकर आत्मा दर्शन नहीं किया तो पीछी कमण्डल धारण करना व्यर्थ है।

आगम पर उनका अकाट्य विश्वास था। उनकी सभी क्रियाएँ आगमानुसार होती थीं। एक बार आपका चातुर्मास फिरोजाबाद में हुआ। वहाँ के धनाढ्य सेठ छदामीलाल जी ने आपसे आहार लेने की प्रार्थना की और साथ ही आपके संघ के विहार कराने का प्रस्ताव रखा किन्तु आर्ष-मार्गी वीतरागी आचार्य श्री ने स्पष्ट शब्दों में उनकी प्रार्थना अस्वीकार की– "तुम्हारे लड़के ने विजाति-विवाह किया है, इसलिए हम तुम्हारे घर का अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकते। हाँ, तुम पुत्र और पुत्र वधू के साथ सम्बन्ध त्याग करो तो ले सकते हैं, अन्यथा आगम विरुद्ध होगा।" वे अपने संयम में आगम के विपरीत किसी प्रकार की प्रवृत्ति सहन नहीं कर सकते थे।

आचार्य श्री की गुणज्ञता, महान व्यक्तित्व और विद्वत्ता से जैन-अजैन, गरीब-अमीर, विद्वान-सामान्य, साधु-साध्वी कोई अपरिचित नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर उनके गुणों की छाप लगी थी।

सिद्धक्षेत्र बड़वानी-बावनगजाजी का प्रसङ्ग है। वहाँ आपका और आचार्य श्री १०८ विमल-सागर जी महाराज का एक साथ चातुर्मास हुआ। उनकी भिक्षाचर्या, जिनेन्द्र भक्ति, आत्मध्यान और स्वाध्याय क्रम अपूर्व था। एक बार कुछ श्रावकों ने कहा "आचार्य श्री, इतने दिन हो गये हमारे यहाँ

आपका आहार नहीं हुआ और आप उत्तर चर्या के लिए भी नहीं पधारते । हमारी क्या गलती है ? आपने सभा के बीच ही स्पष्टीकरण किया कि हमें विदित हुआ है, आप लोगों के चौके समाज के चन्दे से चलते हैं और इस प्रकार का आहार आगम विरुद्ध है । सोमदेव आचार्य ने कहा है —

गणान्नं गणिकान्नं च सूतिकान्नमधर्मिणः ।
यत्यन्नं चैव शूद्रान्नं नादनीयात् गृहस्तमः ।।

उत्तम गृहस्थ को भी समूह का, वैश्या, व्यभिचारिणी, अधर्मी, यति और शूद्र का अन्न नहीं खाना चाहिए तो फिर साधु-सन्त किस प्रकार इस समूह रूप चन्दे का आहार, उपकरण आदि ग्रहण कर सकते हैं ? कितनी निर्भयता थी आपमें । वास्तव में सिंहवृत्ति के आप ज्वलन्त उदाहरण थे । आप आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के सिद्धांतानुसार वीरचर्या में सावधान रहते थे—

जोणेसु मूल जोगं भिक्खा चरियं च वण्णियं सुत्ते ।
अण्णेय पुणो जोगा विण्णाण विहीण एहिं कया ।।

साधु के मूलगुण और उत्तर गुणों में मूलव्रत भिक्षाचार है । कृत-कारित-अनुमोदना से रहित योग्य काल मे प्राप्त प्रासुक निर्दोष आहार ही भिक्षाचार है । भिक्षा-शुद्धि से रहित त्रिकाल योग धारण करने वाले साधु चारित्र-विहीन परमार्थ ज्ञान से शून्य समझना चाहिए । आप वास्तव में चारित्र-शिरोमणि पवित्र आदर्श स्वरूप थे ।

प्रायः देखा जाता है मनुष्य एक दूसरे की वृद्धि देखकर ईर्ष्या और डाह करने लगता है । ऐसे लोग गुरुओं में भी छिद्रान्वेषण करते देखे जाते है । श्री १०८ आ० विमलसागर जी महाराज मोटर रखते हैं, आरम्भ परिग्रह वाले हैं, इत्यादि । गुरु द्वारा आदेश होने पर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज ने समाधान किया कि मेरा गाड़ी वगैहरा से क्या सम्बन्ध है ? वह तो संचालिका के नाम से है, वही सम्हालती है । फिर भी आपने सभा में संघ संचालिका द्वारा स्पष्ट समाधान कराया । भगवती आराधना में लिखा है कि "प्रायः लोकाः असतोऽपि जल्पाः" अर्थात लोग निर्दोष मे भी दोषारोपण किये बिना नहीं रहते हैं । कहा भी है—

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः ।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ।।

अर्थात् जन साधारण में तो अच्छी तरह प्रवृत्ति होती है । इसीलिए आचार्य कहते हैं, जिन दोषों को तपस्वी जन घोर तपश्चरण द्वारा नष्ट करते है उन ही दोषों को अज्ञानी मूढ़ जन पर निन्दा रूपी भोजन कर पुष्ट करते हैं । आचार्य श्री कहते थे कि लोगों का धन्धा बड़ा विचित्र है, ये गुरु-शिष्य स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, बाप-बेटा आदि में एक दूसरे की निन्दा कर भयंकर कलह पैदा कर देते हैं प्रेम-विच्छेद करा देते हैं । अतः प्रत्येक साधु-साध्वी को अपना-अपना मस्तिष्क ठीक रखना चाहिए । जन सम्पर्क से दूर रहकर ही साधुता टिक सकती है ।

अनुचित कार्य की बू भी आपको नहीं सुहाती थी। वहीं बड़वानी क्षेत्र पर कुछ विद्वद्वर्ग एवं धनिक वर्ग आये, जो इन्दौर में महासभा की मीटिंग में जाने वाले थे। आचार्य श्री ने अपने उपदेश में कहा कि विजाति-विवाह, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह करने वाले अत्याचार-अनाचार करने वाले एवं स्पर्शास्पर्श का भेद लोप करने वाले, पूजा दानादि किसी भी धार्मिक कार्य में भाग नहीं ले सकते, इसी प्रकार आपकी सभा के सदस्य भी नहीं बन सकते हैं। काफी उहा-पोह होने के बाद उन्होने प्रतिज्ञा की कि महासभा में कोई भी ऐसा सदस्य नहीं बनाया जायेगा।

आचार्य श्री कहते थे "गुण न हिराने गुण ग्राहक हिराने।" अर्थात् गुणों की कमी नही गुणो को ग्रहण करने वालों की कमी है।

आपके चारित्र और तप तेज से आकृष्ट हो मैंने आपके चरणों मे रहने की भावना व्यक्त की। प्रार्थना करने पर आपने कहा "मैं जंगली साधु हूँ" मेरे साथ रहोगे तो भूखो मरना पड़ेगा, दुखी रहोगे, मेरे पास कोई व्यवस्था नही, मै किसी की परवाह नही करता, मै तो अपने आत्मध्यान मे लगा रहता हूं। चटाई नहीं रख सकोगे। मेरे जैसा बन कर रहना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि तुम्हारे गुरु से आज्ञा लो उनकी आज्ञा के बिना नही रक्खूँगा। बहुत प्रयत्न कर गुरु आज्ञा पूर्वक विद्याध्ययन और आत्मसिद्धि के लिए आचार्य श्री के साथ रहा। आचार्य श्री ने प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का अच्छी तरह दिग्दर्शन कराया।

मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र मे दर्शन करते समय कहा— विहार के लिए साधु को संघपति, श्रावकों आदि की क्या आवश्यकता है, पीछी-कमंडलु उठाया चल दे, आचार्य श्री ने उत्तर दिया कि "समयसार पढ़ोगे तो चारित्र भी छोड़ दोगे। एकान्त मे नहीं फँस जाना।

गजपंथा में कुछ साधुओं ने पृथक विहार करने की चर्चा की तो आपने कहा "संघ से तो भाग जाओगे किन्तु नरक में जाकर वहाँ से कहाँ जाओगे ?

हूमच अतिशय क्षेत्र में कहा कि "मोह रहित थोड़ा भी ज्ञान मोक्ष का कारण है और मोह सहित बहुत सा भी ज्ञान संसार का कारण है।

आपका बाल्य स्वभाव बड़ा ही मोहक था। एक बार बोले "अब तो तुम भाग जाओगे क्यों ? ये तुम्हारे साथ झगड़ा अपमान करते हैं।" पर देखो डरना नहीं, चारित्र, तप और निर्जरा की वृद्धि के लिए परिषह-उपसर्ग सहन करना चाहिए।

श्रवण बेलगोला में मस्तकाभिषेक पर तपस्वी श्री १०८ सन्मति सागर जी और १०५ श्री आर्यिका इन्दुमति जी तथा श्री १०८ बुद्धि सागर जी महाराज आये थे। उनके विषय में लोगों ने शंका की कि ये विधवा की संतान है। यह समस्या आचार्य श्री के सामने आयी तो आपने भली प्रकार जाँच की पता चला कि उनकी तो पिंड शुद्धि है किन्तु उनकी स्त्री बाल विधवा थी। अत: आपने कहा— भाई इनकी मुनिदीक्षा तो आगमानुकूल है, इनकी संतान को दीक्षा लेने का अधिकार नही है। इस प्रकार आप प्रत्येक कार्य का सूक्ष्म निरीक्षण करते थे।

कभी-कभी श्रावक कहते महाराज श्री आप हमेशा ध्यान ही में रहते हैं, शिष्य को भी तो सँभालना चाहिए। आप कहते— अरे भाई साधु का शासन भी साधु होता है, हम तो साधु-शासन ही जानते हैं। पीछी कमण्डल दिया है, मोक्ष जाने के लिए इन्हें इशारे पर चलना चाहिए। हम अपना आत्महित कैसे छोड़ सकते हैं? कहा भी है—

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो: ।
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवतां ॥
नतानामाचार्या नहि नतिरताः साधु चरिताः ।
तपस्थेषु श्रीमन्मणयइव जाता प्रविरला ॥

भाई हम राज-शासक है। परिवार (गृहस्थाश्रम) शासक नहीं है। हम तो साधु है। साधु को साधुता रखते हुए काम करना चाहिए। ऐसा परम आदर्श जीवन था उनका।

—श्री १०८ आ० सन्मति सागर जी महाराज

हार्दिक-श्रद्धाञ्जलि

आचार्य महावीरकीर्ति जी की स्मृति में 'स्मृति ग्रन्थ' के प्रकाशन सम्बन्धी योजना जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वास्तव मे २५००वर्षीय निर्वाणोत्सव के अवसर पर आप लोगों का यह प्रकाशन सराहनीय होगा और आचार्य जी की स्मृति में सच्ची श्रद्धाञ्जलि सिद्ध होगी। मैं स्व० आचार्य श्री के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए इस स्मृति ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हूँ और इसके आयोजकों को भी धन्यवाद देता हूँ।

कलकत्ता —जुगमन्दरदास जैन

परीषहजयी

महात्मा मुनि महाराज श्री महावीरकीर्ति जी डेह के पुराने जैन मन्दिर में आकर ठहरे तब उनकी सेवा में रहने का अवसर मिला। मैंने उनको ध्यान तपस्या करते आँखों देखा। वर्षा होने से कड़ाके की हवा चल रही थी तथा सर्दी पड़ रही थी। लगभग रात्रि के एक बजे उठकर महाराज ने एक पैर से खड़े होकर मंदिर के ऊपर की छत पर ध्यान किया। ऐसे परीषहजयी पूज्य महाराज को मैं श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

डेह (राज०) —डूंगरमल शर्मा ओझा

मांगली (दक्षिण भारत) में पूज्यश्री अपने शिष्यों को मर्म की बातें समझाते हुये

शिष्यानुग्रही आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

(अपने विशाल साधु-संघ के साथ)
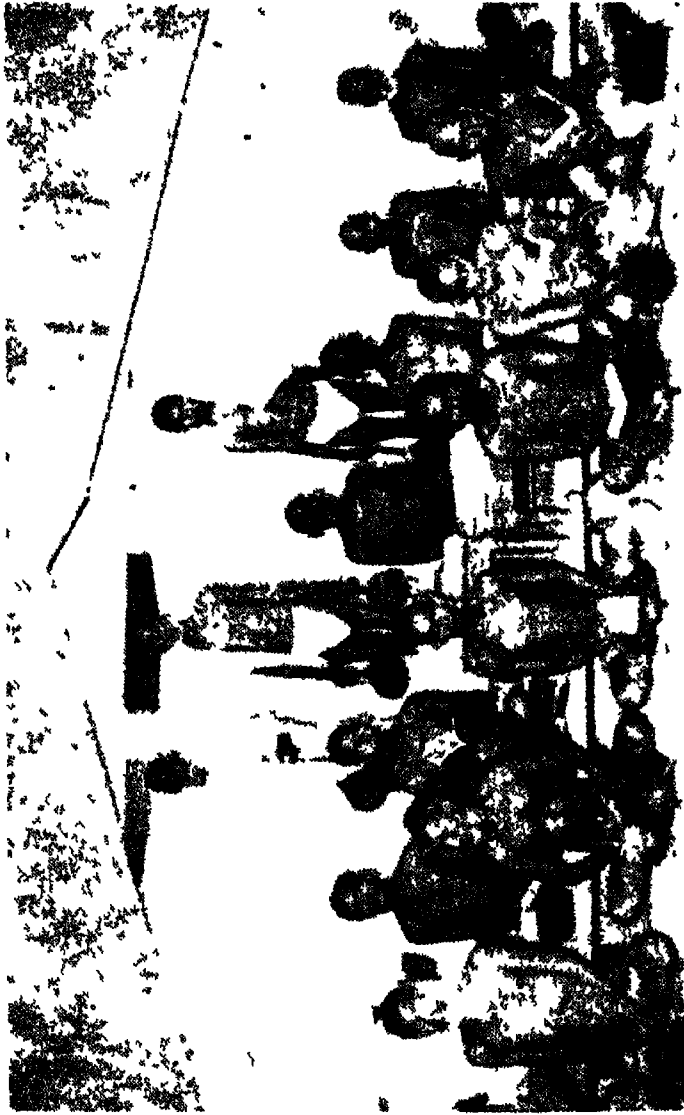
प्रथम पंक्ति—श्री मुनि निर्वाणसागरजी, वासुपूज्यजी, नमिसागरजी, आदिसागरजी, सुधर्मसागरजी और मुनि श्री पार्श्वसागरजी महाराज।

द्वितीय पंक्ति—श्री मुनि सम्भवसागरजी नेमिसागरजी, आचार्य महावीरकीर्तिजी, मुनि सन्मतिसागरजी, मुनि कुंथुसागरजी और मुनि श्री अरहसागरजी महाराज।

तृतीय पंक्ति। खड़े हुए—श्री क्षुल्लक चन्द्रसागरजी वर्धमानसागरजी और रत्नसागरजी महाराज।

आचार्यश्री–

सात दि० जैन मुनियों एवं दो क्षुल्लकों के मध्य

बाईं ओर से (खड़े हुये) मुनि श्री श्रुतसागरजी, सन्मतिसागरजी, जयसागरजी, वर्धमानसागरजी,
आचार्यश्री, आ० शिवसागरजी, मुनि धर्मसागरजी और
मुनिश्री पद्मसागर जी महाराज।

बैठे हुये—क्षुल्लक श्री चन्द्रसागरजी व क्षुल्लक श्री शीतलसागरजी महाराज।

पूज्यश्री दीक्षित एवं विशेष भक्ति रखने वाली

(आर्यिकायें व क्षुल्लिकायें)

प्रथम पंक्ति (बैठी हुई) आर्यिका श्री विजयमतीजी, महावीरमती जी, मुनि सुव्रतमती जी और धर्ममती जी।

द्वितीय पंक्ति (खड़ी हुई)—क्षुल्लिका श्री आदिमतीजी, संयममतीजी, सुमतिमतीजी, शान्तिमतीजी और वरदत्ताजी।

पूज्यश्री प्रवचन के पश्चात् ध्यान–मुद्रा में–
(दोनो ओर शिष्यवर्ग, सामने भव्य श्रोतागण)

पूज्यश्री जब नव वर्ष पूर्व हुबली (द० भा०) मे ससघ विराजमान थे,
उस समय का एक दुर्लभ चित्र
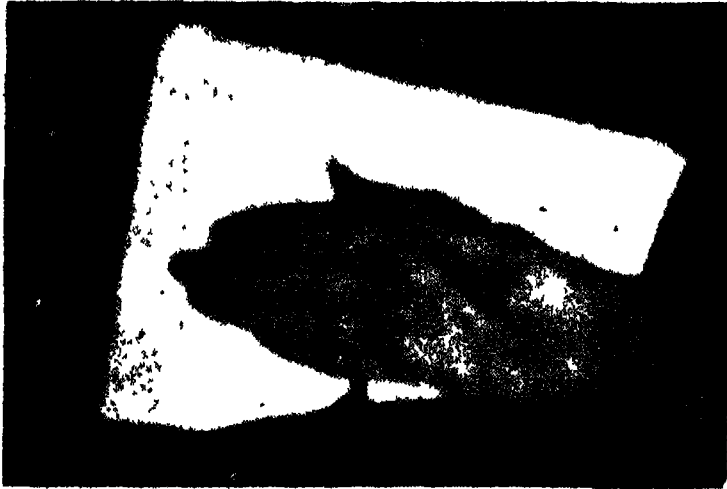
पूज्यश्री का दाहिना करतल

बीस वर्ष पूर्व अवागढ (एटा) उ० प्र० मे प्रवचन के पश्चात् भक्तगणों को व्रत नियम देते हुये पूज्य गुरुदेव ।

स्वर्गीय चारित्रचक्रवर्ती
आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज

पट्ट शिष्य
स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज

स्वर्गीय आचार्यकल्प
श्री सुधर्मसागरजी महाराज

उपाध्याय-पद विभूषित
श्री मुनि विद्यानंदजी महाराज

पूज्यश्री के प्रथम शिष्य—
श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज

भव्य जीवों
को
आशीर्वाद देते हुए

पूज्य श्री के पट्टशिष्य
आचार्य
सन्मतिसागरजी महाराज
(स्वाध्याय करते हुए)

संघ और संकट

लगभग २० वर्ष पहले की बात है। हमारे पूज्य पिताजी ब्र० दीपचन्द्र जी बड़जात्या तथा हमारा सारा परिवार संघ के साथ था। हम कलकत्ता थे। जब संघ का खण्डगिरि की यात्रा करने का समाचार आया, तब हमारे भाईसाहब केसरीमल जी बड़जात्या, नेमीचन्द्र जी, झूमरमल जी बगड़ा चारों कलकत्ता से ईसरी गये, वहाँ से संघ का विहार हो गया था। हम लोग वहाँ से खरखरी पहुँचे, वहाँ संघ विराजमान था। वहाँ से हम लोग पुरलिया तक, जोकि लगभग ६० मील दूर था, आचार्य श्री के साथ पैदल चलने का नियम लेकर पैदल चलने लगे। रास्ते में जगह-जगह आचार्य श्री का उपदेश होता था। सैंकड़ो लोगों ने मद्य-मांस न खाने का नियम लिया। इस तरह संघ का विहार खूब ठाठ-बाट से हो रहा था। संघ में ब्र० चाँदमल जी चूड़ीवाल, वर्तमान पूज्य श्री १०५ सुपार्श्वमति माता जी, उस समय ब्र० भँवरी बाई भी साथ में थी, संघ पुरलिया से ७ मील इधर था।

उसी दिन वहाँ बंगाल बिहार की सीमा का जो विवाद चल रहा था, उसी को लेकर झगड़ा निपटाने के लिये कमीशन बैठा था। उस कमीशन का उसी दिन उसी रास्ते से आने का प्रोग्राम था। उसी का विरोध करने के लिये ५ ७ हजार जनता सड़क के दोनो ओर खड़ी थी, उसी के बीच से संघ का विहार हो रहा था। आचार्य श्री उपदेश देते जा रहे थे, हम लोग साथ में थे। चलते-२ एक जगह ५–७ आदमी जोकि मद्य पिये हुऐ थे आचार्य श्री के सामने खड़े हो गये कहने लगे— 'नंगे को नही जाने देंगे कपड़ा पहना दो' आदि। उस समय श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागर जी महाराज भी साथ मे थे, तथा भाईसाहब केसरीमल जी भीड मे पीछे रह गये थे। झूमरमल जी आगे निकल गये। पूज्य आचार्य श्री महाराज उपसर्ग समझ कर वहीं सड़क के बीच में खड़े हो गये हम आचार्य महाराज के पास खड़े थे। उस समय २-३ हजार जनता इकट्ठी हो गई। हम सबको समझा रहे कि भाई दिगम्बर साधु कपड़ा नही पहनते हैं, किसी को कोई बाधा नही देते है परन्तु वहाँ सुनने वाला कौन था ? वे लोग पीछे सडक के किनारे से छोटे-छोटे कंकड पत्थर उठाकर हम लोगों के ऊपर फेंकने लगे। पीछे उन लोगों के हाथ में जो बाँस थे, उससे मारना शुरू कर दिया। हम घबड़ा गये परन्तु उस समय यह भावना हो गई कि पहले हम मरेंगे पीछे महाराज श्री पर आँच आने देंगे।

पूज्य आचार्य महाराज घोर उपसर्ग समझ कर सड़क के बीच में बैठ गये। हम आचार्य महाराज के मस्तक पर हाथ फैला कर खड़े हो गये। हमारे ३–४ बार बाँस की लाठी आँख के पास लगी जिससे आँख के बगल में सूजन हो गई। आचार्य श्री को २–४ कंकरो की चोट माथे में लगी परन्तु

आचार्य महाराज जैसे ही सड़क के बीच मे बैठे, वैसे ही पुरलिया की तरफ से पुलिस की एक मोटरकार आ गई। दूसरी तरफ से जैनियों की एक गाडी आ गई। यह दृश्य वैसा ही रहा जैसे पूर्वकाल मे देव आकाश से आकर उपसर्ग दूर करते थे। पुलिस की गाड़ी से जवान उतर पड़े। भीड को ललकारा भीड चारों तरफ तितर-बितर हो गई। पुलिस के जवान आचार्य श्री के चरणों में गिर गये तथा क्षमा-याचना करने लगे। उस समय पाँच बज चुका था। समय थोडा था। आचार्य श्री से मैंने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि महाराज उपसर्ग टल गया है, अब ध्यान छोडिये, समय कम है। तब आचार्य महाराज ने आँख खोली तथा उपसर्ग हट गया देखकर वहाँ से विहार किया। महाराज ने पुलिस वालो को आशीर्वाद दिया तथा रात मे जहाँ ठहरना था वहाँ तक वे साथ में गये। रात भर वहाँ ड्यूटी लगा दी तथा हमारी आँख की चोट को देखकर रात में ही गाडी मे बिठाकर पुरलिया ले गये। वहाँ उपचार कराके हम लौट आये। इस तरह यह घोर प्राणघातक उपसर्ग टला। यह आचार्य महाराज की ही तपस्या का प्रभाव था।

ऐसे ही आचार्य श्री पर और भी जगह-२ घोर उपसर्ग हुये है। सभी जगह आचार्य श्री उपसर्ग-विजयी सिद्ध हुए। आचार्य महाराज परमतपस्वी ध्यान मे ३-४ घन्टे तक खडे रह कर ध्यान करते थे जाति-भेद के पूरे समर्थक थे, ऐसे तपस्वी अब होना कठिन है। हमे आचार्य महाराज के सानिध्य मे रहने का बहुत बार मौका मिला है। आचार्य महाराज का अंतिम चातुर्मास गिरनार जी हुआ। उसके पहले का चातुर्मास माँगीतुंगी सिद्धक्षेत्र पर हुआ था। वहाँ हम तथा हमारा छोटा भाई नेमीचन्द्र सपरिवार माँगीतुंगी पहुँचे थे, तथा वहा से सघ का विहार कराके संघ को सिद्धवरकूट, पावागढ, ऊन, बडवानी की यात्रा कराते हुये साथ रहे थे। उस समय माँगीतुंगी क्षेत्र के मैनेजर श्री गणेशीलाल जी का विहार मे पूरा सहयोग था।

अब आचार्य महाराज हम लोगो के बीच मे नही रहे। असमय मे ही काल ने हम लोगो को निराश्रय कर उन्हे उठा लिया। अब आचार्य महाराज की आत्मा २-३ भव धारण करके मोक्ष पहुँच जावे, ऐसी श्री जिनेन्द्र देव से हमारी प्रार्थना है।

ऐसे सद्गुरु को हमारा शत-शत नमोस्तु है।

कलकत्ता] —चाँदमल बड़जात्या

मेरी कामना

आचार्य श्री १०८ श्री महावीरकीर्ति जी अपने युग के आदर्श साधक थे। जिन्होंने मुनि धर्म का कठिन परिस्थितियों मे भी यथाविधि पालन किया था। उनका विस्तृत ज्ञान, दृढ श्रद्धा और कठोर चारित्र सदैव ही हमारे पथ प्रदर्शक बने रहें, यही मेरी मनोकामना है। महाराज श्री के स्मृति ग्रन्थ का व्यापक प्रचार होना ही चाहिये।

२१/१९४ धूलियागंज आगरा] —रामसिंह जैन, एम०ए० एल०टी०

श्रद्धा-सुमन

(१)

रत्नत्रय-निधि के स्वामी तुम, फिर भी सर्व परिग्रह त्यागी।
दिशावस्त्र के धारी होकर, नग्न रूप धर वैरागी ॥
करुणासिंधु पुण्य-रत्नाकर, श्रीमहावीरकीर्ति ऋषिराज ।
करूँ स्तुति नव भाव भक्ति से, वंदन करूँ नमाकर माथ ॥

(२)

महाव्रतधारी धीर ! वीर ! हे, गुप्ति समिति के प्रतिपालक।
षट् आवश्यक किरिया में रत, भक्ति को जीवन-दायक ॥
पंच परमगुरु में रागी अरु, विषयों में वैरागो तुम।
भव्य कमल बोधन भास्कर ! तुम, जिनवर मत समुद्र शशि सम ॥

(३)

आगमज्ञ ! गम्भीर ! सदा, उपसर्ग परीषह सहते थे ।
क्षमामूर्ति ! हे विश्ववन्द्य ! सब जन को तुष्टि करते थे ॥
मन्दहास्य ! मुख क्रोध विजित् ! माया मत्सर मोहादिक दूर।
ध्यानाध्ययन लीन मन ! विकथा-शून्य ! निजातम ध्यान रसपूर॥

(४)

अष्टादश भाषा के ज्ञाता, विद्वान् ! सर्वहित उपदेशक।
मनहर मूर्ति ! लोकवित् ! लोकप्रिय ! हे मुक्तिमार्ग दर्शक ॥
सब भारत में पैदल विहार, करके अनुकम्पा धारी :
सब जीवों को हित उपदेशा, तुम निष्कारण बांधव ही ॥

(५)

सूरी उपाध्याय साधु इन, तीन परमपद में स्थित।
सुदृढ़ सम्यक् चारित्र धारी, श्री महावीरकीर्ति योगीश ॥
मौनी ज्ञानी महाध्यानप्रिय !, हे विद्या गुरु योगीश्वर।
विश्व शांति को करके संतत, आप विजयते रहें सुचिर ॥

(६)

हे भगवन् ! तव प्रसाद से ही, पाई मैं दुर्लभ विद्या।
अविनश्वरमय ज्ञान सौख्य को, पाऊँ शीघ्र यही इच्छा॥
न्याय ग्रन्थ व्याकरण छन्द सिद्धान्त शास्त्र के पारङ्गत।
ज्योतिष मंत्र-शास्त्र के ज्ञाता, गुरुवर ! तुमको नमूं सतत॥

(७)

हे मुनिवर ! भव-भव में संचित, कर्मराशि को ही दहने।
नितप्रति तीर्थ क्षेत्र में जिनवर, पद कमलों में तुम रत थे॥
मुक्तवधू की इच्छा से नित प्रति शुद्धात्म-रसास्वादी।
नमोस्तु गुरुवर ! नमोस्तु तुमको हो मम परम ध्यान सिद्धि॥

(८)

श्री सम्मेदशिखर यात्रा के, मध्य अहो ! यह काल कराल।
जैन जगत के शासन-रवि को, झट से निगल गया विकराल॥
हुई समाधि "महसाना" में, सुनकर सब जन दुखित हुये।
नहिं काल को करुणाकिंचित्, सभी साधुजन दुखित हुये॥

(९)

ऐसे विद्वद्रत्न महामुनि, तीर्थों के वन्दन में लीन।
पंच परमगुरु जिनवाणी की, भक्ति में भी अधिक प्रवीण॥
ऐसी कोई माता है क्या, जो ऐसे मुनि पुङ्गव को।
देकर जन्म कृतार्थ करे, पुनरपि सब जग सब जनता को॥

(१०)

गुरुवर ! तव गुण तुझ में ही थे, नहिं सब में उनको अवकाश।
तव प्रसाद से मैं भी पाऊँ, ऐसी तीर्थ-भक्ति सुखराशि॥
भक्ति से नत पुनः-पुनः मैं, श्रद्धा-सुमन करूँ अर्पण।
'सम्यग्ज्ञानवती' शक्ति से, मुक्तिप्रद युक्ति हो सम॥

हस्तिनापुर (मेरठ) —आर्यिकारत्न ज्ञानमति जी

—•—

स्मृति के वातायन में

बात विक्रम संवत् २०१३ की है। परमपूज्य आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज का चातुर्मास-योग, चूड़ियों के प्रसिद्ध नगर फीरोजाबाद में हुआ था। यहाँ से १४ मील की दूरी पर फरिहा कस्बा है। बड़े-बूढ़ों का कहना है कि किसी समय यह कस्बा बड़ा समृद्ध था किन्तु सड़क-व्यवस्था के अभाव से मान खो गया। जो हो, फिर भी आस-पास के ग्रामीण-क्षेत्रों की आवश्यकताओं की आपूर्ति अभी भी यह कस्बा कर ही रहा है।

आचार्य श्री के चातुर्मास के समय फरिहा से जैन-अजैन बन्धु नियमित फीरोजाबाद पहुँचते थे और उपदेशामृत का पान कर लाभान्वित होते। चातुर्मास समाप्त होने पर यह सामूहिक प्रार्थना की गई कि आचार्य श्री का मंगल-विहार कोटला, फरिहा, कौरारी, रीमा आदि कस्बों और ग्रामों की ओर हो ताकि समय के थपेड़ों से जर्जर किन्तु प्राचीन वैभव-सम्पन्न श्री जिनमन्दिरों की विभूति से सज्जित ये स्थान भी महाराज की चरण-रज से पावन हो सकें।

महाराज ने स्वीकृति दे दी। हर्ष-विभोर हो जन साधारण जय-जय करने लगा। फरिहा से कुछ ही दूर है श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र ऋषभनगर (मरसलगंज)। वहाँ के स्वनाम धन्य सह-मन्त्री पं० भगवत्स्वरूप जी तो परम प्रसन्न हो गये। संघ की स्वागत-व्यवस्था में वे लग गये। फरिहा के श्री दि० जैन बड़े मन्दिर जी में पंचायत की बैठक हुई, कार्यभार बाँट दिया गया।

महाराज का संघ विशाल था। मुनि-आर्यिका, अन्य साधुगण ही नहीं श्रावक भी अनेक थे। संघ का संचालन कर रहीं थी, बहन लक्ष्मीदेवी राणा जो नेपाली रानी के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक बड़ी बस में श्रावकों के साथ हा वे भी थीं। समाचार मिला कि आचार्य श्री संध्या होने के पूर्व ही साधु-साध्वियों के साथ मरसलगंज पहुँच जायेंगे। बस बाद में आयेगी।

फरिहा में एक जैन धर्मशाला भी है जो श्री जिन-मंदिर जी से ही संलग्न है। बस्ती के देखते हुए उसे अच्छा ही कहा जायगा। बस-यात्रियों को ठहराने की व्यवस्था वहाँ की गई थी।

कार्यक्रम के अनुसार आचार्य महाराज ससंघ संध्या से पहले आ चुके थे पर रात्रि हो जाने पर भी बस का कुछ समाचार नहीं मिला। आकाश बादलों से आच्छादित था। वर्षा बीत जाने पर भी भूले-भटके ये बादल मेले में खोये हुये बच्चों की भांति रोने लगते। बस की चिंता में पंचायत के प्रमुख लोग कुछ सोच ही रहे थे कि एक ग्रामीण बन्धु ने आकर सूचना दी, "अरे लाला लोगों, तुमाई बस तो रस्ता में नाले में फँस गई।"

उस व्यक्ति से ठीक स्थान की जानकारी प्राप्त कर अब उपाय सोचा जाने लगा। कोटला-फरिहा की सड़क के बारे में कुछ भी कहना व्यर्थ है। कई पीढ़ियाँ इसकी गुण-गाथा गाकर स्वर्ग चली गईं। आश्वासन और कागजी कार्यवाहियों के घोड़े तो इस पर मजे से दौड़ते हैं, बाकी अन्य कोई भी सवारी आराम से नहीं चल सकती।

तय हुआ कि तीन चार व्यक्तियों के साथ कुछ मजदूर जायें और बस को निकलवा कर लायें। योजनानुसार एक गैस की लालटेन, कुदाल और फावड़ों के साथ चार मजदूर, भाई महेन्द्रकुमार, मैं और दो अन्य बन्धु तुरन्त चल दिये। संयोग की बात, मौसम और बिगड़ गया, मानो हम लोगों को चेतावनी दे रहा हो। फिर भी मन में उत्साह था अतः पैर अपने आप तेजी से बढ़ रहे थे।

दो मील दूर हमें चलना पड़ा तब बस की एक हल्की झलक दीखी। हम लोगों के पैरों में मानो पर लग गये। लगभग दौड़ ही उठे। तभी एक तेज आवाज सुनाई पड़ी, "खबरदार, जो भी हो वहीं रुक जाओ वर्ना गोली चला दी जायगी।"

बढ़ते पैरों में ब्रेक लग गये। यह क्या बात ? कुछ समझ में नहीं आया। नेकी तो अभी हुई भी नहीं थी, दरिया में कैसे पड़ गई ? तभी एक और झमेला हो गया। तेज हवा में दौड़ने वाले बन्धु के हाथ में जो गैस की लालटेन थी वह भी फक से बुझ गई और लालटेन के बुझने के साथ ही वही तीखी पर मधुर आवाज आई, "बढ़ने की कोशिश नहीं करना।"

अब मैंने हिम्मत की और वैसे ही चीखकर कहा, "हम लोग फरिहा से आये हैं, मेरा नाम प्रकाश है, बस को निकालने के लिये हमारे साथ मजदूर वगैरहा भी है।"

"ठीक है पहले एक आदमी ही आये," और इसी स्वर के साथ बस से तीव्र रोशनी वाली टार्च हमारी ओर चमक उठी।

मैं बढ़ा, बस के पास पहुँचा तो देखा, रानी लक्ष्मीबाई हाथ मे बन्दूक लिये बस की छत पर खड़ी है, नीचे सभी लोग भय, उत्सुकता और चिन्ता की मूर्तियाँ बने हुये हैं मेरे पहुँचते ही लक्ष्मी बहन उतर आईं। वातावरण हल्का हो गया। साथी लोग भी आ गये। मोटर एक खेत से निकाली जा रही थी कि उसका धुरा मेढ़ पर चढ़ गया। नीचे बरसाती नाली थी। पहिया जमीन छूकर फिसल रहे थे। कोशिश शुरू हुई, पहियों के नीचे सूखी मिट्टी डाली गई, बस को आगे-पीछे ठेला गया। पर तीन सौ मन की मोटर और महाराज के आहार की व्यवस्था में रत श्रावकों का चक्की-चूल्हा वाला सामान। एक घण्टा की जी-तोड़ मेहनत भी बेकार हो गई।

तभी एक चमत्कार हुआ। लक्ष्मी बहन पास के खेत में खड़ी होकर 'श्री भक्तामर स्तोत्र पढ़ने लगीं और जन साधारण ने नारा लगाया 'महावीरकीर्ति जी महाराज की जय।'

धुरे के नीचे से मिट्टी खिसक गई। मोटर अब अपने चारों पहियों पर थी, दूसरे ही क्षण भर्र-भर्र की आवाज आई। मोटर ठीक दिशा में बढ़ने लगी थी।

जिस समय बस फरिहा पहुँची तो यह कहना कठिन था कि बस्ती वालों और बस के अन्दर यात्रियों में से किस समुदाय की आवाजें तेज थीं। हाँ ध्वनि स्पष्ट थी और वह थी, "म हा वी र की र्ति म हा रा ज की जय……………………।"

[२]

ऋषभनगर (मरसलगंज) में जहाँ अभी मनोमुग्धकारी, भव्य, नवीन श्री जिनमन्दिर जी है वहाँ उस समय विशाल टीन का मण्डप था। सुन्दर-सा मंच बना हुआ था जिस पर एक काष्ठ-आसन पर परम-पूज्य आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज विराजमान होते, और संघस्थ अन्य साधुगण यथास्थान उनके निकट बैठ जाते। मध्याह्न के बाद प्रवचन प्रारम्भ होते और शताधिक जैन-अजैन नर-नारी वहाँ अध्यात्म-सुधारस का पान करते।

प्रभात से संध्या-पर्यन्त वहाँ ऐसी रौनक रहती थी मानो कोई महोत्सव हो रहा हो। जो भी एक बार महाराज के दर्शन कर लेता उसकी जबान पर महाराज के ही गुण होते, फरिहा थाने के इंचार्ज मेरे मित्र थे, एक दिन बोले "भई प्रकाश! तुम्हारे इतने बड़े साधु आए हैं, क्या खूबी है उनमें ?"

"आप एक बार उनके दर्शन करें, खुद पता चल जायगा"। मैंने कहा।

"मगर कुछ लोग तो लगता है उनसे बड़े नाराज हैं।"

"आप ही सोचें, भला वीतराग साधु से नाराज होने मे क्या सार समझते है वे लोग। इसका कारण महाराज नही, उन बन्धुओ के मन मे छिपा द्वेष है।"

"हम समझ गये।" थानेदार ने कहा, "मुझे तो यह समझाया गया था कि यदि मैं उधर गया तो यह एक साम्प्रदायिक-क्रिया मानी जायगी।"

दारोगा कस्बे का मालिक जैसा माना जाता था। वही एकमात्र शासकीय अधिकारी होता है जो जन साधारण को उस क्षेत्र में दीखता है। वह नही चाहता था कि गाँव का वर्ग उससे रुष्ट हो जाय। मेरे कहने पर वर्दी पहने जैसे वह बैठे थे, चल पडे। अप्रत्यक्ष रूप से मैंने उन्हें आश्वासन दे दिया था कि यदि किसी क्षेत्र से उनकी आलोचना होगी तो मैं उत्तर दे लूँगा।

दूसरे दिन थानेदार महोदय महाराज के प्रवचन के समय मरसलगज पहुँचे। कुछ शोर-सा मचा, "हटो, हटो दारोगाजी साब आये है।"

वर्दी में लेस दारोगाजी ने देखा कि कही तिल रखने भर की जगह नही थी। गाँव वालो ने फिर भी आग्रह और सम्मान से उन्हे जगह दी। दारोगा जी ने बैठने के पूर्व ही महाराज को सविनय प्रणाम किया और महाराज ने मुस्कराते हुये उन्हें धर्मवृद्धि कहा।

दूसरे ही क्षण महाराज की दृष्टि वर्दी पर पड़ी, वे पूर्ववत् मुस्कराकर ही बोले," मिस्टर सबइन्सपेक्टर आई थिंक, दिस बेल्ट इज मेड ऑफ लेदर ?"

थानेदार ही नहीं अन्य लोग भी चकित थे। दारोगाजी ने उत्तर दिया, "य…………यस सर, दिस इज सो।"

दैन "प्लीज पुट इट ऑफ।" महाराज ने फिर कहा।

दारोगाजी शान्त भाव से मुड़े, एक सुरक्षित स्थान में जाकर उन्होंने अपनी चमड़े की पेटी उतार कर रख दी।

बड़े मनोयोग से नित्यप्रति लगभग सात आठ दिन वह श्रेष्ठ व्यक्ति आकर महाराज के प्रवचन सुनता, प्रश्न करता और समाधान पाकर प्रसन्न होता। एक दिन दारोगाजी बोले, "प्रकाश जानते हो, उस दिन महाराज ने मुझसे अंग्रेजी में क्यों पूछा कि क्या तुम्हारी बेल्ट चमड़े की है ?"

मैंने जानकर भी अनजान बनते हुए पूछा, "क्यों भला ?"

"अरे यार, हिन्दी में पूछते तो बहुत से लोग समझ लेते, और कहीं मेरा दुर्भाग्य उसे अपमान-जनक समझ बैठता, तो मैं लौट आता।"

महाराज का यह मानव-मनोविज्ञान वस्तुतः स्तुत्य था। महाराज के भक्त के रूप में जो प्रभावना उस भव्य व्यक्ति ने की, फरिहा का जैन-समाज उसे आज भी स्मरण कर लेता है। यह तो कल्पना ही की जा सकती है कि उसका विरोधी रूप क्या होता ? और "रोमजं चर्मजं वस्त्रं दूरतः परिवर्जयेत्" का महत् उद्घोष करने वाले आचार्य श्री उस समय कुछ न कहते वह भी शंकाकारक होता।

सा० र० पटना

—प्रकाश जैन

कीर्ति गये हाथ से !

(१)

स्वप्न झरे फूले से
कीर्ति गये हाथ से।
छिन गई चारित्रमणि,
पुण्य के अभाव से।

(२)

दर्श भी हुये न थे कि,
हाय ! दीप बुझ गया।
और हम कुछ भूल में,
स्वप्न संजोते रहे।

(३)

ऐसी सौम्य-मूर्ति,
फिर न मिलने पायगी।
यह विचार था नहीं,
ज्ञान-धन तो ले ही लें।

(४)

अर्थी जब निकल गई,
हम फूल ढूंढते रहे।
स्वप्न झरे फूल से,
कीर्ति गये हाथ से।

जबलपुर (म०प्र०)

—कु० प्रमिला जैन

चिर स्मृति के प्रतीक

वैसे तो साधु-सम्राट् आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का सम्पूर्ण जीवन ही आश्चर्यकारी घटनाओं से ओत-प्रोत है किन्तु सन् १६५७ में जब उन्होंने ससंघ अवागढ़ में पदार्पण किया उस समय की घटित घटनाओं ने उसमें और भी विशेषता ला दी है।

१. समवशरण रूपी शुभागमन :

स्वागत-समारोह की पूर्ण तैयारी मे संलग्न अवागढ़ का सारा जैन समाज प्रातःकाल, से ही एक मील एटा की ओर संघ के शुभागमन की प्रतीक्षा में उत्साहित था। सहसा आगे आकर लौटने वाले साइकिल सवार दिखाई पड़े। जन समूह उमड़ पड़ा। पूछा —"महाराज श्री कितनी दूर हैं?" "अब अधिक दूर नहीं हैं"; उत्तर पाकर भीड़ आगे बढ़ी। सहसा आवाज आई—वह देखो, केशरिया ध्वज दीख रहे है। थोड़ी ही देर में महाराज श्री आ गये। सभी भक्तगण आचार्य श्री तथा संघस्थ साधुओं के चरणों में नत-मस्तक हुये। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चतुर्विधि संघ ने जैन रथ, जैन ध्वज तथा नेपाल की महारानी लक्ष्मीबाई सहित नगर में प्रवेश किया। ऐसा स्वागत जुलूस तथा नगर की सजावट उससे पहले कभी किसी भी साधु संघ के आगमन पर नहीं हुई। संघ श्री बड़े मन्दिर जी पर पहुँचा। धर्मामृत की वर्षा होने लगी।

२. दिव्य देशना :

आचार्य श्री स्वयं तो अद्वितीय विद्वान् थे ही, उनके संघस्थ अन्य साधु भी अच्छे विद्वान् थे। उनका संघ अनुशासन प्रिय था। महाराज की प्रवचन शैली में अद्भुत आकर्षण था। वे प्रत्येक विषय को शास्त्रीय उदाहरण देकर समझाते थे। जो भी एक बार उनाक प्रवचन सुन लेता, वह नित्य ही धर्म-श्रवण के लिये अवश्य आता। अवागढ़ में उनके प्रवचनों का ऐसा प्रभाव रहा कि स्थानीय तत्कालीन नरेश भी उनके प्रवचन सुनने हेतु पधारे एवं गद्गद् होकर गये।

३. भविष्य वक्ता :

मध्याह्न की धर्म सभा हो रही थी। महाराज के मुखारविंद से अवतरित धर्मामृत-वर्षा का लाभ लेने विशाल जन समूह उपस्थित था। जैसे ही सभा समाप्त हुई कि एक महिला व्याकुलता से महाराज के समीप आकर कुछ कहना ही चाहती थी कि महाराज ने उससे कहा— घर जाओ, तुम्हारी खोई हुई वस्तुयें मिल गई हैं। वह महिला बिना कुछ कहे तीव्र वेग से घर गई। उसने देखा कि सचमुच ही कई दिनों से खोये हुये आभूषण मिल गये हैं, तभी उसके मुख से सहसा निकल पड़ा— 'महाराज जी भविष्य वक्ता हैं।'

४. आगम रक्षा में उद्यत :

दो-तीन दिन धर्मामृत पान कराने के बाद ज्यों ही एकाएक आचार्य श्री ने सुना कि फिरोजाबाद में आगम विरुद्ध कथनी करने वाले समुदाय का आगमन होने वाला है तो उनकी आगम-रक्षा की तीव्रतर भावना जाग्रत हो गई एवं शांतिपूर्वक समझाने तथा चर्चा-वार्ता करने हेतु फिरोजाबाद प्रस्थान करने की घोषणा कर दी।

५. चिरस्मरणीय :

आगम-रक्षा के निमित्त महाराज ने ससंघ प्रस्थान तो कर दिया, किन्तु अवागढ़ का समाज अतृप्त-सा रह गया। भाग्य से सन् १९७२ में अवागढ़ ने उन्हीं के परम शिष्य क्षुल्लक शीतल सागर जी महाराज को पुन: पा लिया। पूज्य क्षुल्लक जी की गुरु भक्ति तथा समाज की अतृप्त धार्मिक भावना ने मिलकर अवागढ़ में एक नया मोड़ लिया। फलस्वरूप 'आचार्य महावीरकीर्ति दि० जैन धर्म प्रचारिणी संस्था' की स्थापना हुई। फिर संस्था द्वारा 'श्री महावीरकीर्ति स्मृति भवन' का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ। अब संस्था द्वारा 'श्री महावीरकीर्ति दि० जैन विद्यालय' भी चलाया जा रहा है। उन महापुरुष की स्मृति में स्थापित ये कार्य चिरकाल तक उनका स्मरण दिलाते रहेंगे। उन गुरुदेव के चरणों में शत-शत प्रणाम !

अवागढ़ (उ०प्र०) —धर्मप्रकाश जैन शास्त्री

प्रभावशाली आचार्य

आचार्य श्री का ससंघ चातुर्मास भोपाल नगर में हुआ। नगर की जैन-अजैन जनता में बड़ा भारी धार्मिक उत्साह था। आचार्य श्री परम तपस्वी अनेक भाषाओं के परम विद्वान् कुशल वक्ता एवं प्रभावशाली मुनिराज थे। आपका उपदेश श्रवण कर जैन-अजैन जनता आत्म विभोर हो जाती थी। जब आप जीव और पुद्गल आदि सप्त तत्वों का वर्णन अनेक दृष्टान्तों सहित समझाते थे, तब श्रोताओं में अनायास ही वैराग्य भावना जाग्रत हो जाती थी।

आचार्य श्री का संघ भोपाल नगर के प्रसिद्ध श्री नेमिनाथ दि० जैन मन्दिर के विशाल प्रांगण में ठहरा था। जब प्रात: दोपहर सायं आचार्य संघ सामायिक में बैठता उस समय का मनोहारी दृश्य चतुर्थ कालीन-सा प्रतीत होता था। यह स्थान तपोवन-सा मालूम होता था। यह स्थान वैसे भी प्राकृतिक खण्डहरता को लिये हुये है तथा यहाँ के विशाल मन्दिर में हीरे के पालिश की महामनोज्ञ पद्मासन श्यामवर्ण भ० नेमिनाथ की महाचमत्कारी जिन प्रतिमा है।

आचार्य श्री का संघ आहार हेतु जब नगर में आता तो वह दृश्य भी बड़ा ही प्रभावशाली धार्मिक वातावरण को चिर स्थायी बनाने वाला होता था। वह सब सजीव दृश्य आज भी हृदय-पटल पर ऐसा अंकित है, मानों कल की ही बात है। वास्तव में आपके द्वारा अनेक भव्यों का जीवन सफल हुआ है।

भोपाल (म०प्र०) —गुलाबचन्द पांड्या

मन्त्र और तीर्थ के भक्त

णमोकार मन्त्र और सम्मेद शिखर तीर्थ का माहात्म्य वर्णनातीत है। दोनों के विषय में जैन वाङ्मय में पर्याप्त पठनीय सामग्री मिलती है। इसलिए संस्कृत भाषा के एक सुकवि ने सूर्य सत्य ही लिखा—

णमोकार समो मन्त्रः सम्मेदाचल समो गिरिः ।
वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी के मन-वचन-काय से पूर्वोक्त श्लोक का आशय ध्वनित होता था। वे सर्वदा सभी को णमोकार मन्त्र की आराधना और सम्मेद शिखर तीर्थक्षेत्र की यात्रा करने की प्रेरणा करते थे। जैसे णमोकार मन्त्र में पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं, वैसे ही सम्मेद शिखर बीस तीर्थंकरों के साथ अनेकानेक मुनि-उपाध्यायों-आचार्यों की मुक्ति का स्थल है।

एक बार मुझे भी आचार्य श्री के साथ वन्दना करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। गौतम गणधर की टोंक पर एक भील द्वारा भाला से किये गए उपसर्ग को भुला नहीं सकता। आचार्य श्री ग्रीष्म-शीत परीषहों को सहनकर, सिद्ध करते थे कि शरीर से आत्मा ही श्रेष्ठ है। आत्म-बोध हो गया तो नव-निधियाँ मिल गईं, समझो। आचार्य श्री की प्रेरणा से उनके शिष्य चातुर्मास में सम्मेद शिखर गए थे और श्रद्धालु भक्त उनके देहावसान के बाद आज भी संघ बनाकर जाते है।

एक बार जब आप सिद्धवरकूट की ओर जा रहे थे कि बड़वाह के जंगल में ही सूर्य अस्त हो गया। आचार्य श्री ससंघ वहीं ठहरे। णमोकार मन्त्र की आराधना के बल पर ब्रह्मचारी वासुदेव से दो घेरे गोलाकार बनवा दिये। एक में पुरुष और दूसरे में महिलायें रहीं। आचार्य श्री ध्यान में लीन हुये। अन्य जन भी कुछ निश्चित कुछ अनिश्चित रात बीतने की विचारते रहे।

जंगल के जंगली जानवर आये पर किसी का बाल-बाँका नही हुआ। गुरुदेव की हित-मित-प्रिय वाणी को सुनने का मुझे भी सौभाग्य मिला। गढ़ गिरनार पर बार-बार नमस्कार करते देखकर मैंने पूछ लिया— आप देवता को कितनी बार नमस्कार करते है ? उन्होंने उत्तर दिया— अब तो तीन बार ही कर पाता हूँ पहले तो नव-नव बार कर लेता था। आचार्य श्री ध्यान में तन्मय होते थे तो अपने ही कल्याण की चिंता करते थे, संघ की नहीं। वे कहा करते थे— ध्यान तो ऐसा होना चाहिए कि कोई गरदन भी काट ले जावे तो पता नहीं चले।

णमोकार मन्त्र के साधक, सिद्धक्षेत्र सम्मेद शिखर के प्रचारक, निरीह ध्यानी, आत्मबोधी आचार्य श्री की पुनीत स्मृति में श्रद्धाञ्जलि।

सुजानगढ़] —सोहनलाल पहाड़िया

बहुभाषा बहुविषयविद्

परिग्रह से परे :

जब प्रचारक जी दो-ढाई माह बाद, जैन धर्म का यत्र-तत्र प्रचार करके वापस आये तब सेठ सा० ने उन्हें पारिश्रमिक के पचास रुपया देना चाहे। प्रचारक पंडित जी ने कहा— सभी जगह पर्याप्त स्नेह और सम्मान मिला और वस्त्र भी मिले। टिकट लोगों ने दिलवा ही दिये। अब मैं आपसे पचास रुपये और लेकर परिग्रह नहीं बढ़ाना चाहता हूँ, बल्कि परिग्रह से परे ही रहना चाहता हूँ। ये प्रचारक पंडित ही आगे आचार्य महावीरकीर्ति बने।

आगमन से शांति :

जब आचार्य श्री अहमदाबाद आये तब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में युद्ध होने से चिराग गुल [Black Out] हो रहा था पर आपके आते ही अन्धेरा दूर हुआ उजाला आया। 'चिराग गुल' व्यवस्था समाप्त हुई, लोगों ने भी शांति की सांस ली।

मुनि तो बना दूं पर....:

आचार्य श्री दूरदर्शी थे। वे कहते थे—आप जितने कहें उतने मुनि बना दूं पर उनके सम्हालने, सन्मार्ग पर लगाने की क्षमता भी तो समाज में हो। गिरनार के उपसर्ग के प्रसंग में किसी ने कहा— आचार्य श्री! आपकी तो मन्त्र-तन्त्र शक्ति अमित है आप क्यों नहीं प्रभावित करने वाले चमत्कार बतलाते। दो टूक उत्तर दिया— ऐसा करने लगूं तो मुनि ही नही रहूँ।

शासन-देव और शूद्र जल :

मन्दिरों से मूर्तियों की चोरी का मूल कारण आचार्य श्री शासन-देवताओं की उपेक्षा मानते थे। वे उन्हें सम्यक्त्वी समझ साधर्मी सत्कार करने के पक्ष में थे। शूद्र जल त्याग करने की बात का समर्थन वे यों करते थे— जब रजस्वला स्त्री की परछाहीं से बड़ी पापड़ बिगड़ जाते है तब शूद्र के हाथ का पानी पीने से क्या हमारे आचार-विचार बिल्कुल भी मलिन नहीं होंगे ?

दृश्य घड़ी छोड़ो अदृश्य पकड़ो :

समय देखने के लिये आचार्य श्री अपने पास कभी घड़ी नहीं रखते थे। वे कहते थे कि घड़ी रखें तो विचार आता कि अभी सामायिक का समय ही नहीं हुआ अतएव अन्यथा भी प्रवृत्ति हो सकती पर जब घड़ी न हो और मन सामायिक करने का हो तब उस अदृश्य घड़ी को पकड़ो, आत्म-केन्द्रित हो अनन्त दर्शन-ज्ञान बल-सुख की साधना करो, वही घड़ी सार्थक है।

बहुभाषा बहुविषयविद् आचार्य श्री की स्मृति में सहर्ष श्रद्धाञ्जलि !

अहमदाबाद | —धर्मचन्द्र पाण्डया

एलोरा में आचार्य श्री

आचार्य श्री गजपन्था तीर्थक्षेत्र से चातुर्मास समाप्त कर कुन्थलगिरि की ओर जाने के विचार से उस एलोरा में आये, जो जैन-बौद्ध और हिन्दू— तीनों धर्मों का तीर्थ स्थान है। चूँकि मैं आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व से बिना दर्शन किये ही बहुत प्रभावित था, अतएव औरंगाबाद से आचार्य श्री के दर्शनार्थ एलोरा पहुँचा।

जब दिन के दस बजे मैं एलोरा पहुँचा तब आचार्य श्री के समीप बड़ी भीड़ थी। सभी आचार्य श्री के दर्शन कर चरण स्पर्श करने के इच्छुक थे। मैंने भी किसी प्रकार उस भीड़ में अर्घ्य चढ़ा आचार्य के दर्शन किये और चरण स्पर्श कर अपना जीवन सफल माना।

चूँकि आज ही दोपहर को दो बजे आचार्य श्री विहार करने वाले थे, अतएव वे पन्द्रह मिनट पहले ही ध्यान से निवृत होकर आ गये थे। भक्तो की प्रबल भावना देखकर आचार्य श्री ने मराठी में मर्मस्पर्शी उपदेश दिया। तीर्थक्षेत्र की वन्दना और उसका आत्मबोध में योगदान विषय सहज भाव से समझाया। सभी ने उनकी प्रखर प्रतिभा की सराहना की।

नियत समय पर विहार हुआ। ज्ञानी और वयोवृद्ध आचार्य श्री की गति के सम्मुख मुझ युवा की शक्ति हार मानने लगी। एक मील ही चले होंगे कि आचार्य श्री ने उपदेश और आशीर्वाद देकर पहुँचाने के लिये आने वालों को वापस जाने के लिये कह दिया। जाना तो कौन चाहता था पर जाना सभी को पड़ रहा था।

आचार्य श्री ईर्यासमिति लिये अविराम बढ़े जा रहे थे। जैन गुफाओं के समीप पहुँचकर परम प्रसन्न हुये। कुछ देर ठहरे, बोले— ये गुफायें जैन संस्कृति का निदर्शन हैं। णमोकार मन्त्र का जाप कर आचार्य श्री मौन हुये तो मुझे कुछ उपदेश की और आशा हुई पर महाराज श्री आगे बढ़े। सभी को पीछे छोड़कर किसी प्रकार मैं उनका साथी बन पाया। पक्की सड़क पर आकर मौन भंग कर उन्होंने मुझ से अनेक बाते पूछीं। औरंगाबाद के विद्यालय में अध्ययन करते हुये भी मैं जैन संस्कारों को सँजोए हूँ। यह जानकर आचार्य श्री अतीव सन्तुष्ट हुये। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि णमोकार मन्त्र का सर्वदा ध्यान करूँ। उनका यह उपदेश आज मेरे दैनिक जीवन का सुख-शांति, सन्तोष-समृद्धि प्रदायक कार्यक्रम बन गया है।

इन शब्दों के साथ ही आचार्य श्री के पुनीत चरणों में नमोऽस्तु मूलक श्रद्धाञ्जलि !!

मांडवगांव] —भरतकुमार तेजपाल काला

दिव्य-दृष्टि योगीराज !

परमपूज्य श्री १०८ श्री आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज अत्यन्त विद्वान्, चमत्कारी, तेजस्वी एवं परम तपस्वी योगीराज थे। आप में भविष्य-कथन की भी अपूर्व क्षमता थी। आप की सब बातें सत्य साबित होती थीं। एक संस्मरण आचार्य महाराज के सम्बन्ध में मैं प्रस्तुत करना चाहूँगा।

एक बार मै सपरिवार रामगंजमण्डी से पूज्य आचार्य महाराज के दर्शनार्थ पावांगढ़ (जहां कि आचार्य महाराज का चातुर्मास योग था) गया। महाराज साहब वहाँ पर अधिकतर मौन ही रहते थे। केवल आहार के बाद एवं सायंकाल ४ से ५ बजे के मध्य ही आप प्रवचन देते थे एवं शंकाओं का समाधान करते थे। उस समय महाराज के समक्ष भारी संख्या में स्त्री पुरुष एकत्रित रहते थे एवं महाराज के प्रवचनों का अपूर्व लाभ उठाते थे। एक दिन की बात है कि एक अत्यन्त कृशकाय ग्रामीण वृद्धा रोती हुई महाराज के पास आयी। जब महाराज ने उससे रोने का कारण पूछा तो उसने बतलाया कि उस की एक मात्र आजीवका का साधन एक भैंस थी, जिसका दूध बेचकर उसका गुजारा चलता है। वह भैस जो कि उन दिनों गर्भवती थी, तीन दिन से घर नहीं पहुँची है और खो गई है, जिससे उसकी आजीविका पर भारी असर पड़ेगा क्योंकि वह बहुत ही गरीब है।

तब महाराज ने उस वृद्धा से कहा कि तुम्हें चिंता करने की जरूरत नहीं है क्योंकि भैंस घर पर पहुँच गई है एवं उसके बच्चा भी हो गया है। महाराज के उक्त वचन अक्षरशः सत्य निकले एवं महाराज श्री ने बिना जाने हुए जो बतलाया उससे उनकी दिव्यदृष्टि का पता चलता है। इसी प्रकार के कई उदाहरण हैं जिससे यह व्यक्त होता है कि आचार्य महाराज अत्यन्त चमत्कारी योगी थे।

आचार्य महाराज के स्वर्गवास की वजह से जैन समाज को अपूरणीय क्षति हुई है। महाराज श्री आज भी लौकिक दृष्टि से अमर हैं। मेरी ऐसे परम महात्मा को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित है। आपके इस शुभ कार्य के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

रामगंज मण्डी]

—मदनलाल चाँदवाड़

सत्य शिवं के महामेघ को

(१)

महावीरकीर्ति महाराज ने, अपनी कभी कीर्ति न चाही।
जीवन की हर श्वांस सत्य पर, बनकर चलती रही सिपाही ॥
जीवन भर जिसने बर्षाई, त्याग तपस्या की शुचि धारा।
सत्य शिवम् के महामेघ को, करता है कवि नमन हमारा ॥

(२)

मानवता के परम पुंज तुम, आदर्शों की थे तुम छाया।
अपने पग से जाने कितनी, भू को तुमने तीर्थ बनाया ॥
कैसे व्यक्त करू" मैं वह सब, अब अपनी कविता के द्वारा।
सत्य शिवम् के महामेघ को, करता है कवि नमन हमारा ॥

(३)

कौन मार्ग दर्शन देगा अब, हा ! कैसी अनरीत हो गई।
लगती धरती हार चुकी है, अब स्वर्गों की जीत हो गई ॥
क्रूर काल ने छीन लिया है, हम से शिव का सत्य किनारा।
सत्य शिवम् के महामेघ को, करता है कवि नमन हमारा ॥

(४)

जो कुछ दिया आपने हमको, हम उनसे निर्माण करेंगे।
सत्य शिवम् के रूप आपका, युग-युग तक सम्मान करेंगे ॥
'सरस जैन' की इस कविता ने, यही लगाया है अब नारा।
सत्य शिवम् के महामेघ को, करता है कवि नमन हमारा ॥

सकरार, झांसो (उ०प्र०) —आशुकवि सरस जैन

अप्रतिम साधु

छह जनवरी १९७२ के नवभारत पत्र में श्री १०८ परमपूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के स्वर्गवास का समाचार जानकर अवाक्-सा रह गया। किस को विदित था कि आचार्य श्री के सम्मेद शिखर जी जाने के भावों की पूर्ति न हो सकेगी? आचार्य बहुभाषाविद्, ज्योतिष, तर्क, व्याकरण, धर्म, न्याय आदि विषयों के विशिष्ट ज्ञाता थे। आपकी भाषण शैली बहुत ही प्रभावक थी। जैन समाज के ही नहीं अपितु आप जगत द्वारा वन्दनीय थे। चतुर्थकाल सदृश जैन के प्रकाशक सूर्य तुल्य शोभायमान थे।

आप उपसर्ग विजयी, बेला तेला आदि अनेकों प्रकार के उपवास करने वाले एवं शत्रु-मित्र, कंचन-काच आदि में समान भाव रखने वाले थे। आपने देश के प्रत्येक भाग में विहार कर संसारी भव्य प्राणियों को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त किया तथा नियम व्रत-प्रतिज्ञायें दीं।

आपकी वाणी का प्रभाव जन साधारण के साथ-२ विद्वानों, देश के नेताओं एवं समस्त साधु-समुदाय पर भी काफी पड़ा। जो भी बन्धु दर्शनों को आता अमिट प्रभाव लेकर जाता, और तो क्या विरोधी भाव रखने वाला भी सामने आकर नत-मस्तक हो जाता था। उनका तप-त्याग, मधुर भाषण, शांत-स्वभाव, आकर्षक वाणी आदि प्रभावकारी थे। वे समाज की एक ज्योति थे। साधु-संघ के सूर्य थे। संघ के सभी साधुओं की प्रकृति को समझकर उनका निर्वाह करते थे किन्तु चर्या में शास्त्र-विरुद्ध को सहन नहीं करते थे। आचार्य श्री का व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रशंसनीय था। यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं रहे किन्तु उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग की छाप जन मानस के हृदय पर चिरकाल तक अंकित रहेगी एवं वे हमारे लिये सन्मार्ग के प्रेरक बने रहेंगे।

आचार्य श्री का वियोग जैन समाज का ही नहीं अपितु जगत के सभी प्राणियों का दुर्भाग्य है। उन महान तपस्वी विद्वान आचार्य श्री की क्षति पूर्ति होना असम्भव है। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने से मन को शान्ति-लाभ मिलेगा। मैं वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि स्वर्गीय आत्मा शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करे।

श्री महावीरजी (राज०) —पं० सुमतिचन्द जैन शास्त्री

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी

परमपूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज दिगम्बर जैन समाज के ही नहीं अपितु वे सम्पूर्ण भारतवर्ष के महान् परम आध्यात्मिक तत्त्व-वेत्ता, आदर्श तपस्वी थे। अनेक भाषाओं पर अपना एकाधिपत्य रखते थे। उनकी विद्वत्ता चन्द्रमा के समान उज्ज्वल तथा निर्मल थी। उनका ज्ञान, प्रत्येक विषय में बड़ा ही गम्भीर था। वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे। उच्चकोटि के जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का उन्होंने परिशीलन किया और उसमें से जो निर्मल तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया, उसको जान पाना अल्प बुद्धियों को तो अत्यन्त कठिन है ही; अपितु विद्वद्वर्ग के लिये भी कठिन है। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय को इतने सरल और सीधे रूप मे रखते थे कि जन साधारण को समझने में कोई कठिनाई का अनुभव नहीं होता था।

इसके साथ ही वे एक आदर्श और महान् तपस्वी भी थे। घन्टों ध्यान-समाधि में लवलीन रहा करते थे। पाषाण की मूर्तिवत् एकाग्रचित्त से जब वे ध्यान में बैठते थे, तब अपने संघ सम्बन्धी सम्पूर्ण विकल्पों को भूलकर आत्म-ध्यान में विरमण करने लगते थे। उस समय की उनकी मुद्रा दर्शनीय होती थी। इसी तपस्या का उनकी आत्मा पर जो अचिन्तनीय प्रभाव पड़ा, वह वर्णनातीत है और उसका सुमधुर परिणाम यह निकला कि वे महाधीर-वीर और परीषहजयी बन गये।

जीवन में उन्हें अनेकों उपसर्गों का सामना करना पड़ा, परन्तु वे उन सब उपसर्गों में विजयी सिद्ध हुये। वे उपसर्ग आने पर घबराते नहीं थे बल्कि उपसर्ग आने पर उनके मुख पर मधुर मुस्कान आने लगती थी और प्रसन्न मुद्रा मे वे उन आये हुए उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करते थे। इसीलिये लोग उनको परीषहजयी कहा करते थे।

इसके सिवाय उनमें एक और विशेषता यह देखी गई कि भारतवर्ष के प्रसिद्ध-२ सिद्धक्षेत्रों और अतिशय क्षेत्रों के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति थी। वे उनकी वन्दना को निरन्तर लालायित रहा करते थे। विशेषकर अपने चातुर्मास भी सिद्ध-भूमि में करके अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते थे। सिद्ध-क्षेत्रों की वन्दनार्थ ही अपने विहार का लक्ष्य रखते थे। रात्रि-दिन उनकी स्तुति रूप में वन्दना करना उनका दैनिक कार्य हो गया था। तात्पर्य यह है कि आचार्य श्री तीर्थ भक्ति की साक्षात् मूर्ति थे। उन्होंने अपने जीवन में भारतवर्ष के सम्पूर्ण दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्रों की यात्राएँ कई बार अपने संघ सहित व गृहस्थ जीवन में करके अपने जीवन को सफल बनाया है। अतः वे परम तीर्थ-भक्त थे।

वैद्यक, ज्योतिष, और शकुन शास्त्र के वे पारंगत विद्वान थे, साथ ही मंत्र-तंत्र विद्या पर भी

अपना आधिपत्य ही नहीं रखते थे बल्कि वे कभी-कभी सफल प्रयोग करके संकट-ग्रस्त, रोग-ग्रस्त संस्थ साधु-वर्ग का या गृहस्थ-वर्ग का भी बड़ा भारी उपकार दयापूर्वक कर दिया करते थे।

जिस कोटि के आप विद्वान् थे, उसी कोटि के आप लोकप्रिय मधुर भाषी वक्ता भी थे। आपकी सुमधुर वाणी द्वारा घन्टों धारा-प्रवाही अध्यात्म प्रवचन होता था, जिसे हजारों की संख्या में मंत्र-मुग्ध होकर जनता सुनती रहती थी। विशेषता यह थी कि जो एक बार अपने प्रवचन में दृष्टांत या विषय रख दिया, वह दुबारा सुनने को नहीं मिलता था। प्रतिदिन नवीन-२ विषय बड़े गंभीर और प्रौढ़ श्रवण करने को मिलते थे। एक बार जिसने आपके मधुर भाषण का अमृत पान कर लिया, वह उसे आजन्म विस्मरण नहीं कर पाता था। आप आगम पर कट्टर श्रद्धा रखकर जिनवाणी का हृदय से विनय करते थे।

महामना आचार्य श्री का 'महसाना' में समाधिस्थ (स्वर्गस्थ) हो जाने से दिगम्बर जैन समाज का बड़ा नुकसान हुआ है, जो भुलाया नहीं जा सकेगा। इस क्षति की पूर्ति होना महान् कठिन है। ऐसे परम तपस्वी महान् विद्वान् आचार्य श्री महावीरकीर्ति स्वामी जी के पावन चरणों में मैं अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर उन्हें त्रिबार नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु करता हूं। यही मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि है।

उज्जैन (म०प्र०) —वि०व्या०पं०छोटेलाल बरैया, धर्मालंकार

दैदीप्यमान नक्षत्र

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का असमय में अचानक समाज को छोड़कर चला जाना, दिगम्बर समाज पर एक ऐसा आघात है, जिसकी क्षतिपूर्ति होना असंभव है।

आप जैन समाज के देदीप्यमान नक्षत्र थे और आपकी ओजस्वी वाणी में ऐसा जादू था, जो सहस्रों श्रोताओं को घन्टों मन्त्र मुग्ध रखता था। सरल शब्दों में सुलझे हुये विचार कठिन विषय को हृदयंगम बना देते थे। निश्चय और व्यवहार का आपने ऐसा सामंजस्य प्रस्तुत किया था कि विरोधी विचार धारा तिरोहित होने लगी है। आपका मधुर भाषण शंकालु श्रोताओं की शंकाओं को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर देता था। नवीन विचारधारा का शङ्खनाद करते हुये आपने नगर-२ में विजय-दुन्दुभि बजवाई थी।

अलोव (बुन्दी) —भँवरलाल जैन, बी०कॉम

आचार्य श्री के पुनीत चरणों में

श्री भा० दि० जैन महासभा के उपदेशक विभाग का तब मैं मंत्री था। उस वक्त प० पू० आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज (पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ, फिरोजाबाद) उपदेशक विभाग के प्रचारक पद पर नियुक्त थे। युवावस्था में ही उनके विचार संसार से उदासीन वैराग्य की ओर झुके हुए थे। यही कारण था कि स्व० आचार्य कल्प श्री १०८ चन्द्रसागर जी महाराज से उन्होंने सातवीं प्रतिमा ग्रहण करली तथा संयम की तरफ उन्मुख होकर महाव्रती बन गये।

निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय, निस्पृहवृत्ति, आगमानुसार चर्या, तीर्थप्रेमी, श्री जिनेन्द्रदेव की भक्ति में नियोगरत, अनुपम ध्यानसक्त, सन्मार्ग प्रवर्तक, सिंहवृत्ति के धारक, विशुद्ध चारित्र के परिपालक, प्राणीमात्र पर दया रखने वाले इन महात्मा का जिसने एक बार भी दर्शन किया वह उनका परमभक्त हो गया। उनका मुख्य विषय सज्जातित्व था। बिना उसके आगे के परम-स्थानों की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आज जो स्वैराचार तथा पथ भ्रष्टता हो रही है, उसका मूल कारण संस्कारहीनता है। आचार के अनुसार ही मनुष्य के विचार होते हैं। सदाचार सम्पन्न व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नहीं रहता। वह राजा महाराजा कोई भी क्यों न हो, कभी किसी के प्रलोभन में नहीं आता। धर्म तथा आगम की रक्षा ही उसका मुख्य उद्देश्य रहता है। इन्हीं विचारों के प्रमुख प्रचारक, परम निस्पृह वृत्ति के धारक अनेक भाषाओं के ज्ञाता, दृढ़-श्रद्धानी स्व० आचार्य श्री थे। वर्तमान में प्रचलित एकान्त निश्चयवाद से धर्म-कर्म का सर्वथा लोप हो जावेगा, यह उनकी धर्म-देशना थी। उनके पुनीत चरणों में मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

मुंबई] —पं० तनसुखलाल काला

स्वपरोद्धारक-शुद्धात्मा

स्वर्गीय तपोनिधि आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज इस जगत की स्वपरोद्धारक महान् विभूतियों में से थे। आप प्रज्ञा-पुञ्ज थे। संस्कृत भाषा पर आपका पूरा अधिकार था। विशिष्ट सिद्धांतज्ञ तथा अनेक भाषा भाषी थे। श्री सम्मेदशिखर तीर्थराज पर ही आप अपना अन्तिम समय व्यतीत करना चाहते थे पर क्रूर काल ने आपको महसाना (गुजरात प्रांत) में ६ जनवरी १९७२ को इस धरातल से उठा लिया।

जीवन के महान् और आदर्श बनने में कुछ पूर्वभव का धर्मानुराग एवं त्यागभाव प्रधान कारण पड़ता है इसी कारण आप इस विलासमय जगत में लिप्त न होकर सांसारिक उलझनों से अलग रहे। अपने आपको आत्म-निष्ठा की ओर तन्मय किया। अनेकों को अपने ही समान आत्म-कल्याण का पथिक बनाया। ऐसे स्वपरोद्धारक शुद्धात्मा के प्रति हमारी शतशः श्रद्धाञ्जलि !

जयपुर (राज०) —सुमतिचन्द्र जैन, बी०ए० एकाउन्टेंट

दृढ़ तपस्वी और गम्भीर विचारक

स्व० श्री पूज्य १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज कुछ उन स्पष्टवादी आचार्यों में से रहे जिनका हमेशा आशीर्वाद धर्मात्माओं के लिये था चाहे वह अकिंचन ही क्यों न हो। मात्र धनिक होने के कारण कोई भी उनसे आशीर्वाद प्राप्त नहीं कर सका।

लोग कहते हैं विद्वान् लोग त्याग मार्ग में अग्रसर नहीं होते, लेकिन पूज्य श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज ने इस कथन को झुठलाया था। आप न्यायतीर्थ की परीक्षा में उत्तीर्ण व्युत्पन्न विद्वान् तो थे ही, साथ ही कन्नड़, बगला, गुजराती, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं के जानकार भी थे। मंत्र शास्त्र एवं ज्योतिष शास्त्र पर भी आपका पूर्ण अधिकार रहा। आप बाल-ब्रह्मचारी थे।

आप जब क्षुल्लक अवस्था में थे तब एक बार इन्दौर पधारे। शीतवारिया धर्मशाला में आप विराजमान थे। आपके प्रवचनों में धर्मशाला का प्रांगण खचाखच भरा रहता था। प्रवचन के पश्चात् यह प्रसंग आया कि आपके द्वारा गृहस्थावस्था मे कुछ राशि जो सहस्रों प्रमाण थी किसी बैंक में जमा कर रखी थी वह बैंक में ही रह गई। कुटुम्ब के किसी सदस्य ने आपसे निवेदन किया कि यदि आप चैक पर हस्ताक्षर कर देवें तो वह राशि निकाली जा सकती है, लेकिन त्याग कर देने के बाद स्वामित्व कैसा, उसके अधिग्रहण का अधिकार कैसा ? हस्ताक्षर करने में आपको क्षुल्लक पद का अपलाप दिखाई दिया। आपने हस्ताक्षर नहीं किये। ऐसी थी आपमें अपूर्व दृढता एवं व्रत पालन के प्रति आस्था।

एक बार आप इन्दौर गौराकुन्ड के मंदिर में विराजमान थे। उस समय मैं सर हुकमचन्द जैन बोडिंग हाउस में पढ़ता था। प्रवेशिका का विद्यार्थी था। दक्षिण के एक सहपाठी छात्र के साथ पूज्य क्षु० महेन्द्रकीर्ति जी के दर्शनार्थ गया। समय लगभग सायंकाल ५ बजे का था। उसी समय रावराजा सरसेठ हुकमचंद जी अपने प्रतिष्ठान शीशमहल से इन्द्रभवन लौट रहे थे। आप में यह विशेषता थी कि मार्ग में जाते हुये कहीं भी मुनिगण आदि होते तो आप उनके दर्शन करके ही आगे बढ़ते थे। अपने स्वभावानुसार आप श्री पूज्य क्षु० जी महाराज के दर्शन करने हेतु गौराकुन्ड के मंदिर जी में पधारे। दर्शन करने के बाद कुछ तत्त्व चर्चा हुई। सर सेठ साहब का कहना था कि सम्यग्दृष्टि जीव को यह भान हो जाता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ जब कि क्षु० महेन्द्रकीर्ति जी का कहना था कि सेठ साहब ! कोई भी सामान्य व्यक्ति निश्चयतः यह नहीं जान सकता कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ या अमुक मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि। मानों चाहे कुछ भी। बहुत देर तक प्रश्नोत्तर होते रहे, पर सेठ साहब अपनी बात पर अड़े रहे एवं क्षुल्लक जी अपनी बात पर। अन्त में यह निर्णय हुआ कि श्री पं० खूबचंद जी सिद्धांत-

शास्त्री को निर्णय हेतु तत्काल बुलाया जावे। परन्तु सायंकाल के भोजन का अन्तिम समय था अतः यह निर्णय दूसरे दिन पर छोड़ा। दूसरे दिन बात चली या नहीं पर अध्ययन समाप्ति के उपरांत मुझे जब यह आगम वाक्य देखने को मिला कि—

'सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं, केवलज्ञानगोचरम् ।'

तो अनुभव हुआ कि पूज्य क्षु० महेंद्रकीर्ति जी महाराज का आगम ज्ञान कितना अगाध था।

एक बार आप पर्यूषण पर्व में रात्रि के समय शीशमहल के बाहर निर्मित पांडल में शास्त्र प्रवचन कर रहे थे। हजारों नर-नारियों से पंडाल भरा हुआ था। तपधर्म का विवेचन था उस दिन। प्रवचन में आपने कहा—'मुनिगण तरह-तरह के आसन लगाकर तपश्चर्या करते है।' उसी समय इन्दौर के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने शंका की; ये तरह-तरह के आसन तो हिन्दू धर्म की चीज है, जैन धर्म की नहीं। तत्काल गंभीर वाणी में क्षुल्लक जी बोले— पंडितजी ! आपने छात्रों को ही पढ़ाया है चारित्र-प्रतिपादक आचार शास्त्रों का आपने अध्ययन नहीं किया। क्या आप पूजा में यह नहीं पढ़ते हैं कि—

'जे गोदूहण वीरासणीय, जे धणुहसेज्ज वज्जासणीय।
जे तव बलेण आयासिजंति, जे गिरि गुह कंदरि विवरिथंति ॥'

पंडित जी ने जब यह आगम वाक्य सुना तो अवाक् रह गये।

क्षु० महेंद्रकीर्ति जी धारा प्रवाह प्रवचन कर रहे थे। जनता मंत्र मुग्धवत् उनका प्रवचन सुन रही थी। प्रवचन में गंभीर गर्जना के साथ उन्होने कहा 'जो अनंत चतुर्दशी का व्रत उपवास १४ वर्ष तक करता है उसे १४ करोड़ उपवासों का फल प्राप्त होता है। पूज्य महाराज की प्रभावक वाणी को सुनकर लेखक ने भी १४ वर्ष तक उक्त व्रत किया। उस समय अनेक श्रद्धालु लोग इस ओर आकर्षित हुये।

इन्दौर की ही एक और घटना है— एक बार आपका आहार आगम भक्त श्री कंवरीलाल जी कासलीवाल के यहाँ हो रहा था। मैं भी आहार विधि को देखने चला गया था। जहाँ तक मुझे स्मरण है उस समय शुरू-शुरू में खिचड़ी परोसी गई थी और उसमें आहार प्रदाता ने प्रमाण से अधिक घृत डाल दिया था। यह देखकर मेरे दुर्बल मन में यह शंका उत्पन्न हो गई कि त्यागी होने के बाद क्या इतना घृत खाना योग्य है ? बचपन था। किसी से क्या कहें, पर शंका बनी रही। तभी इनके बिहार का समय आया, इन्दौर के सैकड़ों धर्मात्मा सज्जन पहुंचाने गये। इन्दौर एरोड्रम की ओर इनका बिहार हुआ था। संध्या समय जंगल में ठहरने की व्यवस्था की गई। सभी अपने भोजन पान में लग गये। मैं और अपना साथी दोनों ही इनकी चर्या को बारीकी से देखने की दृष्टि से उस स्थान का पता लगाया जहाँ पर ये सामायिक में तल्लीन थे। हम लोगों ने देखा कि ये अनेक झाड़ियों से घिरे एक वृक्ष के नीचे एकांत निर्जन स्थान में ऊर्ध्व पद्मासन लगाकर ध्यान में तल्लीन है। बहुत देर तक उक्त ध्यान मुद्रा में देख कर आहार में अधिक घी लेने वाली शंका स्वतः ही शांत हो गई।

जिनकी तपश्चर्या उग्र है, जो दिन-रात आगम के अभ्यास में संलग्न रहते हैं, ऐसे साधु यदि

सच्चिक्कण पदार्थ भी भोजन में लेते हैं तो अनुचित नहीं क्योंकि निरन्तर ज्ञानाभ्यास के लिए व कठोर तपश्चर्या के लिये उक्त आहार की शरीर को आवश्यकता होती है।

मुझे पूज्य आचार्य महाराज के दर्शनों का सौभाग्य इन्दौर, खंडवा, कुचामनसिटी, सुजानगढ़ आदि स्थानों पर हुआ था। प्रत्येक चातुर्मास में आपकी चर्या में उत्तरोत्तर दृढ़ता ही दृष्टिगोचर हुई। आपकी चारित्रमय आध्यात्मिक वाणी हर श्रोता के लिये आत्म-कल्याण का सम्बल बनी। ऐसे दृढ़ तपस्वी, सिद्धांतवेत्ता श्री पूज्य स्वर्गीय १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के चरणों में कोटि-कोटि नमस्कार।

रांची (बिहार)

—पं० मनोहरलाल 'शाह' जैन शास्त्री

❀ विनम्र-श्रद्धाञ्जलि ❀

श्री पूज्य १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज वर्तमान समय के महान् आचार्यों में अग्रगण्य थे। स्व० श्री पू० आचार्य शांतिसागर जी एवं आचार्य वीरसागर जी महाराज के साथ ही आपका नाम भी जनता के मानस पटल पर अनायास ही अंकित हो जाता है। व्युत्पन्न विद्वान् होते हुये भी इस महान् निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या को स्वीकार कर आपने इस लोकोक्ति को असत्य सिद्ध कर दिया कि विद्वान् लोग संयम की ओर अग्रसर नहीं होते।

आप चतुरनुयोग के पारंगत विद्वान् थे। कठोर तपश्चर्या, गहन अध्ययन एवं ज्ञान-ध्यान में संलग्न रहते थे। आयुर्वेद एवं ज्योतिष शास्त्र का भी आपको गहन अध्ययन था। आपका मधुर सुश्राव्य उपदेश सुनकर जनता आत्म विभोर हो उठती थी। आप अपने चातुर्मास विशाल संघ सहित प्रायः सिद्धक्षेत्रों में ही किया करते थे। आपका अनायास एवं शीघ्र ही महेसाना (गुजरात) में समाधि पूर्वक स्वर्गवास हो गया, जिससे जैन समाज में एक अनुपम साधुरत्न का अभाव हो गया; जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में होना संभव नहीं।

ऐसे उग्र तपस्वी, ज्ञान-ध्यान रत श्री पू० १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

रांची (बिहार)

—रा० ब० हरकचन्द जैन
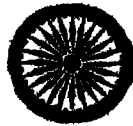
चरणों में पुण्य प्रणाम रे !

जो चरित्र की मूर्ति बन गया, संयम का उपहार रे।
जिसने अपनी ज्ञान-ज्योति से, परख लिया संसार रे।।
सम्यक्‌ता का अलंकरण, जिसके अन्तस् में समा गया।
और साधना से साधकता, का पद जिसने प्राप्त किया।।
क्षमा हृदय मार्दव मन जिसका, सत्य स्वयं के साथ रे।
आर्जव अन्तस् बना शौच का बाना जिसके पास रे।।
संयम की सौगन्ध थी, जिसमें तप का दीप्त प्रकाश था।
और त्याग की ऊँची करवट, पर जिसका वैराग्य था।।

आत्म साधना में रत जिसका, ब्रह्मचर्य भगवान रे।
ऐसे संत शिरोमणि के, चरणों में जग नतवान रे।।
'महावीर' की 'कीर्ति' बन गया, इस पंचम कलिकाल में।
जिसके हित उपदेशों से, बँध सका न जग जंजाल में।।
'णमोकार' का मंगल चिंतन, रहा सदा से साथ रे।
और आत्मलीनता पर नित, रहा आत्म विश्वास रे।।
स्वय लिये जय किया जयी, तुमने मुनिवर इन्सान को।
बनकर प्रबुद्ध चारित्र मूर्ति, पाया था आतम ज्ञान को।।

ऐसे सन्त शिरोमणि के चरणों में पुण्य प्रणाम रे।
यशः कीर्ति का बन प्रतीक, यह ग्रन्थ उठाए नाम रे।।

मड़ावरा (झांसी)

—विमलकुमार जैन सोंरया
एम०ए० शास्त्री
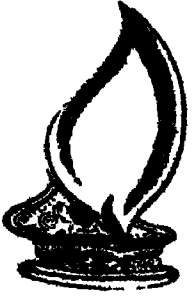
रत्नत्रय के प्रकाश-पुञ्ज

श्रमण-संस्कृति के एक श्रेष्ठ उपासक और साधक तपस्वी साधु परमपूज्य १०८ श्री शिवसागर जी महाराज के दुखद वियोग को अभी हम भूल भी नहीं पाये थे कि दिनांक ६ जनवरी १६७२ को परमपूज्य महाविद्वान तपस्वी अध्यात्म-सूर्य आचार्य शिरोमणि १०८ श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के आकस्मिक वियोग का अनभ्र-वज्रपात पुनः जैन समाज पर आ पड़ा, यह वज्रपात एक ऐसा तीव्र आघात जैन समाज पर कर गया है कि जिसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। यह अशुभ खबर जब सुनने को मिली तो हृदय सुन्न-सा हो गया, कुछ सूझ नहीं पा रहा था कि इसे सच मानें या झूठ ? अभी तो समाचार मिले थे कि आचार्य संघ अहमदाबाद से सकुशल विहार कर गया और तारंगा जी होते हुए शीघ्र ही उदयपुर केशरिया जी पहुँचेगा। गुजरात के पाटनगर अहमदाबाद में पूज्य आचार्य श्री के धर्म प्रवचनों से महान प्रभावना हुई, हजारों जैनाजैन जनता आचार्य श्री का प्रभावक धर्मोपदेश सुनने के लिए प्रतिदिन एकत्रित होती थी और विश्व के एक महान निर्ग्रन्थ तपस्वी के दर्शन कर अपने जीवन को धन्य मानती थी, आचार्य श्री का स्वास्थ्य भी अच्छा था, ऐसी स्थिति में यह कैसे विश्वास किया जा सकता था कि उनका समाधिमरण इस तरह आकस्मात हो जायगा और वे अकल्पित रूप से सारे जैन समाज को बिलखता हुआ छोड़ जायेंगे ? नियति का यह अत्यन्त क्रूर आघात जैन-समाज पर हुआ है।

परमपूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज समस्त जैन समाज के एक देदीप्यमान सूर्य थे। वे जिस प्रदेश में भी अपने विशाल संघ के साथ विहार करते थे वहां सूर्य की तरह चमकते थे। उनके प्रकाश में सारी अज्ञान की और मिथ्यात्व की काली घटायें दूर हो जाती थीं, उनके आगमनिष्ठ प्रकाण्ड पांडित्य और विद्वतापूर्ण प्रभावक प्रवचनों से सारी भ्रान्त धारणाऐं निर्मूल हो जाती थीं। जनता को धर्म का नया प्रकाश मिलता था, लोग सम्यक मार्ग का अनुसरण करने लगते थे।

आचार्य श्री रत्नत्रय के प्रकाश-पुञ्ज थे। धर्म और आगम पर उनको दृढ़ श्रद्धा थी, आगम का उन्होंने गहरा अध्ययन और अनुशीलन किया। अतः इसी दृढ़ श्रद्धा के सहारे वे आगम के विपरीत किसी भी बात पर कोई समझौता नहीं करना चाहते थे, आगम उनके चक्षु थे और उसी के सहारे वे सारे जीवन भर चले, इस आगम मार्ग से उनको कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकी, वे सदा निर्भय और अविचलित रहे। लोकानुरंजन और लोकेषणा से वे दूर रहते थे। इसलिए वे सबके श्रद्धास्पद बने रहे। लोगों की उनके प्रति इतनी प्रगाढ़ भक्ति थी कि वे भारत के दूर-२ प्रदेशों से भी उनके दर्शनों को लालायित होकर आते थे। आचार्य श्री अपने संघ के साथ प्रायः सिद्धक्षेत्रों पर ही चातुर्मास करते थे।

१०० मुनि श्री आ० महावीर कीर्ति

कोटि-२ तपस्वियों की निर्वाण स्थली को वे कर्मों के संवर और निर्जरा के लिए एक अत्यन्त प्रसिद्ध साधन मानते थे जिसके कारण भक्त जनों के आवागमन के लिए असुविधाजनक एकान्त निर्जन स्थान होने पर भी वे उसकी कोई परवाह न कर चातुर्मास में योग साधना के लिए निर्वाण स्थली अधिक ही पसन्द करते थे ऐसे निर्जन एकान्त असुविधाजनक स्थानों में भारत के प्रायः सभी प्रदेशों से भक्त लोग दूर-२ से आकर संघ की वैयावृत्ति और आहार-दानादि से अपने जन्म को सफल बनाते थे।

सम्यक-दर्शन और सम्यक-ज्ञान के साथ-२ आचार्य श्री सम्यक चारित्र के श्रेष्ठ स्रोत थे, वे बाल-ब्रह्मचारी थे। बीस वर्ष की उभरती हुई जवानी में ही उन्होंने स्व० परमपूज्य १०८ मुनिराज श्री चन्द्रसागर जी से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये थे तब से वे निरंतर धीरे-२ चारित्र के मार्ग में दृढ़ता से बढ़ते गये और गत ३५ वर्ष से कठोरतम जैनेश्वरी निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण किये थे। उसका अन्त तक उन्होंने बहुत आदर्श के साथ कठोरता से निर्वाह किया, शिथिलता को वे पास नहीं फटकने देते थे, तपस्या में इतने कठोर थे कि कई घन्टों तक एक आसन से बैठे-२ या खड़े-२ ध्यान में मग्न हो जाते थे। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि के भयंकर उपसर्ग भी उन्हें अपने ध्यान से विचलित नहीं कर सके। दुष्टों द्वारा आक्रमण किये जाने पर भी उन्होंने उसे शान्ति भाव से सहन किया। इस तरह वे शरीर से बिल्कुल निर्मम रहे। उनका अन्तर्बाह्य जीवन निर्मल और निरपवाद था।

पूज्य आचार्य श्री ने सारे भारत भर में चतुर्विधि विशाल संघ को साथ लेकर पुण्य विहार किया। वे एक महान पुण्यशाली योगी तपस्वी महात्मा थे। निर्मोह कठोर तपस्या के फलस्वरूप उन्हें अनेक सिद्धियां प्राप्त थीं, वे जहाँ भी जाते दुर्भिक्ष अवर्षण आदि संकट शुभकाल में परिणित हो जाते थे, जंगल में मंगल हो जाता था। सारे संघ पर उनका स्नेहपूर्ण अनुशासन था। वे प्रायः रात-दिन में अठारह घन्टे मौन रहते थे।

आचार्य श्री के विहार से धर्म की अपूर्व प्रभावना हुई। त्याग और संयम का अत्यधिक प्रचार हुआ। खान-पान की शुद्धि बढ़ी। जैन संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन हुआ। लाखों जैनेतर लोगों ने मद्यमांस मधु का त्याग किया। हजारों जैनों ने संयम ग्रहण किया, और सैकड़ों मुमुक्षु प्रतिमा रूप चारित्र तथा मुनि पद धारण कर आत्म-कल्याण के मार्ग में लगे। धर्म के वे एक महान स्तम्भ थे।

पूज्य आचार्य श्री अपने संघ के साधु-साध्वियों की बहुत वात्सल्य के साथ देख-भाल कराते थे। उन्हें जरा भी कष्ट नहीं होने देते थे, सारे साधु और त्यागी उनके आश्रय में अपने को निरापद पाते थे। अभी की एक घटना है कि तीन वर्ष पहले वयोवृद्ध साधु पूज्य १०८ मल्लिसागर जी महाराज की गांवगांव में अत्यन्त रुग्ण और चिन्तनीय स्थिति को देखकर आचार्य श्री का हृदय दया से द्रवित हो गया। ऐसी स्थिति में एक रुग्ण साधु को सँभालना और उसकी वैयावृत्ति कर उसे धर्म साधना में सहयोग देना कितना कठिन होता है, यह भुक्त भोगी ही जानता है, परन्तु आचार्य श्री ने इस वृद्ध साधु की वैयावृत्ति को महान साधु कर्तव्य समझ उन्हें अपने संघ में साथ रखा उनकी सब प्रकार से परिचर्या की। जरा भी ग्लानि या कष्ट का अनुभव नहीं किया और अंत में गत चातुर्मास के अवसर पर

श्रीगिरनार जी में उनका समाधिमरण करा दिया। आचार्य श्री कहते थे कि एक साधु का समाधि-मरण करा देना एक महान मोक्ष सिद्धि का सातिशय कारण है।

मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली अनुभव करता हूं कि ऐसे महान तपस्वी साधु का आशीर्वाद और स्नेह मुझे एक ऐसी अत्यन्त चिंतनीय स्थिति में प्राप्त हुआ जब मैं तीन साल पहले रुग्ण शय्या पर पड़ा हुआ था। सभी चिंता मग्न थे, पूज्य आचार्य श्री को जब मेरी चिंतनीय स्थिति के समाचार मेरे निवास स्थान नारे गांव से ५४ मील दूर औरंगाबाद में मिले तो आचार्य श्री ने अन्यत्र विहार करने का योग बदल कर नांदगांव की ओर ससंघ प्रयाण किया। एक-एक क्षण मेरे लिए भारी था किन्तु पूज्य आचार्य श्री के नांदगांव में आते ही उन्होंने सर्व प्रथम मुझे उस अत्यन्त रुग्ण स्थिति में स्नेहपूर्वक आशीर्वाद दिया और कैसा आश्चर्य कि उसी दिन से मेरी चिंतनीय स्थिति में सुधार हुआ। पूज्य आचार्य श्री प्रतिदिन आहार होने पर घर पर आकर मुझे अपना स्नेहपूर्ण आशीर्वाद दे जाते थे और धीरज बंधाते थे। निश्चय ही पूज्य आचार्य श्री के उस स्नेहपूर्ण आशीर्वाद और वीतराग मुद्रा को देखकर मेरे हृदय में एक ऐसी विद्युत का संचार होता कि मेरा भयंकर रोग धीरे-२ शमन हो गया। मै चलने फिरने लगा, मैंने आचार्य श्री के पुनीत आशीर्वाद से नया जीवन पाया। पूज्य आचार्य श्री ने मुझे सदैव धर्म और आगम मार्ग की रक्षा में निर्भीकता से तत्पर रहने का आशीर्वाद दिया। पूज्य आचार्य श्री को अपने प्राणदाता के रूप मे मैं कभी नहीं भूल सकता।

दो वर्ष पहले जब आचार्य श्री का चातुर्मास योग श्री गजपंथ सिद्धक्षेत्र में था तब पर्यूषण में जैन समाज के महान नेता रायसाहब जैनरत्न दानवीर सेठ चांदमल जी पांड्या के साथ मुझे भी वहां रहने का और आहार दानादि देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर्यूषण के बाद आचार्य श्री ने मेरे जैसे नगण्य आदमी को 'व्याख्यान दिवाकर' जैसी उपाधि से सम्मानित कराया। उस समय पं० सुमेरु-चन्द्र जी दिवाकर, रायसाहब सेठ चांदमल जी और क्षेत्र कमेटी के पदाधिकारी आदि अनेक प्रतिष्ठान महानुभाव उपस्थित थे। वास्तव में मुझ में व्याख्यान देने की कोई योग्यता नहीं है, अतः अपनी योग्यता के विपरीत उपाधि ग्रहण करना मैंने उचित नहीं समझा। मैंने आचार्य श्री के पास नम्रता से उसको ग्रहण करने की अनिच्छा प्रकट की। पूज्य आचार्य श्री मौन रहे, मेरे सामने बड़ी समस्या थी किन्तु उपस्थित लोगों ने मुझे मजबूर किया कि यह पूज्य आचार्य श्री का पुनीत आशीर्वाद है, इसे आपको निस्संकोच ग्रहण कर लेना चाहिए। मैं विवश था और पूज्य आचार्य श्री के द्वारा दिये गये उस स्नेह-पूर्ण आशीर्वाद को गुरु प्रसाद समझकर नतमस्तक होकर स्वीकार किया। पूज्य आचार्य श्री के उस आशीर्वाद को पाकर मैं धन्य हो गया।

पूज्य आचार्य श्री की महानता, अगाध-पांडित्य, कठोर-तपस्विता, निरपवाद-चारित्र, साधु-वात्सल्यता सिद्धक्षेत्र वन्दना भक्ति निर्मोह-वृत्ति, निर्भयता, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, आगम-निष्ठता, आदि गुणों का कहां तक वर्णन किया जाय। वास्तव में वे सहस्रों सद्‌गुणों के पुञ्ज थे, आदर्श महानतपस्वी साधु थे। धर्म प्रवर्तक थे। उनके आकस्मिक वियोग से श्रमण संस्कृति और जैन समाज की एक ऐसी महान अपूरणीय क्षति हुई है जिसकी पूर्ति अत्यन्त कठिनाई जान पड़ती है।

१०२ क्षु० श्री आ० महावीर कीर्ति

हम और जैन दर्शन परिवार दुःखाभिभूत होकर हृदय से स्वर्गीय पूज्य आचार्य श्री के विमल चरणों में नम्र अभिवादन करते हुए श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं और श्री १००८ वीतराग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उनकी पुनीत आत्मा को शीघ्र ही मुक्ति का लाभ हो।

"णमो आइरियाणं"

मांडगांव (नासिक) —साहित्य भूषण तेजपाल काला

卐 आध्यात्मिक विश्व के सूर्य 卐

संसार की परिवर्तनशीलता के वशीभूत होकर अनेक मानव इस संसार में आते और चले जाते हैं। ऐसे ही मानवों में से कुछ ऐसी महान् विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है, जिनकी जीवन यात्रा जन-कल्याण के लिये सार्थक होती है और उनकी स्मृति जनता के हृदय-पटल पर झलकती रहती है। ऐसी ही विभूतियों मे आचार्य महावीरकीर्ति थे और उनकी दिव्य आत्मा का प्रकाश संसार में है।

आचार्य श्री का जन्म बैसाख बदी ९ सम्वत् १९६७ में फिरोजाबाद नगर के पठानान मुहल्ले में हुआ था। आपका बचपन का नाम महेन्द्रकुमार था। आपकी माता बड़ी धर्मात्मा थीं। उन्ही के विचारों और संस्कारों का प्रभाव बालक महेन्द्र पर पड़ा। उनका नाम बूंदादेवी था।

महाराज ने २० वर्ष की अवस्था मे सम्वत् १९८७ में परमपूज्य मुनि चन्द्रसागर जी महाराज से सप्तम प्रतिमा ग्रहण की और सम्वत् १९९५ अर्थात् २८ वर्ष की अवस्था मे गुजरात प्रांत के टाकाटोंका ग्राम में परमपूज्य आचार्य कल्प वीरसागर जी से क्षुल्लक दीक्षा ली और ३२ वर्ष की अवस्था १९९९ में परमपूज्य आचार्य आदिसागर जी महाराज से मुनि दीक्षा धारण की।

आचार्य महाराज ने अपने संघ सहित भारत के नगरों और तीर्थक्षेत्रों पर विहार किया और अपनी अमृतमय वाणी से जनता का उपकार किया। सैकड़ों नगर और गाँव आपके पदार्पण से पवित्र हुये। आपके विहार में कई स्थानों पर उपसर्ग हुये और उन्हें आपने शांति से सहन किया।

यद्यपि परमपूज्य आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति जी हमारे बीच नहीं रहे। यह समाज का दुर्भाग्य है। ऐसे लोकोपकारी आचार्य श्री का गत ६ जनवरी ७२ को रात्रि के ९½ बजे महसाना में समाधि मरण हो गया। मैं उनकी पुनीत आत्मा को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

आगरा] —बा० सूरजभान जैन 'प्रेम'

उद्भट विद्वान् और परम साधक

पूज्य १०८ श्री आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज अपने समय के एक प्रभावशाली, उद्भट विद्वान् एवं परम साधक रहे हैं, अतः आपके चरणों में हमारी श्रद्धाञ्जलि भक्ति पूर्वक अर्पित है।

आर्षमार्ग एवं आगम के पोषक, निर्भीक, परम-तपस्वी होने के साथ ही साथ अन्य बाल, वृद्ध तपस्वियों के संरक्षक, वैयावृत्ति करने में असाधारण धैर्य रखने वाले, तीर्थों के परम आराधक, इस युग के मुनि-क्षुल्लकादि त्यागी वर्ग के निर्माता तथा उनके संरक्षणकर्ता, आदर्श महर्षि के गुण स्मरण में भक्ति पूर्वक सादर प्रणाम।

यद्यपि वे मेरे जीवन में व्यक्तिगत रूप से प्रारम्भ से ही न्याय के ग्रन्थों की परीक्षा देने में भी एक आदर्श सहयोगी रहे, साथ ही श्री १०८ आ० कल्प श्री चन्द्रसागर जी महाराज के अनन्यतम शिष्य-रत्न होने से 'लंगोटिया साथी' नाम से भी श्री आ० शिवसागर जी महाराज के समक्ष मेरा सत्कार आपने किया। इतना ही नहीं मोक्ष मार्ग में सहायक चतुर्थ प्रतिमा के व्रत देकर मेरे आत्मिक बल का विकास किया, अतः उस उपकार की स्मृति में बारम्बार प्रणाम।

अजमेर से विजयनगर तक रथयात्रा में साथ रहने के कारण अनेक नीति पूर्ण वाक्यों को हृदय में अवतरित करके अन्तिम आशीर्वाद देने वाले कि "खंडेलवाल जाति में पैदा हुये हो कभी दब कर मत रहना, सिंहवृत्ति से रहोगे तो इस जाति में राज्य करोगे और धर्म की उन्नति कर सकोगे और श्वान वृत्ति से रहे तो सदा के लिए दब जाओगे।" इस आशीर्वाद ने मेरे जीवन में वरदान का कार्य किया, अतः उसकी पुनीत स्मृति में नतमस्तक हूं।

अनेक उपाधि धारक पूज्य पं० मक्खनलाल जी साहब के साथ उदयपुर (राजस्थान) चातुर्मास में पहुँचने पर कई प्रकार के व्यक्तिगत उदाहरण देकर मानसिक बल प्रदान करने वाले अलौकिक सन्त को कोटिशः प्रणाम।

श्री गजपन्था जी सिद्धक्षेत्र में अपने सामने रात्रि को सर्व मुनि मंडली तथा रायसाहब सेठ चांदमल जी पांड्या व उनकी धर्म पत्नी सेठानी भंवरीबाई आदि सभी धार्मिक बन्धुओं के समक्ष प्रवचन कराके फिर प्रातःकाल त्रुटियों का संशोधन करके, न कुछ ज्ञान के होते हुये भी तेजपाल जी आदि के द्वारा 'सिद्धांत-भूषण' सरीखे गौरवास्पद पद को देकर मेरे ऊपर अत्यन्त धर्म-स्नेह रखने वाले आपको आज भी मेरा अनेक नमस्कार हो।

अन्तिम समागम पावागढ़ में हुआ। वहाँ वयोवृद्ध श्री मल्लिसागर जी महाराज की सँभाल, आर्यिका जी महाराज के समाधि-मरण में अत्यन्त सावधानी, सुबलसागर जी महाराज के प्रति वात्सल्यादि भावों को देखकर आज भी उन गुणों की स्मृति में मस्तक नत हो रहा है।

कुचामन सिटी (राज०) —विद्याकुमार सेठी न्यायतीर्थ

१०४ श्री आ० महावीर कीर्ति

शत-शत वंदन ! शत-शत वंदन

आ7 चार्य तुम्हारे चरणों में, शत-शत वन्दन ! शत-शत वन्दन ।
च7 रित्र शिरोमणि जैन गुरु, शत-शत वन्दन ! शत-शत वन्दन ॥
र तनलाल घर जन्म लिया, माता बूँदा की कोख धन्य !
म तिराज तुम्हारे चरणों में, शत....
श्री चन्द्रसिन्धु गुरुवर से तुमने, सद्गुण प्रतिमा धारण की ।
म हावीरकीर्ति शुभ नाम तुम्हें, शत....
ह7 र मानकर काम सुभट भी, लज्जित हो निज धाम गया ।
वी र नाम को किया सफल, शत....
र तनत्रय की मूर्ति अनुपम, आदि सिन्धु आचार्य महान ।
की ना उन चरणों में तुमने, शत....
र तन अमोलक से मनन रूप, वस्त्रों का त्याग किया उनसे ।
ती न काल सामायिक करते, शत....
जी वन को सफल बनाने में तुम, घोर तपस्या लीन हुये ।
के वल चिन्तन था तुम्हें प्रिय, शत....
च र्चा के सागर आगम ज्ञाता, बारह भाषा विज्ञ महा ।
र चना कारक सद्ग्रन्थों के, शत....
णों न आदि षट् रस मिश्रित, भोजन भी था नहि प्रिय तुम्हें ।
में रा क्या है इसके ज्ञाता, शत....
श हर-शहर अरु ग्राम-ग्राम में, दे उपदेश भविक जन तारे ।
त प बल ऋद्धि प्राप्त तुम्हें, शत....
श त्रु भी आया सम्मुख तो, नहि क्रोध हृदय में ठहर सका ।
त त्काल किया तव चरणों में, शत....
वं दन करते हम चरणों में, हो स्वर्ग धाम के वासी तुम ।
द र्शन परोक्ष कर करते हैं, शत....
न र से नारायण बनने में ही, मानव जीवन की सार्थकता ।
"लाड" निर्भीक गुरु चरणों में, शत....

सवाई माधोपुर]

—लाडलीप्रसाद जैन पापड़ीवाल

परीषह विजयी आचार्य महावीरकीर्ति जी

परमपूज्य, आचार्य प्रवर, अनेक भाषा कोविद, १०८ श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मुझे एक ही बार मिला। इतना पुण्य नहीं था, जो उस विभूति के बार-बार दर्शन करता। फिर भी उनके पुण्य गुणों का श्रवण और मनन आत्मा को समय-२ पवित्र करता रहता था।

करीब १५ वर्ष पहले जब कि संघ सहित आचार्य महाराज श्री अ० क्षे० श्री महावीर जी पधारे थे तब मैंने उनके अति निकट से साक्षात् दर्शन किये थे। वे कितने समभावी, परम तपस्वी विद्वान् साधु हैं, यह बात मुझे उनमें उस समय देखने को मिली। विद्वत्ता के साथ-२ चारित्र का निवास जिस अवरोधि भाव से पूज्य श्री में निवास करता था, उससे ऐसा ही ज्ञात होता कि ऐसा आदर्श अपने आप में महाराज श्री ही थे। यही कारण है कि इस समय आपका संघ विशाल रूप मे दृष्टि-गोचर हो रहा है।

परीषह विजयी, ये महाराज श्री उपसर्ग कारकों के मन को भी बदल देते थे। इसका साक्षात् प्रमाण श्री गिरिराज गिरनार पर घटी घटना है।

कराल-काल ने ऐसी अनुपम निधि को भी नहीं छोड़ा; यह कोई अनोखी बात नही है। उसने तो अपना काम ही किया है। अब हमारा भी यही कर्तव्य है कि आचार्य श्री यद्यपि अपने पार्थिव देह से हम लोगों के बीच में विराजमान नहीं हैं। फिर भी उनके पुण्य गुण प्रत्येक प्राणी को पावन करते रहें, ऐसा प्रयत्न समाज का होना चाहिये, यही मेरी कामना है।

अन्त में आचार्य श्री के पवित्र चरणों में श्रद्धावनत होता हूं। उनको निकट भविष्य में मुक्तिलाभ हो, यही श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करता हूं।

अ० क्षे० श्रीमहावीर जी (राज०) —मूलचन्द्र जैन शास्त्री

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य महावीर कीर्ति दिगम्बर जैन धर्म प्रचारिणी संस्था 'श्री आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित कर रही है। मैं इसके प्रकाशन की सफलता चाहता हूं।

नई दिल्ली-११०००१] —सुकुमारचन्द्र जैन, प्रधानमंत्री

१०६ मुनि श्री आ० महावीर कीर्ति

महान् तपस्वी

हम राजगिरी क्षेत्र के पर्वतों का दर्शन वन्दना करते पावापुरी गये। भ० महावीर के निर्वाण स्थल जल मन्दिर में पूजनादि करते समय आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी दर्शनार्थ पधारे। आचार्य श्री का प्रथम दर्शन कर आशीर्वाद प्राप्त कर अपने को अहो भाग्यशाली समझा। उस समय संघ संचालक ब्र० दीपचन्द जी बड़जात्या संघ को नागौर की ओर ले जा रहे थे। आचार्य श्री न्याय, सिद्धान्त, मंत्र, तंत्र, आयुर्वेद, ज्योतिष व निमित्त ज्ञान के महान ज्ञाता थे। शांति-मूर्ति, कठिन तपस्वी जो एक ही आसन से घण्टों ध्यान-मग्न, निश्चल हुए रहते। इन्हें व्याघ्र, सर्प, मधु मक्खियों आदि का उपसर्ग भी विचलित न कर सका। अनेक बार दुष्टों द्वारा आक्रमण किये जाने पर भी वे शांत व समता भाव से उपसर्ग-विजयी हुये।

आचार्य श्री समस्त भारत में भ्रमण कर हमारे गाँव डेह में पधारे। ६६ दिन रहकर धर्म की ज्योति प्रज्वलित की एवं खान-पान की शुद्धि, त्याग, संयम का सरल मार्ग बताया। जैन जैनेतरों को मद्य मांस मधु आदि निंद्यकार्यों का त्याग कराया। अनेकों को संयम धारण कराया एव प्रतिमा रूप चारित्र तथा मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी बनाकर आत्म कल्याण किया। आपका अधिक समय जंगलों, निर्वाण भूमियों, सिद्धक्षेत्रों अतिशय क्षेत्रों प्राचीन मन्दिरों एवं निर्जन स्थानों में रहकर तपस्या करते व्यतीत होता था। ऐसे महात्मा, घोर तपस्वी, गुरुदेव के प्रति मैं बार-बार श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

डेह (राज०) —डूंगरमल सबलावत

सन्त-शिरोमणि

पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज इस युग के उन महान् प्रतिभाशाली सन्तों में शिरोमणि हुये; जिनकी प्रतिभा से धर्म का प्रकाश फैला, जिनकी साधना से आत्मा का निखार हुआ तथा जिनके प्रयत्न से जिन वाणी का प्रचार हुआ। उन से सच-मुच में अनेक जीवों का कल्याण हुआ है। उन सन्त शिरोमणि के पावन चरणों में मेरा कोटि-कोटि नमन है।

मंडावरा (झाँसी) —विमलकुमार जैन सौंरया

परम जितेन्द्रिय तपस्वी

अकस्मात् ही यह जानकर कि महाउत्कृष्ट विद्वान्, उग्रतपस्वी, मुनिपुंगव, संघ नेता आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का दिनाङ्क ६ जनवरी १९७२ को रात्रि में ९½ बजे 'महसाना' (गुजरात) में स्वर्गवास हो गया है, हृदय पर वज्रवत् आघात हुआ।

आप परम सन्त योगीराज तथा निमित्तज्ञ भी थे। अनेक भाषाओं पर आपका अधिकार था। आपके भाषण आर्ष मार्गानुसारी हृदय ग्राही और प्रभावशाली हुआ करते थे। तीर्थक्षेत्र तथा एकान्तवास मे ध्यानावस्थित होना तथा कुछ समय मौन मुद्रा में रहना आपको विशेष प्रिय था।

'चारित्तं खलु धम्मो' इस पर आप परम दृढ़ रहे और अनेकों जन साधारण व्यक्तियो पर भी आप इस भावना को अंकुरित कर गये। आप पूर्ण जितेन्द्रिय, कष्ट सहिष्णु, उपसर्ग विजयी थे। लवणादि रसों के आप आजीवन त्यागी रहे। आप में निर्भीकता नाम का अलौकिक गुण था। बड़ी से बड़ी शक्तियों के आगे भी आप अपने ध्येय-लक्ष्य से कभी पीछे नहीं हटे। चारित्र व चारित्र धारकों के प्रति विनीत भावना बिना मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता, यह आपकी दिगन्तव्यापिनी ध्वनि थी।

आपने अनेकों को त्यागी व्रती बनाकर दीक्षा शिक्षा दी है। जब कभी आपको निवेदन प्राप्त होते कि अमुक महाराज ने आप को सल्लेखना हेतु स्मरण किया है तो आप तत्काल साधुराज की समाधि के लिये कठिनताओं को पार करके भी गमन कर जाते थे। स्व० आ० १०८ श्री वीरसागर जी महाराज ने खानियाँ में आपको सत् समाधि के लिये स्मृति मे लिया था, आप तब खानियाँ घाट (जयपुर) मे समाधि हेतु उपस्थित रहे और आराधक को आपसे परम सन्तोष भाव बना रहा।

आप सिद्धक्षेत्र में समाधि हेतु ही शीघ्रता से विहार करते चले, पर कराल काल ने तारंगाजी सिद्धक्षेत्र भी न पहुँचने दिया और शीत लहर ने निमोनियां का ध्वंसक रूप ले लिया। फिर भी आपने अन्तःकरण में परम सावधानी से रहते हुये महामन्त्र की आराधना के साथ आराध्य में लीन होकर इस नश्वर काया को छोड़ दिया।

हम आपके प्रति नत मस्तक हैं एवं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुये प्रभु से आपकी आत्मा को परम शांति व निर्वाण लाभ की कामना करते हैं।

लाडनूं (राज०)

—मिश्रीलाल शाह जैन शास्त्री

आहार-दान का योग

जब आचार्य श्री पैठण (औरंगाबाद) में आये तब शंकरराव, लक्ष्मणराव अहमिन्द्रकर जो मेरे अग्रज थे और चुंगी विभाग में पेशकार थे। उनकी महाराज श्री को आहार देने की प्रबल इच्छा थी पर भय था कि सेतवाल होने से आचार्य श्री आहार लेंगे या नहीं ?

एक दिन आचार्य श्री ने स्वयमेव मन की बात कही— आप गृह रत त्यागी आसन्न भव्य हैं। निस्संकोच चौका लगा आहार-दान कर सकते हैं। चौका लगा, भाई-भाई ने आचार्य श्री को निरन्तराय आहार दिया, अपना जीवन सफल माना।

जब हम दोनों आचार्य श्री को पहुँचाने के लिये मन्दिर गये तब ही अग्रज ने मुझ से कहा— तुम मेरे अनुज हो और पुत्र तुल्य प्रिय भी। अब घर बार सम्हालो और मुझे छुट्टी दो। उन्होंने आचार्य श्री से सातवी प्रतिमा के व्रत तत्काल लिये और मोक्ष मार्ग की दिशा में आगे बढ़े। आज वे आर्यनन्दी जी महाराज हैं, जो तीर्थ रक्षा के हितैषी और सत्वेषु मैत्री के प्रतीक बने हैं।

मेरे अग्रज बन्धु को सामान्य पेशकार से असामान्य मुनीन्द्र बनाने का श्रेय आचार्य महावीर कीर्ति को है। यह बात भला मैं भी कैसे भूल सकता हूँ ?

आचार्य श्री की पुण्य स्मृति में सहर्ष सहस्र श्रद्धाञ्जलियाँ।

कलावखेड़ा (लक्ष्मनपुर) —मुक्तागिरि लक्ष्मणराव अहमिन्द्रकर

मोक्ष मार्ग प्रदर्शक

स्व० १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के आकस्मिक निधन से जैन समाज की जो क्षति हुई उसकी पूर्ति होना असंभव है। स्व० आचार्य श्री परमतपस्वी, ज्ञान और ध्यान में लीन, मोक्ष मार्ग प्रदर्शक थे। जिस समय आप तपश्चर्या में लीन होकर ध्यानस्थ बैठते थे तो ऐसा लगता था, मानो शरीर से एकदम ममत्व त्याग दिया है और इसी का परिणाम था कि आपको ऋद्धियाँ प्राप्त थीं। आप यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र विद्या के पूर्ण जानकार थे। आपकी धर्म-देशना का जन सधारण पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता था कि वह बार-बार आपका उपदेश सुनने की जिज्ञासा बनाये रखता था और कई व्यक्तियों ने आपकी धर्म-देशना को श्रवण कर अपनी आत्मा के कल्याणार्थ दिगम्बरी दीक्षाएँ ग्रहण कीं। अनेक प्रकार के व्रतादि लिये और दुर्व्यसनों का त्याग किया। ऐसे महान् सन्त के चरणों में मेरा शत-शत वन्दन।

सवाईमाधोपुर (राज०) लाडलीप्रसाद जैन पापड़ीवाल

सिंहवृत्ति के प्रतीक

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के नाम के आगे स्वर्गीय शब्द लिखते हुये जिस अपार वेदना का अनुभव हो रहा है, उसे शब्दों में नहीं लिखा जा सकता है।

अनेक चातुर्मासों और प्रतिष्ठाओं में उनका हमारा घनिष्ठ सम्पर्क रहा था। प्रतापगढ़ बोरिंग के मान-स्तम्भ की प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य श्री हमारे आमन्त्रण पर प्रतिष्ठा मे ससंघ सम्मिलित हुये थे और आपके पधारने से प्रतिष्ठा महोत्सव काफी सफल रहा था।

प्रसिद्ध तीर्थ भूमि पावागढ की दो वेदी प्रतिष्ठाओं में भी आपका ससंघ विराजना रहा था और आपके प्रभाव से "पद्मिनी राजहंसाश्च, निर्ग्रन्थाश्च तपोधना:। यं देशमुपसर्पति, दुर्भिक्षं तत्रनो भवेत्॥" की उक्ति चरितार्थ हुई थी। दोनों प्रतिष्ठाओं में क्षेत्र को अच्छी आय हुई थी और अब क्षेत्र की काया पलट हो गई है।

हमारे कई विधि विधान उनके सान्निध्य मे हुये थे। वे सच्चे रूप में दिगम्बर साधु की सिंहवृत्ति के प्रतीक थे। उनके जैसा निर्भीक और स्पष्ट वक्ता त्यागी विरला ही मिलेगा।

सघस्थ साधुओं पर जैसा उनका कठोर नियंत्रण था, उससे भी अधिक सघ के साधुओं की वैयावृत्ति का वे ध्यान रखते थे। इतना ही नहीं स्वयं वैयावृत्ति में तत्पर रहते थे। वृद्ध और रुग्ण साधुओं के संयम पालन में सहायक थे। यदि कोई संघ था तो एक मात्र आचार्य महावीरकीर्ति जी का ही संघ था। उनके निर्मल चारित्र के साथ-२ उनका जो अगाध पांडित्य था, वह तो प्रत्येक साधु के लिये अनुकरणीय था। वे प्रत्येक बात शास्त्रों के आधार पर कहते थे।

उनके निधन मे साधु-समाज में जो एक सुयोग्य आचार्य का स्थान रिक्त हुआ है, उसकी पूर्ति होना कठिन ही प्रतीत होता है। मैं उनके चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

ऋषभदेव (राज०) —पं० रामचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य

अठारह भाषाओं के भाषा शासक

परमपूज्य आचार्य महावीरकीर्ति महाराज अपने बाल्यकाल से ही अनेक स्थानों में जाकर अध्ययनशील रहे, जिसके परिणामस्वरूप आपने संस्कृत, ज्योतिष, साहित्य, न्याय, मंत्र विद्या, सिद्धांत आदि के क्षेत्र में अपूर्व ज्ञान अर्जित कर समाज को धर्म प्रभावना की ओर उन्मुख किया। प्रारम्भिक जीवन से विद्यानुरागी होने के कारण आप लगभग १८ विभिन्न भाषाओं के भाषा शासक थे। वस्तुत: ये अद्वितीय गुण आपकी गहन अध्ययनशीलता के परिचायक हैं।

श्री आचार्य महाराज ने अपनी विद्वत्ता से भारत के कोने-कोने में भ्रमण कर धर्म की प्रभावना को सम्बल दिया। विशेष कर दक्षिण भारत और सौराष्ट्र में कई जगह उल्लेखनीय प्रभावना हुई। यही नहीं, उनकी कार्य कुशलता और संघ व्यवस्था अपूर्व थी। आपके उपदेश से अनेक प्राणियों को सन्मार्ग पर पहुँचने का अवसर प्रदान हुआ तथा आगम चारित्र का संदेश देकर सिद्धहस्त सन्त हुये।

आपका नाम सैकड़ो वर्षों तक ही नहीं अपितु हजारों वर्षों तक जैन समाज के लिये स्मरणीय रहेगा। यद्यपि श्री आचार्य जी महाराज का पार्थिव शरीर इस संसार में नहीं है, किन्तु जैन धर्म के महान् आचार्य के रूप में तथा वर्तमान शासन में चलने वाली दि० जैन श्रमण परम्परा में आपका प्रमुख स्थान बना रहेगा।

ऐसी महान् विभूति के उपलक्ष्य में "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशित करने की योजना समुचित एवं स्वागतार्ह है।

मैं पूज्य श्री आचार्य महावीरकीर्ति महाराज के पुनीत चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

बम्बई-४०००२१ —साहू श्रेयांसप्रसाद जैन

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'श्री आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित हो रहा है। मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि आचार्य जी के चरणों में प्रस्तुत करता हूं।

नई दिल्ली-११०००१ —भगतराम जैन मन्त्री

शत शत वंदना

परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चूड़ामणि श्री १०८ आचार्यवर श्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने वर्तमान युग में भूले भटके मानवों को शाश्वत् मोक्ष मार्ग बताकर महान् उपकार किया है। आचार्यवर महान् तपस्वी थे। द्रव्यलिंग के साथ भावलिंग की सिद्धि किस प्रकार होती है, इसे आचार्य श्री ने अपने जीवन में उतार कर उभयलिंग ही मोक्ष मार्ग है यह आदर्श उपस्थित किया है। आचार्य श्री का प्रत्यक्ष दर्शन कई बार हुआ था किन्तु सन् १९५३ में श्री सम्मेदाचल तीर्थराज के ऊपर एवं ईसरी में जो दर्शन हुआ था उससे आचार्य श्री की विद्वत्ता का पता मुझे लगा। महाराज श्री १८ भाषाओं के विशेषज्ञ थे। साथ ही उनकी साधना भी महान् थी। श्री सम्मेदशिखर के ऊपर उनसे समागम हुआ था। उन्होंने मुझे एक मंत्र दिया था जो आज श्री तीर्थक्षेत्र की वन्दना करते समय स्मरण हो जाता है। मंत्र यह है—"ओऽम् ह्रीं अनन्तानंत परमसिद्धेभ्यो नमः।" इस महान् मंत्र का जाप्य करते-२ तीर्थराज की वंदना में महान् आनंद एवं शांति मिलती थी। ऐसे परम वीतरागी, उभयलिंगधारी, महान् तपस्वी श्री १०८ आचार्यवर श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के चरणों में श्रद्धापूर्वक शत-शत वंदना हो।

भिण्ड (म०प्र०) —पं० शिखरचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य

जैन धर्म के कुछ मूल सिद्धांत

१— यह लोक अनादि, अनन्त तथा अकृत्रिम है। इसमें चेतन, अचेतन द्रव्यों का निवास है।

२— लोक के सभी द्रव्य स्वभाव से नित्य हैं; परन्तु अवस्था के बदलने की अपेक्षा अनित्य हैं।

३— प्रत्येक संसारी जीव अनादिकाल से कर्म सहित होने के कारण अशुद्ध है और इसी से अनेक प्रकार के शरीर धारण कर चार गतियों में परिभ्रमण करता रहता है।

४— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मुक्त जीव कभी भी जन्म-मरण नहीं करता।

५— अहिंसा परमधर्म है। परमहंस निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु इसको पूर्णता से पालते हैं। गृहस्थ यथाशक्ति अपने-अपने पद के अनुसार पालते हैं।

जैन धर्म के उक्त सिद्धान्तों को समझकर प्रत्येक मानव अपना कल्याण कर सकता है। मुझे ये सिद्धांत अत्यन्त प्रिय है।

कासगंज (एटा) उ०प्र० —आचार्य वेदव्रत शास्त्री
सचिव, तुलसी पीठ

मेरा कोटि नमन है

तप से बना गये जो अपनी, नर काया कंचन है।
पूज्य श्री महावीरकीर्ति को, मेरा कोटि नमन है ॥

(१)

मुनिपद धारण करते ही, कीनी अति कठिन तपस्या।
बन कर के आचार्य चालाया, संघ न रही समस्या ॥
रहे सदा उपसर्ग जयी, तुम बाल ब्रह्मचारी थे।
और अनेकों भाषाओं के, पंडित भी भारी थे ॥
इकसठ वर्ष बाद ही गुरुवर, कीना स्वर्गगमन है।
पूज्य श्री महावीरकीर्ति को, मेरा कोटि नमन है ॥

(२)

पिछी कमंडल ही जिनने, अपना संसार बनाया।
त्याग दिया दुनियाँ का नाता, अपना और पराया ॥
पास नहीं 'फटकी' जीवन भर, जिनके काम व्यथायें।
कुंठित होकर लौट गई, जिनके ढिग से आशायें ॥
पनप नही पाईं इच्छायें, करते रहे शमन है।
पूज्य श्री महावीरकीर्ति को, मेरा कोटि नमन है ॥

(३)

इनके पद चिह्नों पर चल कर, हम आदर्श निभायें।
यह मिट्टी की काया तप से, कंचन इसे बनायें ॥
'काका' कवि की यही कामना, कब वह शुभ दिन पायें।
अपने आठों कर्म नाश कर, मोक्ष-महल को जायें ॥
मिले निराकुलता कब स्वामी, मेरी यही लगन है।
पूज्य श्री महावीरकीर्ति को, मेरा कोटि नमन है ॥

सकरार (झाँसी) उ०प्र० —हजारीलाल जैन 'काका'

पावन स्मृतियाँ

卐 परमपूज्य आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज एक परोपकारी महात्मा थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेकानेक प्राणियों का उद्धार किया।

卐 चूंकि आप बचपन में खाने-पीने पहनने-ओढ़ने-खेलने की वस्तुऐं साथियों को उदारतापूर्वक दे देते थे, अतएव वे आपका महा इन्द्र जैसा व्यवहार देख कर आपको महेन्द्रकुमार सिंह कहा करते थे। विद्यार्थी जीवन काल में भी अपने समवयस्क साथियों की सहायता करना आपने अपना कर्त्तव्य समझा। शास्त्री, न्यायतीर्थ, आयुर्वेदाचार्य की परीक्षायें पास कर जब आप बड़नगर में वैद्य बने तब आपने अनेक रोगियों को नीरोग किया, अशक्तों को शक्ति दी। आपके हाथों में यश की यष्टिका थी।

卐 एक बार विषय—सेवन करने से ६ लाख सूक्ष्म जीवों का घात होता है। यह बात दृष्टि में रखकर आपने ब्रह्मचारी बनने का सुदृढ़ संकल्प किया और पूछने पर पिता श्री को बतला दिया कि कभी भी किसी भी कीमत पर भी विवाह नहीं करूँगा। अपने शुभ संकल्प से गिर न जाऊँ, इस लिए १०८ मुनि श्री चन्द्रसागर जी महाराज के पाद पद्मों में ब्रह्मचर्य प्रतिमा ले ली। धोती-दुपट्टे के परिग्रह रूपी पिशाच से छूटने के लिये आपने शीघ्र ही १०८ आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ले ली। अब अतीत के पंडित महेन्द्रकुमार सिंह जी वर्तमान में १०५ क्षुल्लक सुमति-कीर्ति जी बन गये थे। संघ में रह कर आपने अनेक प्राणियों को आत्मबोध मूलक बातें बताईं।

卐 जैसे ही बनेड़िया में आपको यह विदित हुआ कि कुशलगढ़ में १०८ मुनि श्री सुधर्मसागर जी समाधि के समीप हैं उन की वैयावृत्ति और सम्बोधन के हेतु आप शीघ्र ही वहाँ पहुँचे। जब कुशलगढ़ से अकेले विहार किया तब आप मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ रहने लगे। आठ माह में सिर के बाल जटाजूट बनने लगे पर आपने उन्हें न काटा और न केश लौंच ही किया। मांगीतुंगी में आचार्य शांतिसागर जी और वीरसागर जी ने भी आदेश दिया तो आपने उपेक्षा कर दी। उन्होंने विचारा कहीं यह संयम के शैल से गिर नहीं जावे, अत: विशेष उपचार कराया तो मानसिक स्वास्थ्य लाभ करते ही आपने १०८ मुनि श्री आदिसागर जी से दिगम्बर मुनि-दीक्षा भी ले ली।

卐 आपने अनेक स्थानों पर अनेक उपसर्ग और परीषह जीते। आपने अनेक व्रती-क्षुल्लक-ऐलक-मुनि बनाये, अनेक ब्रह्मचारिणियाँ-क्षुल्लिकायें-आर्यिकायें बनाईं। आपने आचार्य वीरसागर जी महाराज की जैसी वैयावृत्ति की, अपने गुरु आदिसागर जी महाराज को जैसी आदर्श समाधि कराई, वह वर्णनातीत है। गुरुजनों द्वारा निर्देशित मार्ग पर आप अविश्रान्त बढ़ते रहे। मुनि से उपाध्याय और

आचार्य श्री बने थे तथा घातिया कर्मों को नष्ट कर अर्हन्त बनना चाहते थे परन्तु गिरनार वर्षायोग के बाद आप सन्निपात के शिकार हुये और आगे नहीं बढ़ सके ।

卐 आचार्य श्री से मेरा भी काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा, इसलिये उनके प्रति कितनी भी श्रद्धा की अंजलि दूं, कम है । आचार्य श्री द्वारा बतलाई गई अनेक अनुभूत बातों को मैं जीवन पर्यन्त नहीं भूलूंगा । वे परोपकारी, तपस्वी, वीतरागी, मन्त्र-तन्त्रविद्, अतीव स्वाभिमानी व्यक्ति थे ।

卐 उनकी पवित्र स्मृति में सादर सविनय सहर्ष श्रद्धाञ्जलि !

निवाई (राज०) —ब्र० सूरजमल जैन प्रतिष्ठाचार्य

खण्ड
२
आचार्य श्री
का
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महान् तत्ववेत्ता, चारित्र शिरोमणि

श्री १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

जन्म :	मुनिदीक्षा :	समाधि :
फिरोजाबाद (उ० प्र०)	उदगांव (द० भा०)	महेसाणा (गुजरात)
वैशाख कृष्ण ९ वि० सं० १९६७	वि० सं० १९९९	माघ कृष्ण ६ वि० सं० २०२८

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व और कृतित्व

☐ महेन्द्रकुमार जैन 'महेश' शास्त्री, ऋषभदेव (राज०)

यः क्रोधादिकषायमुक्त रहितो यं वै भजन्ते बुधाः ।
येनैवात्र विनिर्जितः ननु मदो, यस्मै नमः शान्तये ।।
यस्माज्ज्ञानतरङ्गिणीप्रवहति, यस्यप्रभा शान्तिदा ।
यस्मिन् धर्म सुधानिधिः प्रवसति, तं वीरकीर्ति भजे ।।

इस भारत वसुन्धरा में समय-समय पर जिन महापुरुषों ने जन्म लेकर स्व-पर उपकार द्वारा जीवन को अलंकृतकर धर्म प्राण देश को पावन किया है, उन्हीं महापुरुषों में से एक चरित्र नायक, आचार्य श्री १०८ महावीरकीर्ति महाराज श्री थे ।

एक समय था कि देश में दिगम्बर जैन मुनियों के दर्शन भी दुर्लभ थे, किन्तु जब से चतुर्थकाल के मोक्ष-मार्ग के दृश्य को ज्वलंत रूप से प्रदर्शित करने वाले चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज, संघ सहित दक्षिण भारत से विहार कर उत्तर भारत में पधारे, तब से समाज के भाग्य ने करवट बदली और यत्र तत्र दिगम्बर महामुनिराजों एवं आचार्यों के दर्शन होने लगे । केवल दर्शन ही नहीं अपितु अनेक महान् आत्माओं ने पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महाराज एवं उनके संघ के तपस्वी साधुओं की तपश्चर्या एवं देशना से प्रेरणा प्राप्तकर स्वयं मुनि, आचार्य, उपाध्याय आर्यिका एव व्रती त्यागी बनकर अपने अमूल्य मानव जीवन को कृतार्थ किया है ।

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नैव सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ।

अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक पहाड़ पर माणिक नहीं होता, प्रत्येक हाथी के मस्तक में गजमोती नही होते, प्रत्येक जंगल में चन्दन नहीं होता उसी प्रकार सब जगह सच्चे साधुओं के दर्शन नहीं होते । पुनरपि हमारा सद्भाग्य है कि इस भौतिक युग में भी प्रशस्त वीतराग मार्ग को बतलाने वाले सच्चे मोक्ष-मार्गी तपस्वी, ज्ञानी और ध्यानी दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन सुलभता से हो रहे हैं। वैसे आगम की आज्ञा है कि इस पंचम काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह अवशेष रहेंगे तब तक दिग-

चार जैनमुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका का इस भारत देश में सद्भाव रहेगा और वे सम्यग्दृष्टि होंगे और अभी तो उस समय को साढ़े अठारह वर्ष बाकी हैं।

हां, तो उन्हीं चारित्र चक्रवर्ती आचार्यपुङ्गव शांतिसागर जी महाराज से प्रेरणा पाकर संसार-भोगों से विरक्त होकर स्व-पर कल्याण द्वारा मनुष्य जीवन को कृतार्थ करने वाले हैं हमारे चरित्र-नायक आचार्य महावीरकीर्ति महाराज। आइये, उनके महान् जीवन की त्यागमय जीवन गाथा पाठकों को सुनाएँ—

वंश परिचय

आगरा जिले में किसी समय चन्द्रवाड़ जिसे चन्दवार भी कहते हैं, बहुत बड़ा शहर था, विक्रम की १५ वीं शताब्दी में चौहान वंशी राजाओं का राज्य रहा है। वर्तमान में अभी वह एक उजड़ी हुई छोटी बस्ती है। उन राजाओं के समय में अनेक जैन राजश्रेष्ठी, प्रधानमन्त्री, कोषाध्यक्ष आदि उच्च राजकीय पदों पर आसीन रहे हैं। प्रसंगवश चन्दवार की एक ऐतिहासिक घटना का यहाँ उल्लेख करना मैं उचित समझता हूँ।

एक बार इस चन्दवार नगर पर म्लेच्छों का आक्रमण हुआ, तब नगर के निवासी अपने-अपने घर बार छोड़ कर भाग गये। जैन समाज के धार्मिक व्यक्तियों को भी नगर छोड़ भाग जाने को बाध्य होना पड़ा। उस समय एक जिन-मंदिर में महान् अतिशय युक्त बहुत बड़ी चन्द्रप्रभु भगवान की स्फटिक मणिकी चमत्कृत दिव्य प्रतिमा थी। श्रावकों ने जाते-जाते उस स्फटिक मणिकी प्रतिमा को वेदी सहित यमुना नदी में डुबो दी। बहुत वर्षों बाद फिरोजाबाद में रानी वाले सेठ सा० को स्वप्न आया कि स्फटिक मणिकी महान् अतिशययुक्त प्रतिमा नदी के मध्य अमुक स्थान में वेदी सहित जल-मग्न है। वह कहाँ और कैसे मिलेगी? इसका उत्तर भी स्वप्न में ज्ञात हुआ कि फूलों से भरी टोकरी नदी में बहा दी जाय, बहते-बहते जहां टोकरी रुक जाय वहीं प्रतिमा मिलेगी। फलस्वरूप वैसा ही किया गया, अगाध जल में नदी के बीच टोकरी रुकी। भारी जल में प्रवेश कर प्रतिमा निकालना अत्यन्त दुष्कर कार्य था, किन्तु महान् अतिशय उस समय हुआ कि ज्यों-२ नदी में प्रवेश करते गये पानी घटता गया, अन्त में प्रतिमा तक पहुंचे, प्रतिमा उठाई और वापिस लौटने लगे तब पानी का प्रवाह पूर्ववत् हो गया। बड़ी धूमधाम गाजे बाजे से जुलूस निकाल कर फिरोजाबाद के एक मंदिर में वह प्रतिमा विराजमान की गई। वर्तमान में यह मंदिर चन्द्रप्रभु मंदिर के नाम से विख्यात है। अभी महावीर जयन्ती के अवसर पर उस मंदिर में वेदी प्रतिष्ठा करा कर सुन्दर काँच निर्मित वेदी पर वहाँ की समाज ने उस प्रतिमा को विराजमान किया है। यह कहानी फिरोजाबाद के प्रत्येक जैन को ज्ञात है।

इसी चन्दवार नगर में पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराजाधिराज रामचन्द्र देव के शासन काल में महाराज उर्फ मोदी नामक दि० जैन पद्मावती पुरवाल जाति में उत्पन्न जैन श्रावक थे। उस समय चन्दवार के कुछ पठान एवं महाराज मोदी फिरोजाबाद आकर बस गये थे। हमारे चरित्र-नायक आचार्य श्री का जन्म इन्हीं महाराज मोदी के वंश में हुआ।

वंश-वृक्ष

जन्म
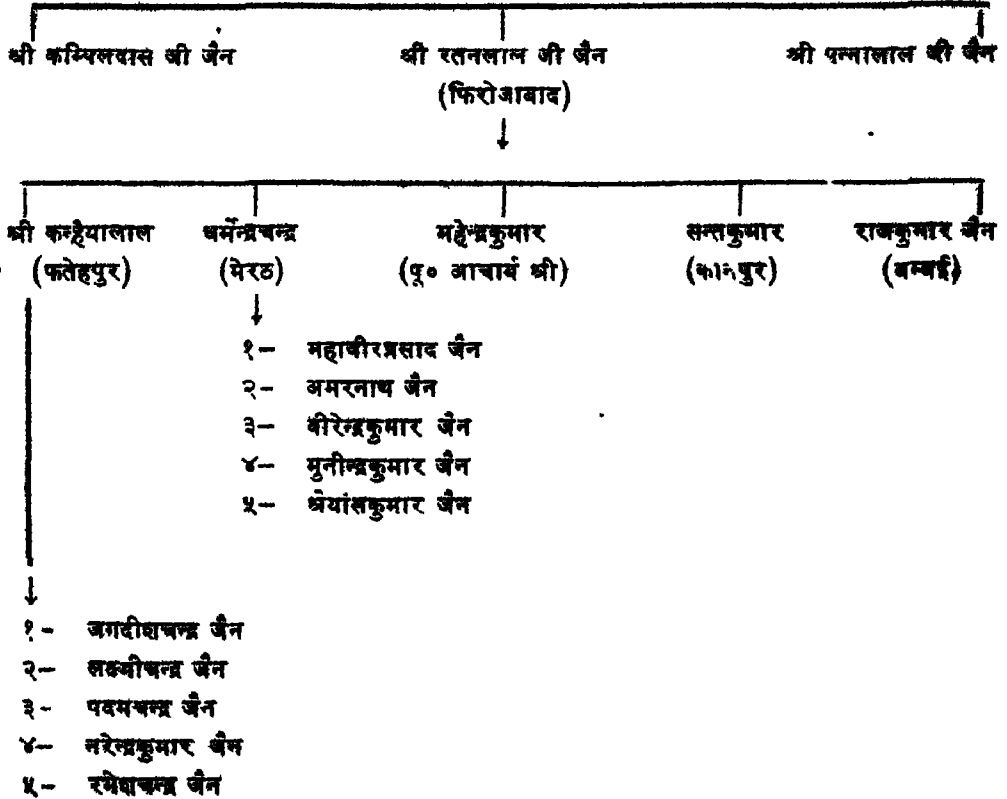
आचार्य महावीरकीर्ति महाराज का जन्म दि० जैन पद्मावती पुरवाल जाति में हुआ। यह जाति दि० जैन समाज में एक प्रसिद्ध जाति रही है। इस जाति में ब्रह्मगुलाल जैसे मुनि एवं जुगमंदरदास जैसे अनेक धार्मिक सेठ तथा माणिकचन्द्र न्यायाचार्य जैसे विद्वान् हुए हैं, वर्तमान में भी इस जाति के उच्चकोटि के विद्वान् धर्म और समाज की सेवा कर रहे हैं।

आचार्य महावीरकीर्ति महाराज के पितामह (दादा) का नाम श्री बंशीधर जी था, वे बड़े धर्मात्मा एवं सत्यनिष्ठ व्यापारी थे, फिरोजाबाद एवं आस पास में उनके व्यक्तित्व की छाप थी। आप फिरोजाबाद में नगर के सुप्रसिद्ध सेठ अमृतलाल जी रानीवाला के यहाँ उच्च पद पर नियुक्त थे। व्यापारिक क्षेत्र में आपका बड़ा सम्मान था, आपकी सत्यनिष्ठा और निर्लोभता का सब पर भारी प्रभाव था, सभी आपका सम्मान करते थे। आप के तीन पुत्र हुए। बड़े का नाम श्री कम्पिलदास जी, मझले पुत्र का नाम श्री रतनलाल जी, एवं सबसे छोटे तीसरे पुत्र का नाम श्री पन्नालाल जी था। इन मे मझले पुत्र श्री रतनलाल जी चरित्र नायक के पिताजी थे। श्री रतनलाल जी भी अपने पिता की तरह धार्मिक मनोवृत्ति के थे, वर्तमान नगर पालिका के समीप इनकी बिनौलों की दुकान थी। रतनलाल जी की धर्मपत्नी अर्थात् आचार्य श्री की माता का नाम बूंदादेवी था। वे भी अपने पति की तरह धर्मात्मा और मृदुल स्वभाव की थीं।

श्री रतनलाल जी के चरित्र नायक (आचार्य महावीरकीर्ति जी) के अतिरिक्त चार और पुत्र हुए अर्थात् उनके सुयोग्य पांच पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम श्री कन्हैयालाल जी था वे फतेहपुर में व्यवसाय करते थे। द्वितीय पुत्र श्री धर्मेन्द्रनाथ जी सुप्रसिद्ध वैद्य हैं, मेरठ में सुखदा फार्मेसी के संचालक हैं। तीसरे पुत्र श्री महेन्द्रकुमार जी हैं जो आ० महावीरकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए हमारे चरित्र नायक हैं। चौथे श्री सन्तकुमार जी हैं जो कि कानपुर में सीमेंट का व्यवसाय करते हैं। सबसे छोटे पांचवें पुत्र का नाम श्री राजकुमार जी है, जो बम्बई में डाक्टर है। इस प्रकार आचार्य महाराज के सभी भाई ऊँचे-ऊँचे व्यवसायी और धार्मिक वृत्ति के हैं।

आचार्य श्री का जन्म संवत १९६७ बैसाख वदि ९ को फिरोजाबाद के कटरा पठानान मुहल्ले मे हुआ था। जन्म के समय आपका नाम महेन्द्रकुमार रक्खा गया था। माता बूँदादेवी का जीवन धार्मिक था व्रत उपवास नियम आदि का कट्टरता से पालन करने वाली थीं। आपकी सरल प्रकृति और धार्मिक वृत्ति का प्रभाव महाराज श्री के जीवन पर भी पड़ा था।

जब आचार्य श्री माता के गर्भ में थे तब माता को श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा करने का दोहला उत्पन्न हुआ था, ऐसा नियम है कि गर्भ में जैसी संतान होगी प्रायः माता की इच्छाएँ उसी के अनुसार होगी। जैसे कि महासती सीता के गर्भ में जब लव और कुश आये थे, तब सीता जी को भी तीर्थयात्रा करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई थी। उसी प्रकार आचार्य श्री की माता को भी धार्मिक पुत्र के गर्भ में आने के कारण तीर्थयात्रा की इच्छा हुई। फलस्वरूप आपने श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा की और बड़े भक्तिभाव से वंदना की। वे भगवान की वीतराग मुद्रा के दर्शन पूजन में लीन हो जाती थी। तीर्थयात्रा से वापिस लौटते हुए, एक मुर्दे को श्मशान पर ले जाते हुए देखा; देखते ही आचार्य श्री की माता को संसार की असारता का भान हुआ, और उनके वैराग्यमय परिणाम हो गये। इन्हीं वैराग्यमय परिणामों का प्रभाव गर्भस्थ बालक पर भी पड़ा, और आगे जाकर वही बालक संसार भोगों से विरक्त होकर आचार्य पद पर अधिष्ठित हुआ।

ऐसा कहा जाता है कि अर्जुन पुत्र वीर अभिमन्यु जी जब माता के गर्भ में थे तब अर्जुन द्वारा

चक्रव्यूह के भेदने की विधि का वर्णन अभिमन्यु की माँ के सामने कहने से गर्भस्थ बालक चक्रव्यूह के भेदने की विधि जान गया, और महाभारत के युद्ध में बिना किसी के सिखाये चक्रव्यूह को भेद कर अकेले इस वीर बालक ने कौरवों के अनेक योद्धाओं से भयानक युद्ध किया। इसी प्रकार आचार्य महावीरकीर्ति जी के जीवन में माता के वैराग्य का प्रभाव गर्भ अवस्था से ही पड़ गया था, ऐसा प्रतीत होता है ।

बाल्यकाल

बालक महेन्द्रकुमार के जन्म के समय समस्त परिवार को बड़ी प्रसन्नता हुई, यह तो किसे ज्ञात था कि यही बालक आगे जाकर समाज ही नहीं समस्त देश में त्याग, तपश्चर्या एवं विद्वत्ता से ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच कर एक महान आचार्य पद को सुशोभित करेगा, किन्तु बालक की ज्ञान मञ्जिमा से वह एक होनहार बालक बाल्यकाल से ही दिखाई देता था। उन दिनों अनेक मनुष्यों की गोद में हँसता खेलता यह बालक उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होकर सबको प्रमुदित करने लगा।

प्राय: बचपन मे लड़के धूल-मिट्टी में खेला करते है। आपस में अपशब्दों का प्रयोग भी करते हैं, झगते हैं व अनेक शिकायतें लाते हैं किंतु इस होनहार बालक महेन्द्रकुमार में ऐसी कोई प्रवृत्तियाँ नही थीं। इससे भी लड़का आगे क्या होने वाला है, इसकी कुछ झलक बालक महेन्द्रकुमार में बचपन से ही प्रकट हो रही थी। कहा भी है कि "पूत के लक्षण पालने में ही दिखाई देते हैं।"

विद्यार्थी अवस्था

आचार्य श्री की प्रारम्भिक शिक्षा फिरोजाबाद की ही एक पाठशाला में हुई। घर पर खेलों में रुचि नही लेकर आप अवकाश मे बालबोध पढ़ते रहते थे, बड़े स्वाभिमानी थे, आप मस्तक पर लम्बी चोटी रखते थे। लम्बी चोटी रखना उस युग में गुरुकुल और आश्रम में संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों का एक बाह्य चिन्ह था। किंतु बालक महेन्द्रकुमार तो अभी संस्कृत के छात्र भी नहीं थे पुनरपि छोटी उम्र से ही लम्बी चोटी रखने लगे थे, इससे लड़के इन्हें चिढ़ाया करते थे और हँसी उड़ाते थे।

आचार्य श्री के पिताजी एक शिक्षित व्यक्ति थे उन्हें संस्कृत के अनेक श्लोक कण्ठस्थ थे। उन्हीं के संस्कार आचार्य श्री के जीवन में भी थे। वे किसी भी विषय को शीघ्र कंठस्थ करने में बहुत निपुण थे। फिरोजाबाद में आपके प्रारम्भिक पठन अवस्था में जब आप ६ वर्ष के हुए, आपकी माता का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उस घटना के एक वर्ष पश्चात् आपको मोरेना विद्यालय में अध्ययनार्थ भेज दिया गया।

मोरेना में आपने धार्मिक अध्ययन के साथ मैट्रिक की परीक्षा अच्छे अंकों में उत्तीर्ण की। पश्चात् ब्यावर के श्रा० दि० जैन महाविद्यालय में आप प्रविष्ट हुए। यहाँ आपका बौद्धिक निर्माण हुआ यहाँ से आपने न्याय और व्याकरण मध्यमा उत्तीर्ण की, इस प्रकार संस्कृत का ज्ञान भी यहीं परिपक्व होने लगा।

विद्यार्थी अवस्था में आप प्रायः उदासीन-वृत्ति विद्यार्थी थे, जैसा कि प्रायः छात्रों में उद्दण्डवृत्ति, खेल में रुचि आपस में लड़ना झगड़ना आदि दोष पाए जाते हैं, वे दोष महेन्द्रकुमार विद्यार्थी में नहीं थे। इसके पश्चात् आप इन्दौर सरसेठ हुकुमचन्द महाविद्यालय में अध्ययनार्थ चले गये। इन्दौर महाविद्यालय में आपका विद्यार्थी जीवन कैसा आदर्श रहा, एक विद्वान् सहाध्यायी की कलम से लिखा हुआ पढ़िये —

"वे उस समय भी अत्यन्त धार्मिक रुचि के थे। रात-दिन पाठ्य पुस्तकों में डूबे रहने वालों में से आप भी एक थे। कृशशरीर, अस्तव्यस्त परिधान, शौक और विलास से दूर न कोई दोस्त न कोई दुश्मन, बाजारू खान-पान से विमुख, विशेष खेल-कूद मे अनासक्त, एकान्त प्रिय एवं अत्यन्त मेधावी, यह आपका उस समय का व्यक्तित्व था। विद्यार्थियों की पाक्षिक सभाएँ होती थीं तो उसमें बोलने वाले आप प्रथम वक्ता होते थे। साथ ही शास्त्रार्थ करने में भी बड़े निपुण थे 'शंका हो तो शास्त्रार्थ करलें' इत्यादि कुछ तुकबन्दी भी आप समय-समय बोला करते थे। विद्यार्थी सुलभ दुर्बलताएँ या उद्दण्डताएँ आप में नहीं थीं, फिर शौर्य और साहस के धनी थे, विनयी थे, पर अनुचित बात, दबाव के सामने झुकना नहीं जानते थे। निरंतर अपनी अध्ययनशीलता के कारण छात्रों और गुरुजनों में सर्वाधिक प्रिय थे।

आपका पूरा नाम महेन्द्रकुमार था पर हम सब उन्हें प्रायः 'महेन्द्र' कहकर पुकारते थे। विद्यालय में पढ़ाई सिद्धांत, न्याय व्याकरण, साहित्यादि सभी विषयों की होती थी पर उन दिनों विद्यार्थी कलकत्ता की न्याय प्रथमा, मध्यमा और तीर्थ परीक्षाएं देते थे। साहित्य और व्याकरण कोई छूता नहीं था लेकिन विद्यार्थी महेन्द्रकुमार जी ने न्याय के साथ-साथ साहित्य एवं व्याकरण विषय को भी चुना। संस्कृत व्याकरण पर तो आपका विशेष अधिकार था, तथा विद्यार्थी अवस्था में ही आप संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण देते थे।"

उपर्युक्त शब्द हैं समाज के मूर्धन्य सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० लालबहादुरजी शास्त्री एम.ए., पी-एच.डी. के जो कि इन्दौर महाविद्यालय में आचार्य श्री के साथ पढ़ते थे। आचार्य श्री विद्यार्थी अवस्था में ही संसार से अनासक्त, पठन-पाठन में लीन साहसी एवं सर्वप्रिय विद्यार्थी थे। ये ही गुण आगे जाकर आचार्य श्री के जीवन में विशेष पनपे, और वे एक महान् साधक व योगी सम्राट बनकर मनुष्यपर्याय का सार्थक व कृतकृत्य कर गये।

आशय यह है कि संयम धारण करने के पूर्व आप घर में रहते हुए भी गृह से विरक्त, संयम नहीं धारण करने पर भी संयमी, रागी होने पर भी विरागी जल में भिन्न कमल की तरह गृह भोगों से उदासीन और विरक्त थे। यही कारण था कि परिवार वालों के अत्यधिक आग्रह करने पर भी आप विवाह के बन्धन में नहीं फंसे।

बहुत आश्चर्य है कि जहाँ युवावस्था के पथ पहुँचते ही आज का मनुष्य सांसारिक भोगों में लालायित हो जाता है, वहां हमारे चरित्र-नायक आचार्य श्री भरी जवानी में विवाह एवं सांसारिक भोगों को ठुकराकर वैराग्य की तरफ अग्रसर होते हैं। धन्य है ऐसे महान् पुरुषों को!

इन्दौर महाविद्यालय से आपने न्यायतीर्थ और शास्त्री चतुर्थ खण्ड की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके अतिरिक्त आपने आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्रों का भी अध्ययन किया। ज्ञात यह है कि आप उस समय न्याय, व्याकरण, साहित्य, धर्म, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि विषयों के परिपक्व ज्ञानी हो गये थे, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा पर आपका अधिकार हो गया था।

त्याग में दृढ़ता

गृहस्थ अवस्था में भी आप त्याग की दिशा में किस प्रकार दृढ़ श्रद्धानी थे, इसका एक ज्वलंत उदाहरण है कि सम्वत् १६८३ में आपके बड़े भाई श्री कन्हैयालाल जी का विवाह सम्बन्ध टूंडला के श्रीमान् सेठ लाल जी के बड़े भाई की कन्या के साथ पक्का हुआ, आप भी उस बारात में गये, आपके उस समय से पूर्व ही १६ वर्ष की अवस्था से ही शूद्र जल अर्थात् मद्य और मांस तथा मधु सेवन करने वाले के हाथ का पानी पीने का त्याग था। इस प्रकार के नियम होने से आपने बारात में बने अनेक प्रकार के मिष्टान्नों को ग्रहण करने से इन्कार कर दिया, और कहा कि हमारे लिये शुद्ध कच्चा भोजन बनेगा तो भोजन करेंगे अन्यथा नहीं। इस पर भी जब कच्चा भोजन नहीं बना तो आप उस दिन निराहार रहे। आज के युवकों को जो चाहे जैसा भोजन बिना विचारे ग्रहण करते हैं, आचार्य श्री की उस समय की दृढ़ता से शिक्षा लेना चाहिये।

विवाह का प्रस्ताव आने पर विवाह के लिये मना कर देना, परिवार के अत्यन्त आग्रह को ठुकरा देना भी महाराज की दृढ़ता और साहस का परिचायक है।

पण्डित अवस्था

विद्याध्ययन के पश्चात् आचार्य महाराज किसी व्यापारिक व्यवसाय में नहीं उलझे, किन्तु कुछ काल मालवा प्रान्तिक सभा के अन्तर्गत बड़नगर के अनाथालय और औषधालय में अध्ययन और वैद्य काय किया, सम्भवतः सभा की तरफ से उपदेशक बन कर देश व समाज मे भ्रमण भी किया। यह तो सर्व विदित है कि आचार्य श्री विद्यार्थी अवस्था से ही प्रभावशाली वक्ता थे, हिंदी और संस्कृत में अच्छा ओजस्वी भाषण देते थे, फिर पंडित अवस्था में उनकी भाषा शैली और भी प्रभावशाली हो गई थी, इसमें कोई आश्चर्य या अतिशयोक्ति की बात नहीं है। पण्डित अवस्था मे इनका जीवन कैसा रहा इस सम्बन्ध में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिल पाई, किंतु यह स्पष्ट है कि उस समय ये निर्भीक और साहसी विद्वान् पंडित थे, सेठों और मन्त्रियों की खुशामद और चापलूसी से परे थे। विद्यार्थी महेन्द्रकुमार से अब पं० महेन्द्रकुमार जी हुए और पंडित महेन्द्रकुमार जी से पं० महेन्द्रसिंह जी हुए।

त्याग और वैराग्य की भावना तो उनमें छात्रावस्था से ही थी; निर्भीकता भी जन्मजात थी, अतः अन्य विद्वानों से कुछ अलग प्रकृति के पंडित थे। आपने अपने नाम के आगे सिंह शब्द कब से और क्यों लगाया? स्वयं लगाया या किन्हीं ने इनके गुणों के कारण लगाना प्रारम्भ किया? यह हमें ज्ञात नहीं, किन्तु इनका यह सिंह शब्द नाम के आगे लगाना कितना सार्थक और सही था, इसकी एक

घटना जोकि बहुत वर्षों पूर्व मैंने किन्हीं विद्वान् के मुँह से सुनी थी, उसका यहाँ उल्लेख करना पर्याप्त समझता हूँ।

एक बार इन्दौर में पर्यूषण पर्व के अवसर पर विद्वानों के यथाक्रम निश्चित नम्बर के अनुसार भाषण और प्रवचन हो रहे थे। अनेक उपाधि विभूषित सरसेठ सा० हुकुमचन्द जी भी विद्वानों के साथ सभा में उपस्थित रहते थे, और विद्वानों के क्रम से उनका भी प्रवचन होता था, यहाँ यह लिखना उपयुक्त होगा कि सरसेठ सा० भी विद्वानों के संसर्ग से बड़े प्रभावशाली वक्ता हो गये थे, शास्त्र सुनने के अतिरिक्त प्रवचन करने में भी उनकी बहुत बड़ी रुचि थी। उस दिन संभवतः माननीय सरसेठ सा० का प्रवचन करने का नम्बर था किन्तु कोई कारणवश सेठ सा० देरी से सभा में पधारे, जब जनता अधिक प्रतिक्षा करने में असमर्थ हुई तब कुछ विद्वानों ने श्री पं० महेन्द्रसिंहजी को शास्त्र की गद्दी पर बैठा दिया। आप गद्दी पर बैठकर प्रवचन प्रारंभ करने लगे कि श्रीमान् सरसेठ सा० सभा में पधार गये, सभा के लोग और विद्वान् भी उनके सम्मान में खड़े हो गये। सभा में कुछ देर के लिये होहल्ला हो गया, अन्त में सब बैठ गये। उच्चासन पर शास्त्र की गद्दी पर श्री पं० महेन्द्रसिंह जी बैठे थे। चर्चा चली आज सरसेठ का नम्बर है अतः उनका प्रवचन होना चाहिये, उपस्थित विद्वानों ने भी इसका समर्थन किया, अब क्या था, पण्डित जी को शास्त्र की गद्दी से उतर कर माननीय सरसेठ सा० के लिये गद्दी का आसन रिक्त करना था किन्तु हमारे चरित्र नायक पंडित जी को यह स्वीकार नहीं था। उनका कहना था कि शास्त्र की गद्दी पर मुझे बिठाना ही नहीं था, और अब जब मुझे बिठा ही दिया है, मैंने प्रवचन प्रारंभ भी कर दिया है तो मैं गद्दी से नहीं उतर सकता हूँ। मुझे यहाँ से उठाना मेरा ही अपमान नहीं अपितु जिनवाणी का भी अपमान करना है।

उस समय में सरसेठ सा० की बहुत धाक थी, उनके रौब से मनुष्य कांपते थे। बड़े-२ विद्वान् भी उनके सामने बोलना तो दूर रहा किन्तु अपना मुँह भी नहीं खोलते थे। फिर इस तरह गर्जना के साथ निर्भीकता से सरसेठ सा० के सामने उनके विरुद्ध बोलना और शास्त्र की गद्दी उनके नम्बर होने पर भी उनके लिये खाली नहीं करना एक बहुत बड़े साहस का काम था। काश ! कोई अन्य विद्वान् होता तो विनय के साथ गद्दी से उठकर सरसेठ सा० को बिठा देता किन्तु उस समय प० महेन्द्रसिंह जी का स्वात्माभिमान जगा हुआ था, उन्होंने सरसेठसा० की नाराजगी की कोई चिंता नहीं की, परिणामस्वरूप उन्हीं का प्रवचन बड़े ठाठ से हुआ, और सरसेठ सा० बैठे रहे, प्रवचन सुनते रहे। अब पाठकों को ज्ञात हो जायेगा कि पंडित महेन्द्रकुमार जी का पंडित अवस्था में अपने नामके आगे सिंह शब्द लगाना कितना सार्थक था।

निश्चय से हम नहीं कह सकते कि परिणाम अन्त में क्या निकला ? शायद इसी कारण उन्हें मालवा प्रांतिक सभा की सर्विस से अलग होना पड़ा हो या कोई दूसरा कारण भी रहा हो। अस्तु, पंडित अवस्था का उनका जीवन बहुत अल्प समय ही रहा था।

त्याग की मंजिल

आपकी उम्र केवल २० वर्ष की थी, अजमेर जिले में पीसांगन एक कस्बा है जैन-समाज की अच्छी बस्ती है। पूज्य १०८ आचार्य कल्प श्री चन्द्रसागर जी महाराज का शुभागमन हुआ। आपने

उस समय श्री चन्द्रसागर जी महाराज से सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा ग्रहण की। अविवाहित तो थे ही, अब विधिवत् पूर्ण ब्रह्मचारी हो गये। मुनिसंघ में ब्रह्मचर्यावस्था में आपके भाषण धर्मोपदेश प्रभावकारी होते थे। संघ में एक शास्त्री न्यायतीर्थ विद्वान् के त्यागी होने से बड़ा प्रभाव रहता था। आपको त्याग की मंजिल पर आगे बढ़ना ही था अतएव आपने निश्चय किया कि यदि आत्म-कल्याण करना है तो पूर्णतः घर-संसार से मुक्त होकर पूर्ण त्यागी होना आवश्यक है, इसके बिना आत्महित होना असंभव है। एक कवि के शब्दों में वस्तु स्थिति यह है—

दो पग पन्थी चले न पंथा, दो मुख सुई सीवे न कन्था।
दोय बात नहिं होय सयाने, विषय भोग अरु मोक्ष पियाने॥

इस प्रकार दो कार्य एक साथ नहीं हो सकते। संसार के भोग भोगते हुए मोक्ष मार्ग पर नहीं चला जा सकता। यही समझ आचार्य श्री ने सप्तम प्रतिमा से आगे के व्रत लेने का निर्णय किया।

गुजरात प्रांत में साबरकांठा जिले में भीलोड़ा के पास एक टांकाटोंका गांव है। वहां धार्मिक दिगम्बर जैन रहते हैं। श्री आचार्य १०८ वीरसागर जी महाराज का संघ वहां सम्वत् १९९५ में आया, ब्रह्मचारी महावीरकीर्ति जी संघ मे विद्यमान थे, उत्तरोत्तर वैराग्य-वृद्धि तो हो ही रही थी अवसर पाकर श्री वीरसागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा लेकर उद्दिष्ट त्यागी हो गये। ग्यारहवीं प्रतिमा के व्रत के साथ-२ आपने ध्यान, कष्टसहिष्णुता, परीषहसहन, उपवास व व्रत करने की क्षमता आदि का अभ्यास बहुत बढ़ा लिया था। ज्ञान के साथ-२ चारित्र की वृद्धि से आपकी प्रसिद्धि भी बहुत फैलने लगी।

क्षुल्लक अवस्था में एक बार संघ के साथ आचार्य श्री ऋषभदेव (केशरियाजी) पधारे थे। आप का उपदेश संघ के अन्य साधुओं की अपेक्षा विशेष प्रभावशाली होता था। समाज ने आपके भाषण की व्यवस्था सदर बाजार में की थी, कारण जैन समाज के अतिरिक्त अजैन लोग भी सभा में उपदेश-श्रवण करने बहुत अधिक संख्या में आते थे। मैं छोटा था महाराज के उपदेश सुनने प्रायः जाया करता था। उपदेश के पहले, बीच में और अंत में पूज्य क्षुल्लक जी महाराज कई बार जय बुलवाते थे, उनमें विशेष "नागडा बाबा केशरिया नाथ की जय" बहुत बार बुलवाते थे। एक दो बार किन्ही ने महाराज से प्रश्न भी किया कि आप केशरिया नाथ जी के पहले जय ध्वनि में "नागडा बाबा" शब्द को प्रयोग क्यों करते हैं? कई अजैनों को यह अच्छा नहीं लगता है। आपका उत्तर था कि केशरिया नाथ ऋषभ-देव भगवान की प्रतिमा का नाम है। भ० ऋषभदेव ने दिगम्बर अवस्था में सिद्धि प्राप्त की थी, इस बात को जताने के लिये हम नागड़ा बाबा शब्द लगाते हैं। दिगम्बर अवस्था को भीलों की भाषा में 'नागड़ा बाबा' ही कहते हैं।

आशय यह कि आपके उपदेश में वहाँ भील लोग भी बहुत आते थे। बाजार में उपदेश होने से आते-जाते मनुष्य भी खड़े हो जाते थे। अब चारित्र की वृद्धि के साथ-२ आपके ज्ञान और अध्ययन की भी वृद्धि हो रही थी। क्षुल्लक अवस्था पर पहुँचने पर भी अभी आप त्याग की चरम सीमा पर नहीं पहुँचे थे। आपकी भावना प्रति समय यह रहती थी कि कब मैं सर्वसङ्ग परित्यागी होकर आत्मा

का कल्याण करूँ ? बार बार उपवास करना, घण्टों खड़े-खड़े ध्यान लगाना आदि का आपने बहुत अभ्यास कर लिया था ।

प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य होता है कि दिगम्बर जैन साधु बनूं । कब वह स्वर्ण घड़ी आवे कि पाणिपात्र बन कर कर्मों का नाश करने में समर्थ बनूं क्योंकि मोक्ष मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र इन तीनों के समन्वय से ही होता है, ऐसा श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है और समन्तभद्र स्वामी ने भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों को ही धर्म कहा है । अतः तीनों में एक भी कम होना न तो मोक्ष मार्ग है, न धर्म है ।

भर्तृहरि यद्यपि अजैन सन्यासी साधु हो गये थे, किन्तु अन्तरङ्ग में वे भी दिगम्बर जैन साधु बनने की तीव्र भावना रखते थे । जैसा कि उनके वैराग्य शतक के एक पद्य से विदित होता है—

> एकाकी निस्पृहः शांतः, पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
> कदाऽहं संभविष्यामि, कर्मनिर्मूलनेक्षमः ।।वै०श०।।

आशय यह है कि भर्तृहरि भी कर्म नाश करने में समर्थ, हाथ में आहार लेने वाले, निस्पृह, शांत दिगम्बर अवस्था को ही मानते थे । एक स्थान पर उन्होंने यह भी भावना व्यक्त की है कि—

> गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
> ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रांगतस्य ।
> किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः,
> संप्राप्स्यन्ते जरठ हरिणाः शृङ्गकण्डूविनोदं ।।

वे भावना भाते है कि कब मैं ऐसा साधु बनूं कि गङ्गा के तट पर या हिमालय की शिला पर पद्मासन लगाकर ऐसे ध्यान व योग में लीन हो जाऊं कि जङ्गल के हिरण मेरे शरीर की स्थिर मुद्रा को देखकर पत्थर की मूर्ति समझ अपने शरीर की खाज खुजाने के लिये रगड़ लगाएँ । ऐसा ध्यान दिगम्बर मुनियों का ही होता है, अर्थात् एक अजैन साधु भी दिगम्बर मुनि बनने की भावना व्यक्त करता है । कारण, दिगम्बर मुनि अवस्था को प्राप्त किये बिना कोई भी कर्मों का नाश नहीं कर सकता ।

आचार्य कुन्दकुन्द भी बिना दिगम्बर मुनि अवस्था प्राप्त किये किसी को भी मोक्ष-मार्गी नहीं मानते थे । जैसा कि अष्टपाहुड में सूत्र पाहुड की एक गाथा में आपने मोक्षमार्गी की व्याख्या इस प्रकार की है—

> णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइविहोइ तित्थयरो ।
> णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ।

कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि वस्त्रधारी कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता । यदि वह तीर्थंकर भी हो तो भी जब तक वस्त्रधारी है वे कर्म को नाश नहीं कर सकते हैं, यही कारण है कि तीर्थंकरों को भी संयम धारण करना पड़ता है । अन्त में आचार्य कहते हैं कि जो नग्न है वही मोक्ष-मार्गी है

बाकी के सब उन्मार्ग गामी हैं, मोक्ष-मार्गी नहीं हैं। जो निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर मानते हैं, उनके लिये आ० कुन्दकुन्द की यह गाथा अवलोकनीय है कि वस्त्रधारी कोई भी चाहे वह तीर्थंकर भी क्यों न हो सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। कर्मनाश करने में वस्त्र जो कि परपदार्थ है और जड़ है आत्मा के लिये कितना बाधक निमित्त कारण है? यहाँ नग्न का अर्थ आचार्य का चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित दिगम्बर मुनि की अवस्था से ही है।

कहने का आशय यह है कि श्री महावीरकीर्ति महाराज क्षुल्लक अवस्था प्राप्त करने पर भी पूर्ण संयमी दिगम्बर मुनि अवस्था को प्राप्त करने की निरन्तर भावना रखते थे। अन्त में वह समय भी आ गया और अन्तरङ्ग भाव प्रस्फुटित हुए, मुनि बनने की भावना सफल हुई।

मुनि दीक्षा एवं दीक्षा गुरु

चरित्रनायक क्षुल्लक जी महाराज श्री महावीरकीर्ति जी विहार करते-करते दक्षिण भारत में विहार करने लगे। दक्षिण भारत के एक उद्गांव (सांगली) नाम के गाँव में ३२ वर्ष की अवस्था में महान् तपस्वी श्री १०८ महामुनिराज श्री आदिसागरजी महाराज से आपने सम्पूर्ण परिग्रह त्याग कर पूर्ण दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की। आपने ब्रह्मचर्य प्रतिमा श्री १०८ चन्द्रसागरजी महाराज से और क्षुल्लक दीक्षा पूज्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज से एवं मुनि दीक्षा पूज्य १०८ श्री आदिसागरजी महाराज से ली। पूज्य चन्द्रसागर जी महाराज एवं आ० वीरसागर जी महाराज को तो सभी जानते हैं किन्तु श्री आदिसागर जी महाराज को उत्तर भारत की समाज नहीं जानती है, अतः प्रसङ्गवश पूज्य आदिसागर जी महाराज का कुछ संक्षिप्त परिचय मैं यहाँ देना उचित समझता हूँ क्योंकि ये श्री महावीरकीर्ति के दीक्षा गुरु थे।

आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के दीक्षा गुरु श्री १०८ आचार्य आदिसागर जी महाराज दक्षिण भारत के अंकाली ग्राम के निवासी थे। आदिसागर जी महाराज बड़े कठोर तपस्वी थे। सात-सात दिन के उपवास के पश्चात् आहार लेते थे। आहार में एक ही वस्तु लेते थे। चारित्र चक्रवर्ती आ० शांतिसागर जी महाराज से भी पहले के दीक्षित साधु थे। इनका पूव अवस्था में शारीरिक बल बहुत आश्चर्यकारी था।

आचार्य श्री आदिसागर जी महाराज का जन्म दक्षिण के आंकली नामक गांव में सन् १८६६ में हुआ था। यह आंकली गाँव महाराष्ट्र में है। आपका जन्म नाम सिवगोड़ा था, धर्मपत्नी का नाम श्री आउबाई था। पिता का नाम सिद्धगोड़ा, माता का नाम श्रीमती आक्काबाई था। आपके पितामह (पिता के पिता) का नाम शंकरगोड़ा पाटील था। आपके बालगोड़ा और बाबगोड़ा नाम से दो और भाई थे और आदूबाई नाम से एक बहिन भी थी तथा एक लड़का जिसका नाम तवनगोड़ा था और एक लड़की भी थी जिसका नाम हीराबाई था।

पूज्य आदिसागर जी महाराज क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए थे, आपके पूर्वज आंकली के जागीरदार (ग्राम स्वामी) थे। वर्तमान में भी आपके वंशज आंकली के जागीरदार हैं।

ये शिवगोड़ा गृहस्थावस्था में बड़े पराक्रमी, शूरवीर, दयालु, जिन धर्म परायण थे। आंकली में ऋषभदेव भगवान का मन्दिर बना तब अकेले ही बड़ी-२ शिलाओं को उठाया करते थे, जिसे देखकर अन्य मनुष्य बहुत आश्चर्य करते थे। एक बार कुछ साथियों ने आपको एक कमरे में बन्द कर दिया तब आप मुक्को से किवाड़ तोड़कर बाहर आ गये। इससे आप साथियों में उस समय से प्रमुख माने जाने लगे।

एक बार साथियों की शर्त पर एक बड़ा कद्दू (काशीफल) हाथ से दबाकर फोड़कर सारा का साग खा गये। कच्चा काशीफल खाकर पचा लेना कोई साधारण बात नहीं थी। ऐसा भी कहा जाता है कि गृहस्थावस्था में आपके पेट में एक सर्प था, प्यास लगने पर चूने के पानी से भरी हांडी छाछ समझ कर पी गये, उससे सर्प निकल कर बाहर आ गया, अन्यथा उस सर्प से मृत्यु भी हो सकती थी। अवसर आने पर पूर से बहती हुई कृष्णा नदी को अपनी भुजाओं से तैर कर पार कर लेते थे, और नदी में १२ हाथ गहरी डुबकी लगा लेते थे। एक या दो घूसे में नारियल फोड़ देते थे। भोजन के पश्चात् १ सेर सींगदाना (मूंगफली) और १ सेर गुड़ खाना तो साधारण बात थी।

कपास के झाडों को हाथो से जड़मूल से उखाड़कर तीन घण्टे में गाड़ी भरकर घर पर ले आते थे। विपत्ति आने पर या कोई अन्य कारण उपस्थित होने पर आप साहस के साथ छाती सामने कर ताल ठोंक कर यमराज से भी मुकाबला करने के लिये तैयार हो जाते थे। ऐसे साहसी थे शिवगोड़ा!

एक समय वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा, लोग भूख से व्याकुल होकर त्राहि-२ करने लगे। अन्न के अभाव से प्राणो के संकट आने लगे। चारो ओर से निराश होकर मनुष्य शिवगोड़ा के पास आये, शिवगोड़ा ने सब को सान्त्वना देते हुए जिनेन्द्रदेव के स्मरण करने की प्रेरणा देते हुए क्षत्रियोचित वीरत्व के साथ सब को धैर्य बँधाया, और सब को लेकर उन क्षत्रियों के पास गये जिनके पास धान के कोठे (पेव) भरे हुए थे। शिवगोड़ा बोले "मै भी अपना धान का पेव खालीकर इन भूखो को अन्न देता हूँ, तुम भी दो" — इस पर भी उन क्षत्रियों को गरीब भूखे लोगों पर दया नहीं आई, तब विवश होकर शिवगोड़ा ने बड़ी वीरता से साहस के साथ अपने प्राणों की बाजी लगाते हुए दुर्भिक्ष पीड़ित लोगों से कहा "इन पेवों को खोल दो ! डरो मत, मैं खड़ा हूँ, कौन मेरे सामने आता है", ऐसा कह कर सब के पेव खुलवा दिये और सब अन्न लुटवा दिया।

पीड़ित लोग यथेष्ट अन्न ले गये। इस प्रकार सबकी रक्षा हो गई। कोई भी "शिवगोड़ा" का सामना करने के लिये नही आया। बाद में मुकद्दमा चलाया गया, शिवगोड़ा ने अदालत में स्पष्ट कहा कि मै उस समय भूख से व्याकुल मनुष्यों के दुःख को नहीं देख सका, और मेरी प्रार्थना करने पर भी जब पेवों के स्वामियो ने अन्न देना अस्वीकार कर दिया तब मैंने यह कार्य भूखों को मृत्यु से बचाने के लिए किया। मजिस्ट्रेट ने शिवगोड़ा को निर्दोष घोषित कर छोड़ दिया।

इस तरह की और भी घटनाएँ श्री आदिसागर जी महाराज की गृहस्थावस्था में उल्लेखनीय है। अभिप्राय यह कि वे बड़े शूरवीर, साहसी, सत्यनिष्ठ, एवं परोपकारी महापुरुष थे। उनके यहाँ भलाई

का कोई प्रबन्ध नहीं होने से स्कूल की पढ़ाई शिवगोड़ा ने बिल्कुल नहीं की। गाँव में कोई विद्वान् नहीं होने से शास्त्र भी सुनकर ज्ञान बढ़ाने का कोई साधन प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु आपको शास्त्र-श्रवण करने का व्यसन था, अतः भोंकली से दक्षिण दिशा की ओर उद्‌गाव में एक विद्वान् पण्डित अप्पा शास्त्री रहते थे, चातुर्मास में वे शास्त्र प्रवचन करते थे। उसे सुनने के लिये शिवगोड़ा नियमित रूप से उद्‌गाँव आया करते थे।

धीरे-२ आप में वैराग्य की भावना जागने लगी, संसार से विरक्त मानस होकर धर्म साधन में प्रवृत्त होने लगे। एक बार बाहुबलि स्वामी के दर्शन कर नांदनी मठ के भट्टारक स्वामी पट्टाचार्य से क्षुल्लक दीक्षा देने की प्रार्थना की किन्तु उस समय बच्चे बहुत छोटे होने से पत्नी ने राय नहीं दी, इसलिये उस समय दीक्षा रुक गई किन्तु धर्म का आराधन विशेष बढ़ने लगा, और तीर्थयात्रा करने हेतु प्रवास कर अनेक तीर्थों की वन्दना की।

अब आप एकांतर करने लगे अर्थात् एक दिन उपवास दूसरे दिन आहार करते, बीच में अष्टमी या चतुर्दशी आ जाती तो दो-दो उपवास कर पारणा करते थे। दीक्षा के भाव उत्तरोत्तर बढ़ते गए। अन्त में नांदिनी गाँव मे ई० सन् १९०६ मे भट्टारक स्वामी जिनप्पा से ३१ वर्ष की अवस्था में स्वाति नक्षत्र में आपने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की।

उस काल में कोई मुनि या आचार्य तो थे नही इसलिये भट्टारक जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा लेकर आत्म हित के मार्ग पर शिवगोड़ा चल पड़े। केवल तीन मास क्षुल्लक अवस्था में रहकर वहीगाँव में श्री जिनेन्द्रदेव की साक्षी से ऐलक दीक्षा ले ली। दीक्षा से पूर्व कुछ पढ़े तो थे नहीं, अतः दीक्षा के पश्चात् स्वाध्याय आदि से शास्त्र ज्ञान आपने बढ़ा लिया। अब आप तीन-२ दिन के उपवास कर आहार के लिये निकलते थे। इस प्रकार व्रत, उपवास, ध्यान आदि का आपने अच्छा अभ्यास कर लिया था।

शिवगोडा की १५ वर्ष की अवस्था में पिता का स्वर्गवास हो गया और २७ वर्ष की अवस्था में माता का स्वर्गवास हुआ। उसके कुछ काल पश्चात् धर्मपत्नी का भी स्वर्गवास हो गया, इस कारण आपके वैराग्य में वृद्धि होती गई।

शक संवत् १८३६ मार्गशीर्ष शुक्ल २ मूल नक्षत्र मंगलवार १० बजे सिद्धक्षेत्र श्री कुन्थलगिरि तीर्थराज पर जिनेन्द्रदेव की साक्षीपूर्वक आपने दिगम्बर जैन निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। काला योग से कोई उस समय दीक्षा देने वाला मुनि या आचार्य ही नहीं था।

मुनि अवस्था में पूज्य आदिसागर जी महाराज दक्षिण भारत के अनेक गाँवों और नगरों में विहार करने लगे कई जगह आपके चातुर्मास हुए। अब आप सात दिन के उपवास के पश्चात् आहार को निकलते और एक वस्तु का ही आहार लेते थे। कितना त्याग और कितनी कष्ट सहिष्णुता थी! ऐसे थे आचार्य महावीरकीर्ति महाराज के दीक्षा गुरु।

इनके मुनि अवस्था के कई अतिशय दक्षिण भारत के बन समूह में आज भी सुने जाते हैं। एक बार आपके ब्रह्मचर्य की परीक्षा का भी समय आया कि बाहुबली पहाड़ पर एक जम्बा नाम की स्त्रीबाई ने रात्रि के समय एकांत अवसर पाकर आपसे आपस में पति-पत्नी बन जाने की प्रार्थना की और कहा, आपके स्त्री नहीं मेरे पति नहीं, हम दोनों प्रेम से रहें। तुम मेरे पति बनो, मैं तुम्हारी पत्नी। एक युवा स्त्री की एकांत में ऐसी विकार युक्त याचना करने पर भी पूज्य आदिसागर जी महाराज तनिक भी विकार भावना नहीं लाये, और निर्विकार भाव से गुफा में आकर ध्यान में लीन हो गये, फिर तो उस स्त्री को भारी पश्चाताप हुआ। एक बार एक सिंह भी महाराज की ध्यान अवस्था में आया और परिक्रमा लगा कर चला गया। वे ध्यान में लीन ही रहे। अब हम उनके जीवन परिचय को विशेष नहीं बढ़ाकर उनके समाधिमरण की स्थिति का उल्लेख करते है।

महामुनि और आचार्य आदिसागर जी महाराज का अन्तिम चातुर्मास सांगली के पास उदगांव में हुआ। वहाँ आपका समाधिमरण शास्त्रोक्त रीति से हुआ। १४ दिन की समाधि ली और ध्यान में तत्पर रहे थे।

पूज्य आदिसागर जी महाराज को करीब ४ वर्ष से घट सर्प रोग हो गया था, जिससे शरीर में बड़ी भारी वेदना होती थी किंतु आप यह वेदना शांत भाव से सहन करते थे। ध्यान में स्थिर रहते थे। समाधिमरण में क्रमशः चारों प्रकार के आहार का त्याग किया। आपने अपना आचार्य पद समाधि से पूर्व ही पूज्य महावीरकीर्ति महाराज को दिया और शांति से चार आराधना पूर्वक शरीर को छोड़ा।

उनके समाधिमरण के प्रसंग में दो संस्कृत पद्य यहाँ उद्धृत करता हूँ जिससे कि उनकी समाधि-मरण की स्थिति ज्ञात हो सकेगी—

> सन्यासं दिवसां चतुर्दश बुधः, हर्षाद्गृहीत्वा स्वयं।
> रात्रौचापि सुधर्म चिन्तन पर- ध्यानं च कृत्वा ध्रुवं॥
> आयान्ते समये समाधिमरणे, आर्षां क्रियां संचरन्।
> शिष्टात्मा शुचि आदिसागर मुनेः, शांतिं समाधिं श्रितः॥
> श्री चैत्यं जिननायकस्य विमलं, लोकोत्तरं मंगलं।
> श्री सुबल इच्देव कल्पितविभुं, श्री पार्श्वनाथं जिनं॥
> नत्वे हस्तयुगं निधायशिरसा, दृष्टाच बत्वा मुहुः।
> ध्यात्वा श्री विभु आदिसागर मुनिः, शांति समाधिं श्रितः॥

समाधि के समय ४८ साधु पिच्छी वाले अनेक श्रावक श्राविकाएँ जैनाजैन जन समूह उपस्थित था। आचार्य महावीरकीर्ति जी ने अपने गुरु का समाधिमरण कराने में बड़ा परिश्रम किया था। फल-स्वरूप पूज्य आदिसागर जी महाराज का समाधिमरण अत्यन्त शांति के साथ ध्यान मग्न अवस्था में सम्पन्न हुआ। रात्रि के २ बजे उनकी पवित्र आत्मा नश्वर देह को छोड़ स्वर्ग गई। ऐसे थे महान् आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के महान् गुरु, जिनके तप, ध्यान, उपवास और

कष्ट सहिष्णुता की प्रशंसा पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज भी समय-समय पर किया करते थे।

आचार्य श्री मुनि अवस्था में

जिस समय श्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने मुनि दीक्षा ली, उस समय आपकी उम्र ३२ वर्ष की थी। मुनिपद ग्रहण करने के पश्चात् आपका ध्यान, तप, चारित्र और भी बढ़ने लगा। संघ के साथ या अलग एकाकी आपने मुनि पद को अलंकृत करते हुए अनेक स्थानों में विहार किया एवं चातुर्मास किये।

इन्द्रियों का दमन, व्रत उपवासों में रत, विषयों से उदासीन वृत्ति, शरीर आदि से निस्पृहता, ज्ञान व ध्यान में निरन्तर उपयोग आदि विशेषताएँ आचार्य श्री में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगीं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सच्चे गुरु का लक्षण कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

अर्थात् जो इन्द्रियों के विषयों की आशा के वश से सर्वथा रहित हो जिसके पास किसी भी प्रकार का प्रारम्भ और परिग्रह न हो, ज्ञान-ध्यान और तप में सदैव लीन रहता हो, वही तपस्वी प्रशंसा के योग्य है, वही सच्चा गुरु है। दस प्रकार के बाह्य परिग्रह एवं चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह से सर्वथा ममत्व रहित, लोकेषणा की व्याधि से मुक्त, निस्पृहवृत्ति वाला ही दिगम्बर जैन साधु हो सकता है। बिना अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग हुए केवल बाह्य परिग्रह का त्यागी सच्चा साधु नहीं है। उसी प्रकार बिना बाह्य परिग्रह के त्याग किये, अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग भी असम्भव है। अतः जिनेन्द्र भगवान ने दोनों प्रकार के परिग्रह के त्यागी को ही सच्चा साधु कहा है।

परमपूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज सच्चे, दोनों प्रकार के परिग्रह के त्यागी, महान् तपस्वी, ज्ञान और चारित्र की निधि वाले आदर्श मुनि थे। धनवान, निर्धन, राजा या रंक गरीब या अमीर, विद्वान् या अनपढ़ सब पर उनकी समदृष्टि थी। जैसा कि छहढाला में श्री पण्डित प्रवर दौलतराम जी ने मुनि के लिये कहा है—

अरिमित्र महल मसान कंचन, कांचनिन्दाथुतिकरन ।
अर्घावतारन असिप्रहारन में, सदा समता धरन ॥

आशय यह कि चाहे कोई शत्रु हो या मित्र हो, महल हो या श्मशान हो, सोना हो या कांच हो, कोई निन्दा करे या स्तुति करे, कोई अर्घ उतार कर पूजा करे या कोई तलवार से प्रहार कर शरीर के टुकड़े-२ करने वाला हो, इन सभी अवस्थाओं में जो समता भाव धारण करे, वही सच्चा साधु है। यह लिखते हुए गौरव होता है कि पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महराज में ये सभी गुण विद्यमान थे, अतः वास्तविक दृष्टि से वे सच्चे गुरु थे।

दिगम्बर मुनिचर्या, उनके २८ मूल गुणों का पालन, बाईस परीषहों का सहन भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी की बाधाएँ, उपसर्ग सहन आदि सभी चर्याएँ अत्यन्त कठिन हैं। लेकिन बिना मुनि व्रत को धारण

किये आत्मा की सिद्धि होती ही नहीं है। पञ्चमकाल में हीन संहनन वाले मनुष्य हैं। पञ्चमकाल में मुनियों को श्रेणी-आरोहण, शुक्ल ध्यान, और केवल ज्ञान नहीं है। अत: इस कलिकाल में मनुष्य पर्याय से सीधा मोक्ष नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पञ्चमकाल में मुनि धर्म नही है या सम्यग्दृष्टि मुनियों का अभाव है। आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द ने कहीं ऐसा नहीं कहा कि पञ्चमकाल में सच्चे मुनि नहीं होंगे। उन्होंने मोक्ष पाहुड़ में कहा है कि आज भी पञ्चमकाल के मुनि धर्म-ध्यान के द्वारा इस मनुष्य पर्याय को पूर्ण कर सौधर्मस्वर्ग का इन्द्र, लोकपाल और पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग के अन्त में रहने वाले लोकान्तिक देव हो सकते हैं। ये सब एक भवावतारी होते हैं। वह गाथा इस प्रकार है—

अज्जवि तिरयण सुद्धा, अप्पा झाएवि लहहि इन्दत्तं ॥
लोयंतिय देवत्तं, तत्थ चुआणिव्वुदि जंति ॥ मो० पा० ७७ ॥

यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव सूरि कहते हैं कि—

काले कलौ चले चित्ते, देहेचान्नादि कीटके ।
एतच्चित्रंयदद्यापि, जिनरूपधरा: नरा: ॥

भावार्थ है कि इस भौतिक पञ्चमकाल में जिन रूप के धारण करने वाले दिगम्बर साधु भी मिलते हैं, यह महान् आश्चर्य की बात है। जब हमारे आचार्य जो कि स्वयं भी पञ्चमकाल के ही मुनि थे, वे कहते हैं कि पञ्चमकाल के अन्त तक सम्यग्दृष्टि सच्चे मुनियों का सद्भाव रहेगा तब आजकल के विद्वन्मन्य यह कहें कि पञ्चमकाल में सच्चे मुनि होते ही नहीं तो ये आधुनिक व्याख्याता हमारे पूर्वाचार्यों के सामने किस खेत की मूली है? हाँ, तो हमारे चरित्रनायक आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज सही रूप में इस कलिकाल में सच्चे आदर्श मुनि थे। आप ज्ञान, चारित्र और तप की निधि थे। अब वे संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी और हिन्दी के साथ-२ अन्य भाषाओं का अभ्यास कर अनेक भाषाओं के ज्ञानी हो गये। आपने उच्च ग्रन्थों का अध्ययन स्व० आचार्य १०८ श्री सुधर्मसागर जी महाराज से भी किया था। उनका ध्यान का अभ्यास आश्चर्यकारी था। कई घन्टों तक पद्मासन, खड्गासन से एकाग्रतापूर्वक ध्यान लगाते थे। जिनेन्द्र भक्ति में इतने लीन हो जाते थे कि कई घण्टों का समय बीत जाने पर भी उन्हें कुछ ज्ञात नहीं रहता था। भक्तों, शिष्यों तथा अनुयायियों की चिन्ता किये बिना वे आत्म-कल्याण में तत्पर रहकर संयम मे लीन रहते थे।

आचार्य पद—प्राप्ति

हम आचार्य आदिसागर जी महाराज के जीवन परिचय में यह लिख आये हैं कि उनका समाधि-मरण उदगाँव (सांगली) में हुआ था। उस समय आचार्य महावीरकीर्ति महाराज ने अपने गुरु की असाधारण वैयावृत्ति और निरन्तर परिश्रम एवं सावधानी से अपने गुरु की सफल समाधि कराई थी। आचार्य आदिसागर जी महाराज ने समाधि से पूर्व अपना आचार्य पद श्री महावीरकीर्ति जी महाराज को विद्वान् तपस्वी व योग्य मुनि समझ दिया था। समाज द्वारा आचार्य पद की घोषणा एवं मान्यता समारोहपूर्वक पीछे से हुई।

आदिसागर जी महाराज के समाधिमरण के पश्चात् एक बार श्री आ० महावीरकीर्ति जी महाराज का शुभागमन शेडवाल (कर्नाटक) में हुआ। उस समय समाज ने आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए समारोह का आयोजन किया। समारोह में करीब एक लाख जन समुदाय उपस्थित हुआ था। दक्षिण भारत के तत्कालीन ब्रिटिश गवर्मेंट द्वारा मान्य अनेक राजा महाराजा जागीरदार और राज्य अधिकारी आदि भी समारोह में सम्मिलित हुये थे। अनेक दिगम्बर वीतराग मुनि, ऐलक क्षुल्लक, त्यागी तथा विद्वान् एवं भारी जन समूह के समक्ष तुमुल जय ध्वनिपूर्वक महावीरकीर्ति जी महाराज को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

आगम में आचार्य के ३६ मूल गुण बताये हैं। आचार्य श्री मुनि अवस्था में २८ मूलगुण धारी तो थे ही. अब ३६ मूलगुण धारी हो गये। संघ के नायक हुए। आत्म कल्याण के साथ-साथ संघ के साधुओं को शिक्षा, दीक्षा तथा प्रायश्चित देने का उत्तरदायित्व आपके ऊपर आया, और आपने इस उत्तरदायित्व को जीवन के अन्त तक किस तरह निभाया, इसे सारा समाज अच्छी तरह जानता है।

सङ्घ-नेतृत्व व संचालन के साथ-२ आत्मोन्नति के पथ पर आप बराबर बढ़ते चले जा रहे थे। ज्ञान, तप, साधना व्रतोपवास एवं मूलगुणों में भी दत्तचित्त रहकर मुक्ति मार्ग के पथ पर आगे बढ़ रहे थे।

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने आचार्य के लिये निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक बतलाया है।

आचाराङ्गधरोवा तात्कालिक स्वसमय परसमय पारगोवा मेरुरिवनिश्चलः क्षितिरिवसहिष्णुः सागरइव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभय विप्रमुक्तः आचार्यः।

जो आचाराङ्ग के धारक हों, तत्कालीन स्वसमय और परसमय के पारगामी शास्त्रों में पारङ्गत हों, सुमेरु के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान सहनशील हों, सागर के समान गम्भीर हों, सात प्रकार के भय से रहित हों ऐसे आचार्य होने चाहिए। भाव यह है कि आचार्य में उपर्युक्त गुणों का होना आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री महावीरकीर्ति जी महाराज में ऊपर लिखे सब गुण विद्यमान थे।

आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् आपका तप, तेज, ज्ञान और यश बढ़ने लगा। दक्षिण भारत की वसुन्धरा आपके चरण कमल से पावन होने लगी। करीब दस वर्षों तक आपका दक्षिण भारत में विहार होता रहा। आपकी विशिष्ट वक्तृत्व शैली, अगाधविद्वत्ता, विशुद्ध चारित्र का दक्षिण भारत की समाज एवं जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। आपके द्वारा सर्वत्र धर्म प्रभावना होती थी। दस वर्ष तक दक्षिण में सङ्घ सहित विहार करने के पश्चात् उत्तर भारत में आपका विहार प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में आपका विहार सङ्घ सहित जहाँ भी हुआ, वहाँ उपदेश रूपी गंगा की धारा सर्वत्र बही। धर्म की अपूर्व प्रभावना हुई। बड़वानी, इन्दौर, भोपाल, कटनी, ईसरी, मधुवन आदि स्थान आपके शुभागमन से पवित्र हुए और अनेक स्थानों पर आपके ससंघ चातुर्मास हुए। सर्वत्र आपका भारी स्वागत हुआ।

आचार्यावस्था में आपका सङ्घ मारवाड़ से विहार करते हुए ऋषभदेव (केशरिया जी) क्षेत्र पर गिरनार जी यात्रार्थ जाते हुए ठहरा। मैं उन दिनों ऋषभदेव में ही था, सङ्घ के ठहरने की

व्यवस्था तीर्थ की बड़ी धर्मशाला में थी। कुछ श्रावकों के चौके भी साथ थे। महाराज ऋषभदेव भगवान की मूल नायक प्रतिमा के सम्मुख प्रातःकाल और मध्याह्न काल दोनों समय प्रक्षाल के अवसर पर गर्भगृह मे जाते और कई संस्कृत स्तोत्रों का पाठ करते हुए जिनेन्द्र भक्ति में घण्टों लीन हो जाते थे। पण्डे व पुजारीगण भी आपसे बहुत प्रभावित थे। आपको दर्शन और भक्ति का पूरा अवसर देते थे। इधर मन्दिर की परिक्रमा में बहुत जगह थी। वहाँ आयोजित सभा में आपका उपदेश श्रवण करने हेतु जनता प्रतीक्षा करते-२ थक जाती थी। एक रकेबी में अर्घ लेकर कुछ भक्त गण निज मन्दिर में आचार्य श्री से उपदेश के लिए प्रार्थना करने आते थे। एक घण्टे तक वे प्रार्थना कर-कर के थक जाते किन्तु आचार्य श्री की अर्हद्भक्ति मग्नता में भक्तों के शब्द उनके कान तक पहुंचते ही नहीं थे।

सभा में उपदेश सुनने जैन अजैन सभी आते थे। केशरिया जी तीर्थ के उस समय के हाकिम साहब आचार्य श्री से बड़े प्रभावित थे। वे भी सभा में उपदेश सुनने आया करते थे। एक दिन प्रारम्भ मे पहली बार जब आये तब आचार्य श्री ने सभा में बैठने से पहले उनसे कहा, "हाकिमसाहब अपना कोट उतारिये!" सब आश्चर्य से देखने लगे। हाकिमसाहब भी अवाक् खड़े रह गये। बात क्या है? किसी की समझ में नहीं आया। तब फिर महाराज बोले, "हाकिमसाहब हमारी सभा मे उपदेश सुनने बैठना हो तो ऊनी कोट (शेरवानी) खोल कर अलग रखना पड़ेगा। गरम कपड़े पहनकर हमारी सभा में कोई बैठ नहीं सकता।" फलस्वरूप हाकिमसाहब ने तत्काल कोट उतारकर नौकर को दे दिया और पूरे समय सभा में बैठकर उपदेश सुना। फिर तो जब भी वे आते कोट को घर पर खोलकर सूती वस्त्र पहने ही आया करते थे।

आचार्य श्री के उपदेश में धर्म, सिद्धान्त, और कर्त्तव्य सब का समावेश होता था। किसी के नाराज होने की उन्हें चिन्ता नहीं थी। जो उन्होंने सत्य समझा उसका सभी से पालन कराते थे।

एक बार पूज्य आचार्य श्री सङ्घ सहित डेह (नागौर) राजस्थान में विराजमान थे। मैं महासभा की उपदेशकी पर भ्रमण करते हुए डेह पहुँचा। आचार्य श्री के दर्शन को गया। सहसा आचार्य श्री बोले "पण्डित जी, कपड़े खोलो"। समझ में नहीं आया कि क्या बात है? कहीं इस प्रकार बलात् मुनि तो नहीं बना रहे हैं मैंने कहा, "महाराज! क्यों क्या कारण है?" आचार्य श्री मन्द मुस्कान से बोले, पहले कुरता उतारो फिर कारण बतायेंगे। कुरता उतार दिया। अन्दर एक और कपड़ा पहने था, कहा उसको भी उतार दो। सर्दी के दिन थे, तीन या चार कपड़े पहने हुए था। महाराज बोले— आप भीतर की तरफ ऊनी बनियान पहने हुए हैं उसको खोलना होगा। आप पण्डित होकर गरम कपड़े क्यों पहनते हैं? बात यह थी कि दो कपड़े के नीचे गरम बनियान भीतर पहनने पर भी गले पर बनियान का छोटा-सा अंश बाहर दिखाई देता था। आचार्य श्री की सूक्ष्म दृष्टि उस बनियान पर पड़ गई और कई मनुष्यों के सामने उसे निकलवाया।

उसी दिन मध्याह्न के समय मन्दिर की छत पर धूप में सभा आयोजित थी। श्रोतागण सभा में उपस्थित हो गये थे। तख्त पर ऊँचे आसन पर आचार्य श्री एवं सङ्घ के साधु विराजमान थे। मैं भी उपदेश सुनने सभा में पहुँचा। नमोऽस्तु करके श्रोताओं में बैठ गया। सहसा आज्ञा हुई "आज

पं० 'महेश' जी का उपदेश होगा।" मैंने कहा, "महाराज! मैं इस समय उपदेश सुनने आया हूं सुनाने नहीं।" आचार्य श्री बोले "नहीं, थोड़े समय के लिये आपको बोलना है।" आज्ञा पालन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। मैं खड़ा हुआ, मंगलाचरण किया और कुछ बोल ही रहा था कि आचार्य श्री ने टोका, वे संस्कृत में बोले— "यज्ञोपवीतं विद्यते न वा?" मेरे मुँह से सहसा निकल पड़ा— "विद्यते।" मेरे इस उत्तर से आचार्य श्री तो शांत हो गये, किन्तु मेरी अन्तरात्मा में उथल-पुथल मच गई। भाषण करते-करते मैं सोचने लगा— मैं भरी सभा में गुरु के समक्ष झूठ बोल गया हूं, मुझे झूठ नहीं बोलना चाहिए। मुझे अपने असत्य वचन पर कुछ घृणा होने लगी। पर अब तो निकला हुआ शब्द वापस कैसे लिया जाय! वास्तविक सत्य बात तो यह थी कि मेरा यज्ञोपवीत सफर में टूट गया था। कहीं दूसरा जनेउ मिला नहीं था, अतः उस समय में यज्ञोपवीत रहित था। मैंने जल्दी-२ भाषण समाप्त किया, और नीचे गया। उस समय केह में श्री पण्डित फूलचन्द जी वयोवृद्ध विद्वान् अध्यापक थे। मैंने कहा— "पण्डित जी! एक जनेउ कहीं से भी शीघ्र ला दीजिये बड़ी कृपा होगी।" पण्डित जी सब समझ गये, क्योंकि महाराज ने मुझसे जनेउ के लिये जब पूछा था तब वे भी सभा में बैठे थे। वे शीघ्र ही जनेउ ले आये। मैंने जनेउ मन्त्र बोलकर शीघ्र पहनली। ऊपर जाकर शांति से सभा में बैठ गया। अब मुझे सन्तोष था कि महाराज कहीं पूछ बैठे तो मैं सच्चा प्रमाणित होऊँगा।

राजस्थान के मेवाड़ प्रान्त के अन्तर्गत उदयपुर के पास धरियावद में आ० महावीरकीर्ति महाराज सङ्घ सहित विराजमान थे। मैं महासभा की तरफ से जैन गजट के मुनि विशेषांक के लिये आचार्य महाराज एवं साधुओं का जीवन परिचय लेने धरियावद पहुँचा था। चातुर्मास का समय था। भोजनादि के पश्चात् मन्दिर में मध्याह्न के समय उपदेश में मैं पहुँचा कि आचार्य श्री ने मुझे टोका-पण्डित जी कुरता बदल कर आओ। मैं असमञ्जस में पड़ गया। "क्यों महाराज क्या बात हुई? ऊनी कपड़ा तो कोई पहने हुए नहीं।" महाराज बोले, "कुरते के बटन ठीक नहीं हैं, या तो बटन बदलो या कुरता बदलो।" मैंने निवेदन किया "महाराज! बटन सीप के नहीं है, नाइलोन के हैं।" "किसी के भी हों सब अशुद्ध है, बदलना ही पड़ेगा"—महाराज बोले।

कुरता उतारा। दूसरे पहनने का प्रयत्न किया किन्तु सिवाय नाइलोन की बटन लगे मेरे साथ उस समय कोई भी कुरता या कमीज नहीं थी। अब क्या करें, सभा में बैठना आवश्यक था। तत्काल बाजार गया, बड़ी खोज करने पर एक जगह कठिनाई से कपड़े के सूत की बटनें मिल गई। नाईलोन की बटनें तुड़वाई, कपड़े की लगवाई। तब सभा के बीच आकर बैठ पाया। "अब ठीक है"— आचार्य श्री ने कहा। पाठकों को इन घटनाओं से ज्ञात हो गया होगा कि आचार्य श्री अपनी धुन के कितने पक्के थे।

महान् साधना के धनी

दक्षिण भारत में विहार करते समय आपने दक्षिण भारत की कन्नड़, मराठी, तेलगू आदि भाषाओं का अभ्यास कर लिया था। आपकी तप व ध्यान की साधना उत्तरोत्तर कठिन और लम्बी होती गई। छह-छह, सात-सात घण्टा लगातार खड्गासन जिन प्रतिमा के सामने ध्यान लगाते थे। भोजन केवल

अल्प ही—घृत तेल, नमक, मीठा दही आदि रहित होता था। ख्याति, लाभ, प्रशंसा आदि से सदा दूर रहते थे। आपके इस तरह की योग साधना से आपको अनेक अतिशय प्राप्त हो गये थे जिनका कुछ वर्णन हम आगे चमत्कार एवं अतिशय के प्रसङ्ग में करेंगे। आप विशेषकर सिद्धक्षेत्रों एवं अतिशय क्षेत्रों पर चातुर्मास करते थे। आपकी ध्यानस्थ अवस्था ग्रीष्मऋतु शरदऋतु एवं वर्षाऋतु सब में अत्यन्त अलौकिक और स्थिर रहती थी। इसी अभ्यास के कारण आपके शरीर पर जो भी उपसर्ग आये, शांत भाव से सहन करने में आप सफल एवं विजयी रह सके।

धर्म प्रभावना एवं चातुर्मास

आचार्य श्री का जहाँ भी विहार होता था, वहाँ बहुत भारी धर्म प्रभावना होती थी। चातुर्मास में तो अनेक जीवों को संयम पर लगाते थे। कई अजैनों से मांस-मदिरा छुड़वाते और जैनों को प्रेरित कर प्रतिमाओं के व्रत दिलाते थे। आपके द्वारा अनेक भव्य जीव त्याग व संयम के पथ पर चले हैं। जहाँ भी आपका चातुर्मास हुआ वहाँ एक अपूर्व दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी का सङ्गम हुआ। हम आपके भिन्न-२ स्थानों के चातुर्मास के विशद वर्णन देने में असमर्थ हैं, फिलहाल उनके चातुर्मास का समय और स्थान का संकेत मात्र यहाँ पर कर रहे हैं—

आचार्य श्री के ३० वर्षा योग

सन्	स्थान	सन्	स्थान
१९४२	उद्गांव कुंजवनांत (दक्षिण)	१९५७	जयपुर
१९४३	उद्गांव ,, ,,	१९५८	नागौर
१९४४	बेडकीहाल जि० बेलगांव (दक्षिण)	१९५९	उदयपुर
१९४५	शेडवाल जि० बेलगांव (मैसूर)	१९६०	श्री गिरनार जी
१९४६	कोण्णूर ,, ,,	१९६१	श्री सिद्धक्षेत्र पावागढ़ जी
१९४७	ऐनापुर ,, ,,	१९६२	श्री पावागिरि (ऊन)
१९४८	शेडवाल ,, ,,	१९६३	धरियावद
१९४९	कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र	१९६४	श्री बड़वानीजी
१९५०	सिद्धक्षेत्र बड़वानी (बावनगजाजी)	१९६५	,, मांगीतुंगीजी
१९५१	सिद्धक्षेत्र पावागढ़ जी	१९६६	,, गजपन्थाजी
१९५२	इन्दौर	१९६७	,, हुम्मच पद्मावती
१९५३	भोपाल	१९६८	,, कुंथलगिरिजी
१९५४	कटनी	१९६९	,, गजपन्थाजी
१९५५	श्री सम्मेदशिखर जी	१९७०	,, मांगीतुंगीजी
१९५६	फिरोजाबाद	१९७१	,, गिरनारजी

उपसर्गजयी आचार्य

मुनि धर्म की चर्या लोहे के चने चबाने के समान है, मुनियों को भी पूर्वकृत अशुभ कर्म जो कि सत्ता में पड़े हैं समय आने पर फल देते हैं। शरीर में अनेक व्याधियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। दुष्ट पुरुषों द्वारा उपसर्ग भी आते हैं। परीक्षा का समय आता है। शांत परिणामों से उपसर्ग का सहन कर लिया और उपसर्ग करने वाले के प्रति रंच मात्र भी कषायभाव जागृत नहीं हुए, तो उस अशुभ कर्म की ही नहीं अपितु अनन्त कर्मों की इस समय मुनि निर्जरा कर डालते हैं और उत्तम संहनन वाले कोई-कोई मुनि शांत परिणामों से उपसर्गों को सहन करते हैं तो सम्पूर्ण कर्मों को नाश कर अन्तःकृत केवली होकर मोक्ष भी चले जाते हैं। पर यदि कोई मुनि उपसर्ग आने पर विचलित हो गये और क्षमा भाव से च्युत हो गये, कषाय जागृत हो गई तो वे मुनि समस्त मुनि जीवन की तपश्चर्या को नष्ट ही न.ीं करते किन्तु "द्वीपायन" मुनि की तरह दुर्गति में भी जाते हैं।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी पर भी अनेक बार उपसर्ग आये किन्तु सभी उपसर्गों में वे शान्त परिणामों से विजयी रहे। अतः वे उपसर्ग जयी आचार्य महाराज थे। उनके उपसर्ग सहन की घटनाएँ समय-समय पर समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रही हैं। उन्हीं में से कुछ घटनाएँ मैं यहाँ देकर उनकी कष्ट सहिष्णुता का परिचय देना उचित समझता हूँ। ये सभी घटनाएँ सच्ची हैं, आज भी इन घटनाओं के कई प्रत्यक्षदर्शी समाज में मौजूद हैं।

१-बावनगजाजी का उपसर्ग :

बड़वानी (इन्दौर) में जब आचार्य श्री सङ्घ सहित पधारे थे और उनका वर्षा योग वहाँ हुआ था, तब एक दिन आचार्य श्री बावनगजाजी की विशाल प्रतिमा के मन्दिर में ध्यानस्थ थे कि किसी दुष्ट ने मधु मक्खियों के एक बड़े छत्ते पर कंकड पत्थर मारे। फिर क्या था; मक्खियों का झुण्ड उड़ा और उड़ कर आचार्य श्री के ध्यानस्थ शरीर पर आक्रमण करने लगा। समस्त शरीर में अपने विषैले डङ्क प्रवेश कराकर चोट पर चोट करने लगा। हजारों मधु मक्खियों का एक शरीर पर आक्रमण— स्वयं विचार करें तो ज्ञात होगा कि उस समय कैसी विकट परिस्थिति होगी; मक्खियों के भारी प्रहारों से आचार्य श्री के शरीर में कैसी वेदना हुई होगी? उसका वर्णन लौह लेखनी द्वारा भी लिख सकना असम्भव है।

यह स्थिति २४ घण्टों तक रही। किन्तु धन्य है इस महान् आत्मा को कि वे न तो ध्यान से विचलित हुए, न मक्खियों को अपने हाथों से भगाने का प्रयत्न किया। कोई श्रावक भी इस बीच उपसर्ग दूर करने वाला नहीं आया। कहते हैं कि तीन दिन तक महाराज के शरीर का मक्खियाँ रक्तपान करती रहीं। चौथे दिन श्रावकों को ज्ञात हुआ, तब मक्खियों का उपसर्ग दूर हुआ। ऐसे विकट समय में भी आचार्य श्री ध्यान मग्न रहे और खेद व विषाद की रेखाएँ तक भी आपके मस्तक पर नहीं उभरीं। कलिकाल में ऐसे उपसर्गजयी साधु विरले ही मिलेंगे।

२-बाँकानेर का उपसर्ग

गुजरात प्रांत के बाँकानेर में जब आचार्य श्री का शुभागमन हुआ, तब किसी दुष्ट व्यक्ति ने

गमन करते हुए आपकी पीठ पर तीव्र वेग से एक लाठी मारी। पीठ पर बड़ी भारी सूजन और घाव हो गया। आपने उस लाठी के प्रहार को बड़ी शांति से सहन किया। राज्याधिकारियों ने अपराधी को पकड़ कर आपके सामने पेश किया। आचार्य श्री से पूछा— इसे क्या दण्ड दिया जाय? इसने बिना कारण आप पर लाठी प्रहार किया है। आचार्य श्री ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया— इसको क्षमा कर दिया जाय, इसका कोई अपराध नहीं है। यह तो हमारे कर्मों का दोष था जिससे इसके ऐसे भाव हुए। अन्त में उस व्यक्ति को छोड़ दिया। ये हैं भाव शत्रु और मित्र को समान समझने के। वह अपराधी आचार्य श्री की उत्तम क्षमा के सम्मुख नत-मस्तक हो गया और उनके चरणों में गिर कर अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। धन्य है ऐसी उत्तम क्षमामयी आत्मा को!

३—पुरलिया काण्ड

बिहार और बङ्गाल की सीमा में पुरलिया एक कस्बा है। यहाँ जैन समाज के करीब ४० घर हैं। एक जिन मन्दिर है। आचार्य श्री सङ्घ सहित श्री खण्डगिरि उदयगिरि के लिये उस पथ से विहार कर रहे थे। उस समय मान भूमि जिला जो कि बिहार में था, उसे बङ्गाल में विलीन किया जा रहा था। उसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन चल रहा था। उसके लिये सरकार ने एक आयोग बिठाया था। उस दिन आयोग के सदस्य जाँच के लिए वहाँ आने वाले थे। उनके सामने विरोध प्रदर्शन हेतु हजारों मनुष्य सड़क के दोनों तरफ एकत्रित थे। ऐसे समय में आचार्य श्री उस पथ से विहार कर रहे थे। दोनों तरफ हजारों मनुष्य पंक्तिबद्ध खड़े थे। वे महाराज को नमस्कार करते जा रहे थे। आचार्य महाराज उन्हें चलते-चलते धर्मोपदेश देते जाते थे। लोगों को मद्य व मांस का त्याग कराते जाते थे। लोग भी नमस्कार कर महाराज के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते थे और जय जयकार करते थे। बड़ा सुन्दर दृश्य था। किन्तु ऐसे समय एक भयङ्कर दुर्घटना घटी जिससे समस्त जैन समाज में शोक व्याप्त हो गया।

पुरलिया से करीब दस ग्यारह मील दूर आचार्य श्री रहे होंगे कि सहसा कुछ शराबी गुण्डे लोग चिल्लाने लगे— इस नंगे फकीर को पकड़ लो, मारो। एकदम नङ्गा साधु हमारे बीच कैसे आ गया? दैवयोग से सङ्घ के सब श्रावक एवं त्यागीगण आगे पुरलिया पहुँच गये थे। केवल आचार्य श्री एवं गुरु भक्त श्री सेठ चाँदमल जी बड़जात्या नागौर निवासी साथ थे।

उपद्रवी लोग नशे में चूर थे। वे केवल अपशब्दों के साथ चिल्लाने ही नहीं लगे किन्तु महाराज पर कङ्कड़ पत्थर भी बरसाने लगे। लाठियों से युक्त होकर महाराज को चारों तरफ से घेर लिया। श्री चाँदमलजी ने बड़ी नम्रता से लोगों को समझाया किन्तु वे नहीं माने और सब मिलकर महाराज के ऊपर लाठियों से प्रहार करने लगे। आचार्य श्री ने जाना, उपसर्ग आ गया है। तत्काल अपना कर्तव्य स्थिर किया और खड़े रह कर ध्यानस्थ हो गये। श्री चाँदमल जी बड़जात्या ने देखा— आचार्य श्री पर उपसर्ग आ गया है। हो सकता है कुछ ही क्षण में आचार्य श्री के प्राण भी निकल जाएँ। लोगों का सामूहिक जोश, शराब का नशा, महाराज श्री का ध्यान, ये सब महाराज के प्राण-हरण की स्थिति उत्पन्न कर रहे थे। धर्मनिष्ठ सेठसाहब की गुरु भक्ति जागी। कर्तव्य स्थिर किया, और अपने प्राणों की बाजी

उन्होंने जता दी। आचार्य श्री के ऊपर पड़ने वाली लाठियां अपने हाथों पर झेल लीं। अन्तरात्मा की प्रेरणा से सेठसाहब ने निश्चय किया कि जीते जी मैं आचार्य श्री को नहीं मरने दूंगा, और ऐसा दृढ़ निश्चय करके महाराज के ऊपर छा गये। हाथों से लाठियां रुकी नहीं, हाथों को लगकर भी आचार्य श्री को लग रही थीं। तब सेठसाहब ने अपने शरीर को झुकाकर लाठियां पीठ पर झेलनी आरम्भ करदीं। धन्य है ऐसे साहसी व कर्तव्य परायण गुरुभक्त सेठसाहब को!

महाराज को भारी चोट आई और सेठसाहब चांदमल जी के हाथों और पीठ पर भी काफी चोटें आईं। अगर कुछ देर और ऐसी परिस्थिति रहती तो आचार्य श्री एवं उनसे भी पहले सेठसाहब दोनों का प्राणान्त हो जाता, इसमें कोई संदेह नहीं था। उक्त सेठसाहब का आचार्य श्री पर पड़ने वाली लाठियों को अपने ऊपर साहस के साथ झेलना, और अपने प्राणों की रक्षा मात्र भी चिन्ता नहीं करना आजके युग में बड़ा आश्चर्यकारी कदम था। समस्त समाज एवं समाज की भावी पीढ़ी के लिये यह एक ज्वलंत उदाहरण है।

आचार्य श्री का ऐसे भयङ्कर, मृत्यु को उपस्थित करने वाले उपसर्ग के होने पर अचल स्थिर रहना, ध्यान में लीन हो जाना, उनकी उत्तम क्षमा और उत्कृष्ट कष्ट सहिष्णुता का प्रत्यक्ष परिचय था। चतुर्थ काल के उपसर्गजयी मुनियों का दृश्य इस कलिकाल में आचार्य श्री ने दिखा दिया था। धन्य है आचार्य श्री की शांति और क्षमा! उस समय आ० महावीरकीर्ति धर्म प्रचारिणी संस्था के जन्मदाता पूज्य क्षु० १०५ श्री शीतलसागर जी महाराज भी सङ्घ में साथ थे!

अचानक भाग्य ने करवट ली। पुलिस सुपरिण्टेंडेन्ट साहब की कार वहीं घटना स्थल पर आ गई। सुपरिण्टेंडेन्ट साहब कार से निकले, महाराज और सेठ चांदमल जी पर गुण्डों द्वारा बरसती लाठियों को देखा और गर्जनाकर गुण्डों को फटकार लगाई। उपद्रवी लोग तत्काल उपद्रव छोड़कर भाग गये। उपसर्ग टल गया। पुलिस सुपरिण्टेंडेण्ट इस उपसर्ग को अपनी आँखों से देख, दयार्द्र चित्त होकर आचार्य श्री से बहुत प्रभावित हुए। आचार्य श्री के चरणों में गिर पड़े, क्षमा मांगी और पुलिस के संरक्षण में पुरलिया जाने के लिये आचार्य से प्रार्थना करने लगे। पर आचार्य श्री ने पुलिस का संरक्षण लेना स्वीकार नहीं किया, और जैसे चल रहे थे वैसे ही चलकर पुरलिया पहुँच गये। आचार्य श्री एवं श्री चाँदमल जी को उपसर्ग से भारी चोटें आई थीं, पुरलिया में उनका उपचार हुआ।

समस्त समाज में इस उपसर्ग के समाचार से भारी शोक छा गया। जगह-जगह से इसके विरोध में तार और प्रस्ताव आने लगे। काश! थोड़ी देर के लिये भी पुलिस सुपरिण्टेंडेण्ट नहीं आते तो आचार्य श्री एवं श्री चांदमल जी के साथ-२ सङ्घ के अन्य साधुओं के भी प्राणोत्सर्ग का सङ्कट उपस्थित होने वाला था। किन्तु समाज का भाग्य अच्छा था जो उपसर्ग दूर हो गया और सर्वत्र समाज में शांति स्थापित हुई। श्री सेठ चांदमल जी की पीठ पर आज भी घाव के निशान विद्यमान हैं, और कभी-२ उनको यह चोटें दर्द उत्पन्न कर देती हैं।

४-तीर्थराज सम्मेदशिखर पर उपसर्ग :

आचार्य श्री का जब ईसरी में चातुर्मास हुआ था, तब आप कार्तिक शुक्ला सप्तमी को श्री सम्मेद-

शिखर जी की वंदना को गये । रात्रि में जलमंदिर में ठहरने का निश्चय था किन्तु जलमंदिर के व्यवस्थापकों ने आचार्य श्री को ठहराने से मना कर दिया । यहाँ इतना लिखना आवश्यक है कि जल मंदिर में श्वेताम्बर यात्रियों को ठहरने की पूर्ण व्यवस्था है । श्वेताम्बर जैनों के सिवाय कभी-२ अजैन भी ठहर सकते हैं किन्तु आचार्य महावीर कीर्ति महाराज को इसलिये ठहरने की स्वीकृति नहीं मिली, कारण वे दिगम्बर जैन समाज के गुरु एवं आचार्य थे। जैन समाज और भगवान महावीर स्वामी के अनुयायी होने का दावा करने वालों की साम्प्रदायिकता और पक्षपात का यह ज्वलंत उदाहरण है ।

रात्रि हो गई थी । दिगम्बर साधु कहाँ जायें ? उस समय आचार्य श्री के साथ मुनिराज श्री १०८ मल्लिसागर जी महाराज एवं क्षुल्लक श्री १०५ शीतल सागर जी महाराज तथा श्री बजरङ्ग लाल जी श्रावक थे । जलमंदिर के व्यवस्थापकों से बड़ी नम्रता के साथ रात्रि को जलमंदिर में साधुओं को ठहराने के लिए बहुत कहा किन्तु निष्ठुर व्यवस्थापकों ने कहा कि अगर महाराज को हम ठहरने देंगे तो हमारी नौकरी चली जाएगी। अन्त में बाध्य होकर आचार्य श्री एवं अन्य महाराज व बजरङ्गलाल जी सबको गौतम स्वामी के टूंक पर आना पड़ा । वहाँ पर भी एक हॉल है, जिसे धर्मशाला ही कहते है । उसमें भी आचार्य श्री को ठहरने नहीं दिया गया । रात्रि का समय था, शीत का भयङ्कर प्रकोप था । दिगम्बर साधु ऐसी विकट परिस्थिति में कहाँ जाएं । गौतम स्वामी के टूंक के भीतर आचार्य श्री और सब साधु रहे किन्तु यहाँ पर भी टूंक पर ठहरने की रोक करने श्वेताम्बरों का नौकर एक नैपाली सिपाही भाला लेकर आया और आचार्य श्री एवं साधुओं को बाहर निकालने का प्रयत्न करता रहा । उस नैपाली ने भाला दिखाकर कहा— सब यहाँ से चले आओ, नहीं तो भाला मारकर सबको यहाँ से भगा दूंगा । वह भाला तानकर आचार्य श्री की तरफ मारने का प्रयास भी करता था । श्री क्षुल्लक जी महाराज एवं बजरङ्गलाल जी ने उससे कहा कि देख ! ये आचार्य महान् तपस्वी हैं, तूने भाले को जरा भी इनको स्पर्श कराया तो तू तत्काल भस्म हो जाएगा किन्तु नैपाली इस पर भी नहीं डरा, और बराबर भाला आगे पीछे करता रहा । उसका भाला महाराज के शरीर से थोड़ा सा दूर रह जाता था, और वापस हो जाता था । इस प्रकार चार घन्टों तक नेपाली द्वारा आचार्य श्री के ऊपर भाले का उपसर्ग चलता रहा, किन्तु आचार्य श्री तो ध्यान में ऐसे लीन हो गये कि तीन-तीन चार-चार व्यक्तियों के उठाने का प्रयत्न करने पर भी बिल्कुल नहीं डिगे । अचल बने रहे । भयङ्कर शीत के प्रकोप से आचार्य श्री का शरीर बहुत कड़ा हो गया था । पुनरपि आचार्य श्री ध्यान में स्थिर रहे । नैपाली की चार घन्टे की उछल कूद व्यर्थ गई । अन्त में वह पराजित हुआ । जब नीचे से बंदना के लिए आने वाले लोगों की आवाज आने लगी तब आचार्य श्री के चरणों में नमस्कार कर चला गया ।

उपसर्ग आने पर आचार्य श्री "पयोधिरिवगंभीरः हिमाद्रिरिवाचलः" अर्थात् समुद्र के समान गंभीर और हिमालय के समान अचल हो जाते थे । जितने भी उपसर्ग हुये आचार्य श्री अडिग और अचल ध्यानस्थ रहे । कर्मों ने भी आपके आगे हार मानी । आप कभी कर्मों के आगे झुके नहीं— कर्मों को ही अन्त में झुकना पड़ा । उपसर्ग तो आये और चले गये पर आप मेरु के समान अचल और वज्र की मूर्ति की तरह स्थिर रहे ।

६—गिरनार पर्वत पर उपसर्ग :

सन् १९७१ की बात है। आचार्य श्री का अन्तिम चातुर्मास सङ्घ सहित गिरनार जी क्षेत्र पर हुआ। चातुर्मास स्थापन के दो दिन पूर्व आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उपवास के दिन आचार्य श्री गिरनार के पर्वतों की वन्दनार्थ पहाड़ पर गये। प्रथम टूंक की धर्मशाला में रात्रि को ठहरे। पहले टूक से आगे के पर्वतों की वन्दना के लिये प्रस्थान किया। उस समय आचार्य श्री के साथ मुनिराज श्री १०८ सन्मतिसागर जी महाराज जो कि वर्तमान में आचार्य पद पर विराजमान हैं, मुनिराज श्री १०८ नेमिसागर जी महाराज, मुनिराज श्री १०८ संभवसागर जी महाराज, मुनि श्री १०८ आदिसागर जी महाराज, आर्यिका श्री विजयमती, आर्यिका श्री मुनिसुव्रता तथा सङ्घ की सेवा करने वाले चिरंजीलाल और पन्नालाल नाम के दो श्रावक व साधु थे।

गिरनार जी के पाँचवें टूंक पर जहाँ भगवान नेमिनाथ के चरण हैं, उन्हीं चरणों को वैष्णव लोग दत्तात्रय के चरण मानकर पूजते हैं। बाबा लोग वहां पर समय-समय पर उपद्रव करते ही रहते हैं। कई बार जैन यात्रियों को पीटा भी है। बहुत बार राज्य में शिकायतें होने पर भी बाबा लोग उपद्रव करते ही रहते हैं। कई स्थानों पर इन लोगों ने पर्वत पर अपना जन्म सिद्ध अधिकार जमा रक्खा है। जैन यात्रियों को न तो चरण छूने देते हैं न वन्दना ही करने देते हैं।

आचार्य श्री उस दिन क्रमशः पहाड़ों की सङ्घ सहित वन्दना करते-करते पांचवीं टूक पर भगवान नेमिनाथ के निर्वाण स्थल पहुँचे। बड़ी भक्ति से वन्दना स्तुति की और जहाँ भगवान के चरणों के आगे नमस्कार कर चरण स्पर्श किया कि एक गेरुआ वस्त्रधारी शंडमुसन्ड बाबा आया और आते ही आचार्य श्री के मुह पर जोर से चाँटा मारा। वह क्रोध में बोला— 'तुमने क्यों हमारे भगवान को हाथ लगाया ? क्यों चरणों से चन्दन हटाया ? हट.जाओ यहाँ से, हम किसी को भी चरणों को छूने नहीं देंगे।" आदि। चाँटा मारने पर भी जब आचार्य श्री शांत रहे और वन्दना में लीन रहे तो बाबा और क्रोधित हुआ और नारियल फोड़ने के लोहे के हथोड़े से आचार्य श्री को मारने का प्रयत्न करने लगा। सङ्घ के दूसरे व्यक्तियों ने उसी समय उसका हाथ और हथोड़ा पकड़ लिया अन्यथा वह हथोड़े से आचार्य श्री का मस्तक ही फोड़ डालता। जब उसका हाथ पकड़ कर बेवश कर दिया गया तो उसने घण्टा बजाया। सम्भवतः किसी प्रकार का खतरा होने पर सब बाबाओं को बुलाने का यह संकेत था। घण्टा बजते ही इधर-उधर से दौड़ कर बाबा लोग आने लगे। सङ्घ के साधु एवं श्रावक सब वहाँ से शीघ्र प्रस्थान कर गये। जब तक बाबा लोग आये पीछे अकेला पन्नालाल रह गया। वह बाबाओं के हाथ आगया। बाबाओं ने उसे दो तीन चाँटे मारे। यदि बाबाओं के आ जाने पर सङ्घ के साधु वहाँ मिल जाते तो निर्दयी हिंसक बाबा आचार्य श्री एवं सङ्घ के साधुओं को बहुत बुरी तरह से मारते पीटते।

अन्त में आचार्य श्री पहाड़ के नीचे आये। सब को यह हाल मालूम हुआ तो भारी दुःख हुआ। समस्त समाज में बड़ी क्षोभ की लहर फैल गई। समाज के प्रमुख व्यक्तियों एवं तीर्थक्षेत्र कमेटी ने राज्य से भारी विरोध प्रकट किया। भविष्य में ऐसा उपद्रव बाबा लोग न कर सकें, इसके लिये प्रयत्न किया गया।

स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ १४१

राज्याधिकारी आये, बाबाओं को तलब किया । जिसने आचार्य श्री को चाँटा मारा, उसको तो बाबाओं ने छिपा दिया और दूसरे बाबा को लाकर खड़ा कर दिया । बाबाओं का मुखिया आया। आचार्य श्री के चरणों में नमस्कार कर उसने इस कार्य की क्षमा माँगी । भविष्य में किसी भी बाबा द्वारा इस प्रकार का अपराध नहीं होगा, यह वचन दिया । इस प्रकार के और भी अनेक उपसर्गों के आने पर आचार्य श्री न तो विचलित हुए, न भयभीत हुए वरन् शांत भाव से उपसर्गों को सहन कर उपसर्ग-विजयी कहलाये ।

६-सर्प द्वारा उपसर्ग .

गजापन्था तीर्थ मे आचार्य सङ्घ के चातुर्मास के अन्तिम दिनों की घटना है । आचार्य श्री पहाड़ पर वन्दना के लिये गये । भगवान पार्श्वनाथ की वन्दना स्तुति करते हुए भक्ति में लीन होकर भगवान के बार-बार चरण स्पर्श कर रहे थे । तभी अकस्मात् आचार्य श्री को सीधे हाथ की अंगुली पर सर्प ने काट लिया । सर्प उँगली से लटक गया । आचार्य श्री रञ्च मात्र भी भयभीत नहीं हुए । हाथ को ऊँचाकर सर्प से कहा, "अरे भाई छोड़, अब तो छोड़ ।" इस प्रकार तीन बार कहा, तब सर्प उँगली पर काट कर चला गया ।

आचार्य श्री तत्काल पर्वत से नीचे आये । आहार में केवल फलों का रसलिया पश्चात् सामायिक करने बैठ गये । सामायिक प्रारम्भ करने से पूर्व श्रावकों से कहा, "कहीं विष की गरमी हमारे ध्यान में विघ्न नहीं डाले, यह विचार कर फलों का रस आहार में लिया है । आप सब चिन्ता न करें, भोजन कर के मन्दिर में आ जाएँ । हम ध्यान मे स्थिर हो रहे हैं । आप सब णमोकार मन्त्र का जाप करे । यदि हमारी मुद्रा बिगड़ने लगे तो हमें सावधान करते रहना । कोई रोना धोना नही ।"

इतना कहकर आचार्य श्री ध्यान मग्न हो गये और सब श्रावक बिना भोजन किये ही वहीं बैठकर णमोकार मन्त्र का जाप करने लगे । चारों तरफ णमोकार मन्त्र की ध्वनि ही सुनाई देती थी । करीब तीन घण्टे बाद आचार्य श्री के शरीर से काला पसीना निकला । उस पसीने के साथ शरीर से विष बाहर निकल गया । आचार्य श्री का शरीर निर्विष हो गया । सब ने जय-जयकार किया । उपसर्ग टल गया । यह एक भारी चमत्कार था कि बिना कोई उपचार किये आचार्य श्री के ध्यान, तप एवं मन्त्र के प्रभाव से शरीर मे फैला हुआ विष निकल गया, अन्यथा महाराज के प्राण निकलने में कोई संदेह नहीं था । सब को महान् आश्चर्य हुआ । उस समय धर्म की बड़ी प्रभावना हुई ।

अतिशय चमत्कार

प्राचीनकाल में मुनिराजों को तप व ध्यान के बल से अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त होती थीं । वर्तमान मे हीन संहनन होने से ऋद्धियाँ तो प्राप्त नहीं होतीं किन्तु ऐसा अवश्य देखा गया है कि किन्हीं-किन्हीं मुनिराजों को विशुद्ध ध्यान व तप के प्रभाव से कई अतिशय व चमत्कार प्रकट हुए हैं जो कि साधारण मनुष्य में नहीं होते । वैसे देश मे बनावटी चमत्कार दिखाकर पुजे जाने वाले व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं होगी ।

हमारे चारित्र नायक श्री आ० महावीरकीर्ति जी महाराज ज्योतिष व मन्त्र-तन्त्र के तो ज्ञाता थे ही, आपमें सत्य भविष्यवाणी करने की, विष दूर करने की एवं असाध्य रोगों को दूर करने की क्षमता उत्पन्न हो गई थी। आप के अतिशय एवं चमत्कार की कई घटनाएँ भक्तों के द्वारा सुनने में आती हैं। उन्हीं में से कुछ का हम पाठकों को यहा दिग्दर्शन कराते हैं।

१–एक रानी जैन बनी :

नैपाल राणाओं की एक राजकुमारी, जिनका विवाह महाराष्ट्र के उच्च जागीरदारों में हुआ था, जिनका नाम श्री लक्ष्मीदेवी है और जो बाद में नैपाली राणी के नाम से समाज में प्रसिद्ध हुई, पर एक बार बड़ी आर्थिक आपत्ति आई। श्री धनेन्द्रप्रसाद जी जैन वाराणसी, उनके सेक्रेट्री थे। उनके प्रयत्न से राणीजी आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी के सम्पर्क में आई। अपनी विपत्ति श्री धनेन्द्र जी के द्वारा आचार्य श्री के समक्ष प्रगट की और उसके टालने का उपाय पूछा। आचार्य श्री ने शुद्ध भाव से णमोकार मन्त्र के सवा लाख जाप करने को कहा। राणी जी के हृदय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई। भेलुपुर वाराणसी के पार्श्वनाथ भगवान के मन्दिर में जाप्य किये, हवन हुआ। महाराज ने कहा था यह कार्य करने पर घर बैठे ही तुम्हारा सङ्कट टल जाएगा और वास्तव में हुआ भी वैसा ही। उनका सङ्कट घर बैठे ही गया। इस पर राणी लक्ष्मीदेवी की आचार्य श्री पर भारी श्रद्धा हो गई। वे उन्हें चमत्कारिक महान् योगी मानने लगीं। उन्होने गिरनार जी का आचार्य श्री का सङ्घ निकाला। अपनी ओर से स्वय स्वेच्छा से भारी खर्च किया। मांसाधिक का तो उन्होंने पहले से अपने पूरे घर से त्याग करा दिया था, और अब वह जैन धर्मावलम्बी बनकर अन्त तक समय-समय आचार्य श्री के दर्शन को आती रहती थीं। श्री धनेन्द्रप्रसाद जी का इस कार्य में भारी सहयोग मिला था।

२–सङ्कट का पूर्वाभास :

१६७० में जब सङ्घ माङ्गीतुङ्गी था यहां चातुर्मास करने का निश्चय नहीं था। एक दिन सङ्घ सहित आचार्य श्री पर्वत की बन्दना को गये। समस्त साधु माङ्गी पर्वत से तुङ्गी जाते हुए बीच में सामायिक मे विराजे। इस बीच बन्दरों ने सब साधुओं के कमण्डलु उलट कर खाली कर दिये। इस पर आचार्य श्री ने सकेत दिया कि कोई सङ्कट आने वाला है। उसी दिन संध्या को चातुर्मास के लिए सङ्घ विहार कर गया। विहार करते ही भारी बरसात हुई, तूफान और आंधी से मार्ग अवरुद्ध हो गया। आकाश से अदृश्य आवाज आई– ठहरो! वापस आओ! इस पर अनेक भक्तों ने आचार्य श्री से वापस माङ्गीतुङ्गी लौटने और चातुर्मास वहीं करने की प्रार्थना की। आचार्य श्री ने आज्ञा दी। सङ्घ लौट गया और धर्मशाला मे आचार्य श्री और साधुओं के कदम रखते ही सब तूफान समाप्त था और बरसात भी सर्वथा बन्द थी। सङ्घ का चातुर्मास उस समय माङ्गीतुङ्गी ही हुआ।

३–कुओं का पानी शुद्ध होना :

श्री सम्मेदशिखर जी आचार्य सङ्घ के चातुर्मास के समय की घटना है। कुओं में पानी बहुत कम हो गया था और पानी दूषित भी था। यात्रियों को बीमारियां भी हो जाती थीं। लोगों द्वारा पानी

की शिकायत करने पर आचार्य श्री ने कमण्डलु का पानी मन्त्रित कर कुओं में डलवाया, और गन्धोदक डलवाया। फलतः कुओं का पानी शुद्ध हो गया और कुओं में पर्याप्त भर गया। यात्रियों को पानी की कोई कमी नहीं रही। इस के बाद तो कई मुनि सङ्घों के चातुर्मास शिखर जी पर हुए। वहाँ अब तक न तो पानी कम हुआ और न दूषित ही हुआ।

४-दुःखी के दुःख की हर्ति भी :

एक बार ईसरी में एक वृद्ध श्रावक अपने पुत्र सहित बड़ी दुःखी अवस्था में आचार्य श्री के समीप आकर अपने दुःख की गाथा कहने लगा। आचार्य श्री ने कहा "जब तक हम न आएँ यहीं बैठो। जिनेन्द्र का स्मरण कर णमोकार मन्त्र का जाप्य करो।" वह श्रावक वहीं बैठकर जाप्य करता रहा। वह दुःख से रो भी रहा था। थोड़ी देर बाद जब आचार्य श्री आहार से आये और पूछा तो उसने कहा— सङ्कट दूर हो गया। हर्षित होता हुआ वह अपने घर गया।

५-लड़की रोग से मुक्त हुई :

आगरा में एक पञ्जाबी की लड़की की दाढ़ी में बाल आते थे। हजामत करवा कर बाल काटे जाते थे। उससे उसकी सुन्दरता कम हो गई थी। फलस्वरूप २४ वर्ष की उम्र होने पर भी कोई उससे विवाह करने को तैयार नहीं होता था। अनेक उपचार करने पर भी लाभ नहीं हुआ। इन पञ्जाबी दम्पति ने सुना था कि महावीर जी में कोई जैन चमत्कारी साधु बाबा आये हैं। यही सुनकर वे महावीर जी आये तो अपनी धर्म पत्नी के साथ आचार्य श्री से अपनी समस्त दुःखमयी कहानी कही और बहुत चिन्तातुर हो कर उस दुःख से छुटकारा होने का उपाय पूछा। आचार्य श्री ने सर्व प्रथम अभक्ष्य वस्तु एवं रात्रि भोजन का उनसे त्याग कराया और महावीर भगवान की भक्ति के साथ परिक्रमा लगवाई तथा णमोकार मन्त्र का उस लड़की से निरन्तर जाप्य करवाया। फलतः लड़की के दाढ़ी के बाल बढ़ने बन्द हो गये।

६-पक्षी की बोली से बरसात की भविष्यवाणी :

सहगाँव के जिन मन्दिर में मध्याह्न में आचार्य श्री का मार्मिक प्रवचन हो रहा था। इस बीच एक चिड़िया आकर अपनी भाषा में कुछ बोल कर उड़ गई। आचार्य श्री ने उपस्थित श्रोतागणों से कहा— "चिड़िया क्या बोली थी? आप लोग कुछ समझे? चिड़िया यह कह कर गई कि कल ६॥ बजे भारी वर्षा होगी।" लोगों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था। दूसरे दिन ६ बजे तक आकाश में बादलों का नाम निशान भी नहीं था। सब ६॥ बजने की प्रतीक्षा करने लगे। सवा छै बजते ही ना मालूम कहाँ से आकाश में बादल मँडरा गये, और १५ मिनट में सारे गगन पर छा गये। मेघों की गर्जना हुई। बिजली चमकी और ठीक ६॥ बजे से लगातार ४० मिनट तक बरसात हुई। तब आश्चर्य के साथ आचार्य श्री के गुणगान करते हुए सब लोग कहने लगे कि आचार्य श्री पक्षियों की भाषा भी समझते हैं।

७-कुए में पानी भर गया :

बुन्देलखण्ड में विहार करते हुए आचार्य सङ्घ बम्बा जी तीर्थक्षेत्र पर पहुँचा। वहाँ पर पानी का

बड़ा सङ्कट था। एक मील दूर से पानी लाना पड़ता था। पास के कुएं में पानी का अभाव था। एक दिन ब्र० भंवरीबाई जो वर्तमान में आर्यिका सुपार्श्वमती जी हैं, ने आचार्य श्री से सङ्घ के क्षेत्र से अन्यत्र शीघ्र विहार करने की प्रार्थना की। कारण पूछने पर जल का सङ्कट बताया। इस पर आचार्य श्री ने णमोकार मन्त्र के जाप्यपूर्वक जिन गन्धोदक मन्त्रित कर कुएं में डलवाया। फलस्वरूप कुआ पानी से भर गया। धर्म की बड़ी प्रभावना हुई।

८—दुर्घटना की जानकारी :

सन् १९५९ दि० २७ फरवरी को सङ्घ मारवाड़ के मेड़ता की तरफ आ रहा था। कुछ यात्री बस में बैठकर आ रहे थे, कुछ पैदल। आचार्य श्री अन्य साधुओं के साथ चल रहे थे। चलते-२ अकस्मात आचार्य श्री रुक गये और कहा कि "दुर्घटना"! कुछ समय के पश्चात् उन्होंने फिर कहा "दुर्घटना टल गई"। लोग बड़े आश्चर्य से पूछने लगे। आचार्य श्री ने कहा "दुर्घटना होते-होते बच गई"। इतने में ही थोड़ी देर के पश्चात् बस आ गई। यात्रियों ने बस से उतर कर कहा— आज का दिन बड़े सौभाग्य का है। बस का एक चक्का निकल गया था। बस उलटते-उलटते किसी तरह भाग्य से बच गई और किसी यात्री को कोई चोट नहीं पहुँची।

९—मार्ग में देवी का आना :

उपर्युक्त घटना के दिन ही सङ्घ का आगे जङ्गल में विहार हो रहा था कि रात्रि का समय आ गया। मार्ग भी पहाड़ी था; कुछ भय-सा प्रतीत होने लगा, कि सब देखते हैं कि आगे-२ कोई देवी चल रही है। किसी ने आचार्य श्री से पूछा—यह आगे कौन आ रही है? आचार्य श्री ने कहा— "डरो मत, रास्ता बताने आई है।" थोड़ी दूर तक चलने के पश्चात् देवी अदृश्य हो गई और सब छोटे रास्ते से रात्रि होने के पूर्व ही सकुशल मेड़ता पहुँच गये।

१०—प्लेग की शांति :

कर्णाटक में बेलगाँव जिले में प्लेग का उपद्रव हुआ। उस समय आचार्य श्री ने पञ्चामृत् अभिषेक और बड़ी शांतिधारा कराई। भयङ्कर प्लेग शांत हो गया। उस समय प्लेग के कारण लोग गाँव छोड़ कर बाहर झोपड़ियों में रहने लगे थे।

११-सर्प विष से मुक्ति :

शेडवाल में ही एक अजैन मारुति शिवप्पा व्याकुडे नाम के एक व्यक्ति को एक बार सांप ने काटा। लोग उस व्यक्ति को आचार्य श्री के पास लाये। आचार्य श्री ने उस व्यक्ति पर मन्त्र बोलते हुए तीन बार पीछी सिर से पांव तक फेरी। सर्प का जहर उतर गया। तत्काल घृत काली मिर्चों देने को कहा। उसे दिया गया और मारुति ठीक हो गया। वह महाराज का भक्त बन गया तथा प्रति दिन जिन मन्दिर दर्शन करने आने लगा।

१२—ऐनापुर में तीन व्यक्तियों की सर्प दंश से रक्षा :

सन् १९४७ में आचार्य श्री का ऐनापुर में चातुर्मास हुआ था। उन दिनों सिदुवांपा नामके

एक लिङ्गायत पुरुष को खेत में काम करते-२ सर्प ने डस लिया । विष से शरीर हरा हो गया और वह मनुष्य मूर्च्छित हो गया । इलाज करने पर भी लाभ नहीं हुआ । अन्त में महाराज के संकेत से बेसुध अवस्था में आचार्य श्री के पास लाया गया । आचार्य श्री ने मन्त्र का प्रयोग किया । धीरे-२ उसे होश आया । सर्प विष उतर गया ।

इसी प्रकार दक्षिण भारत में विहार करते-२ आचार्य संघ का सन् १९६८ में पुनः ऐनापुर आगमन हुआ । मई महीने में गुराया रामापा नामक तेली को सर्प ने डस लिया । उसे लोग महाराज जी के पास मन्दिर में लाये । सन् १९४७ की सर्प की घटना सब को मालूम ही थी । उस मनुष्य के मुंह से फेन निकल रहा था, वह बेहोश था । आचार्य श्री ने मन्त्रोच्चारण शुरू किया, उस पर गन्धोदक छिड़का । १५-२० मिनट में सर्प का विष उतार दिया । हजारों लोग यह देखकर आश्चर्यान्वित हुए ।

ऐनापुर के ही मल्लाप्पा सङ्गाप्पा नाम के ४५ वर्षीय लिङ्गायत को सर्प ने काट लिया । महाराज के पास लाये । महाराज ने मन्त्र से उसका भी विष दूर किया ।

१३-आत्महत्या से बचाया :

भरमप्पा नाम के एक महाजन को यकृत् बढ़कर गांठ हो गई । उसके पेट में भारी दर्द हो गया । कई इलाज कराने पर भी उसे आराम नहीं हुआ । अन्त में आत्महत्या करने को तैयार हो गया । किसी के कहने से वह आचार्य श्री के दर्शन को आया । आचार्य श्री ने बिना उसके कहे ही कह दिया कि तुम आत्महत्या करना चाहते हो । ऐसा मत करो, तुम्हारी आयु लम्बी है । तुम्हारे दो पुत्र भी होंगे । हम जिस प्रकार कहें उस विधि से दवाई करो । दवाई विधि पूर्वक लेने से प्रति दिन शीर्षासन करने से तुम्हारा दर्द ठीक हो जाएगा । उसने वैसा ही किया । वह ठीक हो गया, और उसके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए ।

१४-व्यंतर का प्रकोप दूर हुआ :

सन् १९६२ में आचार्य महावीर कीर्ति महाराज का चातुर्मास ऊन पावागिरि तीर्थक्षेत्र पर हुआ । क्षेत्र पर भगवानदास पुजारी से कोई भूल हो गई । किसी व्यंतर देव ने उसे दो चाँटे मारे और उठाकर थोड़ी दूर फेंक दिया । वह बेहोश हो गया । उसे इलाज के लिए तत्काल खरगोन ले जाने लगे । आचार्य श्री ने कहा— खरगोन मत ले जाओ । सब मिलकर णमोकार मन्त्र का जाप्य करो । महाराज ने स्वयं भी मन्त्रोच्चारण करते हुए पीछी पुजारी के ऊपर फिराई । पुजारी खड़े होकर बातें करने लगा ।

१५-कमण्डलु में पानी आया :

ऐनापुर में एक बार आचार्य श्री ने ऐसा व्रत परिसंख्यान लिया कि ९ दिन तक आहार नहीं हुआ । नव दिन उपवास रहने के कारण आचार्य श्री का शरीर भी कमजोर हो गया । सामायिक गाँव से बहुत दूर खेतों में कड़ाके की धूप में करते थे । एक दिन सामायिक के पश्चात् आचार्य श्री लघु शङ्का के लिये बाहर आये । कमण्डलु में पानी नहीं था सबको चिन्ता हुई । पानी जहाँ आहार हो वहीं से भरने की आचार्य श्री की आज्ञा थी । आहार कहीं हुआ नहीं था । एक भक्त ने कहा—महाराज

मैं अभी गाँव में जाकर पानी ले आता हूँ। महाराज ने कहा– "नहीं, कमण्डलु यहाँ लाओ।" महाराज ने कमण्डलु पर पीछी फेरी। सहसा कमण्डलु से भाप निकलने लगी। सब ने देखा कमण्डलु गरम पानी से भरा था।

१६–बिना चाबी लगाये ताला खुला :

कुंथलगिरि में आचार्य श्री एक बार सामायिक के लिये पहाड़ पर गये। साथ में वहाँ के पण्डितजी भी थे। आचार्य श्री ने मन्दिर में भगवान के दर्शन करना चाहा किन्तु पण्डित जी चाबी पहाड़ के नीचे धर्मशाला में भूल आये थे। वे चाबी लेने पहाड़ के नीचे जाने लगे। महाराज ने उन्हें रोका और पीछी ताले पर फेरी, ताला खुलकर नीचे गिर पड़ा। मन्दिर खुल गया और आचार्य श्री को श्री देशभूषण कुलभूषण भगवान के दर्शन हो गये।

१७–आँखों की ज्योति आई :

बोलवाड़ (सांगली) में अचानक एक मनुष्य की आँखों की ज्योति चली गई। वह अन्धा हो गया। उसकी माता रोने लगी। आचार्य श्री के पास आई। आचार्य श्री ने कहा— "एक लाख णमोकार मन्त्र का जाप्य करो, आँखें अच्छी हो जाएँगी।" तदनुसार णमोकार मन्त्र के एक लाख जाप्य किये गये, हवन शान्ति की गई। तब उस मनुष्य की आँखों की रोशनी पहले की तरह आ गई।

१८–फँसी हुई बस निकली :

सङ्घ सहित आचार्य श्री का चातुर्मास फिरोजाबाद में निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। वहाँ से विशाल सङ्घ फरिहा के लिये रवाना हुआ। सन्ध्या तक आचार्य श्री एवं सङ्घ के साधु तो फरिहा की धर्मशाला में पहुँच गये, किन्तु रात्रि हो जाने पर भी वह बस जिस में चौकों का सामान और यात्री थे, फरिहा नहीं पहुँची। तब सबको चिन्ता होने लगी। सब चिन्तातुर विचार कर रहे थे कि एक व्यक्ति ने आकर कहा— आपकी बस तो जङ्गल में एक नाले में फँस गई है। मार्ग बड़ा खराब था। रास्ते में जङ्गल था। सूचना मिलने पर कुछ व्यक्ति मजदूरों को साथ लेकर बस को निकालने में सहायता करने रवाना हुए। उनमें श्री प्रकाशजी साहित्यरत्न (पटना) भी थे। गैस, लालटेन, कुदाल, फावड़ा आदि साथ में लिए था।

मौसम खराब होने से बड़ी कठिनाई से वे निश्चित स्थान पर पहुँचे। उधर बस वालों ने दूर से इन सहायतार्थ आने वालों को अन्धेरे में देखा। कुछ आवाज सुनी तो डाकुओं की सम्भावना से सब में भय उत्पन्न हो गया। अब क्या था— बस, सवारी एवं बस में भरा माल, सब को खतरा पैदा हो गया।

श्रीमती लक्ष्मीरानी नैपाल वाली ने हाथ में भरी बन्दूक ली। बस पर खड़ी होकर बन्दूक तान कर जोर से आवाज दी "खबरदार ! रुक जाओ ! वरना गोली मार दी जायगी।" सहसा इस आवाज को सुनकर सब सहायक रुक गये। गैस बत्ती भी तेज हवा में बुझ गई। फिर आवाज आई— "आगे बढ़ने की कोशिश मत करना।" अब क्या था— सहायकों के लिये खतरा उत्पन्न हो गया। सहायकों के

तेज आवाज से चीखकर कहा, "हम फरिहा के हैं बस को निकालने आ रहे हैं, हमारे पास मजदूर भी हैं।" आवाज बहादुर लक्ष्मी रानी के कान में पहुँची। उन्होंने कहा, "पहले एक आदमी ही आए।" एक-एक कर पहुँचे। दोनों तरफ का भय और भ्रम दूर हुआ।

अब सब लोग भारी जोर लगा कर बस को निकालने लगे किन्तु एक घण्टा की भारी मेहनत करने पर भी बस नहीं निकली। तब लक्ष्मी रानी खेत में आकर भक्तामर स्तोत्र का पाठ करने लगीं। सब ने मिलकर आचार्य महावीर कीर्ति महाराज की जय ध्वनि का नारा लगाया। तब जोर लगाते ही बस नाले से सहसा निकल गई। उपस्थित सङ्कट टल गया।

१९–हिंसक पशु भी शांत

आचार्य सङ्घ सिद्धवर कूट की वन्दना के लिये विहार कर रहा था रास्ते में भयङ्कर जङ्गल पड़ा। सूर्यास्त होने लगा। जङ्गल मे ही सब साधु सामायिक में बैठ गये। साधु सब ध्यान में लीन हो गये। उधर भयङ्कर रात्रि में, शेर बघेरा, चीता, सफेद रीछनी अपने बच्चों सहित पानी पीने उसी मार्ग से निकले। सङ्घ को आश्चर्य से घूरा। फिर आगे शांति से निकल गये। पुनः रात्रि को ४ बजे ये ही जानवर सङ्घ के पास आते जाते रहे किन्तु किसी का कुछ नुकसान नही किया। आचार्य श्री एवं सङ्घ के साधु न भयभीत हुए, न विचलित हुए।

२०–खोई हुई अँगूठी मिली :

फिरोजाबाद के चातुर्मास के पश्चात् आचार्य श्री सङ्घ सहित अवागढ़ पधारे थे। एक दिन वहाँ श्री श्यामप्रसाद जी के घर आचार्य श्री का आहार हुआ। आहार के अनन्तर विमला नाम की एक बहिन बहुत रुदन करती हुई आई और फूट-फूटकर रोने लगी। आचार्य श्री ने बिना उसके पूछे कहा, "अरे पगली! रोती क्यों है? तेरी अँगूठी खो गई, इसलिये रोती है? रो मत। जा पहले तू घर जाकर अपनी ननद को खाना खिला दे, फिर अँगूठी ढूंढना। परोथन में अँगूठी पड़ी हुई है, तुझे मिल जायगी।" इतना सुनकर रोना बन्द करते हुए वह घर गई। पहले ननद को खाना खिलाया, फिर परोथन (रोटी बनाने के पश्चत् बचा हुआ आटा) में देखने लगी उसमें खोजते ही अँगूठी मिल गई। यह तो प्राचीन काल के अवधि ज्ञानी मुनिराज जैसी घटना हो गई। पहले उसने सब जगह ढूंढी थी, किन्तु अँगूठी कहीं भी मिली नहीं थी। बिना पूछे ही आचार्य श्री ने जहाँ बताया वहाँ अँगूठी मिल गई, कितने आश्चर्य की बात है?

२१–भैंस मिली :

आचार्य श्री पावागढ़ सिद्धक्षेत्र में सङ्घ सहित विराजमान थे। एक दिन एक स्त्री आकर बहुत रुदन कर रही थी। आचार्य श्री आहार से आये, और रोती हुई स्त्री से रोने का कारण पूछा। उसने कहा– "मेरी भैंस कल से खो गई है, बहुत खोज करने पर भी मिल नहीं रही है, वही मेरा एक सहारा है।" महाराज श्री ने कहा, "रोए मत। जा, तेरे घर भैंस आ गई है।" वह तत्काल दौड़ती हुई घर पर गई और भैंस खूंटे पर बँधी हुई पाई। वह बहुत प्रसन्न हुई और आचार्य श्री का बहुत उपकार माना।

इस प्रकार आचार्य श्री के तप, साधना, मन्त्र, ध्यान आदि के प्रभाव से अनेक आश्चर्यकारी प्रभाव हुए हैं, व कई मनुष्यों का उपकार हुआ है। कई को सर्प के विष से मुक्ति मिली है। सचमुच में वे एक चमत्कारिक महान् आचार्य परमेष्ठी थे।

मन्त्र एवं औषधि विशेषज्ञ

आचार्य श्री धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों के विज्ञ तो थे ही, साथ ही आयुर्वेद, ज्योतिष एवं मन्त्रों के भी विशेषज्ञ थे। आप कई रोगियों को शुद्ध आयुर्वेदिक औषधियों के प्रयोग बताया करते थे जिसमें अप्रकट औषधियां भी होती थीं। अनेक मनुष्यों ने आपके द्वारा बताई औषधियों का प्रयोग कर रोगों को दूर किया है। सामान्य रोगों के अतिरिक्त, मृगी रोग, टी॰बी॰ रोग कुष्ट रोग, बवासीर, नेत्रांकरोग असाध्यशूल, गुप्त रोग आदि कठिन रोगों का भी इलाज आचार्य श्री बताते थे। आपके इस महान् अनुभव से अनेक दुःखी रोगी मनुष्य उपकृत हुए हैं।

आचार्य श्री मन्त्र शास्त्र के भी महान् ज्ञाता थे। वे प्रायः अनेक प्रसङ्गों पर मनुष्यों को चाहे वे जैन हों या अजैन सब से प्रधान तो णमोकार मन्त्र का जाप्य कराते थे। कभी-२ भारी सङ्कटों से पार होने के लिये णमोकार मन्त्र के लक्ष-लक्ष जाप्य कराते थे और अनेक जीवों के भारी सङ्कट इस महामन्त्र के जाप्य से दूर हुये हैं। "ॐ ह्रीं अनन्तानन्त परम सिद्धेभ्यो नमः" इस मन्त्र का भी प्रायः आचार्य श्री जाप्य कराया करते थे। आशय यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी विपत्ति का सताया आचार्य श्री के पास आता तो वे मन्त्र जाप्य कराके उसकी सब विपत्ति को दूर कर देते थे। आपने कई मनुष्यों के सर्प के विष को मन्त्र से उतार कर उन्हें जीवन-दान दिया है।

निः स्वार्थ भावना से किये गये शुद्ध मन्त्रों के प्रयोग से अनेक असाध्य रोग एवं व्यन्तरों के प्रकोप सर्प एवं बिच्छू आदि के विष वगैरह सब दूर हो जाते हैं। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। आचार्य श्री के पास विद्यानुवाद जैसा मन्त्र शास्त्र का हस्तलिखित विस्तृत ग्रन्थ था। उसे वे अनुवादित कराकर प्रकाशित करना भी चाहते थे। आपके द्वारा प्रयोग में आने वाले मन्त्र और औषधियाँ अलग प्रकरण में दिये जा रहे है। आशा है पाठक उनसे लाभान्वित होंगे।

आचार्य श्री के अष्टादश गुण

१— आचार्य १०८ श्री महावीर कीर्ति महाराज एक सच्चे दिगम्बर जैन महाव्रती साधु थे।
२— आचार्य श्री मुनियों के २८ मूलगुण और आचार्यों के ३६ मूलगुणों के पूर्ण रूप से परिपालक थे।
३— आप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र— इन तीन रत्नत्रय के वास्तविक निधि थे।
४— वे संस्कृत, प्राकृत, मागधी, हिन्दी, गुजराती, बङ्ग, कन्नड़, तेलगू, मराठी, अंग्रेजी आदि १८ भाषाओं के महान पण्डित थे।
५— आचार्य श्री धर्म, साहित्य, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र शास्त्र एवं निमित्त आदि के पूर्ण ज्ञाता थे।

६— आचार्य श्री ओजस्वी एवं प्रभावशाली वक्ता थे। चारों अनुयोगों के पारगामी होने से आपके प्रवचन में आगम के चारों अनुयोगों का यथा स्थान समावेश होता था। आपकी वक्तृत्व शैली विशिष्ट प्रभावक थी।

७— आपकी तप, त्याग और ध्यान तथा परीषह एवं उपसर्ग सहन की क्षमता अत्यन्त आश्चर्यकारी थी।

८— आचार्य श्री की निःस्पृहवृत्ति शरीर से मोह रहितता, वैभाविक से उदासीनता बड़ी प्रशंसनीय थी।

९— भविष्य वक्ता, निमित्त द्वारा भावी घटनाओं का ज्ञान, स्पष्ट और निर्भीक वक्ता, मनुष्य की परख, स्वशरीर की चिन्ता से सर्वथा मुक्त, व्रतोपवास में अनुरक्त, जिनेन्द्र भक्ति में दत्त-चित्तता, ध्यान में स्थिरता अकम्प मुद्रा वाले, उपसर्ग आ जाने पर परीषहों पर विजय प्राप्त करना, अपनी वाणी से विरोधी को शांत और प्रभावित करना, अनुशासनपूर्वक सङ्घ का बड़ी कुशलता से संचालन करना आदि विशेष गुण आचार्य श्री में विद्यमान थे।

१०— चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ शांतिसागर जी महाराज, आचार्य १०८ वीरसागर जी महाराज एवं आचार्य १०८ श्री आदिसागर जी महाराज पर आचार्य श्री की अगाध श्रद्धा व भक्ति थी।

११— वे एक धीर-वीर, क्षमा के समुद्र, ज्ञान चारित्र और तप की मूर्ति थे।

१२— आचार्य श्री के अनेक गुण चतुर्थ काल के मुनियों की याद दिलाते थे।

१३— आज के भौतिक युग में आचार्य श्री का त्याग और विराग शिखर पर था।

१४— संसार के भोग, कञ्चन और कामनी, इन्द्रियों के विषय, लोकेषणा, कषाय — ये सब आचार्य श्री के सामने पराजित होकर निर्बल हो गये थे।

१५— कर्म शत्रुओं ने आचार्य श्री को हराना चाहा था और मृत्यु ने भी उनसे छीना-झपटी की थी पर आचार्य श्री सावधान ही रहे।

१६— वे कलिकाल मे संसार रूपी समुद्र को रत्नत्रय रूपी जहाज द्वारा पार करना चाह रहे थे।

१७— आचार्य श्री मोक्ष मार्ग के सच्चे पथिक थे। वे त्याग और वैराग्य की ज्योति थे।

१८— समाज रूपी नैया को सङ्कटों से पार करने के लिये वे एक पतवार-सम थे।

आचार्य श्री द्वारा दीक्षित त्यागीगण

आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज ने अपनी आत्मा के हित के साथ-२ अगणित मनुष्यों को त्याग और मोक्ष के पथ पर चलाया था। उन सब के नाम लिखना असम्भव है, कितने ही शूद्रों और अजैनों को मद्यमांस का त्याग कराया, कितने ही श्रावकों को प्रतिमाधारी, व्रत, नियम दिलवाये, कितने ही आचार्य, मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी बनाए। इस दृष्टि से आचार्य श्री सच्चे रूप में स्व-पर उपकारी थे, उनमें से जिनकी हमें जानकारी मिली है, उनके नाम हम नीचे दे रहे हैं।

आचार्य :

१ श्री १०८ आ० विमलसागर जी महाराज   २ श्री १०८ आ० सन्मतिसागर जी महाराज

मुनि :

१ श्री १०८ मुनि नेमिसागर जी महाराज
२ ,, कुंथुसागर जी महाराज
३ ,, निर्वाणसागर जी महाराज
४ ,, अरहसागर जी महाराज
५ ,, वासुपूज्य जी महाराज
६ ,, नमिसागर जी महाराज
७ ,, आदिसागर जी महाराज
८ ,, सुधर्मसागर जी महाराज
९ ,, सुपार्श्वसागर जी महाराज
१० ,, वर्धमानसागर जी महाराज
११ ,, मल्लिसागर जी महाराज
१२ ,, पार्श्वसागर जी महाराज
१३ ,, मुनिसुव्रत सागर जी महाराज
१४ ,, सम्भवसागर जी महाराज

आर्यिकाएँ :

१ श्री १०५ आर्यिका विजयमती जी
२ ,, महावीरमती जी
३ ,, मुनिसुव्रतमती जी
४ ,, धर्ममती जी
५ ,, पार्श्वमती जी
६ ,, श्रेयांसमती जी
७ ,, शीतलमती जी
८ ,, अतिवीरमती जी
९ ,, अजितमती जी

क्षुल्लक :

१ श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागर जी
२ ,, चन्द्रसागर जी
३ ,, सम्भवसागर जी
४ श्री १०५ क्षुल्लक समाधिसागर जी
५ ,, रत्नसागर जी
६ ,, वर्धमानसागर जी
७ ,, सुधर्मसागर जी

क्षुल्लिका :

१ श्री १०५ क्षुल्लिका आदिमती जी
२ ,, सुमतिमती जी
३ ,, शांतिमती जी
४ ,, संयममती जी
५ ,, वरदत्तमती जी

ब्रह्मचारी :

१ श्री ब्रह्मचारी छगनलाल जी
२ ,, फूलचन्दजी
३ ,, माणिकचन्द जी
४ ,, प० बिहारीलाल जी
५ ,, जिनेन्द्रसागर जी
६ ,, जिनसागर जी
७ ,, गैंदीलाल जी
८ ,, सुरेन्द्रसागर जी

ब्रह्मचारिणी :

१ श्री ब्रह्मचारिणी कंचनबाई जी
२ ,, सुकीबाई जी
३ ,, रूपाबाई जी
४ ,, भँवरीबाई जी

इनके अतिरिक्त एक से ६ प्रतिमा तक के भी अनेक श्रावक श्राविकाएँ आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी द्वारा दीक्षित हुई है।

आचार्य श्री की अन्तिम समाधि

मुनि हो या श्रावक अन्त समय में समाधिमरण से, शरीर का शांत परिणामों से छोड़ना ही श्रावक और मुनि धर्म का सार या फल है। आचार्यों ने समाधिमरण का बहुत महत्व शास्त्रों में बताया है। 'अन्तेसमाहिमरणं"— अन्त समय में समाधिमरण से मृत्यु होना स्वर्ग और मोक्ष का कारण है।

आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज स्वयं समाधिमरण से शरीर त्याग करने एवं अन्य साधुओं को समाधिमरण कराने में सदैव तत्पर रहते थे। आचार्य वीरसागर जी महाराज, मुनिराज आदिसागर जी महाराज (भू०पू० क्षुल्लक धर्मसागर जी महाराज कुराबड़ मेवाड़ वाले), क्षुल्लक पुष्पदन्त महाराज तथा अनेक मुनिराजों, प्रतिमाधारी श्रावकों को परिश्रमपूर्वक आचार्य महावीर कीर्ति जी ने समाधिमरण कराके उनके मरण सुधारे हैं। अतः वे एक सिद्धहस्त योगीश्वर थे।

आ० श्री समन्तभद्र स्वामी ने समाधिमरण का लक्षण और समय इस प्रकार बताया है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु विमोचनं माहुः सल्लेखना मार्याः॥

अर्थात् जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सके ऐसे उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ने पर, वृद्धावस्था आ जाने पर, शरीर के रोगी हो जाने पर, शांत परिणामों से धर्म ध्यानपूर्वक भोजनपानादि का यथाक्रम त्याग करते हुए शरीर छोड़ना, समाधिमरण या सल्लेखना कहा जाता है। जब-जब हमारे आचार्य श्री पर उपसर्ग आये, वे सर्वस्व त्याग कर समाधिमरण मे लीन हो गये। उपसर्ग दूर होने पर ही उन्होंने ध्यान छोड़ा है।

इस युग में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने कुंथलगिरि क्षेत्र पर ३६ दिन की यम सल्लेखना ली थी ऐसी सल्लेखना तो चतुर्थकाल के उत्तम संहनन वाले मुनि ही ले सकते थे। स्वस्थ शरीर की स्थिति होने पर भी केवल नेत्र की ज्योति मन्द हो जाने मात्र से उन्होंने कर्म और मृत्यु को चुनौती देकर उनसे लोहा लेते हुए शांति से शरीर का परित्याग किया था। इस युग में समाधिमरण का ऐसा ज्वलन्त उदाहरण "न भूतो न भविष्यति" के समान है।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी की भी भावना थी कि मेरा समाधिमरण किसी सिद्धक्षेत्र में हो किन्तु उनकी यह भावना कर्म ने सफल नहीं होने दी। इसका प्रधान कारण यह था कि समाधिमरण से कुछ ही दिनों पूर्व वे स्वस्थ थे। सङ्घ का अन्तिम चातुर्मास गिरनारजी में हुआ था। वहां से सङ्घ विहार कर पालीताना (शत्रुञ्जय) तीर्थ पर पहुंचा था। यहां करीब १५ दिन सङ्घ ठहरा। धर्म की बड़ी प्रभावना हुई। पालीताना से सङ्घ अहमदाबाद पहुंचा। यहां बड़ी भारी धर्म की प्रभावना हुई। केशलोच भी हुए। अहमदाबाद से सङ्घ कलोल पहुंचा। यहां तक तो आचार्य श्री का शरीर नीरोग और स्वस्थ हालत में था। कलोल में महाराज को एक दिन जुकाम हुआ। ज्वर भी हो गया किन्तु यह तो किसी को स्वप्न में भी ज्ञात नहीं था कि यह ज्वर आचार्य श्री के प्राण लेने आया है।

आचार्य श्री शरीर के किसी रोग की एवं ज्वर आदि की कोई चिन्ता नहीं करते थे। अपनी धार्मिक दिनचर्या को बराबर अक्षुण्ण बनाये रखते थे। कलोल में ज्वर होने पर भी रात्रि को सामायिक खुले में करने से आचार्य श्री को शीत ज्वर होकर निमोनिया हो गया। इस पर भी सङ्घ आगे रवाना हो गया। कलोल से महेसाना के बीच में एक दिन एक गांव में सङ्घ ठहरा। वहां पर भी आचार्य श्री का शरीर ज्वर पीड़ित रहा। वहां से दूसरे दिन विहार कर सङ्घ महेसाना आकर ठहर गया। सङ्घ के साधु मन्दिर जी में ठहरे किन्तु आचार्य श्री की अस्वस्थता के कारण एक जैन भाई के घर ठहराया। कुछ साधु और श्रावक परिचर्या के लिये आचार्य श्री के पास ही बराबर रहते थे।

श्री सम्मेदशिखर की तीर्थ यात्रा का संकल्प था। अतः सङ्घ का शीघ्र विहार हो रहा था। किन्तु काल को यह मन्जूर नहीं था। विधि का यह विधान था कि आचार्य श्री की यह पर्याय महेसाना से आगे जाने वाली नहीं थी। पर अब तक किसी को इसका आभास ही नहीं मिला था।

आचार्य श्री का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर बिगड़ता गया। अब समाज को व सङ्घ को चिन्ता हो गई, किन्तु फिर भी आचार्य श्री एकाएक स्वर्गारोहण कर जाएँगे अभी इसका किसी को आभास नहीं था। अहमदाबाद कलोल आदि से समाज के कई व्यक्ति आने लगे। महाराज के स्वास्थ्य में सुधार के आसार दिखाई नहीं देते थे। अब स्थिति धीरे-२ चिन्ताजनक होने लगी थी।

एक दिन महेसाना में समाधि से तीन दिन पूर्व अर्थात् ३ जनवरी १६७२ को आचार्य श्री ने सभी सङ्घस्थ त्यागी एवं व्रतियों को बुलाया। सबको एक जगह बिठाकर बड़ी गम्भीरता से सम्बोधित किया। सम्भव है आचार्य श्री को अपने तीन दिन के पश्चात् स्वर्गारोहण की झलक मिल गई हो। आचार्य श्री बोले, "देखो! मेरे बाद कोई ऐसा कार्य न करना जिससे मेरे सङ्घ की परम्परा में दोष आ जाय। आजकल के वातावरण से तुम्हें कोई मतलब नहीं। देव, शास्त्र, गुरु का अखण्ड अध्ययन—अडिग सतत अध्ययन—और ध्यान तुम्हारा कार्य होगा। सम्यक्चारित्र तुम्हारा सम्बल होगा। आर्षमार्ग का यथावत् अनुसरण कर पूर्वाचार्यों की वाणी के प्रति अटूट श्रद्धा रहनी चाहिए। आज से श्री १०८ मुनि सन्मतिसागर जी महाराज इस सङ्घ के आचार्य एवं श्री १०५ आर्यिका विजयमती जी मुख्यगणिनी हम अपने आदेश से नियत करते हैं। हमारे बाद यही व्यवस्था रहेगी।"

सङ्घ के साधुओं पर मानों बिजली गिरी। सब बोले "महाराज अभी आपका समाधिमरण थोड़े ही हो रहा है, आप शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करेंगे।" तब आचार्य श्री ने सबको सन्तोष देने के लिये कहा, "अच्छा, हमारे बाद यही व्यवस्था रहेगी, यही हमारी अन्तिम आज्ञा है।" आचार्य श्री ने अन्य साधुओं को भी उनकी वरिष्ठता के अनुसार पदालंकृत किया। आचार्य श्री की परिचर्या होने लगी, किन्तु वे तो अपने ध्यान में निमग्न रहते थे। शरीर पर क्या गुजर रहा है, उसकी लेश मात्र भी चिन्ता नहीं थी। आखिर वह दिन भी आ गया जिस दिन आचार्य श्री सबको छोड़ स्वर्ग सिधार गये।

अन्तिम दिन

सोमदेव सूरिने यशस्तिलक में कहा है—

अयंमहात्मेयमिदरस्तदोषः, कृती कर्मग्रास यमे ममत्वात् ।
इति व्यपेक्षास्ति न जातु दैवे स्वल्पमावसं दैन्यपरिग्रहेण ॥

आशय यह है कि यह कोई महापुरुष है, यह दोष रहित है, यह कृत कृत्य है। मैं इसको अपना ग्रास कैसे बनाऊँ? ऐसी दया, इस निष्ठुर कर्म को या काल को नहीं है। यह तो निर्दयता से सबको समय आने पर उठा ले जाता है। इसलिये आचार्य श्री कहते हैं कि कर्म कुछ भी जैसा भी मजबूर करता दे, उसके आगे दीनता नहीं करनी चाहिये।

आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज कभी कर्मों के आगे दीन नहीं बने। शरीर पर आये कष्टों को बड़ी धीर-वीरता से सहन किया। इसलिये वे उपसर्गों एवं परीषहों पर विजय प्राप्त करने में सिद्ध हस्त हो गये थे। मृत्यु के दिन भी कर्म रंच मात्र उनकी हानि नहीं कर सका। वे बड़े शांत रहे, योग एवं ध्यान में लीन रहे।

२६ जनवरी १९७२ का वह दिन भी आ गया। जिसने आचार्य श्री की आत्मा को हम से छीन लिया। इस दिन उदयपुर, अहमदाबाद आदि से बहुत मनुष्य महेसाना आ गये। दिन भर आचार्य श्री की हालत गम्भीर बनती गई, किन्तु वे योगी ध्यान में शांत चित्त से मग्न थे। इधर कर्म अपना काम कर रहे थे, उधर वे अपनी आत्मा मे सावधान थे।

रात्रि के करीब ८ बजे श्री पं० श्यामसुन्दर लाल जी शास्त्री फिरोजाबाद एवं आचार्य श्री के भाई वैद्य श्री धर्मेन्द्रनाथ जी मेरठ आ गये। आचार्य श्री ने उन्हें आशीर्वाद दिया। हालत बड़ी गम्भीर हो गई थी। वैद्य जी ने योग्य उपचार प्रारम्भ किया। किन्तु डबल निमोनिया के साथ सन्निपात का भी प्रकोप था। चन्द्रोदय आदि उष्ण औषधि को वैद्य जी ने नासिक के पास रक्खा। शरीर में मालिश हुआ। नाड़ी मे कुछ सुधार हुआ। अन्त में कुछ समय पश्चात् सन्निपात की वृद्धि से आचार्य श्री का गला अवरुद्ध हो गया। बोलना बन्द हो गया। श्री प० श्यामसुन्दर लाल जी ने पूछा महाराज सावधान हैं ? आचार्य श्री ने हाथ और सिर के सकेत से सावधान रहने की सूचना दी। किसी ने थैली में गरम पानी डालकर आचार्य श्री की छाती पर कपड़ा रख के थैली द्वारा सेकना चाहा, किन्तु आचार्य श्री ने इशारे से कपड़ा हटवा दिया।

९ बजे का समय हो गया। आचार्य श्री के चारों तरफ णमोकार मन्त्र, आचार्य भक्ति सिद्धभक्ति एवं अन्य धार्मिक पाठों के उच्चारण हो रहे थे। इधर आचार्य श्री की आत्मा कर्मों से संघर्ष कर रही थी। उस दिन मध्याह्न २ बजे तक आचार्य श्री को कई बार मलमूत्र की शिकायत हुई थी, किंतु उसके पश्चात् किसी भी प्रकार की मल, मूत्र, खाँसी, कफ आदि की समाधि के अन्त तक शिकायत नहीं रही। धीरे-धीरे नाडियों ने अपना आवागमन बन्द कर दिया अर्थात् नाड़ियाँ चलना बन्द हो गईं। अन्त में ९$\frac{1}{2}$ बजे आचार्य श्री की आत्मा सर्वथा शरीर छोड चली गई। हृदय गति बन्द हो गई और वह ज्योति बुझ गई। प्रकाश चला गया! अन्धेरा छा गया।

समाज का सूर्य अस्ताचल को चला गया। समाज पर अनभ्र वज्रपात हुआ। पास में जो भी थे आँसुओं की झड़ियों से अपने-२ शरीर को स्नान करा रहे थे। समाज का दीपक, मुनियों का सहायक, धर्म का नेता, ज्ञान एवं चारित्र की निधि, मुक्ति मार्ग का वह प्रवर्तक सदा के लिये कहीं दूर चला गया। श्री सम्मेदशिखर जी तो दूर रहे, पास मे पहुँचने पर भी तारंगा जी के दर्शन नही हो पाये। हाय! यह काल बड़ा क्रूर, निर्दयी और निष्ठुर है। वह महान् आत्मा अपने मानव जन्म को सार्थक कर स्वर्ग को चली गई। सब रोये, समाज रोई, पर किसी का वश नहीं चला। इस प्रकार वह समाधि-सम्राट, योगीन्द्रतिलक, उग्रतपश्चर्या का धनी हम से बहुत दूर चला गया। क्या उनके शिष्य वर्ग एवं समाज के अग्रणी उनके उद्देश्य एवं अपूर्ण कार्य को पूरा करेंगे ?

शव यात्रा : दाह-संस्कार

इस प्रकार डबल निमोनिया के कारण आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज दि० २६ जनवरी १९७२ की रात्रि को नौ बजकर पन्द्रह मिनट पर इस नश्वर शरीर को छोड़ स्वर्ग प्रयाण कर गये। तत्काल सर्वत्र तार टेलीफोन से सूचना भिजवाई। जिसने भी सुना, अवाक् स्तब्ध रह गया। मेवाड़, मालवा, उत्तर प्रदेश, गुजरात आदि से भारी संख्या में मनुष्य महेसाना आ गये। कारों की लाइन लग गई। सर्वत्र रुदन और भारी शोक छा गया। कोई कहाँ जानता था कि इस प्रकार सहसा आचार्य श्री चले जाएँगे। महेसाना में मेला-सा लग गया।

फिर क्या था, लकड़ी का विमान बनवाया गया। आचार्य श्री के पार्थिव शरीर को विमान में पद्मासन विराजमान किया। शव यात्रा का भारी जुलूस, अनेक नर-नारी जन समूह एवं आचार्य संघ के साधु, बैंड बाजे के साथ निकाला। नगर के बाजार आदि में भ्रमण करता हुआ मन्दिर के पास समाप्त हुआ। विमान नीचे रक्खा गया। उस समय शोक विह्वल जनसमूह आँखों से आसुओं की सरिता बहता था।

सात मन चन्दन की लकड़ी से चिता बनी। कपूर आदि सुगन्धित द्रव्य, हजारों नारियल, देशी घी से चिता सजाई गई। विमान सहित आचार्य श्री के पार्थिव शरीर को चिता पर रक्खा गया। समस्त जन समूह टकटकी लगाये इस महान वैराग्योत्पादक ससार की भंगुरता को बताने वाले दृश्य को अश्रुयुक्त नयनों से देख रहा था। चारों ओर से जय ध्वनि गूंज उठी। सबने नारे लगाये—"बोलो आचार्य महावीरकीर्ति महाराज की जय।" नारियल घृत आदि से सजी चिता पर श्री सेठ अनूपलाल जी नरसिंहपुरा जैन उदयपुर के हाथों से अग्नि प्रज्वलित की गई। आपने रु० ५०११) में दाह-संस्कार की बोली ली थी। आचार्य श्री के गृहस्थावस्था के बड़े भाई श्री पं० धर्मेन्द्रचन्द्र जी एवं अनूपलाल जी दोनो ने मिलकर अग्नि सस्कार किया।

अग्नि अपनी तीव्र ज्वाला से प्रज्वलित हुई। दिनाङ्क २७ जनवरी १९७२ का मध्याह्न १-२ बजे का समय। महेसाना की वह भूमि आचार्य श्री के शरीर के दाह-संस्कार से पावन हो गई। सहसा प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर को उठी। धूम्र उड़कर गगन को स्पर्श करने लगा। जनता देखने लगी। अहो! ये अग्नि की ज्वालाएँ कैसी निर्ममता से आचार्य श्री के शरीर को जलाकर भस्मसात् कर रही है। उस समय अश्रुयुक्त नयनों से जनता ससार की असारता का पूर्ण अनुभव कर रही थी। आखिर ज्वालाएँ शांत होने लगी। विमान के साथ आचार्य श्री का शरीर दग्ध होने लगा। समस्त वातावरण शोक और वैराग्यमयी हो गया था। शोक सन्तप्त आत्माएँ आचार्य श्री को और उनके गुणों को स्मरण कर अशांत चित्त से इधर-उधर चर्चाएँ कर रहे थे। किसी को यह विश्वास ही नहीं हो रहा था कि आचार्य श्री हमारे बीच नहीं हैं। ऐसा आभास सबको हो रहा था कि आचार्य श्री संघ में विराज रहे हैं, सामायिक कर रहे है, ३ बजेंगे, मौन खुलेगा, उनकी अमृतमय वाणी सुनेंगे। लेकिन फिर भान होता है कि कहाँ हैं वे महान् तप त्याग की वीतराग मुद्रा वाले आचार्य? तब निराशा ही हाथ लगती इस प्रकार आचार्य श्री की आत्मा तो स्वर्ग चली गई। शरीर भस्म हो गया। रह गई उनकी याद, गुणों का स्मरण, और उनकी निर्भीक देशना।

शोक सभाएँ व श्रद्धाञ्जलियाँ

तार, टेलीफोन, रेडियो और समाचार पत्रों से समस्त देश भर में बिजली की तरह आचार्य श्री के स्वर्गवास के समाचार फैल गये। समस्त जैन समाज शोक सागर में डूब गया। सारे भारत में अनेक स्थानों पर शोक सभाएँ हुईं। व्याख्यान आदि से सर्वत्र वक्ताओं ने आचार्य श्री के गुणों का गान करते हुए श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं। श्रद्धाञ्जलियों का तांता लग गया। समाचार पत्रों में उनके चित्रों के साथ जीवन सम्बन्धी लेख छपे। सम्पादकों एवं विद्वानों ने अपनी कलम से आचार्य श्री के गुणों को लिखकर अपना कर्तव्य निभाया।

आचार्य श्री के आकस्मिक स्वर्गवास से शोक संतप्त समाज ने कहाँ-कहाँ शोक सभाएँ कीं एवं श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पण कर शोक प्रस्ताव पास किये, उन सबका विवरण लिखना कठिन है। किन्तु जिन जिन स्थानों की हमें जानकारी मिली उन स्थानों के केवल नाम यहाँ पर दे रहे हैं—

स्थान जहाँ श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गईं

अजमेर, ब्यावर, भीलवाड़ा, देहली, श्री शांतिवीर नगर, श्री महावीर जी, रामगंज मण्डी, मेरठ, कलकत्ता, फिरोजाबाद, नांदगांव, लाडनू, झालरापाटन, सनावद, बड़वानी, नलबाड़ी, फुलेरा, इन्दौर, बीकानेर, राजगृही, टूंडला, हाथरस, श्री सम्मेदशिखर जी, हजारीबाग, औरङ्गाबाद टिकैतनगर, अलोद, बाराबङ्की, ईडर, दाहोद, पालेज, सन्तरामपुर, ऋषभदेव, उदयपुर, सोजित्रा, डूंगरपुर, महेश्वर, सनावद, गोमतीपुर (अहमदाबाद), सूरत, बड़ोदा, कुसलगढ़, पटना, पावापुरी, राणापुर, हिम्मतनगर, सौरीपुर, जूनागढ़, गिरनारजी, नातापुता, फलटन, बोरीवली, माङ्गीतुङ्गी, बांसवाड़ा प्रान्तिज, बम्बई, रीछा, भागलपुर, मदनगंज, छाणी, तलोद, भावनगर।

महसाना में शोक सभा

दिनाङ्क २७ जनवरी १९७२। दिन के ठीक २ बजे महसाना के दिगम्बर जैन मन्दिर के सामने के मैदान में शोक सभा की गई। अनेक वक्ताओं ने आचार्य श्री के गुणों का वर्णन करते हुए भाव भीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की। उस समय सभा मे निम्न तीन प्रस्ताव पास किये गये—

प्रस्ताव १–

आचार्य श्री की चरण पादुकाएँ, मूर्तियाँ समस्त दि० जैन तीर्थों पर स्थापित की जायँ।

प्रस्ताव २–

आचार्य श्री का विशाल जीवन चरित्र प्रकाशित किया जाय।

प्रस्ताव ३–

आचार्य श्री का पासपोर्ट साइज फोटो की १०,००० प्रतियाँ छपा कर समस्त तीर्थों, मन्दिरों एवं संस्थाओं में भेजे जाएँ।

आचार्य श्री के स्मारक

आचार्य श्री की शोक सभाओं में आचार्य श्री के नाम को चिर स्थायी बनाने हेतु कहीं-कहीं धर्म व समाज के कल्याणकारी स्थायी स्मारक बनाने के भी प्रस्ताव हुए थे। अब तक उनके जो स्मारक बने उनका विवरण इस प्रकार है—

आचार्य श्री की छत्री

महसाना (गुजरात) में जिस स्थान पर आचार्य श्री के शरीर का दाह-संस्कार हुआ वहाँ उनकी समाधि के रूप में मकराने की छत्री बनी है, जहाँ उनके चरण स्थापित किये गये हैं।

राजगृही का स्मृति भवन

बिहार के सुप्रसिद्ध महान् तीर्थ पर आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज की प्रेरणा से एक बहुत सुन्दर दुमन्जिला भवन 'आचार्य महावीर कीर्ति भवन' के नाम से बना है, जहाँ विशाल ग्रन्थों का संग्रह एवं शोध कार्य की व्यवस्था करने की योजना है।

अवागढ़ का स्मृति भवन व धर्म प्रचारिणी संस्था

उत्तर प्रदेश के एटा जिले में अवागढ़ एक कस्बा है। अंग्रेजों के समय में यहाँ भी एक रियासत थी। यहाँ दि० जैन समाज के करीब १०० घर है व दो जिनालय हैं। आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी के ही परमशिष्य श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागर जी महाराज की सतत् प्रेरणा से आचार्य श्री के स्वर्गवास के पश्चात् ही यहाँ "आचार्य महावीर कीर्ति दि० जैन धर्म प्रचारिणी संस्था" के नाम से धर्म प्रचार के उद्देश्य से एक संस्था स्थापित हुई। "श्री महावीर कीर्ति स्मृति भवन" के नाम से एक विशाल भवन का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ।

तीन वर्ष मे इस संस्था के द्वारा, टेपरेकार्ड लाउडस्पीकर, जैनरेकार्ड, स्लाइड-प्रदर्शन के साथ-२ विद्वानों के प्रवचन एवं भाषणों द्वारा समस्त देश में सफलता से धर्म प्रचार का कार्य किया गया। समाज ने संस्था द्वारा नवीन पद्धति से किये गये धर्म प्रचार की सराहना की एवं संस्था को काफी सहायता दी। धर्म प्रचार के साथ-२ स्मृति भवन का कार्य भी जोरों से चल रहा है। वर्तमान में एक तिमन्जिला सुन्दर भवन बनकर तैयार हो गया है। इसमें सभा भवन, विद्यालय, सरस्वती भण्डार, त्यागी आवास आदि के लिये पर्याप्त सुविधाएँ विद्यमान है। धर्म प्रचार के साथ-२ धार्मिक विद्यालय अनाथ विधवाओं की सहायता, सरस्वती भवन, शोध संस्थान आदि इस संस्था के मुख्य उद्देश्य हैं।

आचार्य महावीर कीर्ति जीवन दर्शन, आचार्य शांतिसागर जीवन जैसी पुस्तिकाओं के प्रकाशन के बाद यह जो बृहद्ग्रन्थ "आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ" आपके हाथों में है, यह भी इसी संस्था की तरफ से पूरे परिश्रम से सम्पादित कराकर प्रकाशित कराया है। संस्था की ओर भी कई योजना अभी भविष्य के गर्भ में हैं। संस्था का भविष्य उज्वल है, क्योंकि इसका कुशल मार्गदर्शन एक महान् त्यागी एवं महान् गुरु के महान् शिष्य पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री शीतलसागर जी महाराज स्वयं निःस्वार्थ एवं त्याग भाव से कर रहे हैं। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

अन्तिम कामना

निखिलगुणसमुद्रः, सर्वलोकाभितोषः ।
मुनिगणनित सेव्यः, ज्ञानचारित्रपूर्णः ॥
प्रविदलितकषायः मोक्षमार्गे निमग्नः ।
स जयति जयति सूरिः, वीरकीर्तिः मुनीन्द्रः ॥

छाए हो अब भी दृग-पटलों में

यह मेरा पुण्योदय तथा सौभाग्य ही समझिये कि दस साल की आयु से ही मुझे परम निर्ग्रन्थ गुरुओं का चरण-सानिध्य उपलब्ध होता रहा है। मैंने पवित्रता से गुरुओं की वाणी को हृदय में उतारा है और जीवन यात्रा का सत् पथ मुझे प्राप्त हुआ है।

मुझे वह तिथि याद नहीं जब कि सर्वप्रथम मुझे परम तपस्वी ज्ञान-पयोनिधि आचार्य १०८ श्री महावीर कीर्ति जी महाराज के दर्शन जयपुर में हुये थे। उस वक्त आचार्य श्री की ज्योतिष विद्या एवं संकल्पसिद्धि विद्वत्ता से मैं बहुत प्रभावित हुआ था।

मार्च १९७१ में जब मैं शत्रुञ्जय गया तो मालूम हुआ कि आचार्य श्री यहाँ ससङ्घ विराजमान हैं। मैं दर्शनार्थ पहुँचा और भक्ति से गद्गद् हो चरण-शरण मे अपने आपको धन्य मानने लगा। आपके चेहरे का तेज, वाणी की विद्वत्ता और दूरदर्शिता को पाकर मैं गौरव से फूल उठा कि– 'अहो! आज इस युग में भी ऐसे तपस्वी हमें सुलभ हैं।'

जो भी शङ्कायें थीं, मैंने उन सबका समाधान सरलता से प्राप्त किया। आपने मुझे बताया कि दीक्षा देने से पूर्व में दीक्षा-इच्छुक के भविष्य का अध्ययन कर लेता हूँ और पूर्ण निर्णय करके ही मैं दीक्षा-योग्य उसे जानकर दीक्षा देता हूँ। तभी मुझे स्मृति हो उठी कि सत्यत ऐसा ही है। क्योंकि जिन-जिन महान् आत्माओं ने आपसे दीक्षा ली है, वे आज जैन अजैन सभी का उद्धार करने में संलग्न हैं और उनसे प्राणी मात्र को सत्पथ मिला है। जैसे– मुनि श्री विद्यानन्द जी, क्षुल्लक श्री शीतलसागर जी एवं अन्य कई मुनि आर्यिकाएँ।

अनेक तात्विक मनन के मध्य अचानक आचार्य श्री ने मुझसे सीधा प्रश्न किया— 'तुम कब दीक्षा ले रहे हो?'............मैं यह सुनकर चौंक गया। मन ही मन कह उठा— "कहीं मुनि श्री मेरा उप-हास तो नहीं कर रहे हैं?" मैं तो यह भी नहीं जानता कि दीक्षा किसे कहते हैं।

तभी आचार्य श्री ने मेरे सिर पर अपना वरद-हस्त रक्खा और मुस्करा कर कहने लगे- "उलझो मत, समय निकट है। तन से नहीं तो मन से तो शीघ्र ही दीक्षा लेने वाले हो।" मैं देखता का देखता ही रह गया। जैसे मैं वैराग्य की वसुन्धरा पर विचर रहा हूँ।

तभी मेरे साथ आये हुये सज्जन ने कहा– चलो देर हो रही है। यह सुनकर आचार्य श्री विहँस उठे। बोले - हाँ, हाँ, देर हो रही है, जल्दी सँभलो। सभी स्वामीगण खिल उठे। और मैं............ मैं फिर सिहर उठा।

परन्तु हाय री कर्मोत्पत्ति, मुझे आचार्य श्री के निकट विशेष न रहने दिया। मैं शत-शत वन्दन करके लौट चला— यह कह कर कि शीघ्र ही आपका चरण सानिध्य उपलब्ध करूँगा।

जब मैं जैन गजट पढ़ रहा था तो अचानक मेरी आँखें फटी की फटी रह गईं। प्रथम पृष्ठ पर ही लिखा था— 'आचार्यवर १०८ श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का स्वर्गवास।' पढ़कर रो उठा। मन शत्रुंजय की ओर दौड़ पड़ा। जैसे वहाँ अब भी आचार्य श्री विराज रहे हों। नहीं, नहीं, आप नहीं जा सकते। मैं, मैं आ गया गुरुवर!………पर वहाँ कहाँ थे गुरुवर?

मेरे पास में बैठे सज्जन ने मुझे झकझोरा। कहने लगे क्या हो गया है तुम्हें? देखो तो अखबार का पृष्ठ तुम्हारे आँसुओं से भीग गया है। मैं जैसे सोये से जगा। ओफ, अब कहाँ मिलेगा गुरुवर का चरण सानिध्य? क्या विधि की विडम्बना है?

आज गुरुवर का पार्थिव शरीर प्रत्यक्ष नहीं है। पर उनकी बोधपूर्ण वाणी आज के सुषुप्त मानव को ज्ञान लोक में ले आये बिना नहीं रहती। आज भी हृदय-पटल पर उनके तप-तेज की अमिट छाप है, जो शाश्वत रहेगी।

गुरुवर! छाये हो अब भी दृग-पटलों में। मैं आपका आशीर्वाद पाकर उसी सत्पथ पर चलकर सिद्ध कर दूं— बस यही मेरी मनोकामना है।

आज आप नहीं सही, पर आपका वरद आशीर्वाद तो है। आपकी ओजभरी सत्पथ-प्रदर्शक वाणी तो है। आपकी चिर स्मृति रूप विशद गाथा तो है। मैं इन सब के माध्यम से ही आपका चरण सानिध्य पा लूँगा।

जय गुरुवर्य! जय महावीर कीर्ति! जय चारित्र चक्रवर्ती।

रानीमिल, मेरठ —पं० बसन्तकुमार जी जैन शास्त्री

अटूट-श्रद्धास्पद आचार्य श्री

परमपूज्य, परमतपस्वी, महाचमत्कारिक साधु आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का 'महेसाना' में स्वर्गवास हो गया जानकर बहुत आघात पहुँचा। मैंने कई साधु सन्तों के और मुनियों के दर्शन किये लेकिन मेरे दिल पर इनकी अमिट छाप बैठी थी तथा अटूट श्रद्धा थी। इनके पास रहने का मेरे को कई बार अवसर मिला तथा हमेशा यही भावना रही कि पूज्य महाराज श्री के दर्शन को जावें। दुर्भाग्य से अन्त में उनके दर्शन न हो सके। श्री महावीर प्रभु से प्रार्थना है कि दिवंगत महान् आत्मा को शांति प्रदान करे।

जयपुर —नेमीचन्द पाटनी

मुनियों का जीवन

मुनियों के आदर्श जीवन के विषय में, यदि हम पण्डित प्रवर दौलतराम जी से परामर्श चाहें तो वे अपनी अमर कृति 'छहढाला' से उद्धरण प्रस्तुत कर कहेंगे— 'अर्घावतारण असि प्रहारन में सदा समता धरन।'

इससे यह तो सहज ही ज्ञात किया जा सकता है कि मुनि सम भाव के साधक होते हैं। वे बाहरी-भीतरी आडम्बरों या परिग्रहों से रहित निर्ग्रन्थ होते हैं। मुनियों के उदात्त जीवन के उत्कृष्ट शब्द-चित्र प्रस्तुत करने वाली अनेकों कहानियाँ जैन वाङ्मय में पठनार्थ मिलती हैं। उनमें से चार की क्षीण झलक देने का प्रयत्न प्रस्तुत लघु कथाओं में है।

❖ जब एक गृहस्थ मुनि बना :

जो होना था, वह हो गया। कर्म की गति ही ऐसी होगी। नरेन्द्र ने ब्रह्मगुलाल से कहा— मैं राजकुमार की मृत्यु-जन्य शोक को भूल सकूँ। कुछ ऐसा उपाय कीजिए। गुरु बन मेरा उद्धार कीजिए।

'मैं शीघ्र ही आपके दुःख को दूर करने का प्रयास करूँगा'— ब्रह्मगुलाल बोले। उन्हें स्मरण आया। सिंह का वेश धारण करना, राजकुमार का बकरे को मारने के लिये उत्तेजित करना और उनका क्रोधित होकर एक ही बार में राजकुमार का काम तमाम करना। उनका स्वयं दुःखी होना और नरेन्द्र के दुःख का अनुभव करना।

घर आते ही ब्रह्मगुलाल ने अपने परिवार व अनन्य मित्र मथुरालाल से कहा— अब तक जो वेश रखे थे, वे नकली थे अब असली वेश धारण करूँगा। क्या मतलब ? मथुरालाल ने पूछा।

अब तक के वेशों से लोग मनोरञ्जन करते थे और मुझे उनके लिये बार बार वेश बदलना पड़ता था पर अब मैं स्वेच्छा से वेश धारण करूँगा, लोग उससे शिक्षा लेंगे, शान्ति पायेंगे सुखी होंगे, आत्म-बोध पायेंगे। सबसे बड़ी महत्वपूर्ण बात यह होगी कि मुझे वेश बदलना नहीं पड़ेगा।

हम तो कुछ भी नहीं समझे। परिवार वाले बोले।

नरेन्द्र के अस्थिर चित्त को स्थिर चित्त करने के लिये, अपने अशान्त मानस को शान्त मानस बनाने के लिये, शरीर से आत्मा की दिशा में चलने के लिये अब मैं संसार और परिवार को छोड़कर मुनि बनूंगा, आत्म साधना में लगूंगा। चूंकि गुरु हैं नहीं, अतएव मैं पंचों और जिन प्रतिमा के सम्मुख दीक्षा लूंगा। आप सभी आशीर्वाद दें कि मैं अपने इस वेश का भी सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकूं।

लोग चुप रहे— कुछ कौतूहल से, कुछ गम्भीरता से, कुछ खोये से। बालक ! रोष की बात नहीं। कर्म की गति ऐसी ही होनी थी कि मुझसे सिंह के वेष में राजकुमार मारा जाता। उसके लिये जितना दुःख तुम्हें है उससे कहीं अधिक खेद मुझे है। कर्म के उदय से जो न हो, वही थोड़ा है।

पर कर्म-चक्र से डरना व्यर्थ है। हम जितना दुर्बल बनेंगे, कर्म हमारे भाग्य-विधाता बन उतने ही दुखी करेंगे। इसलिये हम कर्मवीर बनें। आत्मा में विश्वास करें कि अपने जीवन के निर्माण के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेश हम स्वयं ही हैं, हम ही बनाने-बचाने-बिगाड़ने वाले हैं, अन्य नहीं। राग और द्वेष को छोड़कर आत्म बोध की दिशा में बढ़ना ही परम कर्तव्य है।

सुख संसार में नहीं शिव में है। संसार जिसे सुख की संज्ञा देता है, वह सुख नहीं, सुखाभास है। जरा विचारिये तो सही कि जब अतीव स्नेह पालित शरीर भी अपना नहीं, तब प्रत्यक्ष पृथक दीखने वाले अन्य व्यक्ति स्त्री-पुत्र, अन्य पदार्थ, मकान, दूकान, राज्य क्या अपने होंगे ? इसलिये आत्मा ही एक अपनी है।

आप अक्षरशः सूर्य सत्य कह रहे हैं। नरेन्द्र बोले— आपने मेरी आँखें खोल दीं। कहिये, आपके इस वेश को धारण करने के लिये मैं क्या पुरस्कार दूं ?

मैंने इस वेश को पा लिया मेरे वचनों से आपको सुख-शान्ति मिली। अब मुझे कोई अन्य वेश पाना शेष न रहा। इस वेश के माध्यम से मैं आत्म ज्योति जागृत कर सकूं, यही कामना है। मुझे कोई पुरस्कार नहीं चाहिए।

जब एक मुनि गृहस्थ बना :

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर तो एक ही व्यक्ति दे सकता है और वह 'माघ' है। आचार्य श्री ने मर्माहत होकर कहा— पर अब तो उसे भी मुनि से गृहस्थ बने एक दो नहीं बल्कि ग्यारह वर्ष हो गये। इस लिये शायद वह भी कहीं भूल न गया हो।

आचार्य श्री दुखी न हों। हम लोग 'माघ' के पास जाकर ही अपनी शङ्का का समाधान करेंगे। वे मुनि से गृहस्थ भले बन गये हों, पर उनकी बुद्धि और विवेक का तो हमें अभी भी बड़ा भरोसा है। यह कहकर जिज्ञासुओं ने आचार्य श्री के सम्मुख सिर झुका दिये और जाने की आज्ञा चाही।

जब जिज्ञासु, शिक्षार्थी माघ के पास आये तब वे अपने परिवार सहित गोत्र कर्म के प्रतिनिधि बने कुम्भकार से घड़ों का निर्माण कर रहे थे। जिज्ञासुओं ने माघ के सम्मुख अपनी शङ्का रखी और माघ ने वह समाधान दिया कि वे निरुत्तर और सहमत हुये। वे सहर्ष उनकी विद्वत्ता मान गये और मुदित हो गये।

जिज्ञासु चले गये पर माघ के हृदय में एक हलचल कर गये। माघ ने विचारा— कहाँ तो लोग मुझे आज भी माघ मुनि के रूप में स्मरण करते हैं और कहाँ मैं माघ मुनि पथ और पद-भ्रष्ट होकर गृहस्थ बना बैठा हूं। फिर मोह की जञ्जीर बाँध ली, संसार के उसी बन्धन में बँध गया हूं जिससे

निकलने के लिये मन मार कर मैं मुनि बना था, बिन दीक्षा ली थी, अब तो लगभग ग्यारह वर्ष गृहस्थ बने हो गये········और, अब मैं अपनी भूल को ऐसा सुधारूंगा कि लोग मुझे युग-युगों तक भी न भुला सकेंगे। यह उनकी अन्तरात्मा की आवाज थी।

माघ फिर मुनि हुये। तय किया, जब तक ग्यारह गृहस्थ मुनि नहीं बना लूगा तब तक आहार भी ग्रहण नहीं करूंगा। जब तक वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ग्यारह गृहस्थों को मुनि नहीं बना लेते तब तक भूखे प्यासे ही लौटते, धर्म का प्रचार-प्रसार करते। उनके मोही भक्त थोड़े विचलित होते पर वे नहीं, वे तो अपनी प्रतिज्ञा का पालन करके ही रहते।

प्रति वर्ष माघ का महीना आकर मुझ से माघ मुनि की कथा कह जाता है और उनकी पवित्र स्मृति हृदय में सजीव कर जाता है। तब मैं मन्द बुद्धि विचार नहीं पाता कि आज मेरे में माघ जैसे मुनि कहाँ ?

जब छुरी द्वारा कूंख ही चीरी जाने लगी :

जब मुनि नागदत्त वन में चलते-चलते चोरों के अड्डे के पास पहुँच गये, तो वे घबड़ाये। उन्हें पकड़कर अपने प्रमुख सूरदत्त के समीप ले गये। प्रमुख ने कहा— 'इन्हें छोड़ दो। इनसे अपना कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।'

थोड़ी देर बाद नागदत्ता (मुनि की माँ) अपनी बेटी सहित आई। वह कौशाम्बी जाकर, जिनदत्त के सुपुत्र धनपाल से अपनी बेटी का विवाह करना चाह रही थी, इसलिये उसके पास काफी वस्त्राभूषण भी थे। अपने जान और माल की सुरक्षा की दृष्टि से वह रुकी। उसने मुनि नागदत्त को प्रणाम करने के बाद पूछा- 'प्रभो ! आगे का मार्ग स्वच्छ और सुरक्षित तो है ?'

प्रत्युत्तर में मुनि मौन रहे। उन्होंने हाँ-ना कुछ भी नहीं कहा। नागदत्ता ने इसे ही उनकी सहमति समझी। वह मार्ग में आगे बढ़ी और मुनि साधना करते रहे।

आगे बढ़ने पर नागदत्ता को चोरों ने पकड़ लिया। वस्त्राभूषण और विवाह की अन्य सामग्री को भी छीन लिया। अब दोनों माँ-बेटी बड़ी उदास और हताश तथा निराश थीं और अज्ञात भय से हवा में पीपल के पत्ते-सी काँप रही थीं।

'यह है दिगम्बर मुनि की आत्म साधना और निष्काम वीतरागता की ज्वलन्त भावना।' सूरदत्त ने अपने साथियों से कहा— हमने मुनि को पीड़ा पहुँचाई, तब भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। उनकी दृष्टि में शत्रु-मित्र सब ही बराबर हैं। इसीलिये मैंने तुमसे कहा था कि इनसे अपना कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।

और तब ही नागदत्ता ने सूरदत्त से कहा— भाई ! तुम जरा अपनी छुरी तो मुझे दे दो ताकि मैं अपनी कूंख को चीर कर ही शान्ति पालूं। तुम जिस मुनि की इतनी प्रशंसा कर रहे हो, वह और कोई नहीं, मेरा बेटा ही है। अगर वह अणुभर भी संकेत कर देता तो हम माँ-बेटी की यह दुर्दशा तो नहीं होती।

मेरी माँ और बहिन, तुम दोनों हमें क्षमा करो। सूरदत्त ने कहा– हमें नहीं मालूम था कि तुम दोनों उन महर्षि की माँ-बहन हो। अपने सभी वस्त्राभूषण वापस ले लो और विवाह की सामग्री भी। अन्यथा नरक में भी हमारी आत्मा शान्ति नहीं पायेगी।

नागदत्ता ने छीने हुये वस्त्राभूषण और विवाह की सामग्री पाकर अपना अहोभाग्य समझा और चोरों से सम्मान पाकर पुनः मुनि की भक्ति भाव से वन्दना की।

अब बाप ने बेटे को मारने की आज्ञा दी :

मगध सुन्दरी के प्रेम के सम्मुख विद्युत चोर झुक गया। वह श्रेष्ठ श्री कीर्ति के महल की ओर बढ़ा। मार्ग में विचारा— जब स्त्री के क्षेत्र में उच्चकोटि के योगीश्वर तक पराजित होते हैं तब फिर मैं तो चोर हूँ और फिर मेरी हार तो अभी जीत होगी।

चोर ने चोरी तो कर ली पर वह हार की कान्ति को नहीं छिपा सका, जो उसके साथ चाँदनी-सी चमक रही थी। सिपाहियों ने उससे रुकने के लिये कहा पर वह भागा और उतना भागा कि जितना भी उससे भागते बना। पर जब और अधिक भागते नहीं बना तब श्मशान में आत्म-साधना करते हुए राजकुमार वारिषेण के समीप हार को फेंक दिया और अदृश्य होकर ही अपने लिए निरापद समझा। पर उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही थी कि अपने प्राण बचाने के लिये दूसरे के प्राण सङ्कट में डाल दिए।

सिपाहियों ने हार को ले लिया और वारिषेण को पकड़ लिया तथा सम्राट श्रेणिक के सम्मुख उपस्थित कर दिया। पिता ने पुत्र को देखते ही कहा— तुम्हारा यही धर्मात्मापन है? तुम यही श्मशान मे ध्यान करते हो? मैं तो तुम्हें युवराज बनाना चाहता था, पर अब तुम्हें यमराज को सौपूंगा। श्रेणिक ने क्रोधित होकर कहा— ले जाओ इसे, तलवार के एक ही वार से काम तमाम कर दो; भगवान! ऐसा नालायक बेटा किसी को न दे।

जल्लादों ने खींचकर जोर से अपनी तलवारें वारिषेण की गरदन पर मारीं तो वे फूल की मालायें बन गई। यह बात जब राजा श्रेणिक ने सुनी तो वे अपने अपराध के लिये वारिषेण से क्षमा माँगने लगे। उन्हें अपने कार्य पर बड़ा पछतावा हो रहा था।

नहीं, पिता श्री! आपने जो कुछ किया, वह ठीक ही किया। अगर आप मुझे सजा न देते तो प्रजा के प्रतिनिधि आपके न्याय में आस्था नही रखते— वारिषेण बोले। सम्राट् श्रेणिक समझ नही सके कि आज उनका मान-मन्दिर ढह रहा या बढ़ रहा।

और तब ही विद्युत चोर ने आकर कहा— अपराधी ये नहीं बल्कि मैं हूँ, सम्राट्! मैं विश्वास दिलाता हूँ कि अब कभी किसी वारांगना के लिये मैं ऐसा जघन्य अपराध नही करूँगा।

आगरा (उ०प्र०)

—लक्ष्मीचन्द्र जी 'सरोज'
एम०ए०, बी०एड०

एक महान् विभूति— श्री आचार्य महावीर कीर्ति

卐 विद्यार्थी से आचार्य :

बाल्यकाल अर्थात् विद्यार्थी जीवन से ही मेरा श्री महेन्द्रसिंह जी से परिचय था। शास्त्री कक्षा में पढ़ते थे, तभी से उनकी विरक्त परिणति थी। सिद्धान्त का मोह था। सिद्धान्त-विरुद्ध बोलने वाले के प्रति रोष भी था। सिंह वृत्ति उस सिंह में थी, इसमें कोई शङ्का की बात नहीं।

न्यायतीर्थ होने के बाद महाविद्यालयों में अध्ययन नहीं किया, स्वाध्याय करना प्रारम्भ किया। जब उन्होंने विचार किया कि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तप व चारित्र से होता है तब उन्होंने उस मार्ग के अवलम्बन का निश्चय किया। संसार नश्वर है, संसार के विषय भोग किंपाक फल के समान हैं। बाहर से सुन्दर प्रतीत होते हैं परन्तु अनुभव में आने के बाद बहुत ही कटु फल देते हैं। इस बात का उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया, सो चारित्र-मार्ग अपनाने के लिये श्री आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी महाराज से उन्होंने ब्रह्मचर्य दीक्षा ली और आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ली। तदनन्तर विहार करते हुए वे दक्षिण भारत की ओर आये। अक्कूली के आदिसागर जी महाराज से उन्होंने मुनि दीक्षा ली। गुरु की अन्तिम समाधि में बहुत बड़ी सुश्रुषा भी की। गुरु भक्ति को जिस आदर्श के साथ व्यक्त किया, वह अनन्य असाधारण है। आदिसागर जी महाराज बड़े ही सौम्य प्रकृति के थे। उनके सानिध्य में रहकर आचार्य महावीर कीर्ति जी ने भी सौम्य रहने का अभ्यास किया। आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की कर्म भूमि शेडवाल में उन्हें आचार्य पद दिया गया। वे आचार्य होने के सर्वथा योग्य थे। चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का उन्होंने अभ्यास किया था और अनुभव मनन व चिंतन किया था।

卐 स्वाध्याय से ज्ञान का बल :

आचार्य महाराज ने जैन सिद्धान्त का क्रमबद्ध अध्ययन किया था। अनेक वर्ष महाविद्यालय व सिद्धान्त शास्त्रियों के पास रहकर सिद्धान्त के वास्तविक मर्म को समझ लिया था। विद्यालय जीवन के बाद उन्होंने चारित्र मार्ग का अवलम्बन किया था। उनका परम विश्वास था कि ज्ञान का फल चारित्र है। ज्ञान प्राप्त करने के बाद यदि चारित्र को धारण न करे तो वह ज्ञान व्यर्थ है। राजवार्तिक पढ़ते समय वे बार-बार यह कहा करते थे कि—

"हतं ज्ञानं क्रियाहीनम् हता चाज्ञानिनां क्रिया।"

अर्थात् क्रियाहीन ज्ञान बेकार है और अज्ञानियों की क्रिया भी बेकार है। किसे मालूम था कि एक दिन

हमारे सहपाठी इसे सत्य सिद्ध करेंगे ? हम से चरणों में नमोस्तु कहायेंगे, यह उस समय कल्पना भी नहीं थी। उनकी इच्छानुसार वे पार हो गये हम लोग तो यहीं पड़े हैं। "यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।" जिसकी जैसी भावना होती है, उसी प्रकार सिद्धि होती ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

स्वाध्याय के बल से उन्होंने अपठित सभी ग्रन्थों का स्वाध्याय किया। संस्कृत में अच्छी गति होने के कारण सभी ग्रन्थों का ज्ञान सरलता से हुआ।

सिद्धान्त, न्याय, दर्शन का तो पहले से उन्होंने अभ्यास किया था। वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, निमित्त, शकुन आदि लौकिक-पारलौकिक विद्याओं का भी उन्होंने अध्ययन किया। चारित्र व तप की निर्मलता लिये स्वाध्याय में खूब चित्त लगा। क्षयोपशम भी जागृत रहा इसलिये सभी ग्रन्थों का गहन ज्ञान उन्हें था। अमुक विषय अमुक ग्रन्थ के अमुक पृष्ठ मे है, यह वह सहज बतलाते थे। उन्हें चलता फिरता ज्ञानात्मक शब्दकोश' भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

卐 २१ घन्टे मौन :

रात को तो वे मौन रखते ही थे, दिन में भी काफी मौन रखते थे। प्रातः से भोजन के समय तक मौन रहते थे। भोजन के बाद करीब १ घन्टा बोलते थे। अनन्तर पुनः मौन। दोपहर को उपदेश देने के लिये लोगों की प्रार्थना करने पर मौन खोलते थे। उस समय सिर्फ २ घन्टे बोलते थे। इस प्रकार २४ घन्टों में २१ घन्टे मौन रखकर आत्म सिद्धि करते थे। उनका विश्वास था कि मौन से आत्म बल बढ़ता है, मौन से चित्त की एकाग्रता में बड़ी सहायता मिलती है, मौन मे मन का चिंतन-बल बढ़ता है।

卐 आत्म ध्यान में स्थिर :

मौन के समय आचार्य महाराज क्या करते होंगे ? इसका विचार हमें आता है। खाली बैठे रहने में अनेक विचार आते रहते हैं। वे ध्यान सिद्धि कैसे करते होंगे ?

स्वामी विवेकानन्द किसी व्याख्यान को जाने से पहले आँख मींचकर बैठे थे। किसी ने प्रश्न किया— स्वामी जी ! आप क्या कर रहे है ? तब उन्होंने कहा— "मुझे व्याख्यान के लिये जाना है। अन्दर शक्ति भर रहा हूँ। जैसे फुटबाल में हवा भरे बिना वह उछल नहीं सकती, उसी प्रकार शक्ति सञ्चय के बिना यह आत्मा भी काम नहीं करती है।" आचार्य महाराज भी २१ घन्टे मौन रहकर ध्यान करते थे। ध्यान में चित्त नहीं लगने पर अध्ययन करते थे। यही उनका नित्य क्रम था— ध्यान करना व अध्ययन करना। फिर पर्वत प्राय ज्ञान का सञ्चय क्यों न हो ? आचार्य कुन्द कुन्द देव ने 'मुनियों का कर्तव्य' प्रतिपादन करते हुये कहा है—

झाणज्झयणं मुक्खं जइ धम्मे तं विणा तेण सोवि

यति-धर्म में ध्यान व अध्ययन मुख्य है। ध्यान व अध्ययन के बिना यति-धर्म हो ही नहीं सकता है। इसलिये आचार्य महाराज ध्यान व अध्ययन करते हुए यति-धर्म के नियमों का पालन करते ही थे, साथ में अपनी शक्तियों को भी एकत्रित करते थे। आत्मा की शक्ति कर्म के निमित्त से संसार के भोगों के कारण

बिखरी हुई है, उस बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करने का कार्य एकाग्रता के साथ मुनि-धर्म में ही हो सकता है। चंचल चित्त वाला गृहस्थ उस कार्य को नही कर सकता है। इसलिए आचार्य श्री भी ध्याना-ध्ययन के बल से उस पावन कार्य को कर रहे थे।

卐 ध्यान के बल से आत्म-सिद्धि :

ध्यान का सतत अभ्यास करने से आचार्य श्री को आत्म-सिद्धि हो गई थी और मौन का अधिक पालन करने से वचन सिद्धि भी हो गई थी। वे जो कुछ भी बोलते थे, सत्य होकर रहता था। वे सोच समझ कर बोलते थे और प्रयोजन भूत विषय ही बोलते थे। अप्रयोजन भूत विषय को वे कभी नही बोलते थे।

卐 मन्त्र शास्त्र वेत्ता :

उनकी श्रद्धा थी कि मन्त्रों में अचिन्त्य शक्ति है। आज भी निर्मल चारित्रधारी साधुगण उनकी सिद्धि करें तो वह सिद्ध हो सकते हैं। धर्म प्रभावना के लिये, परोपकार के लिये इस शास्त्र का उपयोग करें। स्वार्थ पोषण के लिये उपयोग करने पर कभी-२ अनर्थ होने की भी संभावना रहती है। विद्या-नुवाद, ऋषि मण्डल भक्तामर कल्प आदि पर उनका बड़ा अधिकार था। वे सर्प के विष को तो णमो-कार मन्त्र को पढ़कर ही दूर कर देते थे। इससे उनकी श्रद्धा कितनी बलवती थी, यह बात सहज ही समझ मे आती है।

卐 आयुर्वेद विषयविद् :

आयुर्वेद को भी वे अच्छी तरह जानते थे। लोगों को कभी-२ औषधि मूलक सफल प्रयोग बतलाते थे। लोगों का उससे हित होता था। आयुर्वेद शास्त्र का वर्णन करते हुए ग्रन्थकारों ने कहा है कि—

लोकोपकार करणार्थमिदं हि शास्त्रं—
शास्त्र प्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वस्थस्य रक्षण यथामय मोक्षणं च—
संक्षेपतो ह्यमेव निगद्यतेऽयम्॥

आयुर्वेद शास्त्र का प्रधान ध्येय ही यह है कि उससे परोपकार करें, लोकोपकार करें। शास्त्र का प्रयो-जन दो प्रकार से वर्णित है— एक तो स्वस्थ का संरक्षण, दूसरे रोग-ग्रस्त का रोग-मोक्षण, यह सब आयुर्वेद शास्त्रों में कहा गया है।

आचार्य महाराज मन्त्र आयुर्वेद के समान ही ज्योतिष शास्त्र को भी अच्छी तरह जानते थे। उस विद्या के बल से भविष्य में होने वाले अनर्थ से लोगों को बचाते थे। अनिष्ट की निवृत्ति के लिये आवश्यक उपायों का भी निरूपण करते थे।

卐 नियतिवाद के विरोधी :

कुछ लोग कहते हैं कि जो होना है वह होकर ही रहेगा, उससे संरक्षण हो नहीं सकता। इसका

अर्थ यह है कि पुरुषार्थ किसी काम का नहीं। केवली देव ने जो कुछ भी निर्णय किया है, वह होगा ही— यह नियतिवाद है। इस नियतिवाद का बहुत जोर से जैनाचार्यों ने खण्डन किया है। वह मिथ्यात्व है।

पापोदय का प्रसङ्ग आने पर पुण्य कार्य को सम्पन्न करें तो पापोदय का रस भाग क्षीण हो सकता है। पुण्य का रस भाग अधिक होने से उस पाप का तीव्र फल भोगने का प्रसङ्ग नहीं आता है— यह जैन सिद्धान्त है। इसलिये आचार्यों ने सविपाक निर्जरा-अविपाक निर्जरा विभाग किये हैं। पुरुषार्थ के बल से कर्म की शक्ति को बदलने की योग्यता इस आत्मा मे मौजूद है। अगर यह बात न हो तो तपश्चर्या क्यों करते हैं ? चारित्र धारण क्यों करते है ? संयमाचरण क्यों किया जाता है ? परीषहजय क्यों किया जाता है ? कोई मृदुकर्मी होते हैं और कोई कठोर कर्मी होते हैं। उन्हें उनके कर्म के अनुसार कार्य करना पड़ता है। आत्मा का स्वरूप एक होने पर भी सभी की योग्यता एक नहीं होती। कर्म की शक्ति को बदलने की शक्ति भी इस आत्मा में है। आत्मा अनन्त शक्तियों की धारक है। उस शक्ति का उपयोग करते हुए, वस्तु स्थिति से विरुद्ध उपयोग न करते हुए, सीमित दायरे में वह अपनी शक्ति का उपयोग कर सकता है।

卐 ज्ञान से जनहित :

बहुत से लोग यह कहते है कि मुनियों को मन्त्र-तन्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि का उपदेश नहीं करना चाहिये। औषधि मालूम होते हुए भी दूसरों को नहीं देना चाहिये। ज्योतिष से मालूम होने पर भी किसी को आपत्ति से बचाना नही चाहिये। इससे उनका मुनि धर्म नहीं रहता।

परन्तु इस सम्बन्ध में विचारना चाहिये, ऐसा निषेध कहीं भी नहीं है। स्वार्थवश इन शास्त्रों का उपयोग नही करना चाहिये। मुझे यह भोजन अच्छा होगा, इसलिये उसे अच्छी औषधियों का प्रयोग बताऊँ, इस अभिप्राय से औषधि का प्रकाश नही करना चाहिये। इसी प्रकार ख्याति, लाभ पूजा के प्रलोभन से, ज्योतिष व मन्त्र शास्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिये। अगर किसी धर्मात्मा के ऊपर आपत्ति आती हो तो उस आपत्ति को समय पर बताकर दूर करने का उपाय बताना चाहिये। उसके सङ्कट का निवारण करने से अनेक प्रकार से धर्म की रक्षा होती है। अनेक धर्मात्माओं का संरक्षण होता हो तो उस कार्य को विष्णुकुमार बनकर अवश्य करना चाहिये। अनेक मुनिराजों ने समय पर धर्म प्रभावना के लिये, धर्मात्माओं के रक्षण के लिए मन्त्र शास्त्र वैद्यक ऋद्धि-सिद्धि आदि का उपयोग किया। इसके उदाहरण शास्त्रों मे मिलते हैं।

आचार्य महावीर कीर्ति जी भी समय-समय पर अपने पठित विषयों का उपयोग ऐसे ही धार्मिक कार्यों के लिये करते थे। लोग भले ही उनकी टीका करें परन्तु वे निर्भीक होकर आगमों का सदुपयोग कर, आगम मार्ग का अनुसरण करते थे। जो लोग इस विषय का निषेध करते हैं उनको जैनागम का रहस्य मालूम नही, वे जैनागम को नहीं जानते हैं, ऐसा ही उनका कहना था। अतः उनके द्वारा यथेष्ट परोपकार होता था।

卐 शासन देव देवियों का आदर :

शासन देवी-देवता का सत्कार होना चाहिये । भगवान की बराबरी में उनकी पूजा भले ही न हो, उनका समादर गृहस्थों को करना चाहिये । वे सम्यग दृष्टि जीव हैं, उनके सम्यकत्व को जानकर ही देवेन्द्र ने उन्हें शासन की सेवा के लिये नियत किया है । सभी देवों को यह सौभाग्य नहीं मिलता है । इसलिये वे मोक्षगामी जीव हैं जो तीर्थंकरों की बड़ी भक्ति से सेवा करते हैं ।

सोधर्मेन्द्र, शचीदेवी, दक्षिणेन्द्र, लोकपाल, लौकान्तिक देव, सर्वार्थ सिद्धि के देव पहले-दूसरे भव से मुक्ति को जाते हैं, उनके लिये मुक्ति निश्चित है । उसी प्रकार शासन देवी देवताओं के लिये भी मुक्ति निश्चित है । उनका समादर यथा योग्य करना चाहिये । उनकी अवहेलना करने से वे नाराज भी हो सकते है । अपना अहित भी कर सकते है । जिनेन्द्र भक्त होने के कारण जिनेन्द्र भक्तों की वे सहायता भी करते है । उनके हर कार्य में, सिद्धि-समृद्धि करने में सहायता करते रहते हैं ।

आचार्य श्री इनके प्रति आदर रखते थे अतएव कई बार उन्हें इन देवी देवताओं का साक्षात्कार हुआ था । डेह आदि स्थानो मे क्षेत्रपाल आदि से आचार्य श्री का मिलना हुआ था ।

हर एक से ये व्यंतरदेव नहीं मिलते है । जो हितकारी हैं, महापुरुष हैं, जिनसे अनेकों का उद्धार होता है, उन्ही से वे मिलते हैं और समय-२ पर उद्धार-मार्ग को भी प्रदर्शित करते हैं, यही उनकी विशेषता है । आचार्य श्री के निर्मल चारित्र के कारण ही देवी-देवता उनके आस-पास विहार करते थे । इतना ही नही उन्हे स्वयं अपने मरण का ज्ञान भी पहले से हो गया था । महेसाना में मरण से दो दिन पहले से ही उन्होंने जो व्यवस्था की थी वह इस बात की सूचना ही है । हर एक को यह साध्य नहीं है ।

卐 उपसर्ग विजयी आचार्य महाराज :

अनेक प्राणान्तक उपसर्ग उनके जीवन में आये परन्तु उनको शांति के साथ सहन किया । कोई प्रतिकार भी नही किया, यह उनकी विशेषता है । वे चातुर्मास योग प्रायः सिद्ध क्षेत्रों में किया करते थे, जहाँ सुख सुविधा की कमी है, श्रावकों के घर कम हैं । अपने अन्तराय की परीक्षा के लिये जनसमूह-नगरवास से बहुत दूर चातुर्मास करने का उनका नियम था । साथ के लोग बहुत चकित होते थे तथापि उनका आग्रह था कि सिद्ध क्षेत्रों में ही चातुर्मास करें, जिससे ४ महीने तक बराबर रोज सिद्धक्षेत्र की वन्दना की जा सके ।

जहाँ से अनन्तानन्त सिद्ध मुक्ति को गये, वह भूमि वन्दनीय है । उनके तप के द्वारा वह पुनीत है यही कारण है कि शिखरजी आदि सिद्धक्षेत्रों के प्रति उनके हृदय में अपार भक्ति थी । वे एकांत अधिक पसन्द करते थे । जन समूह के बीच अधिक रहना उनके लिये बेचैनी का कारण बन जाता था ।

इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में जीवन भर आत्म-साधना तो की ही, साथ ही अन्य जीवों का भी उद्धार किया । उनका शिष्य-समुदाय बहुत है, वे ऐसे सद्गुरु को पाकर अपने को धन्य मानते हैं उनके सङ्घ में रहने वाला साधु अनुशासन प्रिय, निर्लोभी, निरारम्भी व निष्परिग्रही हो, यह उनका

लक्ष्य था। ऐसे साधु के एक परम भक्त शिष्य ने उनके सम्बन्ध में स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य किया है, यह स्तुत्य है। यह कृतज्ञता गुण समाज में जितने परिमाण में अधिक बढ़े उतना ही समाज तेज-पुञ्ज हो सकता है।

सोलापुर

—विद्यावाचस्पति श्री पं० वर्धमान पा० शास्त्री
सम्पादक जैन गजट, जैन बोधक

आचार्य श्री द्वारा सुनाई जाने वाली
कुछ शिक्षाप्रद बातें

१. न खेलो जुआ, न फाँदो कुआ।
२. न खेलो सट्टा, न लगाओ कुल में बट्टा।
३. करोगे सेवा, मिलेगा मेवा।
४. दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करें न कोय।
५. बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय।
६. बोवे पेड़ बबूल का आम कहाँ से खाय।
७. जाको फटी न पैर बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।
८. घोड़ा चढ़े पड़े, पड़े क्या पीसनहारी।
द्रव्यवन्त ही लुटे, लुटे क्या जनम भिखारी॥
९. बन्धता विषय कषाय से, छूटे भक्ति वैराग।
इनमें जो आछा लगे, ताहि मारग लाग॥

—क्षुल्लक शीतलसागर

शुभ कामना

बीसवीं शताब्दी के वीतरागी सन्तों में परम पूज्य स्वर्गीय आचार्य श्री शांतिसागर जी के बाद पूज्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का नाम आता है। आप महान् तपस्वी व विद्वान् साधु थे जिनकी सेवा व सत् समागम का सौभाग्य हमें आगरा (उ०प्र०) में प्राप्त हुआ था व पुनः सत्समागम की प्रबल भावना थी।

स्वर्गस्थ आत्मा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करे और हमें रत्नत्रय की साधना में सहायक हो, यही शुभ कामना है।

आगरा (उ०प्र०) —ब्र० राजकुमार जैन

गंगा जल से पवित्र

घटना सम्भवत: १९२८ से १९३४ तक की है।

मैं श्री पं० महेन्द्रकुमार जी के आग्रह पर बड़नगर जैन अनाथाश्रम में विद्याध्ययन के लिए गया था क्योंकि मेरे चाचा समाज के प्रसिद्ध एवं जैन शास्त्रों के प्रकांड विद्वान् प० कुँवरलाल जी जैन सिद्धान्त शास्त्री बिलराम (एटा) उत्तर प्रदेश निवासी थे जो श्री पं० महेन्द्रकुमार जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी) के विद्या गुरु थे।

आचार्य महाराज ने उनसे मथुरा विद्यालय में अध्ययन किया था। इस कारण मेरे ऊपर उनका अत्यन्त स्नेह था। कोई भी वस्तु चाहे खाने की हो चाहे पहिनने की उसमें से वे मुझे अवश्य देते थे। उनकी कृपा एवं प्रेम से मैंने उनके पास रहकर तीन खण्ड प्रवेशिका एवं तीन खण्ड विशारद के पढ़े थे। उन्हीं के द्वारा भेजे जाने पर सर हुकुमचन्द्र महाविद्यालय जंवरी बाग इन्दौर में शास्त्री के चार खण्ड एवं न्यायतीर्थ का अध्ययन किया था।

उस समय मालवा प्रान्तिक सभा इन्दौर के महामन्त्री जैन धर्म-भूषण स्वर्गीय ला० भगवानदासजी अवागढ़ वाले थे जो बड़नगर मे रहकर अनाथालय एवं औषधालय का भी मन्त्रित्व किया करते थे। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी उपरोक्त संस्थाओं के प्रबन्धक थे। इन दोनों सज्जनों का व्यवहार छात्रों के प्रति बहुत ही प्रशसनीय था। लाला भगवानदास जी की ही प्रेरणा से पं० महेन्द्र-कुमार जी शास्त्री न्यायतीर्थ ने आयुर्वेद का अध्ययन आचार्य तक किया एवं उत्तीर्ण हुए। साथ-२ मैंने भी आचार्य महाराज की प्रेरणा से आयुर्वेद का अध्ययन किया तथा वैद्य की उपाधि प्राप्त की।

जब वे मालवा प्रान्तिक जैन औषधालय बड़नगर के प्रधान चिकित्सक थे, उस समय मैं उनका सहायक वैद्य रहा था तथा उनके चरण सानिध्य में रहकर मैंने न्याय प्रथमा, न्याय मध्यमा एवं व्याकरण प्रथमा व मध्यमा की भी परीक्षायें देकर सफलता प्राप्त की थी। जब मैं बड़नगर में विद्याध्ययन करता था उस समय एक दिन पं० जी (आचार्य महाराज) मुझसे बोले, प्रद्युम्नकुमार चलो मन्त्र सिद्धि करें। मैंने स्वीकृति देदी। तुरन्त २ जोड़ी कपड़े, २ आसन आदि मन्त्र सिद्ध करने की सामग्री तैयार हो गई और अगले दिन रात के १२ बजे अनाथालय में बावड़ीवाली कोठरी में हम लोग मन्त्र सिद्ध करने लगे। हम लोगों को जब मन्त्र सिद्ध करते हुए आठ दिन हो गये तब एक रात में मुझे स्वप्न हुआ कि किसी ने मुझ से कहा कि तुम मन्त्र सिद्ध मत करो, इसमें तुम सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। हमने पं० जी के भय से उनसे नहीं कहा। जब आठ दिन बाद उनको भी ऐसा ही स्वप्न हुआ, तो हमसे बोले प्रद्युम्न

कुमार अब हम लोग मन्त्र सिद्ध नहीं करेंगे। मैंने पूछा पण्डितजी बात क्या है? तो बोले—कल रात में हम को स्वप्न में किसी देव ने कहा है कि तुम हमको सिद्ध मत करो, तुम्हारा कार्य रुकेगा नहीं। मैंने कहा कि आठ दिन पूर्व मुझे भी ऐसा ही स्वप्न हुआ था किन्तु मैंने आपके भय से नहीं कहा। वे बोले—तुमने गलती की, तुमको हमसे कहना था। इस घटना के साथ हम दोनों ने मन्त्र सिद्ध करना छोड़ दिया।

जब वे मुनि हुए उसके बाद से वही देव उनको सिद्ध हो गया था। अतः वे लोगों से जो कहते थे वही होता था। उन्होंने मथुरा में लोगों से कहा था कि तुम भी गेहूँ भरलो बहुत तेजी आवेगी, सो वैसा ही हुआ। उसके बाद गेहूँ छह छटांक का बिक गया। और कई घटनायें जिनके विषय में स्वर्गीय आचार्य महाराज ने भविष्यवाणी की थी, सत्य हुईं। मथुरा में जब वे मेरे घर पर आये थे तो मेरी धर्मपत्नी ने पूछा कि महाराज मेरी तबियत ठीक होगी या मरूँगी? तब उन्होंने कहा कि मरेगी नहीं ठीक हो जावेगी। शनैः शनैः उसकी तबियत ठीक हो गई।

जब आचार्य महाराज बड़नगर में थे तब वे बहुत साधना करते थे जैसे भोजन नहीं करना, सिर्फ किशमिश ही खाकर दिन बिता देना। इनकी चाची थी, जो इनसे बहुत कहती थीं कि बेटा खाना खालो परन्तु ये ध्यान नहीं देते थे। यह धोती के स्थान पर ढाई गज का टुकड़ा ही बांध लेते थे। कौन जानता था कि आगे चलकर ये जैन समाज के महान दिग्गज आचार्य पुङ्गव होंगे? उनको संस्कृत अंग्रेजी, कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। ये व्यायाम, प्राणायाम तथा शीर्षासन करते थे। इनके साथ मैं भी उपरोक्त कार्य किया करता था जिससे आज भी मेरा स्वास्थ्य ठीक है। इनके साथ ब्र० चिदानन्द जी भी अनाथालय में रहते थे जो बाद में श्री १०५ क्षुल्लक चिदानन्द के नाम से जैन समाज में प्रसिद्ध हुए और अन्त में समाधि लेकर स्वर्ग सिधारे।

मेरी भावना है कि आचार्य महाराज का सान्निध्य मुझे भव-भव में मिले। उनका जीवन आरम्भ से अन्त तक गङ्गा के जल के समान पवित्र था। उनके भाई श्री वैद्य धर्मेन्द्रचन्द्र जी का भी मेरे ऊपर उन दिनों स्नेह था। इनके एक भाई थे श्रीधरलाल जी जो उस समय उज्जैन के आस-पास पढ़ाते थे। आचार्य महाराज के पूज्य पिताजी भी धार्मिक थे जो बड़नगर में ही रहते थे। पण्डित वैद्य जी की शादी करने के लिये पं० बाबूराम जी ज्योतिषी एटा वाले महीनों बड़नगर पड़े रहे परन्तु इन्होंने अपनी शादी नहीं की। कारण इनको तो आचार्य पद पर रहकर आत्म साधना करनी थी। ऐसे ऋषि-पुङ्गव का जैन समाज ने अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करके जो महाविनया की, इससे जैन समाज एवं ग्रन्थ के विद्वान सम्पादक मण्डल को अतिशय पुण्य लाभ होगा।

मथुरा (उ०प्र०) — प्रद्युम्नकुमार शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य

आचार्य श्री की भक्ति का स्रोत और प्रवाह

पञ्चमकाल में भावी तीर्थंकर आचार्य प्रवर श्री समन्तभद्र स्वामी हुए, जिनके आदर्श जीवन में भक्ति को प्रमुख स्थान मिला है।

स्वयंभू स्तोत्र की रचना करके स्वामीजी ने शिवपिन्डी से भगवान चन्द्रप्रभु स्वामी को प्रकट कर दिया था। इस स्वयंभू स्तोत्र में चौबीस तीर्थंकरों के गुणानुवाद को करते हुये श्री समन्तभद्र स्वामी ने जगह-जगह अपनी प्रिय न्याय शैली का अनुसरण किया है। इसमें कही पर भगवान को संसार-रोग नाशक सच्चा वैद्य बताया है तो कही पर हित के अनुशासन में माता-पिता के समान कहा है। यथा—

त्वं संभव: संभव तर्ष रोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिकएव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ ! रुजां प्रशान्त्यै ॥

हे संभव नाथ भगवन ! संसार में उत्पन्न हुए तृष्णा रूपी रोग से पीड़ित संसारी प्राणियों के लिए संसार में आप ही एक अमोघ वैद्य हैं, जैसे कि लोक में लोगों के रोगों के नाश करने के लिए उत्तम वैद्य माना गया है तथैव "मातेव बालस्य हितानुशास्ता" जिस प्रकार माता सदैव बालक का हित चाहती है उसी प्रकार से हे भगवन् ! आप भी माता के समान संसारी प्राणियों को सच्चे हित मार्ग का शासन करने वाले हैं।

स्वयंभू स्तोत्र की सभी पंक्तियाँ भाव पूर्ण सरसता को लिए हुए है। तब ही तो चन्द्रप्रभु की स्तुति बोलने पर चन्द्रप्रभु भगवान ही साक्षात् प्रकट हो गये थे।

आचार्य श्री ने एक 'स्तुति विद्या' बनाई है जो शब्दालङ्कार का सागर है। कही पर एकाक्षरी, द्वयाक्षरी श्लोकों से भगवान् के गुण कीर्तित किये गये, कहीं पर मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, हारबन्ध, कमलबंध आदि की रचना से भगवान के गुणों का वर्णन हुआ। इस स्तुति विद्या में भी चौबीस तीर्थंकर की स्तुतियाँ हैं। इसका दूसरा नाम जिन शतक भी है। इसका एक दर्शनीय उदाहरण देखिए—

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोती तितोतृतः ।
ततोऽताति ततो तोते ततता ते ततोत तः ॥

हे भगवन ! आपने विज्ञान वृद्धि की प्राप्ति को रोकने वाले इन ज्ञानावरणादि कर्मों से अपनी विशेष रक्षा की है ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञानादि विशेष गुणों को प्राप्त किया है। आप परिग्रह रहित-स्वतन्त्र हैं। इसलिए पूज्य और सुरक्षित हैं एवं आपने ज्ञानावरणादि कर्मों के विस्तृत

अन्तदिकालिक सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है, अतः आपकी विश्वालता-प्रभुता स्पष्ट है आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामी जी का इतना साहस था कि देवागम स्तोत्र के द्वारा साक्षात् भगवान के तर्क को कसौटी पर कसने का-परीक्षा करने का पुरुषार्थ कर डाला है।

देवागम स्तोत्र में स्वामी जी ने भक्ति में विभोर होकर गजब ही कर दिखाया है। कृतज्ञता और गुणज्ञता इन दोनों गुणों को भक्त में दिखलाते हुए साक्षात् भगवान को ही न्याय की कसौटी पर कसकर अर्हंत और सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

श्री उमास्वामी आचार्य के द्वारा रचित मङ्गलाचरण

"मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद् गुण लब्धये ॥"

इस महान श्लोक पर स्वामी जी ने आप्त की मीमांसा-परीक्षा करते हुए 'देवागम नभोयान' इत्यादि श्लोकों द्वारा जो रचना की है, उस पर श्री भट्टअकलङ्क देव ने अष्टशती टीका लिखी है, पुनः इस देवागम स्तोत्र, एवं अष्टशती को वेष्टित करके आचार्य श्री विद्यानन्द ने अष्टसहस्री ग्रन्थ की रचना की—जो कि न्याय दर्शन में एक उत्तम ग्रन्थ है। स्याद्वाद का जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है, ऐसा वर्णन शायद ही अन्यत्र कहीं देखने को मिल सकेगा। स्वामी जी को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने युक्त्यानुशासन के द्वारा वीर प्रभु का स्तवन करते हुए अपनी न्याय-पद्धति का ही अनुसरण किया है।

इसी प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में ओत-प्रोत हुए श्री महावीर कीर्ति महाराज भी इस शताब्दी के महान आचार्य हो गये हैं उन जैसी जिन भक्ति का नमूना इस समय अन्यत्र किसी में देखने को नहीं मिलेगा। जैसे आप सर्वांगीण विषयों के महान ज्ञानी थे वैसे ही आप जिनभक्ति में अत्यन्त आसक्त थे। प्रायः प्रतिदिन प्रातः स्थानीय सभी मन्दिरों के दर्शन करना एक-एक वेदी पर तीन-तीन बार उठ कर खड़े होकर नमस्कार करना। तीर्थों की भक्ति के विषय में तो आपके प्रति आपका ही उदाहरण समर्थ होगा। लगभग १२ वर्षों से सभी चातुर्मास आपने तीर्थों पर ही किए हैं और एक-एक कूट की वन्दना में आप कई प्रदक्षिणायें देते थे। आपको बार-बार अवार्त नति साष्टांग नमस्कार और प्रदक्षिणा में आनन्द आता था। आप खानिया चातुर्मास में हम सभी शिष्य वर्गों से भी यही बात कहा करते थे कि सर्वत्र वेदी में तीन प्रदक्षिणा एवं तीन-तीन बार उठ बैठकर नमस्कार किया करो इससे पुण्यबन्ध के साथ-साथ शरीर हल्का होता है, प्रमाद तथा सुस्ती भाग जाती है।

आज भी मैं जब गुरुदेव श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का स्मरण, वन्दना करती हूं। तब मेरे कान में उनके वे सभी शब्द गूंजते हुए से मालूम पड़ते हैं हृदय में तीर्थों के प्रति अगाध भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ता है। किन्तु हम जैसे भाग्यहीनों को तीर्थ वन्दना का सुअवसर बार-बार कहाँ मिल सकता है? खानिया में सम्वत् २०१४ में आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की भक्ति से प्रेरित होकर ही आप उनकी सल्लेखना में भक्ति-सेवा के द्वारा अपने जीवन को कृतार्थ करने के लिए पधारे थे। उसी

समय पूज्य गुरुदेव की आज्ञा से आपने सङ्घस्थ मुनि आर्यिकाओं को विद्याध्ययन कराना प्रारम्भ किया था। उसी सुअवसर पर आपके मुखारविंद से मुझे भी कुछ विद्या ग्रहण करने का समय मिला। प्रातःकाल प्रारम्भ में तत्त्वार्थ राजवार्तिक और अष्ट सहस्री का अध्ययन होता था। मध्याह्न में आपके श्री मुख से 'शब्दार्णव चन्द्रिका', अनगार धर्मामृत, और समयसार कलश की पढ़ाई होती थी। लगभग पांच महीने यह अध्ययन क्रम चलता रहा है। मध्य में ही आचार्य वीरसागर जी महाराज ने आश्विन कृष्ण अमावस्या को समाधिमरण पूर्वक नश्वर शरीर को त्याग दिया। अनन्तर आपने चतुर्विध सङ्घ के समक्ष पूज्य श्री शिवसागर जी महाराज को विधिवत् संस्कार करके आचार्य पद प्रदान किया था।

चातुर्मास के बाद आप नागौर की तरफ विहार करने लगे और आचार्य श्री शिवसागर जी ने अपने सङ्घ सहित गिरनार-यात्रा के लिए निर्णय किया। आपके पास प्रारम्भ किए गये हमारे अध्ययन के पांच विषय थे, जो पांचो ही अपूर्ण रहे थे अतः मैंने आपसे प्रार्थना की कि हे भगवन् ! मेरे ये विषय कैसे पूर्ण होंगे। उस समय मेरी प्रार्थना सुनकर आपने मुझे 'गुरु मन्त्र' दिया, वह गुरु मन्त्र यह था कि तुम भगवान के सामने ग्रन्थ रखकर भगवान और शास्त्र को नमस्कार करके भगवान के समक्ष ही बैठ कर अपने हृदय में गुरु का स्मरण कर लो, पुनः अपने शिष्यों को अध्यापन कराना प्रारम्भ कर दो, तुम सभी ग्रन्थों में पारङ्गत हो जाओगी। वह गुरुमन्त्र मैंने ग्रहण किया और वैसे ही अपने पास में रहने वाली आर्यिका गण को अध्ययन कराना प्रारम्भ कर लिया। ब्यावर चातुर्मास मे मैंने राजवार्तिक का अध्ययन आर्यिका जिनमती आदि को कराया। महान न्याय ग्रन्थ राज अष्ट सहस्री का जो मैंने हिन्दी अनुवाद किया है वह भी पूज्य श्री विद्यागुरु महावीर कीर्ति जी महाराज के ही आशीर्वाद का सुफल है।

आचार्य श्री के वचनामृत से शिष्यों का मनोबल, वचनबल एवं कायबल वृद्धिगत होता था। जैसा कि मैंने स्वयं अनुभव किया है। आचार्य श्री हमेशा अध्ययन कराते हुए कुछ सूक्तियां कहा करते थे। वे आज भी हमारे जीवन में बहुत काम आती है। जिस समय क्लिष्ट विषय का अर्थ हम स्पष्ट नहीं होता है और मैं खिन्न होती थी तो आचार्य श्री कहते कि पठितव्यं खलु पठितव्यं अग्रे अग्रे स्पष्टं भविष्यति।' पढ़ते चलो, पढ़ते चलो आगे-आगे स्पष्ट हो जायेगा। इस सूक्ति से मेरा उत्साह बढ़ता चला जाता था। एक सूक्ति थी "नहि अधोऽधः प्रपश्यंति नित्यमूर्ध्वं मियासवः। जो उर्ध्वगमन की अर्थात् उन्नति की इच्छा रखते हैं, उन्हें हीन आचरण वालों के उदाहरण सामने नहीं रखना चाहिए।

आप जैसे गुरुदेव के गुणों का वर्णन में हम जैसे मन्द ज्ञानी समर्थ नहीं हो सकते हैं। आप महान् गम्भीर, ज्ञानी, ध्यानी परमतपस्वी थे। दृढ़ प्रतिज्ञ और निर्भीक वक्ता थे। कन्नड़ तामिल, बङ्गला, मराठी गुजराती संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता अध्यात्म प्रेमी योगिराज थे। आपके साधु समाधि गुण भी एक विशेष गुण था। कई बार भयङ्कर से भयङ्कर उपसर्गों पर आपने विजय प्राप्त की है। परीषह और उपसर्ग से आप किंचित् भी चलायमान नहीं हुए थे। आप जिस प्रकार शिष्यों का संग्रह-अनुग्रह और निग्रह में कुशल थे वैसे ही उनसे निर्मम जल से भिन्न कमल के समान अलिप्त भी रहते थे। आपके असीम गुणों का स्मरण कर-करके मैं आपके चरणों में विनम्र हो कर सिद्धभक्ति आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु करती हूँ और आपके सदृश वीर मरण की भावना करती हूँ।

—आर्यिका ज्ञानमती जी

महातपस्वी साधुरत्न

श्रीमत्परमपूज्य, विद्वत्पूज्यपाद, निर्मलचारित्र के मूर्तिमान स्वरूप, प्रातः स्मरणीय मुनिवन्दनीय श्री १०८ आचार्यवर्य महावीर कीर्ति महाराज तो अपने आदर्श तपोबल से कल्पवासी देव हो गए, आगे वे सिद्धालय में विराजमान होंगे यह तो निःसंदेह है किन्तु समाज दुर्भाग्य से उनके सन्मार्ग प्रदर्शक दिव्य धर्मोपदेश और आदेश से वंचित हो गया। शुभ पुण्यवर्धक साधन पूर्वसंचित विशेष पुण्योदय से ही मिलते हैं।

आचार्य महावीर कीर्ति जी जब बाल ब्रह्मचारी जीवन में थे तब वे उच्चकोटि का—शास्त्री तथा न्यायतीर्थ तक न्याय और सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करके संस्कृत के प्रकांड विद्वान् बने। बीच-२ में अनेक बार वे मेरे पास आते थे और बड़े विनम्रतापूर्ण आदर भाव से मुझ से मिलते थे तथा अनेक प्रकार की शास्त्रीय विषयों की शङ्काएं करते थे। उस समय उनकी छात्र जीवन की शांतिपूर्ण मुख-च्छवि को देखकर मुझे अपने हृदय में अपूर्व आह्लाद होता था तथा यह अनुभव होता था कि—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" इस लोकोक्ति के अनुसार यह छात्र परम धार्मिक आदर्श विद्वान् एवं सत्पात्र अवश्य बनेगा। इस छात्र की बातचीत और भावना से यह भी विदित होता था कि इसके द्वारा समाज का बहुत हित होगा। नीति का यह वाक्य— "वक्त्रं वक्ति हिमानसम्" अर्थात् मुख की चेष्टा एवं बातचीत के ढंग से उसके हृदय के भावों का पता लग जाता है। इसी नीति का परिणाम मुझे इस महेन्द्रकुमार छात्र की चर्या एवं बातचीत से प्रतीत हुआ। इतना ही नहीं किन्तु मेरे अनुभव से भी बहुत अधिक बढ़कर इस छात्र ने अपना जीवन लोकवन्द्य, सर्व कल्याणकारी एवं साधु स्तुत्य बना लिया।

आचार्य महाराज की चमत्कारी चर्या

आचार्य महावीर कीर्ति महाराज की चर्या असाधारण एवं चमत्कारी रही। एक तो वे जन सम्पर्क कम रखते थे दूसरे उनका अधिकांश समय मौन में ही बीतता था। मौन में रहते हुए वे आराम या विश्राम नहीं करते थे किन्तु सामायिक से बचे हुए समय में वे गहन गम्भीर शास्त्रों का आलोड़न एवं चिंतन किया करते थे। मैंने अनेक स्थानों में अनेक बार उन्हें निकट से देखा है। वे शास्त्रों का मनन विचित्र रूप से करते थे। राजवार्तिक, कभी श्लोकवार्तिक, कभी पञ्चाध्यायी, कभी समयसार आदि शास्त्रों की पंक्तियों पर अंगुली सरकाते जाते थे और झट-झट पन्ने पलटते जाते थे। इस पद्धति से राजवार्तिक या पञ्चाध्यायी या समयसार शास्त्र का पूरा अवलोकन वे आधा घन्टे में कर लेते थे। जैसे शास्त्राधार से पूर्ण द्वादशांग का स्वाध्याय श्रुत केवली एक अन्तर्मुहूर्त में कर लेते हैं, वैसे ही आचार्य

महावीर कीर्ति महाराज एक गम्भीर एवं सूक्ष्म कठिन शास्त्र का स्वाध्याय आधा घन्टा में कर लेते थे। इस क्रम से कई शास्त्रों का वाचन एवं मनन वे प्रतिदिन करते थे। प्रत्येक शास्त्र का मर्म वे स्मरण रखते थे।

स्वरूपाचरण चारित्र

जब वे माङ्गीतुङ्गी में चातुर्मास कर रहे थे तब मैंने खुलासा विस्तृत पत्र देकर उनसे पूछा कि महाराज ! चतुर्थ गुणस्थान में जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व तक हो जाता है तब वहाँ अनन्तानुबन्धी का अभाव हो जाने से और असंख्यात गुणी निर्जरा कराने वाली विशुद्धि बढ़ जाने से स्वरूपाचरण चारित्र होता है या नहीं ? आपका इस सम्बन्ध मे शास्त्राधार से क्या अभिमत है ? तब उन्होंने श्री पं० ब्र० बिहारी लाल जी शास्त्री के द्वारा मुझे पत्र भिजवाकर अपना अभिमत प्रकट किया कि चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र अवश्य होता है। उसे आचार्य शिरोमणि कुन्द कुन्द स्वामी ने सम्यक्त्वाचरण के नाम से कहा है। उसी पत्र के साथ समयसार कलश का एक श्लोक भी भिजवा दिया, जिसमें अविरत सम्यग्दृष्टि के (चतुर्थ गुणस्थान) स्वरूपाचरण का सद्भाव स्पष्ट प्रकट होता है। इसमें संदेह नहीं है कि उनका शास्त्रीय बोध पांडित्यपूर्ण एवं अगाध था। शङ्काओं के समाधान में उनका अकाट्य उत्तर शास्त्रीय प्रमाणों सहित होता था।

एकांत एवं सिद्धक्षेत्रों पर चातुर्मास

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्ति जी प्रायः अधिकतर चातुर्मास सिद्धक्षेत्रों पर करते थे। कभी गिरनार, कभी सम्मेदशिखर, कभी गजपन्थ, कभी बड़वानी, कभी माङ्गीतुङ्गी आदि सिद्ध-क्षेत्रों पर उनके चौमासा हुए हैं। उनकी कठिन तपश्चर्या के फलस्वरूप दूर-दूर के श्रावक उन क्षेत्रों पर इकट्ठे हो जाते थे। क्षेत्रों पर भी उनकी विशेषता यह रहती कि वे पहाड़ की तलहटी मे नहीं ठहरते थे किन्तु पहाड़ पर चले जाते थे। बड़वानी आदि में मैंने स्वयं देखा है। रात्रि में वहीं रहते थे, दिन में आहार के समय नीचे आते थे और लगभग दिन के तीन बजे तक श्रावको को धर्मोपदेश देकर पहाड़ पर चले आते थे।

जिनेन्द्र भक्ति में विशेषता

महाराज जिनेन्द्र दर्शन एवं भगवान का अभिषेक देखकर ही आहार को निकलते थे। उनके जिनेन्द्र दर्शन में यह विशेषता थी कि एक मन्दिर में दस पन्द्रह वेदियां हैं तो प्रत्येक वेदी पर विराजमान भगवान के चरणों में सिर रखते थे और प्रत्येक वेदी पर तीन बार खड़े होते थे और पञ्चाङ्ग नमस्कार करते थे। आजकल पुरुष अनेक-अनेक वेदियों में मस्तक झुकाकर आगे बढ़ जाते हैं, वे धोक भी बखूबी नहीं देते हैं। पेंट पहने बाबू लोग तो हाथ जोड़कर खड़े-खड़े दर्शन कर चले आते हैं।

उदयपुर पञ्चायत द्वारा मुझे पर्व में महाराज ने बुलाया

उदयपुर चातुर्मास में महाराज ने दशलक्षण पर्व में मुझे बुलाया था। पञ्चायत ने आग्रह किया,

महाराज की आज्ञा समझकर मैं उदयपुर पहुँच गया। महाराज दिन में प्रवचन करते थे। रात्रि में मैं करता था। महाराज रात्रि में शास्त्र प्रवचन के निकट बैठते थे। दिन में जटिल प्रश्नों का समाधान महाराज द्वारा सुनकर मुझे उनकी शास्त्रीय विद्वत्ता देखकर अत्यन्त आनन्द आता था। उदयपुर में समाजमान्य श्री सेठ मोतीलाल जी मीढ़ा जौहरी बहुत धर्मात्मा श्रीमान हैं। वे अतीव सरल हैं। उनकी गुरु भक्ति प्रशंसनीय है। एक दिन वहाँ पब्लिक सभा भी हुई थी। उसमें अनेक जैनेतर विद्वान् वकील एवं व्यापारी आदि आये थे। मेरा भाषण हुआ था। आचार्य की चर्या, विद्वत्ता, तपश्चर्या आदि का परिचय पाकर सभी उपस्थित जनता महाराज के प्रति नत मस्तक हो गई थी।

सोनगढ़ी पन्थ और महाराज श्री

सोनगढ़ पन्थ के मन्तव्य दिगम्बर जैन धर्म के सर्वथा विपरीत हैं। जिस प्रकार बाहुरी अकाल की परिस्थितिवश श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव हो गया था वह फिर स्थायी बन गया। उसी प्रकार यह सोनगढ़ी पन्थ एक नया सम्प्रदाय बन जायगा, उससे नयी पीढ़ी का पूरा अहित होगा क्योंकि आजकल के शिक्षित बहुभाग नवयुवकों का खानपान अशुद्ध एवं अमर्यादित बन रहा है। फिर उन्हें यह प्रचार मिल जाए कि अभक्ष्य भक्षण जैसी बातें तो जड़ शरीर की क्रियाएँ हैं, इनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर तो यह दशा ऐसी होगी कि गिलोय स्वयं कड़वी, फिर नीम के वृक्ष पर चढ़ गई। शिथिलाचार तो स्वयं बढ़ रहा है, फिर त्याग एवं शुद्धता का विरोधी धर्म के नाम पर उपदेश मिल जाय, तब उस पतन को रोकना कठिन होगा।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में देकर आचार्य महावीर कीर्ति महाराज ने सोनगढ़ी पन्थ प्रचार के विरुद्ध अनेक प्रयत्न किये। फिरोजाबाद में कानजी भाई के आने का प्रोग्राम प्रकट हो चुका था। वे भगवान चन्द्रप्रभु के मन्दिर में दिन के ठीक ९ बजे दर्शनार्थ जायेंगे, ऐसा उनका प्रोग्राम छपकर बँट चुका था। ठीक समय पर वे मन्दिर के लिए आये भी, परन्तु उसके पहले आचार्य महाराज मन्दिर के प्रवेश द्वार के निकट एक तख्त पर विराजमान हो गये। उनका प्रयत्न यह था कि जब कानजी भाई आवेंगे, तब उनसे चर्चा करके उन्हें सच्चा दि० जैन बनावेंगे परन्तु कानजी भाई को यह मालूम होने पर कि आचार्य महाराज वहाँ बैठे हैं, वे चन्द्रप्रभु मन्दिर में नहीं आए सीधे श्री सेठ छदामीलाल जी के मन्दिर में चले गये। उस समय मैं भी वहीं पर उपस्थित था मैंने अपने भाषण में उसी समय कहा कि श्री कानजी भाई अपने मिथ्या नये पन्थ के चलाने में लगे हुए हैं। वे वीतरागी शास्त्र मर्मज्ञ साधुओं की बात भी सुनना नहीं चाहते हैं जब कानजी भाई शिखर जी गये तब भी आचार्य महाराज ने अपना आदेश मुद्रित रूप में शिखर जी भिजवाया था। उस आदेश में यह लिखा था कि यदि कानजी भाई अपना हित चाहते हैं तो वे मिथ्या प्रचार बन्द करें और सच्चे दिगम्बर जैन बनें।

पात्रदान में तीसरी प्रतिमा

आचार्य महाराज भागौर के पास डेह नगरी में जब आहार के लिए निकले तब मैं एक गृहस्थ के साथ महाराज का पड़गाहन करते खड़ा था, महाराज ने उस दिन अपनी वृत्ति संख्यान चर्या में यह

नियम रक्खा था कि यदि आहार देने वाला कोई एक पुरुष एक प्रतिमा ग्रहण करेगा, उसी के हाथ से पहला ग्रास या जल हम लेंगे। यह संकेत मालूम होने पर उस घर वालों ने मुझसे कहा कि आप एक प्रतिमा लेने की प्रतिज्ञा करो तब मैंने उसी समय तीसरी प्रतिमा लेने की स्वीकृति महाराज के सामने दी। महाराज ने मेरे हाथ से प्रथम जल ग्रहण किया। परमपूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज से दो प्रतिमा के व्रत तो मैं बहुत वर्षों पहले ले चुका था। तीसरी प्रतिमा का लाभ आचार्य महावीर कीर्ति महाराज को पात्रदान देते समय मुझे मिला।

धार्मिक संस्कार और बाह्यशुद्धि

आचार्य महाराज प्रत्येक श्रावक को धार्मिक संस्कारी बनाना चाहते थे। यज्ञोपवीत (जनेऊ) हर श्रावक को दिलाते थे। उसके बिना देव पूजन और मुनिदान देने का श्रावक को अधिकार नहीं है। ऐसा उनका शास्त्रीय आदेश था। उसी के साथ अष्ट मूलगुणों का पालन कराने का नियम दिलाते थे। शरीर शुद्धि एवं बाह्यशुद्धि का वे पूरा ध्यान रखते थे। चर्म के पट्टे वाली घड़ी, चर्म की पट्टीवाली टोपी, चर्म की पट्टीवाला पेन्ट और चर्म के जूते रखने वालों के अपना चरणस्पर्श भी नहीं होने देते थे। इतना ही नही किन्तु जो लोग ऊनी कोट या ऊन का शाल ओढ़कर आते थे, उनसे भी वे अपना चरण स्पर्श नहीं होने देते थे। *वे स्पष्ट कहते थे कि ऊनी वस्त्र में थोड़ी सी नमी (जलकण) आने से ऊन में सूक्ष्म* जन्तु पैदा हो जाते है। सहारनपुर आदि कई स्थानों में ऊनी वस्त्र पहनकर मन्दिर में जाने की निषेध पट्टी लगी हुई है। महाराज स्पष्ट कहते थे कि बाह्यशुद्धि के बिना भावों की शुद्धि का होना अशक्य है।

शासन देवों का आदर-सत्कार

आचार्य महावीर कीर्ति महाराज जब महामस्तकाभिषेक के समय श्रवण बेलगोला (जैनबद्री) पधारे थे, तब मैं भी उनके चरण सानिध्य में बैठा था। उस समय हजारों की संख्या में दक्षिण-उत्तर के नर-नारियों के समक्ष उन्होंने अपने धर्मोपदेश में स्पष्ट रूप से कहा था कि धरणेंद्र, पद्मावती क्षेत्रपाल, दशदिक्पाल आदि शासन देव सम्यग्दृष्टि हैं। वे शासन देव इसलिए कहे जाते हैं कि भगवान के शासन का वे संरक्षण करते हैं। धर्म पर और धर्मात्माओं पर आई हुई आपत्ति एवं विघ्न बाधाओं को वे तुरन्त दूर कर देते हैं। इसके प्रमाण में आचार्य समन्तभद्र, आचार्य मानतुङ्ग, आचार्य वादिराज, आचार्य अकलङ्कदेव आदि पर आई आपत्तियों को शासन देवों ने ही दूर किया था और धर्म की प्रभावना की थी। सती सीता, अन्जना आदि के ऊपर आये हुए सङ्कटों को शासन देवों ने ही दूर कर शील धर्म के माहात्म्य को इतिहास में अंकित कर दिया है। पद्मावती देवी अपने आराध्य देव भगवान पार्श्वनाथ को अपने मस्तक पर सदैव विराजमान किए हुए हैं। पार्श्वनाथ भगवान पर तपश्चरण के समय कमठ के जीव ने घोर उपसर्ग किया था, तब धरणेंद्र पद्मावती ने स्वयं भगवान के चरण सानिध्य में उपस्थित होकर कमठ के जीव मिथ्यादृष्टि यक्ष द्वारा किए गये उपसर्ग को तुरन्त दूर कर दिया। उसी समय भगवान पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

पद्मावती देवी ने पुरातन कट्टर जैनधर्म विरोधी पात्र केसरी ब्राह्मण को स्वप्न में दि० जैन धर्म

की महत्ता बताई और भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन के लिए उन्हें भिजवाया और उनकी शङ्का दूर करने के लिए पार्श्वनाथ भगवान के फण पर दो श्लोक लिख दिये और उन्हें दि० जैन बनाया। वे आचार्य विद्यानंदि बने और न्यायशास्त्रों की अष्ट सहस्त्री, श्लोकवार्तिक जैसे उच्च शास्त्रों की उन्होंने रचना की। इतना महान् कार्य पद्मावती देवी के निमित्त से और विद्यानंदि स्वामी की उपादान पात्रता से हुआ। ये शासन देव भगवान के परमभक्त हैं, सम्यग्दृष्टि है। उनका साधर्मी भाई के समान आदर-सत्कार करना श्रावक का कर्तव्य है। जो लोग अपने संस्कारवश उन्हें मिथ्या दृष्टि बताते हैं, वे शास्त्रों से अनभिज्ञ हैं। प्रतिष्ठा पाठों में, पञ्चकल्याणक विधान में उन शासन देवों का आह्वान किया जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि होने से एवं भगवान के परम आराधक होने से तथा धार्मिकों एवं धर्म पर आई विघ्न बाधाओं को दूर करने से वे श्रावकों द्वारा आदर-सत्कार के पात्र हैं, ऐसा प्रवचन महाराज ने वहां किया था। एक बार वन-मार्ग से जाते हुए आचार्य महाराज को पद्मावती ने नमस्कार किया, महाराज ने पीछी उसके सिर पर रखकर उसे आशीर्वाद दिया, ऐसा विश्वस्त सूत्र से मुझे मालूम हुआ है।

अनेक साधु एवं क्षुल्लक ऐलक बनाये

आचार्य महाराज ने अनेक साधु, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका आदि को दीक्षा दी है राष्ट्र का बहुत हित किया है। बहुत अजैनों से मदिरा, मांस आदि का त्याग कराया है। महाराज की कठिन तपश्चर्या का ही यह प्रभाव था कि नैपाल की रानी लक्ष्मीबाई दि० जैन एवं अणुव्रत धारी बन गई। आचार्य महाराज अपने महाव्रतों आदि में कभी कोई अतीचार, दोष एवं शिथिलता नहीं आने देते थे।

उपसर्ग में परम शांत

आचार्य महाराज एक बार बिहार प्रान्त में विहार कर रहे थे। तब कुछ दुष्ट प्रकृति के आततायियों ने महाराज पर लाठियों से प्रहार करना शुरू कर दिया। महाराज प्राणघातक उपसर्ग समझ कर ध्यानस्थ हो गये। उस समय कलकत्ता के प्रसिद्ध व्यापारी और मुनिजनों के परमभक्त श्री सेठ चांदमल जी बड़जात्या महाराज के साथ चल रहे थे। उन्होंने लाठियों के प्रहार को अपने हाथों पर लिया, महाराज को बचाने का पूरा प्रयत्न किया। वे चोटें लगने से घायल हो गए महाराज को भी चोटें आई।

जैसे किसान के पुण्ययोग से उसके खेत में पानी बरस जाता है उसी प्रकार महाराज के पुण्य प्रकर्ष से उसी क्षण में सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस की कार आ रही थी। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने आततायियों को महाराज पर लाठी चलाते हुए कार से ही देख लिया था। कार से उतरकर उन्होंने सिपाही भेजकर उन दुष्टों को पकड़वा लिया। जब महाराज से कहा कि आपको लाठियों से इन्हीं लोगों ने मारा है, आप कह दीजिए, इन पर केस चलेगा। महाराज ने कहा— आप इन्हें छोड़ दीजिए, ये लोग अपने किए का फल स्वयं पावेंगे। हमारा असाताकर्म का उदय था, उसका फल हमें भोगना पड़ा है। सुपरिन्टेन्डेन्ट आश्चर्य में पड़ गये। बिना साक्षी वे उन लोगों को दण्ड देने में भी असमर्थ बन गए और महाराज की असीम शान्ति की पराकाष्ठा देखकर चकित रह गए।

एक बार महाराज ध्यान में बैठे थे। पास में पहाड़ी मधु मक्खियों का बड़ा छत्ता था। लड़कों

ने उस छत्ते में कंकड़ फेंक दिया। वे उड़कर महाराज के सब शरीर पर छा गई और उन्हें काटने लगीं। उपसर्ग समझकर महाराज ध्यानस्थ हो गए। मक्खियों के काटने से महाराज निराहार रहे। शरीर सूख गया। फिर भी वे असाता का उदय समझकर शान्त रहे। आह तक नहीं की। वास्तव में वे पूर्ण निर्विकार, निष्कषाय, परमशांत साधुरत्न थे।

समाज की एक निधि

श्रीमत् परमपूज्य श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज के सहसा स्वर्गगन्त हो जाने से समाज की एक अपूर्व निधि चली गई। इसे समाज का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। एक साधुरत्न खो गया। आचार्य महाराज ने तो अपनी पुरुष पर्याय को मोक्ष पुरुषार्थ में लगाकर मोक्ष प्राप्ति की निकट पात्रता प्राप्त करली है।

साहू सरणं पव्वज्जामि

मोरेना (म०प्र०) —वादीभकेशरी पं० मक्खनलाल जी शास्त्री

आचार्य श्री द्वारा सुनाई जाने वाली

कुछ अंग्रेजी कहावतें

१. यूनियन इज स्ट्रेंग्थ (एकता ही बल है।)
२. गुड माइण्ड गुड फाइण्ड (आप भला तो जग भला।)
३. एज यू सो, सो यू रेप (जैसो करनी वैसी भरनी)
४. काण्टेन्टमेन्ट इज हेपीनेस (सन्तोष ही परम सुख है)
५. फॉरच्यून फेवर्स दी ब्रेव (पुरुषसिंह जे उद्यमी, लक्ष्मी ताकी चेरि)
६. इविल गोट, इविल स्पेन्ट (जैसा आया वैसा गया)
७. समथिंग इज बेटर देन नथिंग (नहीं से कुछ अच्छा)

—क्षुल्लक शीतलसागर

पूज्य श्री के समाधिमरण का समाचार सुनते ही सहस्त्रों धर्मप्राण
नर-नारियो की भाव-विह्वल भीड महसाना में
अन्तिम दर्शनों के लिये उमड पडी थी।

विमान पर ले जाते हुए
पूज्य श्री के पार्थिव
शरीर की
अन्तिम झांकी

आर्यिका श्री विजयमती जी
(आपने पूज्य श्री से गणिनी का पद
प्राप्त किया है)

पूज्यश्री के परम शिष्य

श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागर जी महाराज

जन्म	क्षुल्लकदीक्षा
सरखडिया (कोटा) राज०	ईश्वरी बाजार (सिद्धक्षेत्र सम्मेद शिखरजी)
आषाढ शुक्ल ६ वि० सं० १६८६	आश्विन शुक्ल ८ वि० स० २०१२

आचार्यश्री पर विशेष श्रद्धा रखने वाले

वादीभकेशरी
पं० मक्खनलालजी शास्त्री

संहितासूरि ब्र० सूरजमल जी जैन

पं० मनोहरलालजी 'शाह' शास्त्री
रांची (बिहार)

पं० मिश्रीलालजी 'शाह' शास्त्री, लाडनूं (राज०)

आचार्यश्री चर्या हेतु शुद्धि करते हुये, निकट में दो शिष्य खड़े हुये हैं।

श्री चन्द्रसागर स्मारक लाडनूं (राज०)

पूज्यश्री सहगात्र के
श्रीमंदिरजी मे
दर्शनार्थ
पधार
रहे
है।

बीस वर्ष पूर्व
अवागढ़ (उ० प्र०) मे
पूज्यश्री
धर्मोपदेश देते हुये

स्वर्गीय आचार्य कल्प श्री चन्द्रसागर जी महाराज की
चरण छत्री
सिद्धक्षेत्र बावनगजा (बडवानी) म० प्र०
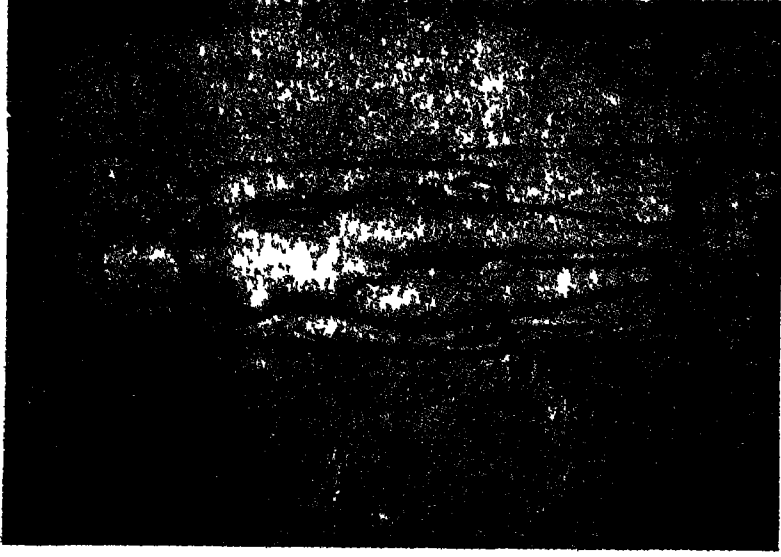
श्री १००८ भगवान बाहुबली जी की प्रतिमा
(विराजमान–श्री दि० जैन पंचायती
बडा मन्दिर, अवागढ़)

देवाधिदेव श्री १००८ भ० शांतिनाथ, इन्दौर (म० प्र०)
बाईं ओर चा० च० आ० शांतिसागरजी, दाईं ओर आ० क० चन्द्रसागरजी

(यहाँ आचार्य श्री भक्ति में तन्मय हो घण्टों ध्यान किया करते थे)

श्री पं० महेन्द्रकुमार जी 'महेश' शास्त्री, ऋषभदेव
(आप आचार्य श्री के अनन्य भक्तों में से हैं)

आचार्य श्री की कुण्डली का सर्वेक्षण

॥ श्रीमद्वीर निर्वाण सं० ॥ २४३६ ॥ वि० सं० १९६७ श्री शक: सं० १८३२ ॥
॥ तत्र वर्षे महा माङ्गल्यप्रद मासे वैसाख मासे कृष्णे पक्षे ९ भौम वासरे ४४ ॥ ५१ ॥
॥ धनिष्ठाभे ३९ ॥ ४१ इष्ट घटी २९ । ४ धनिष्ठाभे ४ चतुर्थ चरणे कन्या लग्नो—
॥ दये श्री मतां जन्म सूर्य ००।९— दिनांक ३ मई १९१० ई०

जन्माङ्ग स्पष्ट ५॥२८॥३४॥९॥
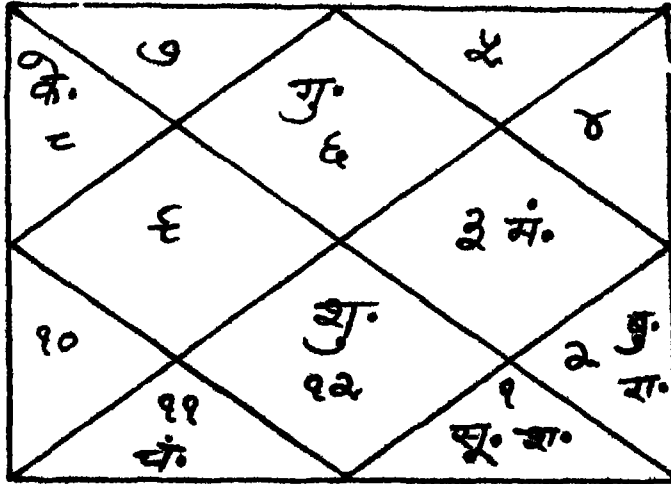
ज्योतिष चक्रानुसार आचार्य श्री का जीवनक्रम

कुण्डली में विशेष योग

आचार्य श्री : आचार्य भूरि सुत दार धनार्जनेष्टा: ।
शीके मदान्य गुरुभक्ति रताश्च सौम्ये ॥

महाप्राज्ञ : एकोजीवो यदालग्ने सर्वे योगा स्तवाशुभा: ।
दीर्घजीवी महाप्राज्ञो जातको नायको भवेत् ॥

सुशील :	केन्द्र त्रिकोणे बुध जीव शुक्राः । स्थिता नराणां यदि जन्म काले ॥ धर्मार्थ विद्या यश कीर्ति लाभी । शान्तः सुशीलः स नराधिपः स्यात् ।
कुलदीपक :	शुक्रो यस्य बुधो यस्य, यस्य केन्द्रे बृहस्पतिः । दशमोऽङ्गारको यस्य सजातः कुलदीपक. ॥
परमपूज्य :	सुरगुरु सम वक्ता शुभ्र मुक्ता फलाढ्यः । सदसि सपदि पूर्णो वित्त माणिक्य मानैः ॥ गज तुरग रथाढ्यो देवताधीश पूज्यो । अनुधि विविध विद्या गर्विनो मानवः स्यात् ॥
कीर्तिमान् :	एकः शुक्रो जनन समये लाभ सस्थे च केन्द्रे । जातो वै जन्म राशौ यदि सहज मते ॥ विद्या विज्ञान युक्तो भवति नरपतिर्विश्व विख्यात कीर्त्ति. । दानी मानीचशूरो हयगण सहितः सद्गजैः सेव्यमानः ॥
विश्वविख्यातकीर्ति :	दशम भवन नाथे केन्द्र कोणे धनस्थेऽ — वनिपति वल याने शस्त सिंहासनेषु ॥ स भवति नरनाथो विश्वविख्यात कीर्त्तिः । मदगलित कपोलैः सद्गजैः सेव्यमानः ॥
सर्वविघ्नविनाशक :	किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे यस्य केन्द्रे बृहस्पतिः । मत्तमातङ्ग यूथानां भिनत्त्येकोऽपिकेशरी ॥
विद्यावती बालब्रह्मचारी चारित्र चक्रवर्ती :	विद्याकला गुण विराजित कामधेनु — र्भोगैः परोक्ष्य युवती जित कामराजः ॥ देशाधिपत्य पुर पर्यटन श्रमार्त्तो । मीने सिते सकल मण्डल दीप्तदीक्षः ॥
महाविद्वान् :	मृगपति वृष कन्या कर्कटस्थे च राहौ । भवति विपुल लक्ष्मी राजराजाधिपो वा ॥ हय गज नर नौका मेदिनी पण्डितश्च । स भवति कुलदीपो राहुतुङ्गी नराणाम् ॥
पुत्राभावक :	अष्टमस्था यदाक्रूराः सौम्या लग्नेस्थिता ग्रहाः । ध्वज योगोऽत्र जातस्तु स पुत्राभावको भवेत् ॥

सर्वकलायुक्त : शुक्रे सर्व कला युक्तः सर्वार्थ ज्ञानवान् भवेत् ।
कविः प्रतापी शूरश्च धनी सर्वजनप्रियः ॥

अनेक शास्त्र पारंगत : अर्थोपिता: शास्त्रपारङ्गताश्च ।
संगीतज्ञा: पोषकाम्युर्बहूनाम् ॥
नाना सौख्यैरन्विताास्तु प्रवीणा ।
वीणा — प्राणिनां जन्म येषाम् ॥

सद्‌गुणान्वित : स्वधर्मे च सदाचार सत्क्रिया सद्‌गुणान्वित: ।
कुटुम्बस्य समुद्धर्ता सिंह योनि भवेन्नर: ॥

नाना शास्त्रविशारद : कन्यालग्न भवेद्बालो— ।
नाना शास्त्र विशारदः ॥
सौभाग्य गुण सम्पन्न: ।
सुन्दरः सुरतप्रियः ॥
जितेन्द्रिय : क्रियासु कुशलो दक्ष: ।
सुप्रतापी जितेन्द्रियः ॥
भृत्यैश्च वेष्टिनो नित्यं ।
आयते नवमेंऽशके ॥

निर्ग्रन्थ दीक्षा — श्रेष्ठ मुहूर्त

श्री शक: १८६४ फाल्गुन शुक्ल ११ बुधवासरे पुष्यभे ४४।२२ दिनाङ्क १७।३।४३ ई०
आचार्य श्री आसने समुपविष्टः श्री आदिसागर गुरु कोपीनंगृहीतवान्
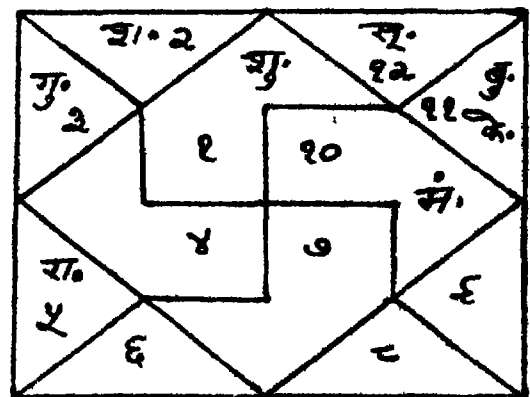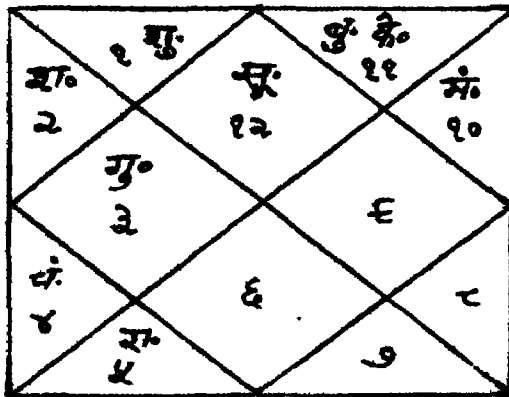
एकावलीयोग . लग्नतश्चान्यतोवाधि क्रमेण पतिताग्रहा: ॥ एकावलीसमाख्याता महाराजो भवेन्नर: ॥
आचार्य श्री का मीनलग्न में आसन पर स्थित होना लग्न में उच्चाभिलाषी सूर्य लग्नेश बृहस्पति, धर्मा-

धीश भौम उच्चगत लाभ में श्रेष्ठतम है। तथा मेष लग्न में निग्रन्थ होना भी उतना ही शुभ है। लग्न में शुक्र लग्नेश भौम का दशम भवन में उच्चका होकर आसीन होना धर्मेश का सुवीर्यवान होना धर्म मार्ग में स्थिरत्व का द्योतक है। धर्माचरण एवं चारित्र पालन मे दृढ़ता और प्रखरता का सूचक भी है। दोनों कुण्डलियों मे एकावलीयोग और पुष्य नक्षत्र से महाराज योग अडिग ध्यान द्वारा स्वात्मसिद्धि मे साधक है।

विशेष भाव

१— आचार्य श्री की जन्म लग्न कन्या स्वनवांश में स्थित है, तथा स्वामी बुध भाग्य एवं धर्म भाव मे मित्र क्षेत्री होकर लग्न पर त्रिपाद दृष्टि किये स्थित है। लग्न में बृहस्पति पर सप्तमस्थ शुक्र की पूर्ण दृष्टि है। अतः शरीर को स्वस्थ और सांघातिक रोगों से मुक्त करता है।

२— लग्नेश बुध वृष राशिस्थ होकर धर्म भाव में होने से भगवान् वृषभदेव आदिनाथ द्वारा प्रणीत मार्ग को प्रशस्त करने का ज्ञान देता है। धर्म के आचार्यत्व नेतृत्व की विशिष्ट प्रतिभा भी प्रदान करता है अर्थात् वृषभदेव जी रचित वर्णाश्रम की सही व्यवस्था का भाव, आर्ष मार्ग पर अटूट-श्रद्धा, अडिग विचार तथा धर्म की सही व्यवस्था बनाये रखने के लिये भी प्रेरित करता है। वर्ण-सङ्करता से घृणा एवं उसके खण्डन करने की प्रबल प्रेरणा वर्णाश्रम की पुष्टि) भी इसी की देन है। धर्म की प्रभावना के निमित्त कटिबद्ध रहना ही धर्माधीश की उच्चता का फल है।

३— दीर्घजीवन, उद्भट विद्वत्ता, नायकत्व, अनेक विद्या पारगामी, बृहस्पति के समान पूज्य और उच्च-कोटि की वक्तृत्व शैली लग्नस्थ गुरु के संयोग से ही रही और इसी योग से मुनि श्री के मनुष्य ही नहीं विकराल पशु भी दास होकर भक्ति में रत रहे।

४— धन कुटुम्बाधीश शुक्र उच्चका शुक्र सप्तम भाव परदेशगत है। अतः कुटुम्ब और धन की घर में ही नहीं परदेश में भी वृद्धि हुई, करोड़ों रुपया एक संकेत मात्र से एकत्रित करने की क्षमता तथा अपनी परम्परा को संचालन करते रहने हेतु साधु कुटुम्ब की वृद्धि व भक्त जनो की वृद्धि करने की शक्ति सीमित न रहकर असीमित रहेगी किन्तु नीच शनि की पूर्ण दृष्टि इस भाव पर होने से धन और बन्धु बान्धव, मुनिजन, भक्तजन में आसक्ति न होकर विरक्ति ही बढ़ेगी। प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता और ज्ञान धन में बहुमान तथा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में रुचि के भाव रहेंगे। धर्माधीश और कुलाधीश शुक्र उच्चगत होने से धर्म के साथ ही शिष्य परिपाटी भी अक्षुण्ण अनवरत चलती रहेगी क्योंकि धर्म गुरु शिक्षा गुरु का कुटुम्ब मातृकुल पितृकुल से वैसे भी वृहद् होता है।

५— सुखेश गुरु लग्न गत होने से वह अनन्त सुख के धनी होंगे एवं बुध, गुरु, शुक्र के परस्पर स्थान परिवर्तन से चक्र द्वारा धर्म प्रभावना हेतु देश देशान्तर भ्रमण एवं धर्म चक्र की प्रवृत्ति और धर्म का अनेक भाषाओं में विवेचन तथा आर्ष मार्ग की अक्षुण्ण प्रवृत्ति बनाए रखने हेतु सिद्धान्त विरोधी बड़े-२ दिग्गज विद्वानों का मान मर्दन करने में दक्षता, सिंह जैसे खूंखार जानवर को भी शान्त करने की शक्ति ये सभी गुण होना बुध, गुरु, शुक्र के चक्र योग का फल है।

६— आचार्य श्री की कुण्डली में उपर्युक्त केवल यही योग नहीं हैं इनके अतिरिक्त और भी अनेक योग हैं। जन्मनक्षत्र कनिष्ठा— नेतृत्व/कुशलयोग—सर्वकलायुक्त, सर्वार्थ भाग्यवान्, कवि,

प्रतापी, शूरवीर, जन प्रिय। वणिककारक— व्यापार विषयक लाभ हानि का विशिष्ट विद्वान् अर्थ शास्त्र (तेजी-मन्दी) का पूर्ण ज्ञान में भी यह योग कारक है। सिंहयोनि—प्रशस्त सिंहवृत्ति, स्वधर्म निष्ठा, निर्भीकता, सदाचारवान्, सत्क्रियावान्, कुल कुटुम्बका समुद्धर्ता। कन्यालग्न— अनेक शास्त्र विशारद, सौभाग्य गुण सम्पन्न, लाली लिये बड़े नेत्र, उन्नत मस्तक। राशिकुंभ— कुशल, अर्थकरी विद्या (ज्योतिष, वैद्यक मन्त्रशास्त्र) के धनी, विशिष्ट विद्वान् पुण्यवान्, स्वकीय पुरुषार्थ और परिश्रम मे लवलीन।

७— आयुस्थान में उच्चका सूर्य नीच के शनि के साथ है और अष्टमेश भौम नीचाभिलाषी दशम भाव में स्थित है। अतः आयु तो पूर्ण ही प्राप्त करें किन्तु भौम की राशि नीचगत शनि, नीचाभिलाषी भौम शत्रुओं द्वारा कई बार घोर उपसर्ग लाठी प्रहार आदि से चोट का कारण बने। सर्प, सिंह, आदि वन्य पशु एवं पहाड़ी मधुमक्खिका आदि जीव जन्तुओं द्वारा भी उपसर्ग का कारण बने किन्तु उच्च का सूर्य सदैव दृढ़ता बनाये रहे और दुर्जन नत मस्तक होवें, वन्य जीव भी भयक्रूरता छोड़ शान्त हो जावें। आयुस्थानपति केन्द्रवर्ती होने से पूर्ण (उत्कृष्ट) आयु का सूचक है किन्तु नीचान्तगत होने से मध्यमायु दाताबना किन्तु लग्नेश के त्रिकोणगत होने से अपघात योग नहीं बनता, रक्षा ही करता है।

८- आचार्य श्री मन्त्र शास्त्र द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किसी को भी शक्तिहीन, निर्विष, निर्मद करने की शक्ति रखते थे किन्तु उपसर्ग के समय कभी मन्त्रादि का प्रयोग नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से आत्मा की साधना मे कमजोरी आती है।

जैसे आचार्य श्री कमण्डल का जल मन्त्र से मन्त्रित कर जितने भी स्थान में क्षेपण कर देवें, उतनी मर्यादा में कोई भी जीव जन्तु चोर, क्रूर पुरुष प्रवेश नहीं पा सकते थे। स्तंभन, वशीकरण मान मर्दन करने की मन्त्र शक्ति के प्रभाव को टूण्डला प्रवास में मैंने प्रत्यक्ष रूप में भी देखा है।

दशाक्रम आधारफल

९— जन्म से १ वर्ष २ माह २४ दिन भौमदशा भोग्य रही। तदुपरान्त धर्मस्थ उच्चाभिलाषी, राहु दशा चली, जिसने प्रत्येक धर्म के अध्ययन में रुचि को बढ़ाया और शुक्रान्तर में १६ वर्ष की आयु में ही धर्म भाव की प्रमुखता से संसार से उदासीनता प्रारम्भ करादी और भोगों में अनासक्त रहने लगे। १६ वर्ष की आयु मे गुरु की महादशा प्रारम्भ होते ही लग्न गत गुरुने बालयोगी बना दिया और आचार्य श्री सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर ब्रह्मचारी बन गये। श्री महेन्द्रकुमार जी ब्रह्मचारी को उच्चाभिलाषी पाप ग्रह राहु के धर्म भाव में रहते महाव्रती बनने का भाव रहते हुए भी अणुव्रती ही रहने दिया, और धर्माधीश शुक्रान्तर में बालब्रह्मचारी हो गये। जब बृहस्पति के अन्तर में धर्मस्थ बुधका अन्तर आया तब २६ वर्ष की वय में श्री महेन्द्रजी ने क्षुल्लक पद ग्रहण कर लिया।

१०— बृहस्पति के चन्द्रान्तर और शुक्र के प्रत्यन्तर में ३३ वर्ष की आयु में जैनेश्वरी दिगम्बरी दीक्षा-धारण कर महाव्रती बन गये और ग्रह संयोग से वृषभ धर्मस्थ राशि से आदिसागर महाराज भी ही दीक्षा गुरु बने और आचार्य श्री, श्री महावीर कीर्ति योगीन्द्र बन गये।

११– शुक्र के उच्च के होने से कठोरतम तप किया और परिषह जय किया और शनि की १९ वर्ष महादशा में ५४ वर्ष की आयुपर्यन्त देश देशान्तर भ्रमण (विहार) एवं सभी तीर्थक्षेत्र सिद्धक्षेत्र अतिशय क्षेत्रों के दर्शन किये। ५५ वर्ष की आयु से बुध की महादशा जैसे ही प्रारम्भ हुई वैसे ही रत्नत्रय बोधि में दृढ़ता बढ़ने लगी और सात वर्ष तक निरन्तर चारित्र की वृद्धि करते हुए दक्षिण के तीर्थों में ही पहाड़ी सिद्धक्षेत्रों पर आसन जमाकर ध्यान में रत रहने लगे।

१२– धनिष्ठा नक्षत्र का अन्तिम अर्द्ध भाग, शतभषा के चारों चरण, पूर्वा भाद्रपद के तीन चरण इन ९ चरणो में जन्म होने से ६१ वर्ष की आयु माघ माह उत्तरा नक्षत्रों में समाधि का योग बनता है, अतएव आचार्य श्री का धनिष्ठ के चतुर्थ चरण में जन्म होने से ग्रन्थाधार ६१ वर्ष की आयु भोग कर ६।१।७२ ई० को ६१ वर्ष ८ माह ३ दिन की आयु में माघ मास कृष्णपक्ष ६ षष्ठी गुरुवार उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र वीर सम्वत् २४९८ में बुधकी महादशा में चन्द्रमा के अन्तर में समाधि हुई।

१३– चन्द्र राशि जन्म लग्न से ६ वें भाव रोगभाव में कुंभ है और राशीश शनि अष्टम गत है इसी शनि के साथ उच्चका सूर्य भी द्वादशेष होकर बैठा है, अतः सूर्य, चन्द्र, बुध और शनि के योग से वात पित्त कफ तीनों की वृद्धि के कारण त्रिदोष (सन्निपात) रोग में आचार्य श्री की समाधि हुई है।

१४– आचार्य श्री का वृहस्पति चन्द्रमा से अष्टमगत है। अतः समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर उच्च देवगति को प्राप्त किया है। और आचार्य श्री की समाधि भी गुरुवार में ही हुई है उक्त सभी योग ग्रन्थाधार से दिये हैं।

१५– आचार्य श्री की कुन्डली में कुछ कुयोग (अरिष्ट योग) भी हैं उन सभी अरिष्ट योगों पर वृहस्पति केन्द्रवर्त्ती होने से पुरुषार्थ की प्रबलता और भाव की मुख्यता से विजय प्राप्त की। अशुभ योगों को नष्ट कर अपने निजीभाव की साधना में रत रहकर आत्मा से आत्मा के द्वारा आत्मा में ही लीन रहकर स्वात्म निधि को प्राप्त किया है क्योंकि—

धर्मेण हन्यते व्याधिः धर्मेण हन्यते ग्रहाः।
धर्मेण हन्यते पापं यतो धर्मस्ततो जयः॥

आशीर्वाद

शुभे माघे कृष्णे तिथि समय षष्ठी गुरु दिने।
शरीरं त्यक्त्वाऽसौ निजनिधि समाधिं परिणतः॥
यदीयं वक्तृत्वं सुरुचिरं भावा विविधया।
महावीरः कीर्तिश्चिर जयतु मे मङ्गलकरः॥

—उग्रसेन पाण्डे

टूण्डला (आगरा) अधिष्ठाता— श्री अकलङ्क ज्योतिष कार्यालय

卐

संयम शिरोमणि साधु

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज अपने युग के महान् साधु हुये हैं जिन्होंने उत्तर से दक्षिण भारत तक अपने त्याग वैराग्यमयी उपदेशों से न केवल धर्मात्माओं को सम्बोधित किया है अपितु एक ऐसी सशक्त साधु परम्परा को भी जन्म दिया है जिसके सभी पट्टधर साधु; त्याग और तपश्चरण के मूर्तिमान रूप थे। उसी परम्परा में आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज हुये हैं। कृश शरीर, छोटा कद, ओजस्वी आवाज, दिव्य प्रभाव, अगाध विद्वत्ता, कठोर तपश्चरण ये सब विशेषतायें उनको सहज प्राप्त थीं। उनका जन सम्पर्क बस उपदेश तक ही सीमित रहता था। इसके बाद तो वे अलख रहा करते थे। प्राय. तीर्थों पर चातुर्मास करते थे और आहार की बेला के बाद वे इस तरह खो जाते थे मानो वे यहां है ही नहीं। तपश्चरण में वे अनेक आसनों को अपनाते थे।

देव शास्त्र गुरु की पूजा के बाद जयमालायें पढ़ी जाती हैं। गुरुपूजा की जयमाला में लिखा है— 'गोदूहण जे वीरासणीय, जे धणुहसेज वज्जासणीय' अर्थात् निश्चक मुनि गोदोहन आसन, वीरासन, धनुषासन, वज्रासन आदि नाना प्रकार के आसनों से तप करते है। आचार्य महावीर कीर्ति जी भी लगभग इसी प्रकार के आसनों का प्रयोग करते थे और प्रदर्शन की भावनाओं से हटकर एकान्त में ही बैठते थे जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि वे आहार की बेला के बाद खो जाते थे। ज्येष्ठ बैसाख की दुपहरी में पर्वत शिखर के ऊपर घण्टों खड़े रहना उनके लिये एक साधारण बात थी।

आचार्य महाराज की श्रद्धा अनोखा भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप था, उनका ज्ञान, सरस्वती से प्रतिस्पर्धा करता था। उनका चारित्र जिनकल्पी साधुओ का स्मरण कराता था। सच पूछा जाय तो यह कहना अत्युक्ति नही है कि साधुता क्षेत्र में आज के युग को लेकर महावीर कीर्ति जी जैसे तपस्वी, मुनि 'हुये न है न होयगे। अपने सयम और चारित्र की ओर उनकी सतत जागरूकता इतनी सचेत थी कि वे साधारण से अपने अपराध को सहन नहीं कर सकते थे। उनकी वीतरागता के साथ विवेक आगे-आगे चलता था। उनका समताभाव कभी सीमा का अतिरेक नहीं करता था। उनका उपदेश आगम परम्परा को आदर्श मानकर चलता था। ज्ञान संयम और श्रद्धा के साथ उनका आध्यात्मिक बल भी अपूर्व था। सन्त पुरुषों की वाणी प्रायः अर्थ का अनुधावन करती है पर आचार्य महावीर कीर्ति जी की वाणी का अनुधावन अर्थ करता था। उनका जीवन अनेक उपसर्गों के बीच से गुजरा पर प्रत्येक उपसर्ग के वे विजेता रहे। लौकिक प्रतिष्ठा से सदा दूर रहते थे। सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करने वालों को समझाते थे। न मानने पर उनकी प्रवृत्तियों से समझौता नहीं करते थे।

एक बार एक स्थानीय नगर के सेठ ऊनी वस्त्र पहिनकर उनके चरण स्पर्श करने आये। महाराज ने

उन्हें दूर ही से रोक दिया। कारण पूछने पर महाराज ने कहा कि यहाँ आना हो तो ऊनी वस्त्र उतार कर आओ। कहने लगे इसमे क्या बुराई है? महाराज ने कहा — ये रोमज वस्त्र हैं और इनका प्रयोग उसी तरह निषिद्ध है जैसे चर्मज। सेठ जी बोले सारी दुनियाँ तो पहनती है। महाराज बोले, तुम्हें दुनियाँ का अनुसरण करना है या धर्म का पालन करना है। सेठ जी चुप रह गये और थोड़ी देर बैठ कर चुपचाप उठकर चले गये। महाराज पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

एक बार इन्दौर मे महाराज का चातुर्मास हुआ। मैं भी दर्शनार्थ गया। महाराज मेरे बचपन के साथी थे। ब्यावर (राजस्थान) महाविद्यालय में हम दोनों पढ़ते थे। साथ खेलते खाते थे। अपने उसी बचपन की याद कर मैं सोच रहा था कि महाराज देखते ही मुझे मुस्करायेंगे। पर वे बिलकुल शांत वीतराग मुद्रा में मुझे देखने लगे। मैं समझा शायद मुझे पहिचाना नही। मैं चरण स्पर्श कर बैठ गया और बोला मैं लालबहादुर हूँ। महाराज बोले— हाँ मैं पहिचानता हूँ। मैं आश्चर्य में रह गया। उनकी वीतरागता से अत्यन्त प्रभावित हुआ। पूछने लगे क्या कर रहे हो? मैंने कहा सरसेठ के यहाँ प्रवचन करता हूँ। कहने लगे यह तो मैं जानता हूँ पर मेरा तात्पर्य यह है कि आत्म के लिए कुछ कर रहे हो या नहीं? मैं चुप रह गया। महाराज बोले— तुमने जो शास्त्रीय अध्ययन किया है उसे अब जीवन में उतारो। बिना जीवन मे उतारे प्रवचन करना तोता रटन्त है या नाटक मात्र है। मैं सुनकर हतप्रभ हो गया। महाराज के बराबर ही जमीन पर एक क्षुल्लक जी बैठे थे। उनके पास पीछी देखकर मैंने महाराज से पूछा कि क्षुल्लक को पिच्छिका रखने का शास्त्र में विधान नहीं है। यहाँ आपके सङ्घ में क्षुल्लक जी के पास पीछी कैसे है? महाराज ने तुरन्त क्षुल्लक जी से अमुक शास्त्र लाने को कहा और प्रकरण निकाल कर मेरे हाथ पर पुस्तक रख दी। मैंने उसे पढ़ा। उसमे विकल्प से पीछी रखने का भी विधान था। मैं चुप रह गया मैं कुछ पुरानी बचपन की चर्चा करने लगा तो महाराज बोले कोई शास्त्रीय चर्चा करो। थोड़ी देर शास्त्र चर्चा भी हुई और उससे मुझे महाराज के अध्ययन के अन्तस्तल का पता लगा।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है— महाराज का बचपन मैंने निकट से देखा है। उस समय भी वे अपने आपमे बड़े निर्भीक, सदाचारी और अध्ययनशील व्यक्ति थे। बचपन में उनका नाम महेन्द्रकुमार था पर मैं उन्हें महेन्द्र' कहा करता था। और वे मुझे कभी 'लालू' कभी 'विलायती' कहा करते थे। विलायती इसलिए कि मैं थोड़ा पहनने ओढ़ने का शौकीन था। उस समय भी वे किसी अन्याय को सहन नहीं करते थे। कभी भद्दी मजाक या अपशब्द का प्रयोग नहीं करते थे। अध्ययनशील इतने थे कि रात को ६ बजे सो कर जग जाते और प्रात: ४ बजे तक लालटेन के प्रकाश में पढ़ते रहते थे। शब्दार्णव चन्द्रिका जो जैनेन्द्र व्याकरण का ही भाष्य है उन्हें कण्ठस्थ था।

अष्टमी प्रतिपदा की साप्ताहिक सभाओं में घन्टा पौन घन्टा बोलना उनके लिये साधारण बात थी। वहाँ विद्यार्थियों के शास्त्रार्थ भी होते थे और कोई ऐसा शास्त्रार्थ नहीं था जिसमें विद्यार्थी महेन्द्र-कुमार भाग न लेते थे। उनकी तर्कों का उत्तर कोई प्रतिपक्षी विद्यार्थी नहीं दे सकता था। परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी के नम्बर रहते थे। रिक्त पीरियड अथवा अवकाश के दिनों में वे एकान्त में बैठकर ही अपना अध्ययन करते थे। पहनने ओढ़ने का कोई शौक नहीं था। बाजार की कोई वस्तु उन्हें कभी खाते हुये नहीं देखा गया।

ब्यावर में अध्ययन समाप्त कर मैं मोरेना चला गया और महेन्द्रकुमार जी इन्दौर पढ़ने चले गये। उसके बाद मुनि अवस्था में ही उनके दर्शन हुये। अन्तर इतना महान् हो गया कि वे महेन्द्रकुमार से महावीरकीर्ति हो गये और मैं लालबहादुर का लालबहादुर ही रहा। वे आचार्य बनकर मुनियों के एवं समाज के धर्मगुरु बन गये और मैं साहित्याचार्य बनकर विद्यार्थियों का ही गुरु बनकर रह गया।

निःसन्देह आचार्य महावीर कीर्ति शासन के प्रभावक आचार्य हुये हैं। उन्होंने अपने तपोबल एवं ज्ञानबल से शासन की जो प्रभावना की है उसे शब्दों में नहीं लिखा जा सकता। भगवान महावीर की कीर्ति को अपने निर्दोष संयम और ज्ञान से दिग दिगन्त में व्याप्त कर देने वाले आचार्य महावीर कीर्ति थे। इसलिये उनका यह नाम सार्थक था।

साधु बनने के बाद तो उन्होंने अनेक देशों में भ्रमण किया और साथ ही उन देशों की भाषा भी सीख ली तथा उन भाषाओं में जहाँ तहाँ धारा प्रवाह भाषण देते थे। उनका क्षयोपशम अपूर्व था। वे मन्त्रशास्त्र के ज्ञाता थे पर ऐहिक स्वार्थ के लिये कभी उसका उपयोग उन्होंने नहीं किया। उनमें भविष्य कथन की दिव्यशक्ति थी। लेकिन यह कोई दैवी चमत्कार या अतिशय नहीं था। मनोबल को केन्द्रित करने के अभ्यास के बाद मनुष्य इस प्रकार की भविष्यवाणियाँ कर सकता है। 'अनन्तशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः' (आशाधर जी) अर्थात् आत्मा मे अनन्तशक्ति है यह शास्त्र की आज्ञा है मात्र स्तुति नहीं है। फिर यह अनन्तशक्ति प्रत्येक का काम क्यों नहीं करती? इसका सीधा उत्तर है कि मन वचन काय की चंचलता से आत्मशक्तियों का बिकरण होता है और शक्ति के बिकरण से आत्मा कमजोर होती है। इन्हीं मन वचन काय को जब यह आत्मा ध्यान के माध्यम से केन्द्रित करता है तो आत्मा सबल होती है और अनेक अचिन्त्य कार्य करती है। त्रैकालिक द्रव्य गुण पर्यायों को चराचर जगत् के साथ युगपत् जान लेना यह केन्द्रित शक्ति का ही परिणाम है। आचार्य महावीर कीर्ति मन वचन काय को यथेष्टों केन्द्रित करते थे अतः साधारणतया भविष्य कथन कर देना ध्यानी के लिये कोई बड़ी बात नहीं है।

आचार्य महावीर कीर्ति आज नहीं हैं, पर उनका लोकवन्द्य व्यक्तित्व आज श्रद्धालु पुरुषों के अन्तस्थल में विराजमान है। पूज्य क्षुल्लक शीतलसागर जी ने अवागढ़ में उनका स्मारक खड़ाकर निःसन्देह सातिशय पुण्य का बन्ध किया है। लगता है हमारे आचार्य श्री कभी तीर्थंकर बनेंगे तो क्षुल्लक जी उनके गणधर अवश्य बनेंगे। आचार्य महावीर कीर्ति जी सभी के लिये मङ्गलदायक हों।

—डा० लालबहादुर जैन शास्त्री
एम० ए०, पी-एच०डी०

देहली—३१]

卐●卐

आचार्य श्री और दिगम्बर मुद्रा

गुरवः पान्तु वो नित्यं- दर्शन-ज्ञाननायकाः ।
चारित्रार्णव गम्भीरा- मोक्षा मार्गोपदेशकाः ॥
चन्दन शीतलं लोके- चन्दनादपि चन्द्रमा ।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्येस्यां शीतला साधुसङ्गतिः ॥
साधूनां दर्शनंपुण्यं- तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं- सद्यः साधु समागमः ॥

समाचार पत्रों एवं पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागर जी महाराज के पत्र द्वारा ज्ञात हुआ कि परमपूज्य प्रातः स्मरणीय चारित्र चूडामणि महान तपस्वी-उपसर्गजयी अनेक भाषाविद् विश्ववन्द्य स्व० आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज की अमर स्मृति में उनके स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। यह ज्ञात कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इस सम्बन्ध मे मुझे भी लिखने का आदेश प्राप्त हुआ। विश्व के साधु सन्तों में दि० जैन साधु सन्तो का स्थान सर्वोपरि है। उनके विषय मे कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है, फिर भी कुछ थोड़ा-सा उपयुक्त समझकर लिख रहा हूँ।

आप आचार्य श्री पुरातन आचार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य थे। दोनो प्रकार के कठोर तप धारण से आचार्य श्री ने कषाय और काय का ही शोषण कर दिया था। वे सदा जङ्गल मे तीर्थंकरों के चरणो से पवित्र तीर्थ स्थानो को ही अपनी तप-स्थली बनाते थे, और जन सम्पर्क से दूर हटकर एकान्तवास ही आपको अत्यन्त प्रिय था। आपके लिए शत्रु भी मित्र के समान थे। आप सतत ही समता रस में लीन रहने वाले महान तपस्वी थे। आपने केवल २० वर्ष की अवस्था से ही विराग ले लिया था। और इसी अवधि में आपने चारो अनुयोगों का गुरुओं के सानिध्य में रहकर सिद्धान्त न्याय व्याकरण साहित्य आदि का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था।

आप जब महाविद्यालय ब्यावर (अजमेर) मे अध्ययनार्थ आये थे, वहीं पर इन पंक्तियो के लेखक को भी वहाँ अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैंने उनको बाल्य काल के साथी के रूप में देखा है। उस समय भी उनकी अत्यन्त धार्मिक रुचि थी। वे रात दिन अध्ययन में ही संलग्न रहते थे। उनका शरीर कृश था। शौक और विलास से दूर, बाजार के खान-पान से पराङ्मुख-खेलकूद में अनासक्त, एकान्त प्रिय, अत्यन्त मेधावी आपका व्यक्तित्व था। महाविद्यालयों में छात्रो की पाक्षिक सभा होती थी। मैं मन्त्री था। उनमें बोलने वाले आप प्रथम वक्ता थे। और संस्कृत में भी आप धारा प्रवाह भाषण करते थे। साथ में शास्त्रार्थ करने मे भी बड़े दक्ष थे। छात्रावस्थाजन्य उदण्डताएँ आपमें

बिलकुल नहीं थीं। विनयी थे, निरन्तर अपनी अध्ययनशीलता के कारण गुरुजनों में सर्वाधिक प्रिय थे। मुझसे वे बड़ा स्नेह रखते थे। छात्रावस्था में आपका नाम महेन्द्रकुमार था। पर हम सब साथी उन्हें प्राय: "महेन्द्र" कहकर पुकारते थे, उस समय महाविद्यालय में पढ़ाई सिद्धान्त न्याय-व्याकरण-साहित्यादि सभी विषयों की होती थी। उनमें से व्याकरण और साहित्य को कोई छूता भी नहीं था। लेकिन विद्यार्थी महेन्द्रकुमार जी न्याय आदि के साथ व्याकरण व साहित्य विषय को भी लिया था। और उनमें आपने तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त आप आयुर्वेद एवं ज्योतिष के भी प्रकाण्ड विद्वान एवं मर्मज्ञ थे। उनका धर्म चिंतन भी तलस्पर्शी था।

अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता होने से उनके प्रवचनों का जनता पर खूब प्रभाव पड़ता था। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। मुझे भी उनके दर्शन करने का एवं प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला था। समस्त प्राणियों के प्रति उनमें दया एवं करुणा थी। वे सभी के कल्याण के इच्छुक थे। उनका अधिकांश समय एकांत में ही व्यतीत होता था। प्रवचन के अनन्तर वे प्राय: मौन ही रहते थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक उपसर्ग शान्तिपूर्वक सहन किये। बहुत से प्राणियों को आत्म कल्याण के मार्ग पर लगाया था। ऐसे आचार्य श्री की स्मृति में उनका स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशित होना वस्तुत: कृतज्ञता व प्रशंसा का कार्य है। "नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति" वास्तव में ऐसे ही दि० जैन वीतरागी गुरुओं के द्वारा ही आत्म कल्याण का मार्ग प्रदर्शित होता है। अनादिनिधन जैन धर्म में गुरुओं का स्थान सनातन से उच्च चला आ रहा है। धर्म की ठोस प्रभावना भी गुरुओं के द्वारा ही होती है।

यद्यपि अरहन्त भगवान तत्व ज्ञान के विधाता हैं किन्तु उनके तत्व ज्ञान प्रकाश भी गुरुओं के द्वारा ही प्रसारित होता है। देशनालब्धि के बिना किसी को भी रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती। और रत्नत्रय की प्राप्ति भी इस मानव शरीर से ही होती है। शास्त्रकारों ने इस मानव शरीर को अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है। वे कहते हैं कि सर्वार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र भी इस मानव शरीर की इच्छा करते हैं। मानव शरीर से ही स्वरूपलब्धि तथा परमात्मत्व की प्राप्ति होती है। मानव शरीर बिना इस प्राणी को जन्म मृत्यु के चक्र से छूटने का पूर्ण साधन दूसरी जगह नहीं है इस मानव शरीर से ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा इसी से हेयोपादेय का पूर्ण विचार कर हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण करने का अवसर मिल सकता है। यदि भाग्यवश मानव शरीर भी प्राप्त कर लिया, मगर उसकी सफलता की ओर भाव नहीं किया तो मानव शरीर भी कार्यकारी नहीं है। अति दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त कर जो प्राणी स्व-पर कल्याण कर लेते हैं, उनका ही जीवन सफल समझना चाहिए। अत्यन्त दुर्लभ प्राप्त मानव जीवन को यह प्राणी योग्य एवं अयोग्य दोनों मार्गों में डाल सकता है। यदि बुद्धि विपत्तिगामिनी हो जाय तो यह मानव बनकर भी योग्य से अयोग्य कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। यदि बुद्धि अनुकूल हुई तो उससे यह मानव अपनी भलाई कर सकता है।

मानव जीवन में ही सर्वोत्कृष्ट त्याग और संयम का मार्ग है। संसार के सभी धर्मों में संयम और त्याग की बड़ी प्रतिष्ठा एवं महिमा है। और त्यागियों का बड़ा भारी सम्मान एवं आदर किया जाता है। इन सब में भी त्याग का उदाहरण और आदर्श जैन धर्म में बहुत ही ऊँचा है त्याग वह है कि जिसमें तिल तुष मात्र भी परिग्रह न रखा गया हो। संसार की प्रत्येक वस्तु अन्य संसार के जीवों के

उपयोग के लिए छोड़ दी गई हो, इससे मानना पड़ेगा कि त्याग का सब से बड़ा महत्वशाली आदर्श दि० जैन मुनियों में ही सच्चे रूप से पाया जाता है। दि० जैन मुनियों में त्याग का उद्देश्य परम पद एवं निर्ममत्व लाभ का है, दि० जैन मुनि संसार की कोई भी वस्तु अपने लिए नहीं समझता है तथा न उसे स्वीकार ही करता है। दूसरों को भी यही उपदेश देता है कि सांसारिक सभी वस्तुयें उपादेय नहीं हैं, इनका परित्याग कर आत्म कल्याण करो। अपनी वस्तु को पहचान कर उसी में रत रहो। अपने शरीर में भी ममत्व मत करो। संसार की समस्त वस्तुओं का परित्याग कर अपने शरीर में भी निस्पृह रहो। दि० जैन मुनि बन जाना साधारण बात नहीं है। इस त्याग में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया जाता है। कोरा दिगम्बरत्व तो दुखमय ही है परन्तु विवेकपूर्वक विषयराग को नष्ट करके संसार की सभी वस्तुओं को एवं सुखों को सुखाभास तथा कष्टदायी समझकर जिसने छोड़ दिया है ऐसा दिगम्बरत्व तो महान श्रेष्ठ वस्तु है। और अविनश्वर सुख को प्राप्त कराने वाला है। ऐसे दिगम्बरत्व में दुख की कल्पना करना वस्तु स्थिति से अनभिज्ञता है।

संसार में चार गति हैं— देव, नरक, तिर्यंच, मनुष्य— इन गतियों मे देव और मनुष्य में सुख (जिसे दि० जैन मुनि सुखाभास समझता है) की कल्पना की जाती है। मनुष्य गति में भी सबसे बड़ा काम-सुख माना गया है, परन्तु देव-सुख और मनुष्य गति का काम-सुख ये वीतराग के सुख के अनन्तवें भाग के बराबर भी नहीं है। वीतरागता में जो स्व संवेद्य परमानन्द रूप आत्म सुख की विशेष आभा दिखती है, वह इन इन्द्रिय जनित सुखाभासों में ढूंढने पर भी नहीं मिल सकती। वस्तुत: स्वसंवेद्य आनन्द और सुख का कोई उपमान ही नहीं है, जिसको समझाने के लिए कोई उपमा दी जासके। दिगम्बर जैन साधु की तपस्या सब तपस्याओं में ऊँचे दर्जे की है। आचार्य सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चंपू में कहा है:—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि—जिनरूप धरा नराः॥

इस कलि काल में चित्त की चंचलता अधिक रहती है और शरीर अन्न का कीड़ा है। कितना आश्चर्य है कि इस समय भी दि० जैन नग्न साधु का रूप धारण करने वाले मनुष्य मौजूद हैं।

अतएव मुनि की दिगम्बरावस्था सर्वोत्कृष्ट है, उस श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करने के लिए आकांक्षावत् दिगम्बर तपस्वी बनना चाहिए, और सब तपस्वियों में दि० साधु ही सर्वोत्कृष्ट है दि० जैन मुनि २८ मूल गुणों का पालन करते हैं। ऐसे आदर्श साधुओं का जहाँ पदार्पण हो जाता है वह क्षेत्र बड़ा पुनीत हो जाता है, वहाँ के धार्मिक जन बड़े पुण्यशाली होते हैं। आचार्य पद्मनंदि ने इस विषय में बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है।

स्पृष्टायत्र मही तदंघ्रिकमलै स्तत्रैति सत्तीर्थतां।
तेभ्योऽपि सुरा: कृताञ्जलि पुन: नित्यं नमस्कुर्वते॥
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते।
ये जैना यतयश्चिदात्मनि परंस्नेहंसमातन्वते॥

अध्यात्मरसिक जैन साधुओं के चरण कमलों से जो क्षेत्र स्पर्शित होता है, वह सद् तीर्थ है, उन साधुओं को देवगण भी सदा हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं और, उन साधुओं के नाम स्मरणमात्र से

संसारी प्राणी निष्पाप हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्यों ने कहा है:—

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्य चूडामणिः।
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रे जगद्द्योतिकाः॥
सद् रत्नत्रय धारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं।
तत्पूजा जिन वाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥

इस कलि काल में तीन लोक के स्वामी अरहंत भगवान नहीं हैं फिर भी आज इस जगत में ज्ञान का प्रकाश करने वाली उनकी वाणी विद्यमान है और उसको धारण करने वाले रत्नत्रय के धनी साधु जन हैं अतः उन साधुओं की पूजा जिनवाणी की पूजा है और जिनवाणी की पूजा साक्षात जिनेन्द्र देव की पूजा है। इस प्रकार आचार्य ने जिन, जिनवाणी तथा उनके उत्तराधिकारी साधुओं को समान सिद्ध किया है। इससे साधु पद कितना उच्च है, यह स्पष्टतया समझा जा सकता है।

सर्वसङ्ग परित्यागी शरीर से भी ममत्वरहित, ज्ञान-ध्यान तपोनिरत दि० मुनि विचार करता है। जिस प्रकार म्यान से खड्ग छिलके से माषा (उड़द) पृथक है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न है। जड़ शरीर का लक्षण रूप रस गन्ध स्पर्श है। और आत्मा का लक्षण ज्ञान दर्शनात्मक चेतना है। इस प्रकार के चिन्तन को भेद विज्ञान कहते हैं। आत्मा के ३ भेद हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। इनमें भावलिंगी दि० मुनि अन्तरात्मा हैं। कहा है—

त्वंशुद्धात्मा शरीरं सकलमलयुतं त्वं सदानन्दमूर्तिः।
देहो दुःखैकगेहं त्वमसि सकलवित् कायमज्ञानपुञ्जम्॥
त्वंनित्यं श्रीनिवासः क्षणरुचिसदृशः शाश्वतैकाङ्गमङ्गम्।
मागा श्रीवाक्ष रागं वपुषि भज भवानन्त सौख्यो दयेत्वम्॥

हे आत्मन् निश्चय नयमेतू शुद्धात्मा है और शरीर सकलमल युक्त है। तू सदा आनन्दमूर्ति है। और शरीर दुख का मुख्यगेह है तू सर्वज्ञ है और शरीर अज्ञान पुञ्ज है। तू नित्य तथा बाह्याभ्यन्तर लक्ष्मी का निवास स्थान है, और शरीर क्षण रुचि के समान नश्वर है। ऐसे शरीर मे प्रीति मत कर! तू अनन्त सुख के उदय का सेवन कर, ऐसे भेद विज्ञानी साधु सर्व परिग्रहों का त्यागकर के दि० तपस्वी होता है। उस साधु मुनि का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार कहा है:—

देहे निर्ममता गुरौविनयता नित्यं श्रुताभ्यासता।
चारित्रोज्ज्वलता महोपशमता संसार निर्वेगता॥
अन्तर्बाह्यपरिग्रहत्यजनता, धर्मज्ञता साधुता।
साधो साधुजनस्य लक्षणमिदं संसार विच्छेदकम्॥

हे साधु! शरीर में ममत्व रहित, ज्ञान तपो वृद्ध गुरुजन में विनयता, सदा श्रुताभ्यासता, चारित्र की उज्ज्वलता, महोपशमता, संसार से विरक्तता, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का तजना, धर्मज्ञता, और

साधुत्वाग में साधु के लक्षण संसार विच्छेदक कहे गये हैं। इस श्लोक में जो गुरु शब्द आया है। उसमें धर्मगुरु को ही लेना चाहिये। यद्यपि धर्मगुरु, दीक्षागुरु, विद्यागुरु माता पितादि गुरु अनेक गुरु हैं। तो भी प्रकरण में धर्मगुरु लेना चाहिए। निर्जन स्थान में रात्रि के समय योगारूढ़ योगी को देखकर एक मित्र दूसरे मित्र से पूछता है कि इनको भय क्यों नहीं लगता है? तो वह जवाब देता है :—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी।
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनस्संयमः॥
शय्या भूमि तलं दिशोपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्।
एते यस्य कुटुम्बिनः वद सखे कस्मात् भयं योगिनः॥

जिस योगी का धैर्य ही पिता है, क्षमा ही माता है, शान्ति ही पत्नी है, सत्य ही पुत्र है, दया ही भगिनी है, मन और संयम भ्राता है, भूतल ही शैय्या है, दिशायें ही वस्त्र हैं, ज्ञानमृत ही भोजन है, ऐसे बहुकुटुम्ब वाले योगी को किससे भय हो सकता है? किसी से भी नहीं।

अतएव निर्भय यथा जातरूपधारी और मुमुक्षु जो परम तपस्वी है, उनकी दिगम्बर मुद्रा सर्वोत्कृष्ट और पूज्य है। उन गुरुओं के चरण जहाँ-जहाँ पड़ते हैं वहाँ-वहाँ तीर्थ बनते हैं। पं० भूधरदास जी ने कहा है:—

वे गुरु चरण जहाँ धरै, जगमें तीरथ जेह।
सोरज मम मस्तक चढ़ो, भूधर मांगे एह॥

झालरापाटन] —पं० श्रीनिवास जैन शास्त्री

सदाचार

व्यवहार में सदाचार धर्म है। यदि व्यक्ति सदाचारी न हो, सब दुराचारी हों, तो समाज का टिकना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा। समाज की रक्षा के लिये शील या सदाचार अमोघ अस्त्र के समान है।

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
नीमच (म०प्र०) एम०ए०, पी-एच०डी०

卐=卐
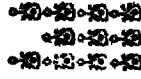
आचार्य श्री
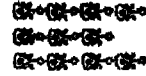
जीवन परिचय

गुरुदेव का जन्म फिरोजाबाद के कटरा मोहल्ला में हुआ। पिता का नाम श्री रतनलाल जी एवं माता का नाम बूंदादेवी था। आप बाल्यकाल से ही देव-गुरु-शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले थे। विनय और भक्तिवान्, गुणग्राही तथा सतत ज्ञानाभ्यासी थे। आप बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति के होने से संसार शरीर भोगों से विरक्त होते हुये अपने आत्म कल्याण में अहर्निश लगे रहते थे। आप आधुनिक शिक्षण की रुचि न रखकर आध्यात्मिक शिक्षण में ही रुचि रखते थे। आपके हृदय में ऐहिक विषय सुखों की अभिलाषा न होने से बाल ब्रह्मचारी रहे। फिर क्षुल्लक अवस्था को धारण किया। अन्तिम मुनि दीक्षा उदगाव में अंकली के श्री १०८ आचार्य आदिसागर जी महाराज से ली। आपको अपने गुरुजी से ही आचार्य पद मिला। आपने अनेक ग्रन्थ अपने हाथ से लिखे। ग्रन्थ छपाने के आप विरोधी थे। आपको अनेक ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। आप १८ भाषाओं के जानकार थे। एक एक जिनबिम्ब के सम्मुख तीन-२ बार नमस्कार करते तथा निश्चल होकर अनेक आसनों से ३-३ घण्टे तक ध्यान करते थे। आपने अपना अधिकांश समय तीर्थक्षेत्रों में व्यतीत किया। आपकी शांत मुद्रा को देखकर भक्तगण भक्ति में लीन हो जाते थे। आप स्वभाव के जितने सरल थे, चारित्र के नियमो को पालने में उससे अधिक कठोर थे।

विचार परिचय

"मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परीषोढव्या परिषहा" इस सूत्र के अनुसार आपने अनेक बार अपने ऊपर आये उपसर्गों को शांतिपूर्वक सहन किया एवं उपसर्ग विजेता के नाम से प्रसिद्ध हुये। आचार्य पद पर विभूषित होने के कारण शिष्यों को दीक्षा-शिक्षा भी देते थे फिर भी आपका ध्यान आत्म कल्याण की ओर ही अधिक था। आप प्रतिदिन कई घण्टों तक मौन रहते थे। पूज्य गुरुदेव की कृपा से हमें आत्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ। वे कहा करते थे—

> गुरु भक्तिः सति मुक्त्यै, क्षुद्रं किंवा न साधयेत्।
> त्रिलोकी मूल्य रत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥

पूज्य गुरुदेव सर्व धर्म पारंगत थे। आपके पास अनेक धर्मानुयायी आकार प्रश्न पूछते थे तथा आप उन्हें शांतिपूर्वक हितमित प्रिय वचनों से समझाकर सन्तुष्ट करते थे। गुरुदेव के वचनों से अनेक मिथ्यात्वी जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। आप शासन देवी-देवताओं की निन्दा करने वालों को शास्त्र प्रमाण

देकर समझाते थे। जाति कुल परम्परा की शुद्धि के विषय में आप बहुत कट्टर थे। जैनाचार्यों का प्रमाण देकर विजातीय विवाह एवं विधवा विवाह का निषेध करते थे।

आंग्ल भाषा में एक प्रमाण वे बहुत दिया करते थे—

There is the full shape of a tree in a seed. It is a seed of the mango, there is the full shape of a mango tree in it, like this there is the full shaps of your old parents in your blood, not only your blood, per atom of the blood virtue also.

भावार्थ:— एक बीज में पूरे वृक्ष का आकार विद्यमान है। जैसे एक आम के बीज (गुठली) में आम का पूरा वृक्ष छिपा हुआ है। इसी प्रकार तुम्हारे रक्त में तुम्हारे माता-पिता का पूरा आकार मौजूद है और परम्परागत पूर्वजों के सद्गुण भी।

इतना ही नहीं वे त्रिलोकसार महाशास्त्र का निम्न प्रमाण भी दिया करते थे—

कुमाणस असुचि सूदग, पुल्फवई जाई संकरादीहिं।
कयदाणा विकुवत्ते, जीवा कुणरेसु जायंते॥

अर्थात् खोटे भाव करने वाले, अपवित्रता रखने वाले, सूतक अवस्था वाले, रजस्वला स्त्री, जाति सङ्कर वाले और कुपात्र दान देने वाले जीव कुभोग भूमि में आकर जन्म लेते हैं।

यदि हम सब गुरुदेव के उक्त वचनों को मानकर भक्ति श्रद्धा से व्रत नियमों का पालन करेंगे तो निश्चय ही इस संसार-समुद्र से पार हो जावेंगे।

श्री मुनि संभवसागर जी महाराज

निष्कर्म

जयं चरे जयं चिट्ठे जय मासे जयं सये।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधई॥

सावधान होकर चले, सावधान होकर ठहरे, सावधान होकर बैठे, सावधान होकर सोये, सावधान होकर खाये और सावधान होकर बोले तो पाप का बन्ध नहीं होगा।

—एक जैन आचार्य

卐—卐

विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न

क्षुल्लक अवस्था में :

सन् १६४० में जावरा मेले के बाद आचार्य श्री वीरसागर जी, मुनि आदिसागर जी, एवं मुनि श्री जयकीर्ति जी के सङ्घ में क्षुल्लक अवस्था में आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी इन्दौर पधारे थे। इस समय आपका नाम महेन्द्र कीर्ति जी था। श्रीमान् सर सेठ हुकमचन्द जी की इतवारिया बाजार स्थित धर्मशाला में चातुर्मास की स्थापना हुई थी। प्रतिदिन प्रातः आचार्य श्री वीरसागर जी एवं रात्रि में क्षुल्लक श्री महेन्द्र कीर्ति जी के प्रवचन होते थे। रात्रि में प्रवचन के अन्तर्गत प्रायः प्रश्नोत्तर हुआ करते थे (किसी प्रश्न के हल न होने पर दूसरे दिन आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज समाधान करते थे) आपको अल्प उम्र में प्रवचन करते देख आश्चर्य होता था।

मुनि अवस्था में :

सन् १६४७ में आचार्य श्री का इन्दौर में पुनः आगमन हुआ उस समय इन्दौर दिगम्बर जैन समाज मे आपसी फूट चरम सीमा पर थी। तपस्वी मुनि श्री चन्द्रसागर जी महाराज एवं नगर के प्रमुख सर सेठ श्री हुकमचन्द जी कासलीवाल के मध्य विचार विभिन्नता हो जाने से दिगम्बर जैन समाज में दो दल बन गये थे। मुनि श्री चन्द्रसागर जी महाराज के साथ तेरह पंथियों ने बहुत हरकतें की थीं। फलत. वर्तमान युग मे मुनि सृष्टि के निर्माता आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने इन्दौर को मुनि विहार हेतु निषिद्ध घोषित कर दिया था। किन्तु इन्दौर से श्री मिश्रीलाल जी सेठी, श्री राजमल जी जोसी, श्री लादुराम जी पाटोदी, श्री फूलचन्द जी एवं तिलोकचन्द जी कासलीवाल, कन्हैयालाल जी गांधी श्री हुकमचन्द जी बघेरवाल आदि आचार्य श्री शांतिसागर जी के पास मुनि श्री महावीर कीर्ति जी को इन्दौर लाने हेतु आज्ञा लेने गये। बहुत आग्रह के बाद आचार्य श्री ने आज्ञा प्रदान की और मुनि श्री महावीर कीर्ति जी ने इन्दौर में पदार्पण किया।

उस समय इन्दौर में पानी नहीं बरसने से त्राहि मची हुई थी। श्रावकों ने मुनि श्री से कुछ धार्मिक उपाय करने के लिए आग्रह किया, तब मुनि श्री ने चैत्यालय में ही भगवान श्री चन्द्रप्रभुजी की मूर्ति पर अखण्ड शांतिधारा का आयोजन करा मन्त्रोच्चार किया। यह आयोजन देखने के लिए इन्दौर के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति एक बड़ी तादाद में आये थे। जैसा कि सभी को विश्वास था इन्दौर में बहुत तेज बारिश हुई। अनेक व्यक्ति आश्चर्यचकित रह गये।

आचार्य श्री के सम्पर्क में लेखक :

आचार्य पद प्राप्ति पश्चात् सन् १६६१ के लगभग आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का

आगमन इन्दौर में हुआ। हजारों जैन-अजैन व्यक्ति, स्वागत जुलूस में सम्मिलित थे। प्राय: कहा जाता है कि तपस्वी महापुरुष जिस किसी स्थान पर विहार करते हैं, वहाँ का वातावरण धर्ममय हो जाता है लोगों में सद् विचार आने लगते हैं, वे हिंसक वृत्ति, राग द्वेष, आदि स्वत: ही भूल जाते हैं। यही हमने देखा कि दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णव धर्मी आदि सम्प्रदाय के लोग एक बड़ी तादाद में जुलूस में शामिल थे। रास्ते में अनेक स्थानों पर आचार्य श्री के चरण धोये गये। मार्ग में हजारों व्यक्ति एकत्रित थे। सङ्घपति सेठ श्री रतनलाल जी बड़ोदिया वालों एवं उनके परिवार के सदस्यों को जन-समूह ने फूल-हारों से लाद दिया था।

सङ्घ मे एक क्षुल्लक श्री एवं ब्रह्मचारी गण थे। आचार्य श्री बीसपन्थी मन्दिर मल्हारगज में ठहरे। बीसपन्थी चैत्यालय में मुनि सङ्घ ठहराने में जगह बहुत कम पड़ती थी। फलत: बीसपन्थी समाज के प्रमुख सेठ श्री बालचन्द बिनोदीराम, मिश्रीलाल जी सेठी. श्री सुजानमल जी बड़जात्या, राजमल जी डोसी एवं लादूराम जी पाटोदी आदि व्यक्तियों ने नगर सेठ श्री नीमाजी से जमीन प्राप्त कर मल्हारगज में ही पाँच लाख की लागत से एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया। इस मन्दिर मे शान्तिनाथ भगवान की एक सात फुट लम्बी खड्गासन अति सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा बहुत चमत्कारी है। आचार्य श्री यहाँ पन्द्रह दिन ठहरे।

प्रतिदिन प्रात: एवं दोपहर को प्रवचन होते थे। आचार्य श्री प्रतिदिन प्रात: नगर के सभी २७ मन्दिरो में दर्शनार्थ हेतु जाते थे। प्रात: काल आपके साथ श्री ठाकुरलाल जी सेठी एव अमृतलाल जी पतंग्या एवं अन्य युवकगण भी रहते थे। मन्दिर में विराजमान प्रत्येक प्रतिमा के चरणो पर मस्तक लगाकर आप विनय प्रकट करते थे। आपके प्रवचन बातचीत की शैली में होते थे। अनेक व्यक्तियों को आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होते मैंने देखा।

आचार्य श्री का आगमन :

इसी अवधि में आचार्य श्री देश भूषण जी महाराज का भी इन्दौर आगमन हुआ। आप मागलिक भवन यशवन्तगंज में ठहरे। आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज एवं आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का मिलन दृश्य दर्शनीय था। दोनों आचार्य श्री बहुत भाव विभोर होकर मिले थे।

महावीर जयन्ति के जुलूस में भी दोनों आचार्य श्री साथ रहे। मार्ग के प्रत्येक मन्दिर में दर्शनार्थ रुकते थे। मल्हारगंज स्थित पोरवाल जैन चैत्यालय में स्थित भगवान श्री चन्द्रप्रभुजी की प्रतिमा को देखकर आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी ने आचार्य श्रीदेशभूषण जी से कहा कि महाराज श्री! यह प्रतिमा बहुत चमत्कारी होनी चाहिये। पश्चात् दोनों आचार्य श्री ने प्रतिमा को छाती से लगाकर देखकर तय किया कि वास्तव में यह प्रतिमा बहुत चमत्कारी है। आचार्य श्री देशभूषण जी ने चैत्यालय के व्यवस्थापक श्री नेमीचन्द जी को कुछ आवश्यक निर्देश भी दिये। तात्पर्य यह है कि आचार्य श्री प्रतिमा के चमत्कारी होने का पता केवल प्रतिमा को देखकर ही बता देते थे।

इसी प्रकार आचार्य श्री ने बीसपन्थी मन्दिर स्थित श्री शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा, मोदी की

की नसिया में स्थित श्री आदिनाथ भगवान की प्रतिमा एवं नरसिंहपुरा मन्दिर स्थित श्री आदिनाथ भगवान की प्रतिमा तथा इसी मन्दिर में स्थित जिन शासन देव श्री मानभद्र जी की अति प्राचीन प्रतिमा तथा बाबत कहा था ये प्रतिमाएँ बहुत चमत्कारी हैं।

सकारण धरियावद विहार—चातुर्मास :

एक बात विचारणीय है कि हम अपने जीवन में अनेक मुनियों का समागम देखते हैं किन्तु उनमें से अधिकांश को हम भूल जाते हैं। कुछ दिनों में ही हमें उनका नाम भी याद नहीं रहता है। उनकी आकृति हमारी आँखों के सामने से ओझल हो जाती है। उनका कब आगमन हुआ तथा वे कब विहार कर गये यह हमें याद तक नहीं रहता। किन्तु कुछ महापुरुषों के बारे में सब कुछ याद रहता है। स्मरण करते ही उनकी आकृति हमारी आँखों के सामने दृष्टिपात करने लगती है। ऐसी ही बातें आचार्य श्री के सम्बन्ध में हमने अनुभव कीं।

एक दिन एक बालिका के माध्यम से क्षेत्रपाल जी (श्री मानभद्र देव) ने आकर अनेक व्यक्तियों के सामने आचार्य श्री से कहा कि धरियावद (राजस्थान) में मुनि श्री वर्धमानसागर जी की तबियत बहुत खराब है उनका स्वर्गवास का दिन व समय बताकर क्षेत्रपाल जी ने कहा कि मुनि श्री की इच्छा है कि आपके द्वारा संलेखना विधि सम्पन्न हो। अतः आप शीघ्र धरियावद विहार कर दें।

फलतः आचार्य श्री ने उसी दिन दोपहर को विहार कर दिया। आपने धरियावद पहुँचकर अन्तिम विधि सम्पन्न की।

कहा जाता है कि धरियावद में भूत प्रेतों का बहुत जोर है वह स्थान साधु-सन्तों के विहार योग्य नहीं माना जाता। किन्तु आचार्य श्री ने श्रावकों के द्वारा मना करने पर भी धरियावद में चातुर्मास किया। आप वहां पाँच माह से अधिक समय तक रहे। सत्य भी है कि जिन महापुरुषों को जिन शासन यक्ष एवं यक्षणियां, श्री मानभद्र देव, धरणेन्द्र देव, गोमुखीयक्ष देव, पद्मावती देवी, चक्रेश्वर देवी इत्यादि का सहयोग प्राप्त हो उनसे कौन आँख मिलाने की हिम्मत कर सकता है?

पुनः मालव-भूमि पर :

धरियावद के बाद आप पुनः मालव भूमि पर पधारे। विभिन्न स्थानों पर होते हुए आप प्रसिद्ध चमत्कारी क्षेत्र ऊन में पधारे।

यहाँ ऋषी मण्डल विधान के आयोजन के समय एक आश्चर्यजनक घटना हुई। विधान का सारा आयोजन आचार्य श्री के निर्देशानुसार हुआ था। अन्तिम दिन महाराज श्री पाठ कर रहे थे। तब अचानक मन्दिर में बाजों की धुन सुनाई दी। मन्दिर में घन्टे अपने आप बजने लगे, उपस्थित श्रावक बहुत घबरा गये, आचार्य श्री ने तब इशारे से सभी को धैर्य बंधाया। यह क्रम तीस पैंतीस मिनिट तक चलता रहा। घटना का वर्णन इन्दौर के समाचार-पत्र जागरण में प्रकाशित हुआ था।

ऊन के पश्चात् आचार्य श्री प्रसिद्ध तीर्थ बावन गजाजी (चूलगिरि) चातुर्मास हेतु पधारे। वहीं आपके प्रमुख शिष्य आचार्य विमलसागर जी अपने विशाल संघ सहित पधारे। दोनों आचार्य श्री ने

यहीं चातुर्मास किया। स्वर्ग-सा दृश्य उपस्थित था। विभिन्न स्थानों से चार सौ से अधिक श्रावक एकत्रित थे।

बावन गजाजी में प्रथम तिर्थंकर भगवान श्री आदिनाथ जी की एशिया प्रसिद्ध विशालकाय प्रतिमा पहाड़ में स्थित है। महामस्तकाभिषेक आयोजन के समय प्रवचन के अन्तर्गत आचार्य श्री ने बताया कि भगवान श्री आदिनाथ जी की उक्त प्रतिमा के सम्मुख रात्रि में एक मणिधर सर्प आकर नृत्य करता है। आचार्य श्री ने बताया कि उसे उन्होंने देखा था।

आचार्य श्री आहार के समय आकड़ी बहुत कठिन लेते थे, फलतः सप्ताह में तीन दिन उपवास व अन्तराय में बीत जाते थे। प्रतिदिन आप दस घन्टे सामायिक करते थे। आपमे एक अजीब फुर्ती थी। धर्म विरोधियो से आप पूर्णतः सजग थे। अनेक सङ्कटग्रस्त दुखी व्यक्तियों को आपने अपने तप के प्रभाव से विपत्ति से छुटकारा दिलाया है। यही कारण है कि देश के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक व्यक्ति आपसे प्रभावित रहे हैं।

प्रातः काल भयङ्कर ठण्ड में भी आचार्य श्री अन्य मुनिगण एवं श्रावकों के साथ चूलगिरि पर्वत पर दर्शनार्थ जाते थे। वहाँ से आने के बाद प्रवचन होते थे पश्चात् आप आहार के बाद पुनः अकेले ही चूलगिरि पर्वत पर सामायिक हेतु चले जाते थे। ३ बजे के लगभग श्रावक आपको लेने के लिए पहाड़ पर जाते थे एक दिन महाराज श्री को लेने के लिए दिल्ली एवं इन्दौर के श्रावकगण चूलगिरि पर्वत पर पहुँचे वहाँ आचार्यश्री भगवान आदिनाथ जी की प्रतिमा के सम्मुख खड़े रहकर सामायिक कर रहे थे। सब ने देखा आचार्य श्री के शरीर पर चीटियाँ फैली थीं। एक व्यक्ति ने चीटियों को दूर किया। कुछ आदिवासी महाराज श्री के कुछ ही दूर बैठे हुए थे वहीं पर आदिवासियों के बच्चे भी खेल रहे थे, उन का ध्यान आचार्य श्री की ओर नही था। उन्हें क्या मालूम कि वह दिगम्बर जैन आचार्य इस युग की एक महान् विभूति है।

सामायिक के बाद आचार्य श्री के साथ हम पहाड़ से उतरे। रास्ते मे आचार्य श्री ने दूर स्थित समीप की पहाड़ी की ओर देखते हुए कहा कि देखो उन वीरान स्थलों में स्व० मुनि श्री चन्द्रसागर जी सामायिक करते थे। आचार्य श्री ने स्वतः ही मुनि श्री चन्द्रसागर जी की विद्वता एव तपस्वीपन सम्बन्धी अन्य घटनाओं का भी वर्णन किया। स्मरण रहे कि यहीं बावन गजाजी क्षेत्र में मुनि श्री चन्द्रसागर जी की समाधि भी बनी हुई है।

आचार्य श्री की अनमोल वाणी :

१— प्रतिदिन नियमानुसार मन्दिर में प्रातः जाकर भगवान के कलश, प्रक्षाल, एवं पूजापाठ, श्रद्धापूर्वक करते रहने से जीवन में आने वाली समस्त विपत्तियाँ स्वयमेव ही दूर हो जाती हैं। व्यक्ति उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जाता है।

२— संसार दुःखमय है, व्यक्ति के जीवन में अनेक सङ्कट आते रहते हैं। अतः ऐसे कष्टों से छुटकारा पाने के लिए अपने से अधिक शक्तिशाली जिनशासन देवों का सहयोग प्राप्त करने में कोई बुराई नहीं है। जिनशासन देवों को अपने कुल देवता-सा आदर देकर श्रावकों को उनकी अभ्यर्थना

करते रहना चाहिए । व्यक्ति अपनी समस्याओं के हल एवं सङ्कट मुक्ति हेतु जिस तरह अपने से अधिक समृद्ध व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त करता है उनका आदर करता है, उसी तरह जिनशासन देवों का आदर करने में कोई बुराई नहीं है ।

३— आप कहा करते थे कि एक बड़ी तादाद में लोग जिनशासन देवों को आदर देना उचित नहीं समझते हैं किन्तु प्रतिदिन इन्कम टैक्स आफीसर एवं अन्य शासकीय कर्मचारियों के सामने गिड़गिड़ा कर अनुनय विनय करते रहते हैं। वे बुद्धिहीन उनके चरण स्पर्श करने में भी नहीं शर्माते हैं।

४— पूर्णतः विधि विधान से पञ्चामृत अभिषेक से प्राप्त गन्धोदक, श्रद्धासहित पीने से सभी प्रकार के रोग दूर होते हैं । ऊपरी हवाओं से सम्बन्धित शारीरिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं । सूखे कूंए में पानी एवं खारे पानी को स्वादिष्ट प्राप्त करने हेतु कुंए में गन्धोदक प्रतिदिन डालते रहना चाहिए ।

५— णमोकार मन्त्र सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है । स्वच्छ कपड़े पहनकर जिन प्रतिमा के सम्मुख बैठकर विनय सहित प्रतिदिन पाँच से अधिक माला फेरने से उपसर्ग दूर होकर पुण्य का उदय होता है ।

६— मन्त्रों का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति को विशेष सङ्कट को दूर करने के लिए ही करना चाहिए । अन्यथा जिनशासन देवों को सिद्ध करने का प्रयत्न भूल कर भी नहीं करना चाहिए ।

७— लोग चतुर्थकाल जैसे मुनि देखना चाहते है किन्तु स्वयं चतुर्थकाल के श्रावक नहीं बनना चाहते हैं ।

व्यक्ति की प्रतिभा को पहचानते ही आचार्य श्री प्रतिभा का उपयोग अहिंसा धर्म के प्रचार हेतु करने में नहीं चूकते थे । आचार्य श्री विमलसागर जी, सन्मतिसागर जी, वर्धमानसागर जी एवं मुनि विद्यानन्द जी, आदि आपके प्रमुख शिष्य हैं ।

आचार्य श्री के पुनीत चरणों में शत् शत् वन्दन ।

१६, नार्थ यशवन्तगंज, इन्दौर]

—महावीरकुमार डोसी

विवादी

ग्रामान्तरोपगतयो रेकामिष सङ्ग जात मत्सरयोः ।
स्यात्सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ॥

गांव के बाहर से आये दो कुत्ते यदि आमिष मांस के किसी टुकड़े के लिये जूझते हों तो उनमें एक बार कदाचित एकता और मित्रता हो सकती है किन्तु विसंवादी झगड़ते सगे भाइयों में प्रेम नहीं हो सकता है ।

—सिद्धसेन दिवाकर

卐 ◎ 卐

आचार्य श्री के पावन प्रसङ्ग

卐 सल्लेखना की समापन तिथि बतलाई

राजस्थान के धरियावद गाँव में सन् १९६३ में परमपूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का पदार्पण हुआ। उस समय उनके सङ्घ में केवल एक मुनि श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज ही थे। धरियावद की समाज ने मुनि श्री आदिसागर जी महाराज की सल्लेखना विधि कराने आचार्य श्री को आमन्त्रित किया था। उस समय कतिपय विद्वानों में मुझे भी बुलाया था। मुनि आदिसागर जी महाराज इसी क्षेत्र के थे। अतः प्रत्येक ग्राम व शहर के लोग उनके अन्तिम दर्शनार्थ आये हुए थे। अतः सबकी यह इच्छा थी कि अन्तिम सत्कार तक रहें, पर समस्या यह भी थी कि वह अवसर कब मिले, इस पर कुछ लोगों ने आचार्य श्री से निवेदन किया कि मुनि आदिसागर जी महाराज ने अन्न जल तक त्याग कर दिया है फिर निधन का समय आप द्वारा विदित हो तो हम रुके रहें।

आचार्य श्री ने धरियावद के बड़े मन्दिर में मूल नायक भगवान के सामने ध्यान लगाकर अवधि प्रकट की और आम सभा में तिथि एवं समय की घोषणा की। तदनुसार निश्चित समय पर ही ज्येष्ठ की पूर्णिमा की पावन बेला में निधन हुआ। इस प्रकार आचार्य श्री का जप एवं तप का चमत्कार हमें दिखाई दिया। वे घन्टों तक अपने आराध्य देव का ध्यान लगाते थे। विशुद्ध ज्ञान का परिचय समाज को देते थे, उनकी विशुद्ध भक्ति में दैवी चमत्कार यदा-कदा दृष्टिगोचार हुआ करता था।

卐 मांसाहार छुड़वाया

उन दिनों धरियावद में कुछ सरकारी कर्मचारी भी यदा-कदा आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज का धर्मोपदेश सुनने आया करते थे। आचार्य श्री का उस दिन "मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी" प्रवचन को सुनकर एक इन्जीनियर साहब ने शास्त्र सभा के पश्चात कुछ प्रश्न पूछे। प्रश्नोत्तर के प्रसङ्ग में आचार्य श्री ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के माध्यम से आंग्ल भाषा में पूछ लिया कि "HOW EGGS ARE HEALTHY। दूध और दाल की अपेक्षा अण्डे स्वास्थ्यवर्धक नहीं हैं। मांस भक्षण में दानवता है अतः मानवता के इच्छुक मांसाहारी हो जाय तो शाकाहारी कौन बनेगा? आचार्य श्री का सारगर्भित उपदेश सुनकर इन्जीनियर साहब पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने मांस, मछली और अण्डा जीवन भर नहीं खाने की प्रतिज्ञा कर ली।

इस प्रकार आचार्य श्री ने अनेक मांस भक्षी लोगों को अपनी सुमधुर वाणी द्वारा शाकाहारी बना दिया।

—पं० कलहसागर जी जैन शास्त्री
एम०ए०, बी०एड०

ऋषभदेव (राज०)

आचार्य श्री : एक महान आध्यात्मिक संत

आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज एक महान् आध्यात्मिक सन्त थे। हमने कई बार उनसे प्रवचन सुना। वे प्रतिदिन आध्यात्मिक ग्रन्थों का मनन किया करते थे। उन्हें हजारों श्लोक कंठस्थ थे।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, योगसार, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आत्मानुशासन आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों को वे कई बार कंठस्थ बोला करते थे।

लगभग पाँच हजार मील की पैदल यात्रा हमने उनके साथ की है। वे ईर्यासमिति से चलते हुये उक्त ग्रन्थों को समय-२ पर बोला करते थे।

तीर्थराज सम्मेदशिखर की लगभग १२५ वन्दनायें उन्होंने की थीं। ८/१० के अलावा लगभग सभी वन्दनायें हमने भी उनके साथ की थीं। उस समय भी आते-जाते हुये वे अनेक स्तोत्र पाठों को बोला करते थे।

भक्तामर, एकीभाव, कल्याण मन्दिर, विषापहार, जिन चतुर्विंशतिका, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, महावीराष्टक, देवागमस्तोत्र, पात्रकेसरीस्तोत्र आदि उनके बोले जाने वाले स्तोत्रों में से मुख्य स्तोत्र हैं।

वैसे तो उनके प्रतिदिन के प्रवचन में कुछ न कुछ आध्यात्मिकता झलकती ही थी परन्तु कभी-२ वे अपना पूर्ण प्रवचन द्रव्यानुयोग की शैली का ही किया करते थे।

वे अपने आध्यात्मिक प्रवचन में निम्न गाथाओं और श्लोकों को विशेषतया बोला करते थे—

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि काम भोग बंध कहा ।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरिण सुलहो विहत्तस्स ।।समयसार ४।।

अर्थात् सर्व लोक के काम, भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा, सुनने में आई है, परिचय में आई है और अनुभव में भी आई है इसलिये सुलभ है। लेकिन भिन्न आत्मा का एकत्व न सुनने में आया है, न परिचय में आया है और न अनुभव में ही आया है, इसलिये भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग संपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो, तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ।।समयसार १५०।।

अर्थात् रागीजीव कर्म बांधता है तथा वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्म से छूटता है। यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। इसलिये हे जीव ! तू कर्मों में प्रीति मत कर।

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्ध मेवप्पयं लहइ जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्ध मेवप्पयं लहइ ।।समयसार १८६।।

अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ।।समयसार ४९।।

अर्थात् हे भव्य जीव ! तू अपने साथ-साथ प्रत्येक जीव को, रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, इन्द्रिय के अगोचर, चेतना गुण वाला, शब्द रहित, किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता, ऐसा जान।

मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्ण दव्वेसु ।।समयसार ४१२।।

अर्थात् हे जीव ! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी में निरन्तर बिहार कर। अन्य द्रव्यों में बिहार मत कर।

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।समयसार ३८।।

अर्थात् मैं निश्चय से एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञानमयी हूं और सदा ही अरूपी हूं। अन्य किंचित् परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

भवतणभोयविरत्तमणु, जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी, संसारिणि तुट्टेइ ।।परमात्मप्रकाश ३२।।

समार, शरीर और भोगों से विरक्त मन हुआ जो जीव आत्मा को ध्याता है, उसकी बड़ी भारी संसार रूपी बेल छिन्न-भिन्न हो जाती है।

जे सिद्धा जे सिज्झिहिंहिं, जे सिज्झहि जिण-उत्तु ।
अप्पा-दंसणि ते विफुडु, एहउ जाणिणिभंतु ।।योगसार १०७।।

अर्थात् जो सिद्ध परमात्मा हो चुके हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान में होते हैं, वे सब निश्चय से आत्म दर्शन से ही हुये हैं, होंगे और होते हैं, यह भ्रान्ति से रहित होकर समझो।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ।।प्रवचनसार ७।।

अर्थात् निश्चय से चारित्र ही धर्म है और जो चारित्र रूप धर्म है, वह समता-साम्य भाव रूप कहा गया है तथा आत्मा का मोह और क्षोभ रहित परिणाम समता है।

अण्णोण्णं पविसंता, दिंता उग्गासमण्णमण्णस्स ।
मेलंतावि य णिच्चं, सगसगभावं ण विजहंति ।।पंचास्तिकाय।।

अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हुये, परस्पर में अवकाश देते हुये और संयोग को प्राप्त करते हुये भी, निश्चय से अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। सदैव ही सभी द्रव्यों का अस्तित्व अलग-२ ही रहता है।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं,
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्,
त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥समयसार आ० अमृतचन्द्र २४ ॥

जो जीव नयों के पक्षपात को छोड़कर हमेशा ही निज आत्म स्वभाव में लगे रहते हैं; वे जीव ही विकल्प जालों के निकल जाने से शान्त चित्त हुये साक्षात्-प्रत्यक्ष रूप में, अमृत को पीते हैं अर्थात् अविनाशी सुख का अनुभव करते हैं।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥समयसार आ० अ० च० ६॥

भेद विज्ञान को निर्बाध धारा प्रवाह से तब तक भाना चाहिये, जब तक कि ज्ञान पर-पदार्थ से हटकर स्व ज्ञान में न प्रतिष्ठित हो।

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥समयसार अ०च० सूरि २८॥

जो राग की उत्पत्ति में मात्र पर-द्रव्य को ही निमित्त रूप से मानते हैं, वे निर्मल ज्ञान से शून्य और अन्ध बुद्धि वाले जीव मोह रूपी नदी को निश्चय से पार नहीं हो सकते।

करोतु न चिरं घोरं, तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन्, न जयेत् यत् तदज्ञता ॥आत्मानुशासन २१२॥

अर्थात् हे भव्य जीव ! यदि तू तपश्चरण के कष्टों को सहन करने में असमर्थ है तो दीर्घ काल तक तपश्चरण मत कर; लेकिन यदि तू अन्तःकरण के द्वारा साध्य कषायरूपी शत्रुओं को नहीं जीतता है तो यह तेरी महान् अज्ञानता है।

यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयं ।
स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्रवः ॥आत्मानुशासन २४६॥

अर्थात् जिसके पुण्य और पाप बिना फल दिये ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं, वह योगी है, उसी को मोक्ष प्राप्त होता है। उसके फिर कभी कर्मों का आगमन नहीं होता।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्, न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥इष्टोपदेश २९॥

अर्थात् जब मेरी मृत्यु नहीं है तब भय किस बात का ? जब मेरी आत्मा रोग से मुक्त है तब

व्यथा कैसी ? अरे, मैं न तो बालक हूं, न वृद्ध हूं और न तरुण ही। ये सब तो पुद्गल के खेल हैं।

यः परात्मा स एवाहं, योऽहं सः परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥समाधिशतके ३१॥

जो परमात्मा है वही मैं हूं तथा जो मैं हूं वही परमात्मा है। अतः मैं ही अपने द्वारा उपासना या आराधना करने योग्य हूं। मेरे द्वारा अन्य आराधना करने योग्य नहीं। यह वास्तविक स्थिति है।

उक्त गाथा एवं श्लोकों के अर्थ और रहस्य का यदि हम गहराई से मनन चिन्तन करें तो सुनिश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकलेगा कि आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज वास्तव में एक महान् आध्यात्मिक सन्त थे।

अवागढ़ (उ०प्र०)

—क्षुल्लक शीतलसागर

उदयपुर से गिरनार

परमपूज्य चारित्र चूड़ामणि १०८ श्री महावीर कीर्ति जी महाराज इस युग के महान सन्त हुए हैं, मैं उनके चरणों में छह माह तक रहा, और उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा। वे जब ध्यान करने बैठते थे तब छह-छह घण्टे ध्यान-मुद्रा में एक आसन से बैठे रहना उनकी अपूर्व शक्ति का परिचायक था। वे चतुर्थ काल के महा ऋषी की तरह ध्यान लगाते थे, उनमें आत्मिक शक्ति आश्चर्यजनक थी।

महावीर कीर्ति महाराज का ज्ञान अगाध था। जो विद्वान उनके सम्पर्क में आया, वह महान बना। उनका स्वभाव सरल था, उनकी मुस्कान सबको अपनी ओर आकर्षित करती थी। वे साधु के २८ मूल गुणों का निर्दोष पालन करते थे, आगम के प्रगाढ़ श्रद्धालु थे, स्वाध्याय में विशेष रुचि रखते थे। ध्यान में भी उनका विशेष मन लगता था। उन्हें अर्हन्त भगवान की प्रतिमाओं के चरण स्पर्श करने में और पञ्चामृताभिषेक देखने में विशेष आनन्द आता था। धरणेन्द्र, पद्मावती के दर्शन से तो वे बड़े खुश होते थे। वे अपनी पिच्छी से बार-बार आशीर्वाद देते थे। जब मैं पद्मावती संयुक्त पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा का अभिषेक करता था, तब तो वे मेरे ऊपर बहुत खुश होते थे। वे मेरे मस्तक पर पिच्छी रखते और अपना शुभाशीर्वाद देते। साथ ही मुझे भी पद्मावती युक्त पार्श्वनाथ स्वामी का पञ्चामृताभिषेक उन्हें दिखाने में बड़ा आनन्द आता था। जब मैं मधुर कंठ से उच्च स्वर से पञ्चामृताभिषेक के संस्कृत श्लोकों को बोलता था तब तो वे मेरे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होते थे। जब मैं बड़ी शांतिधारा बोलता तब तो कहना ही क्या? एक बार ५ किलो दूध से केशरिया जी में बड़ी शांतिधारा की और केशर से भी अभिषेक हुआ, जब अभिषेक पूरा हो चुका तो उन्होंने दूध के अभिषेक को पीने का आदेश दिया। खीर बनाकर खाने को भी कहा, कुछ व्यक्तों ने उनके आदेशों का पालन किया, मैंने खीर तो नहीं खाई परन्तु अभिषेक का एक लोटा दूध उस दिन अवश्य पीया जिससे बड़ी

शांति मिली। वे कहा करते थे भगवान का अभिषेक पीने से सम्पूर्ण रोगों का नाश होता है और मनोज्ञ शरीर होता है, अगली पर्याय में भी सुन्दर शरीर की प्राप्ति होती है और अतुल सम्पदा को भोगता है।

मुनि श्री का प्रथम दर्शन

श्रीमान् बाबू नेमीचन्द जी बड़जात्या नागौर वाले जैन समाज मे माने हुए श्रीमानविद्वानों में से एक हैं। वे कर्मठ कुशल कार्यकर्ता हैं, साथ ही त्यागी तपस्वियों के परम भक्त हैं। एक बार उन्होंने श्री शांतिवीर दि० जैन समिति में काम करने के लिए मुझे नागौर बुलाया। वे उन दिनों श्री शांतिवीर दि० जैन समिति के प्रचारक मन्त्री थे, उन्होंने मुझे समिति मे प्रचार कार्य पर नियुक्त किया। कुछ दिन बाद उदयपुर से महावीर कीर्ति महाराज का उनके पास एक पत्र आया। महाराज ने लिखा था, हमें एक ऐसे विद्वान पण्डित जी की आवश्यकता है, जो विद्यानुवाद ग्रन्थ का संशोधन कर सके। साथ ही गिरनार तक सङ्घ के साथ रहकर सङ्घ सञ्चालन में सहयोग दे सकें।

बाबू नेमीचन्द जी साहब ने मुझे उदयपुर भेज दिया और महाराज के साथ कुछ दिन रहने को कहा। मैं अपने परिवार को नागौर छोड़कर उदयपुर के लिए रवाना हुआ। मैंने महाराज श्री की कीर्ति पहले ही सुन रक्खी थी कि वे प्राचीन ऋषियों की तरह महान ज्ञानी हैं। इसलिए मन में कुछ धड़कन थी थी कि मैं विद्यानुवाद ग्रन्थ के संशोधन मे कहाँ तक सफल होऊँगा? मगर महाराज की अगाध विद्वता के पूर्ण सहयोग की आशा थी। ठीक वैसा ही हुआ भी, मैं अपने कार्य मे पूर्ण सफल रहा।

उस साल उदयपुर में महाराज श्री का चातुर्मास हो रहा था। हजारों नर-नारी चारों तरफ से आ-आ रहे थे। प्राय: सभी उच्च कोटि के विद्वान आ चुके थे। पीछे से मैं भी पहुँचा। महाराज के दर्शनों से मुझे बड़ा आनन्द आया। मैंने बाबू नेमीचन्द जी बड़जात्या नागौर वालों के चौके मे महाराज को लाने के लिये कुछ दिनों के लिये शूद्रजल का त्याग किया, और उनके साथ ही महाराज को आहार दिया। वह मेरे जीवन का अमूल्य दिन था।

उन दिनों महाराज की यह प्रतिज्ञा चल रही थी कि हम उसी जगह आहार लेंगे जिस जगह नवीन शूद्रजल त्यागी मिलेगा। मैंने उस दिन शूद्रजल का त्याग किया ही था। इसलिये महाराज पचासों चौकों को छोड़कर बाबू नेमीचन्द साहब के चौका की तरफ आये। मैंने आगे बढ़कर महाराज से शूद्रजल के त्याग की शपथ ली और इस तरह उस दिन महाराज श्री का आहार बाबूसाहब के चौका में बड़ी शान के साथ हुआ। आहार देते हुए हर्ष के अश्रुओं से आँखें डबडबा रही थीं। मन में गुदगुदी उठ रही थी, भावों में अपूर्व उज्ज्वलता थी। उस वक्त तो ऐसा मालूम पड़ रहा था मानों कोई स्वर्गीय अमूल्य निधि ही मिली हो। जब आहार निर्विघ्न समाप्त हो चुका था तो अन्त में महाराज का अपूर्व आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

दिन में १½ या २ बजे से उन महर्षि का धर्मोपदेश होता था। वे विभिन्न विषयों पर गम्भीर विवेचन करते थे। उनकी सभा में हजारों नर-नारी आते थे और तत्व ज्ञान प्राप्त करते थे। मैं २ माह उदयपुर में रहा। फिर वहाँ से सङ्घ का विहार हुआ। रात को एक दिन मैं प्रवचन कर रहा था-

पण्डाल में एकत्र जन-समुदाय के समक्ष वन में रामचन्द्र जी, लक्ष्मण और सीताजी के द्वारा चारण ऋद्धिधारी मुनियों को दिये गये आहार के प्रकरण में मैं अपनी शैली के अनुसार जटायु पक्षी के पूर्व भवों का वर्णन कर रहा था, जो दण्डक राजा का जीव था। उस दिन का प्रवचन महाराज श्री को बहुत पसन्द आया। यह तो मैं नहीं बता सकता कि मेरे भाषण में ऐसी कौनसी खूबी थी, जो इतने उद्भट विद्वान को आकर्षित कर सकी पर जनता के भावों से यह जरूर मालूम पड़ रहा था कि जनता मेरे भाषण को ज्यादा पसन्द कर रही है और मन्त्र मुग्ध, अचल मूर्ति की तरह बैठी है। सभा में सैकड़ों नारियों की आँखों से तो अश्रुधारा बह चली। कभी जनता हर्ष में, कभी विषाद में, कभी उद्वेग और कभी शोक में डूब जाती थी। दो घन्टे तक भाषण होता रहा, परन्तु इतना सुन चुकने के बाद भी जनता की तृप्ति नहीं हुई, इसी बीच सभा के बीच से एक महाशय उठे और बोले पण्डितजी साहब कुछ देर अमृत और पिलाइये। मैंने दूसरे दिन पुनः भाषण देने का वचन दिया। तब वे अपने स्थान पर बैठे। जिन वाणी की स्तुति हो चुकने के बाद श्री परमपूज्य ऋषि पुंगव महावीर कीर्ति जी महाराज की जय ध्वनि के साथ सभा विसर्जित हुई।

उदयपुर राजस्थान का सुरम्य नगर है। इस नगर की अपूर्व प्राकृतिक छटा देखते ही बनती है। यह वही उदयपुर है जिसमें महाराणा प्रताप और दानी भामाशाह सरीखे महाप्रतापी पुण्य पुरुष पैदा हुए। यह वही नगर है, जहाँ की ऊँची-२ अट्टालिकाऐं आज भी महाराणा प्रताप की वीरता, त्याग और बलिदान की ऐतिहासिक गाथाऐं सुना रही हैं। नगर के बीचो-बीच में सुरम्य झीलें हैं और छोटे-२ उद्यान नगर की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इस नगर में जैनियों की अच्छी धाक है। छह, सात सौ घरों की बस्ती है, आठ विशाल जैन मन्दिर हैं, जो यहाँ के जैनियों के वैभव को बताते हैं कि जैन जाति क्या है? और घर-घर में अनेक चैत्यालय, मोतीलाल जी मिन्डा के चैत्यालय में दर्शनार्थ रोज जाते थे, वे समाज के प्रमुख नेता हैं। हूमड़ समाज है।

एक दिन उदयपुर महाराज का महल देखने भी गए जो झील के मध्य में बना है। तालाब में सहस्त्रों, मछलियाँ रङ्ग-बिरङ्गी विचित्र-विचित्र ढंग की देखने को मिलती हैं। साथ में चने ले गये थे। जब एक मुठ्ठी चने तालाब में गिराते थे तो सहस्त्रों मछलियाँ हमारी नौका के इर्द-गिर्द उन्हें झपटने के लिए दौड़ती थीं। वह अपूर्व दृश्य देखते ही बनता था और उन्हें देख-२ कर मन बड़ा प्रसन्न होता था। महल में राजसी ठाट-बाट की अनेक चीजें देखीं, जिनमें से महाराज, महारानी का सुन्दर कांच निर्मित पलंग बहुत पसंद आया। महाराणा प्रताप युग की अनेक चीजें देखने को मिलीं जो आश्चर्यजनक थीं।

उदयपुर की समाज ने महाराज के चातुर्मास में चालीस पचास हजार रुपया खर्च किया होगा। बाहर से आने वाले सभी भाई-बहिनों के लिए खाने-पीने का बड़ा सुन्दर प्रबन्ध था। बाहर से आने वाले विद्वानों के लिए विशेष सुविधा थी। चातुर्मास के अन्त में महाराज श्री के आदेशानुसार सिद्धचक्र विधान भी कराया गया जो दक्षिण भारत के ब्रह्मचारी [illegible] जी तथा मेरे द्वारा विधिपूर्वक संपन्न हुआ। दूसरे दिन रथयात्रा भी हुई। यह समारोह आकर्षक था।

महाराज का संघ गिरनार जाने वाला था। उदयपुर के संघपति बहुत ही सरल स्वभावी भद्र परिणामी थे। संघपति के पुत्र बाबू रतनचन्द जी तथा उनकी पुत्र-वधू संघ के साथ थीं। वे दोनों प्राणी आदर्श भव्य सरल परिणामी थे। उनका व्यवहार हमारे साथ बहुत अच्छा था। बाबू हजारीलाल जी बसंत वाले संघपति का पूरा-पूरा सहयोग दे रहे थे। संघ के साथ उनकी बेटी भी थीं जो वहीं सम्पन्न परिवार में ब्याही थीं। महाराज के संघ में दो क्षुल्लक, तीन आर्यिकाएँ, कई ब्रह्मचारिणियाँ व दो ब्रह्मचारी थे। श्री पुष्पदन्त क्षुल्लक बहुत वयोवृद्ध थे जो साईकिल के ठेला में बैठकर विहार करते थे। उनकी समाधि श्री सिद्धक्षेत्र गिरनार में हुई थी।

कार्तिक की पूर्णमासी के बाद संघ का विहार ऊर्जयन्त गिरि के लिए हुआ। उदयपुर से संघ केशरिया जी पहुँचा। केशरिया जी जैन समाज का प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ का विशाल अति प्राचीन मन्दिर किस भव्यात्मा को आकर्षित न करेगा? यहाँ के उत्तुङ्ग जिनालय में श्री आदिनाथ भगवान की प्राचीन प्रतिमा श्यामवर्ण में बहुत ही मनोज्ञ है। यहीं पर सहस्त्रफणधारी पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा दर्शनीय है। सहस्त्रों यक्ष-यक्षणियों की मूर्तियाँ मन्दिर के चारों ओर उत्कीर्ण हैं, जो भिन्न-भिन्न भावों से व्यक्त की गई हैं।

१९३४ में यहीं पर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में झगड़ा हुआ था। जिसमें कई आदमियों की जानें गई थीं। जब केस चला तो यह क्षेत्र दोनों सम्प्रदाय वालों के अधिकार से अलग हो गया और उदयपुर सरकार के हाथों में चला गया सिर्फ दोनों सम्प्रदायों को पूजन-प्रक्षालय का अधिकार रह गया।

महाराज का संघ केशरिया से आगे बढ़ा। गुजरात और मेवाड़ की सीमा पर स्थित ईडर पहुँचा। यह नगर ऋषि मुनियों के चातुर्मास के लिए बड़ा प्रसिद्ध रहा है। श्री पूज्य कुंथसागर महाराज की प्रसिद्ध विहार भूमि है। एक बार श्री पूज्य सुधर्मसागर जी महाराज ने भी इस नगर में चातुर्मास किया था। वे ठीक प्राचीन ऋषियों की तरह थे, जिन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की है। वे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के संघ में उपाध्याय पद पर आसीन थे जिन्होंने अनेक ऋषियों को शिक्षित किया। उनके प्रमुख शिष्यों में से कुंथसागर जी महाराज का नाम उल्लेखनीय है। ईडर से महावीर कीर्ति महाराज का संघ गुर्जर देश के अनेक गांवों में विहार करता हुआ सुरेन्द्रनगर पहुँचा। यह गुजरात का प्रसिद्ध नगर है। यहाँ श्वेताम्बरों का मन्दिर दर्शनीय है। दिगम्बर जैन मन्दिर भी बहुत भव्य है, जिसे कानजी स्वामी ने बनाया है। मन्दिर की शोभा देखते ही बनती है। अब सुरेन्द्रनगर से संघ गिरनार के रास्ते में गुजरात की राजधानी राजकोट पहुँचा। राजकोट महात्मा गांधी की राजनीति का स्थल रहा है। यह बहुत विशाल औद्योगिक नगर है। छपी साड़ियों का काम बहुत होता है। वहाँ का खादी भण्डार प्रसिद्ध है। साबरमती के सन्त महात्मा गांधी ने यहीं से खादी का धुआँधार प्रचार किया था। खादी की पोशाक उस युग में देश भक्ति में खरा उतरने की कसौटी थी। खादी पहनने वाले राष्ट्र नायक समझे जाते थे।

अब महाराज श्री का विहार राजकोट से गिरनार के लिए हुआ। यहाँ से जूनागढ़ साठ मील रह गया था। वहाँ पहुँचकर संघ सीधा पर्वत की तलहटी में पहुँचा। मैं उसी दिन पर्वत की वन्दना करके

चल पड़ा। वैशाख का महीना था। पर्वत गर्म तवे की तरह तप रहा था। फिर भी बहुत शान्ति से तीर्थ यात्रा सम्पन्न हुई। शरीर में आश्चर्यजनक बल था। मन में उमङ्ग, भावों में निर्मलता, आत्मा की पवित्रता से मैंने सहस्राम्र वन, जहाँ भगवान् नेमिनाथ को केवल ज्ञान हुआ था, वहाँ से पूरे पर्वत की वन्दना एक ही दिन में पूरी करली। बड़ा हर्ष हुआ। मुनिराज ने पूछा इतने गरम पर्वत पर कैसे चले? मैंने कहा— महाराज आपके आशीर्वाद से पर्वत शीतल बर्फ की तरह लग रहा था। भक्ति की उमङ्ग में पैर जल्दी-जल्दी उठ रहे थे। दूसरे दिन महाराज के साथ दूसरी वन्दना की। वे धीरे-धीरे चलते थे और हम सपाटा भर रहे थे। उस दिन शाम को चार बजे पर्वत से उतरे।

इस तरह उदयपुर से गिरनार तक का यात्रा-क्रम पूरा किया।

तिनसुकिया (आसाम) —भागचन्द्र शास्त्री

त्याग की मूर्ति : आचार्य श्री

अनादिकाल से कर्म के वशीभूत होकर यह आत्मा संसार रूपी समुद्र में डूबता हुआ अनेक इन्द्रिय-जन्य सुख-दुख को भोगता है। ऐसी अवस्था में प्राणियों के हितार्थ श्री देवाधिदेव १००८ महावीर स्वामी का अवतार हुआ। उन्होंने स्वात्मोद्धार के साथ-साथ पर-कल्याण के लिये भी जैन धर्म का दो विभाग में विभाजन किया। एक गृहस्थ धर्म, जिसमें एक देश में हिंसादि पाँच पापों से विरत होने का विधान है। श्री आशाधर जी ने सागर धर्मामृत में कहा भी है कि—

अनाद्य विद्यानुस्यूत ग्रन्थ संज्ञामपासितुम् ।
अपारयन्तः सागाराः प्रायो विषय मूर्च्छिताः ॥

जो अनादिकाल से आये हुये अज्ञान से सम्पूर्ण रूप से परिग्रह को त्याग नहीं कर सकते हैं, उनको गृहस्थ धर्म बतलाया है।

दूसरा अनागार धर्म है जो साक्षात मोक्ष-सुख को देने वाला है। कहा भी है कि बिना मुनि धर्म के आत्मा कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। जैन धर्म में क्या संसार भर में भी मुनि धर्म एक श्रेष्ठ माना गया है। उदाहरण के लिए आप लोग प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि मिथ्या दृष्टि कुदेवादि को मानने वाला भी यदि थोड़ी सी परिग्रह को भी त्याग करता है तो उसको लोग धन्य समझते हैं। ठीक इसी प्रकार जैन धर्म के अनुसार भी दृष्टि डालें तो यही प्रतीत होता है कि अन्य मतावलम्बियों से भी यह मुनि धर्म अधिक महत्व रखता है।

पूर्वकाल में मुनियों का विहार जगह-जगह पर हुआ करता था। उसका कारण यह है कि पूर्व में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव था, वह इस समय पञ्चमकाल के प्रभाव से घटते जाते हैं, बस इसी कारण से आजकल मुनिपना या साधुओं का विहार कम होता जाता है। हम लोग प्रत्यक्ष में अनुभव कर सकते हैं कि २०, २५ वर्ष के पहिले की जो स्थिति थी, वह अब नहीं है। इसलिए यह मानना अनिवार्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ही लेकर मुनि धर्म विकास या विनाश को प्राप्त करता है। अतः यह विचारणीय हो गया है कि मुनि धर्म क्या है ?

जिसमें अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग से पाँच पाप तथा क्रोधादि कषायों का सम्पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है, जिसमें शीतादि बाईस परिषहों को बिना किसी संकोच से सहन किया जाता है, ऐसे परम पवित्र लोक-पूज्य अत्यन्त कठिन मुनि धर्म को त्रिकरण शुद्धि से पालने वाले मुनि लोग हम लोगों को सौभाग्य से नजर आते हैं। हम लोगों को यह भावना नहीं करनी चाहिये कि चतुर्थ काल के जो मुनि थे, वे ही सच्चे मुनि थे, पञ्चम काल में नहीं हैं। जो ऐसी भावना करने वाले हैं, उनको हम मिथ्यादृष्टि व अपात्र कहें तो वह भी न्यूनता है। हम वर्तमान विद्वानों से (अर्थात्) पञ्चम काल के मुनियों को दूषण देने वालों से यह पूछना चाहते हैं कि क्या चतुर्थ काल में जो श्रावक थे, वही श्रावक आप हैं ? जिससे कि मुनियों के प्रति टीका टिप्पणी करते जाते हो पर स्वयं को नहीं सम्हालते ? हम यह भी नहीं समझते कि जो मुनियों को दूषण देने वाले विद्वान या श्रावक हैं वे अपने गृहस्थ धर्म को पूर्ण रूप से पालते हैं। रात दिन पाँच पापों में लगे रहते हैं पानी तक छानकर नहीं पीते, जो कि श्रावक कहलाने के लिये हेतु भूत हैं। एक तो अपनी क्रिया को भी अक्षुण्ण रूप से पालते नहीं और फिर भी मुनियों के प्रति टीका टिप्पणी करते, यह कहाँ तक उचित है ?

जो वर्तमान मुनियों को नहीं मानते हैं, हम उनसे पूछना चाहते हैं कि क्या चतुर्थ काल की प्रतिमा को ही नमस्कार करेंगे और वर्तमान काल में कल्पित मूर्तियों को नहीं करेंगे ? ऐसे निन्दनीय एवं घृणास्पद वचन बोलने वालों के मुख देखना भी कुकर्म बन्ध का कारण है। हम लोगों को अपना भाग्य समझना चाहिये कि वर्तमान ऐसे पञ्चम काल मे उग्रतपस्वी आचार्य कल्प मुनि महाराज नजर तो आते हैं।

ऐसे ही पूर्वाचार्य परम्परा से आये हुये परमपूज्य विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज थे। आपका जन्म उत्तर प्रान्त के फिरोजाबाद नगर में हुआ था। आप पूर्व पुण्य या काललब्धि कहिये, बचपन से ही संसार वासनाओं से दूर रहने वाले थे आपने निर्भीक परम दिगम्बर पद को प्राप्त कर पूर्ण देश में भ्रमणकर समस्त जैन जैनेतर प्राणि मात्र का उपकार किया। उस महान आत्मा का निर्मल उज्ज्वल चारित्र हमारे लिये पथ प्रदर्शक रहेगा। आप निस्पृहता के अवतार, त्याग की मूर्ति, अदम्य धर्मोत्साही, सतत् विद्यानुरागी थे। परमपूज्य आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज की तपश्चर्या जितनी पवित्र एवं उज्ज्वल थी उससे भी कहीं अधिक आपकी वृत्ति निर्भीक और सिंह के समान निडर थी। आपके पवित्र जीवन में ऐसी अनेक घटनायें घटी हैं, जिनमें आपकी वृत्ति की समुज्ज्वलता की प्रखर किरणें उत्तरोत्तर निर्मलता धारण करती रहीं और यह वृत्ति अन्तिम समय तक ज्यों की त्यों स्थिर रही। इसी से आप देश के *अजेय महात्मा, प्रौढ़ तपस्वी, निर्भीक वक्ता, महान विद्वान, निर्मल*

धर्मप्रेमी एवं संसार के सच्चे हितैषी कहकर पुकारे जाते थे।

आप में पांडित्य प्रबल था। युक्तिवाद अजेय था। वक्तृत्व भी असाधारण था। इसी के कारण आप जैन संसार में ही नहीं किन्तु जैनेतर संसार में भी इन्द्रिय विजेता और सच्चे महान महात्मा ऋषि मुनि कहलाते थे और श्रद्धा से पूजे भी जाते थे।

आप परमपूज्य वीतराग मूर्ति चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री आदिसागर जी महाराज के अनन्यतम प्रिय शिष्य थे। आपके द्वारा जैनधर्म का वास्तविक प्रचार और प्रसार हुआ है। आपने आगम के विरुद्ध तत्वों से रक्षण के लिये समाज में एक प्रकार की क्रान्ति पैदा कर दी थी। आपने आगम रक्षा के लिये जो प्रयत्न किये थे, वह धार्मिक जनता भूल नहीं सकती है।

यह एक निश्चित बात है कि त्याग के बिना न उन्नति हुई न हो सकती है। जैन धर्म त्याग-प्रधान धर्म है। त्याग ही के आश्रय या बल पर मोक्ष-मार्ग अवलंबित है, बिना त्याग की पूर्णता के सच्चे सुख की प्राप्ति होना असम्भव है, प्रभावकता त्याग के बल पर ही आती है, सद्विचारों का स्रोत त्याग के ही आधीन है, आत्मिक शुद्धि और आत्मिक बल की वृद्धि इसकी सहवर्तिनी है।

हमारे तपोधन महाराज श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज त्याग के आदर्श रूप थे।

—धर्मप्रकाश जैन 'अचल' शास्त्री

अवागढ़ (एटा) मन्त्री, आचार्य महावीर कीर्ति धर्म प्रचारिणी संस्था

पण्डित

देव ने मुख रूपी गड्ढा तो खोद ही दिया है, बोलने का पराक्रम करना अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। अब बचता है वक्ता या पण्डित इसके लिये निर्लज्जता बहुत जरूरी है। वह भी उसमें निसर्गत. है अतः वह भी कभी अनर्गल असम्बद्ध और अहम्मन्य वक्तव्य दे सकता है।

—सिद्धसेन दिवाकर

卐✠卐

सुखद स्मृति

आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज का जीवन पूरा साधना का जीवन था। जहाँ उन्होंने कठिन श्रम द्वारा अनेक विद्याओं में निपुणता प्राप्त की, वहाँ चरित्र के मामले में भी उनकी साधना अत्यन्त समुज्ज्वल रही है, वे ज्यादातर मौन ही रहा करते थे। जो कहते वह नीति वाक्य ही बनकर निकलता था। उनका शास्त्र-ज्ञान अत्यन्त अगाध तलस्पर्शी था। वे प्रभावशाली वक्ता थे। धार्मिक विचारों को आगमानुकूल प्रकट करने में वे निर्भीक थे। हमेशा आर्ष मार्ग की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे। यह एक मात्र उनका लक्ष्य रहा करता था।

कष्ट सहने में वे अपने ढंग के एक ही थे। दीनता और हीनता उनके पास तक नहीं फटक पाई। जैन कुल में जन्म लेकर उन्होंने मुनि धर्म को एक वीर क्षत्रिय की तरह ही निभाया। वे सदा निर्भय रहकर जीने का मन्त्र ही सुनाते रहे।

स्पष्ट वक्ता होने के कारण कई लोग उन्हें "कड़े महाराज" कहकर पुकारते। धनी मानी व्यक्तियों की हाँ में हाँ मिलाकर उन्हें खुश रखना उनकी नीति नहीं रही। प्रायः वे एकान्त निर्जन स्थान में रहना ही पसन्द करते थे। खासकर वे तीर्थ क्षेत्रों पर ही चातुर्मास करते रहे। उनकी भगवद् भक्ति अद्भुत थी। एक-एक वेदी के सामने वे तीन-तीन बार नमस्कार करते, सभी जगह इसी क्रम से करते करते लम्बा समय बिता देने पर भी ऊबते नहीं थे। पहाड़ पर जाना तो उनका नित्य का काम था। उनके जीवन काल में कई उपसर्ग आये, उसे उन्होंने बड़े धैर्य और साहस के साथ सहन किया। कई प्रसङ्ग तो ऐसे आये, जहाँ उन्हें जीवन से ही हाथ धोना पड़ता किन्तु वे सदा एक वीर सेनानी की तरह ही स्वयं को प्रस्तुत करते रहे।

पावागिरि (ऊन) में महाराज का चातुर्मास था, जैनियों के घर तो वहाँ थे ही नहीं, आस-पास में भी कम बस्ती थी केवल तीर्थ क्षेत्र होने के नाते ही उन्होंने वहाँ का चातुर्मास का निर्णय किया था। यद्यपि श्री बड़वानी तीर्थक्षेत्र नजदीक था किन्तु किसी कारणवश उन्होंने ऊन में ही चातुर्मास का निर्णय किया।

चन्द दिनों तक व्यवस्था नहीं जमी। उसके बाद बड़ा-बड़ लोग वहाँ आने लगे। प्रभावशाली ढंग से चातुर्मास हुआ खूब धर्म प्रभावना हुई। मैं भी दर्शनार्थ सपरिवार केवल १२ दिनों के लिए आया था किन्तु वहाँ के वातावरण ने ऐसा प्रभावित किया कि पूरे तीन महीने वहाँ रहा। खूब आनन्द रहा। आहार-दान का सौभाग्य मिला। जाते वक्त मैंने सोचा कि आहार-दान देकर और आपका शुभाशीर्वाद

लेकर ही विदा होऊँ लेकिन एक-एक करके १५ दिन निकल गये। अन्त में एक दिन निरंतराय आहार हुआ। प्रसङ्गवश मैंने महाराज से कहा— इस बार विलम्ब से आहार हुआ, मेरे जाने का प्रोग्राम आप जानते भी थे, फिर भी विलम्ब अत्यधिक हो गया।

महाराज ने कहा— भाई जब मैं चर्या के लिए निकलता तो मेरे मन में ऐसे भाव आ जाते कि आज यहाँ (तुम्हारे यहाँ) आहार करूँ, तब उसी वक्त यह निर्णय निकल आता कि साधु होकर ऐसा ममत्व क्यो ? इस प्रकार कई बार हुआ। इसीलिये आहार नहीं किया गया। आज वैसा कोई विकल्प नहीं था तो आहार हो गया।

महाराज की इस प्रकार की स्पष्ट उक्ति सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। महाराज की प्रेरणा सात्विक जीवन के लिये रही। मङ्गलमय णमोकार मन्त्र पर उनकी स्वय की अटूट श्रद्धा थी, विशेषता यह थी कि श्रोताओं मे भी यह श्रद्धा पक्की जमा देने की उनकी विशिष्ट शैली थी। एक दिन सभा मे आप णमोकार मन्त्र का महात्म्य बता रहे थे तो मैंने बीच मे ही पूछा— महाराज ! णमोकार मन्त्र का महात्म्य तो सदा सुनते आये, पुरानी कथाओ के उदाहरण भी सुनते आये, क्या आप कोई ऐसा ताजा उदाहरण बतायेंगे, जिसने इस महामन्त्र द्वारा लाभ उठाया हो ?

महाराज ने कहा कि आपके पास मे बैठे हुये इन्दौर वाले फूलचन्द जी से पूछ लेना। उसके बाद वे भाषण देते रहे। शाम को मैंने फूलचन्द जी से पूछा तो उन्होंने जो बताया, वह आश्चर्यजनक था। उन्ही के शब्दो मे सारांश यह था :—

मैं अत्यन्त गरीब स्थिति में पहुँच चुका था, सुबह शाम भोजन की व्यवस्था किसी शर्त पर सम्भव नही थी, बडे कष्ट से दिन व्यतीत हो रहे थे। एक दिन मैं आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज के पास आया और अपना दुखड़ा सुनाया और कष्ट निवारण की व्यवस्था माँगी तो गुरुदेव ने मुझे णमोकार मन्त्र का जाप बताया, 'और यही अचूक औषधि है' इसका पक्का श्रद्धान कराया तथा आशीर्वाद दिया कि आपका कष्ट जाता रहेगा।

फलस्वरूप मैंने मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध होकर पूरी श्रद्धा के साथ महामन्त्र का लम्बा जाप किया और उसका जो चमत्कारपूर्ण फल मिला उसके लिये मैं महाराज का जीवन भर आभारी रहूँगा। कहते-२ उनका गला रुँध गया। वे आज अच्छे खासे लखपति सेठ है।

ऐसी ही चमत्कारपूर्ण कहानी नेपाल की महारानी श्री लक्ष्मीबाई से भी सुनी गई। वे भी आचार्य श्री महाराज से प्रभावित होकर सदा-२ के लिये उनकी भक्त बन गई। उनकी जुबानी जो कहानी सुनी गई उसका सारांश यह था— "एक मात्र णमोकार मन्त्र जो महाराज ने दिया उसकी विधिपूर्वक साधना ने चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाया।

महाराज ज्योतिष शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र तथा मन्त्रशास्त्र के भी अच्छे जानकार थे। फिर भी वे हमेशा कहा करते थे कि मन्त्रों के फेर में नही पड़ना है। केवल एक मात्र सब मन्त्रों का राजा णमोकार मन्त्र ही महामन्त्र है। इसी के द्वारा सभी कार्य सम्पन्न होते हैं।

एक बार मैं चातुर्मास के समय सपरिवार महाराज के पास श्री सम्मेदशिखर जी सिद्धक्षेत्र गया, वहाँ पहुँचते ही बैलगाड़ी से उतरकर मैंने आचार्य महाराज को नमस्कार किया तो महाराज ने सीधा यही पूछा कि पाट तो पोते छोड़कर नहीं आये हो ? बाजार जल्दी ही टूटने वाला है, मैंने कहा— पोते तो हैं ही। महाराज ने कहा— तार दे दो अन्यथा नुकसान हो जायगा। मैं मौन रहा, मैंने सोचा, मैं तो आकर उतरा नहीं, महाराज ने स्वयं कैसे कह दिया। खैर, मेरे दिमाग में तेजी की धुन थी, सो मैंने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। दूसरे दिन उन्होने दुबारा पूछा— क्या तार दे दिया ? मैंने कहा नहीं महाराज। महाराज बोले व्यर्थ में ही क्यों नुकसान में पड़ रहे हो, बेचने के लिये तार दे दो।

मेरे को तेजी की धुन थी। मुझे उनका कहना कुछ अच्छा नहीं लगा। सोचा— महाराज ऐसा क्यों कहते हैं और उनके ही आग्रह पर मैंने समाचार दे दिया।

उसी दिन मन्दिर में पूज्य श्री १०५ आर्यिका श्री विजयमती जी माताजी से बातचीत हुई तो मैंने माताजी से कहा— 'माताजी महाराज को भविष्यवाणी नही करनी चाहिये, वक्त पर सही न हो तो श्रद्धा में फर्क पड़ जाता है।" माताजी ने कहा— "उनकी वाणी सही ही होती है।" मैंने कहा यदि सही न हो तब तो असुविधाजनक बात हो जाती है न।

माताजी ने कहा— "ऐसा नही हो सकता।"

समाधान सन्तोषजनक होता न देखकर मैंने फिर कहा माताजी, महाराज तो सन्त महन्त ऋषी हैं, उन्हें इन समस्त प्रपञ्चों मे नही पड़ना चाहिये। श्री समन्त भद्राचार्य ने कहा है—

"विषयाशा वशातीतो, निरारम्भो परिग्रहः ।
ज्ञान ध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥"

तो माताजी ने कहा— अबकी बार आप और आगे बढ़ गये क्या आपको उनके व्यक्तित्व में भी विषय-आशा की गन्ध आगई ? मैंने कहा— नही, कभी नहीं उनका व्यक्तित्व तो मेरे लिये सदा ही श्रद्धास्पद रहा है, रहेगा ही, फिर भी मैं यह जो स्पष्टीकरण चाहता हूँ, वह श्रद्धा और भक्ति को अधिक प्रभावक ही बनायगा।

बात बढ़ गई थी, स्वर में तेजी आगई थी। लोग इकट्ठे हो गये थे फिर एकाएक आचार्य महाराज के आने पर सभी मौन हो गये, मैं भी चुप था। महाराज श्री ने ही फिर उसी प्रश्न को उठाया। उन्होंने पूछा— क्या हो रहा था ? मैंने ज्यों का त्यों हाल बताया। महाराज ने कहा— आपका सोचना सही नहीं है। उन्होंने पूछा— क्या आपने मुझसे तेजी मन्दी की बात पूछी थी ? मैंने कहा— नहीं ! तो फिर मैंने ही क्यों बताई इसका अभिप्राय समझना है। उन्होंने कहा— जैन ज्योतिष के आधार पर भिन्न-२ प्रणाली द्वारा पूरा अध्ययन करने के बाद पाट में भयङ्कर मन्दी का हिसाब दीख रहा है। आप भी दुबारा गणना करके जाँच कर सकते हो। निश्चित निर्णय लेने के पहले इसे अच्छी तरह से देख लिया गया है। अब इसके संदेह की कतई गुंजाइश नहीं रह गई है। इसीलिये यह निश्चित समझ कर ही आपकी भलाई के लिए बिना पूछे ही परामर्श दिया है, अतः संदेह की इसमें गुंजाइश है ही नहीं।

दूसरी बात आपने कही कि सन्त साधु को इस प्रपंच में नहीं आना चाहिये। सो इसका भी सोचने समझने का दृष्टिकोण अलग-२ है।

मुझे दीखता है कि सामने कुआँ है, अन्धा आदमी आरहा है, न बोलने से कुएँ में गिर पड़ेगा तो करुणावश कुए की बात बताकर उसे बचा दिया जाता है। यही आपके सम्बन्ध में है, जो सामने दीख रहा है, उसे बता देने में करुणा की भावना ही काम करती है।

प्रसङ्गवश उन्होंने मुझे श्री सिद्धवर कूट सिद्धक्षेत्र की भी एक घटना बताई जिसका संक्षिप्त में सारांश यह था— बड़ा दुर्भिक्ष था लोग भूखों मर रहे थे, अनाज की मँहगाई सीमा से बाहर थी। लूट-खसोट हो रही थी। उस वक्त बहुत से सेठ साहूकार महाराज के पास आये और कहने लगे महाराज आप इन्हें डाका-चोरी न करने के लिये एक सार्वजनिक सभा में आकर उपदेश दीजिये तो हमारी रक्षा हो।

उस समय महाराज ने भविष्यवाणी की थी कि अनाज सस्ता हो जाएगा, आप सब अनाज का भण्डार बेच दें, गरीबों को अनाज मिल जाएगा, आप घाटे से बच जावेंगे आदि। सेठ लोगों ने महाराज की बात मानकर वैसा ही किया। भविष्यवाणी सही निकली। सभी का कल्याण हुआ।

उल्लेखनीय है कि जिस पाट वाली भविष्यवाणी पर इतने तर्क-वितर्क उठाये थे वह अक्षरशः सत्य निकली थी।

खैर, संक्षिप्त में इतना ही लिखना है कि लोगों की उनके प्रति कैसी भी धारणा रही हो, यह अपना-२ दृष्टिकोण है फिर भी यह चिर सत्य है कि वे ज्ञान ध्यान तप में सदा सावधान और जागरूक रहे। शिथिलाचार वे देख नहीं सकते थे, बड़े तपस्वी थे, लम्बे उपवास करते थे। मीठा, घी, नमक का तो जीवन भर को त्याग था ही। वे बालब्रह्मचारी थे। आज इतना ही उनकी सुखद स्मृति में लिखना है।

रामगंज] —सोहनलाल सबलावत

विचारणीय

मनु क्या यही तुम्हारी होगी, उज्ज्वल मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो— हन्त ! बची क्या सवता ?

—जयशंकर प्रसाद

पूज्य श्री पर विशेष आस्था रखने वाले

डा० लालबहादुर जी शास्त्री

सेठ हरकचन्द जी सरावगी

सेठ [illegible] जी सरावगी
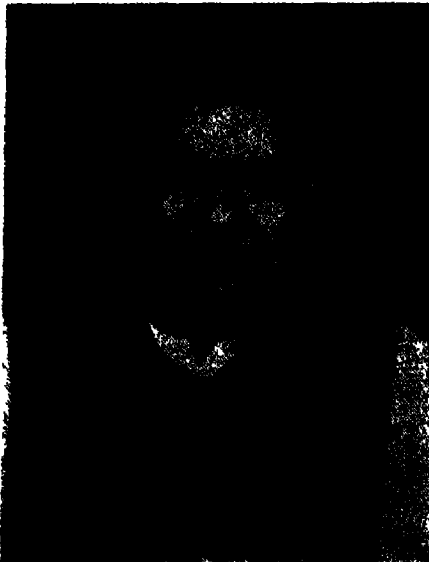
ला० सुनहरीलाल जी इमलिया

सेठ अमरचन्दजी पहाड़िया, कलकत्ता

सेठ चांदमलजी बड़जात्या (नागौर निवासी) कलकत्ता

पूज्य श्री पर विशेष श्रद्धा रखने वाले एवं संस्था के परम संरक्षक

सेठ सुनहरीलाल जी जैन, आगरा (उ० प्र०)

सेठ मदनलालजी चांदवाड़, रामगंजमंडी (राज

परीषहजयी आचार्यश्री
डेह (नागौर) राजस्थान
में
केश लुंचन करते हुए

पूज्य गुरुदेव
स्तवनिधि (द० भा०)
क्षेत्रपर प्रवचन करते
हुए

श्री सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी जी की सुदबुद गुफा पर जिनाभिषेक के समय
अपने शिष्य वर्ग के मध्य कायोत्सर्ग मुद्रा में
आत्मध्यान में निमग्न
पूज्यश्री

श्री आचार्य महावीरकीर्ति 卐

आचार्य महावीर कीर्ति जीवन-दर्शन

⊙ शर्मनलाल जैन "सरस"
सकरार (झांसी)

मंगलाचरण

जो राग द्वेष को जीत चुके, जिनसे अन्तर अरि हारा है ।
बरसी जिनकी शुभ वाणी में, अब तक विराम की धारा है ॥
श्री आदिनाथ से महावीर, हम जिनको शीश झुकाते हैं ।
जिनके पावन पथ पर अब तक, अविरल मुनि बढ़ते जाते हैं ॥

जो मोह महाचल नष्ट करे, जिससे विवेक जग जाता है ।
तत्वों का सच्चा दिग्दर्शन, जिससे तुरन्त हो जाता है ॥
जो वीतराग सर्वज्ञ हितैषी, प्रभु-मुख से उत्पन्न हुई ।
है नमस्कार उस वाणी को, जिससे यह जगती धन्य हुई ॥

ऋषि वन्दना

जिन ऋषियों की पद रज को पा, यह भारतवर्ष महान् हुआ ।
जिन पर गर्वित है वर्तमान, जिनसे सबका कल्याण हुआ ॥
जिनने बन करके वीतराग, धरती पर स्वर्ग उतार दिया ।
जितने न मिले नभ में तारे, उतनों को जिनने तार दिया ॥

जिनको बहार बहला न सकी, जिनसे वैभव खुद हार गया ।
जिनके आगे जग विषयों का, हर सम्मोहन बेकार गया ॥
जिनके रग-रग से झलक उठी, डग-डग पर संयम की लाली ।
जिनने मिट्टी के चोले से, मुक्ति की राह बना डाली ॥

जो पर पीड़ा पी गये स्वयं, जिनने कोई परवाह न की।
जिनने केवल देना सीखा, बदले में कोई चाह न की ॥
हर लिया काल ने काया को, कर सका न जिनका व्रत खण्डन।
उनमें से एक महामुनि का, कवि 'सरस' कर रहा है वन्दन ॥

जो आज हमारे बीच नहीं, पर समय जिन्हें दुहराता है।
जिनको पाकर के स्वर्ग आज, अब फूला नहीं समाता है ॥
जल में थल में नभ में जिनका क्षण-क्षण जयकारा पाता है।
ऐसे महावीरकीर्ति जी की, मैं गाथा आज सुनाता हूं ॥

अब देकर ध्यान सुनें सब ही, जितनी मां बहिनें भाई हैं।
ऐसी ही धर्म कथायें प्रिय ! इतिहास बदलती आई हैं ॥
यह सत्य शिव का है स्वरूप, जिसको सुन झुकता माथा है।
अब शोर यहाँ सब बन्द करो, लो शुरू हो गई गाथा है ॥

जन्म

आगरा नगर है यू० पी० में, जिसका इतिहास नियारा है।
आ गिरा आगरा में जो आ, वह नहीं कभी भी हारा है ॥
है इसी जिले का चन्दवार, जिसकी यह चन्द कहानी है।
चौहान वंश राजाओं का, यह नगर रहा रजधानी है ॥

चौदह शताब्दी का सचमुच, वह कितना पावन आसन था।
थे रामचन्द्र जु देव जहाँ, जिनका अति उत्तम शासन था ॥
तब राजकाज के काजों में रिश्वत आहें भर रोती थी।
आदर अयोग्य नहिं पाता था, कीमत सुयोग्य की होती थी ॥

तब पद्मावतिपुरवाल लाल, राजा के सच्चे साधक थे।
श्री नेमीचन्द मोदी प्रियवर ! उस समय राजकोषाध्यक्ष थे ॥
इनकी चातुरता यशोगान, गाता था उस क्षण डगर-डगर।
आगे चलकर परिवार यही, आ बसा फिरोजाबाद नगर ॥

बस इसी वंश में वंशीधर, बढ आगे बड़े प्रसिद्ध हुए।
उनकी वाणी वरदान बनी, जो वचन दिये वे सिद्ध हुए ॥
ऐसे पावन कुल में प्रियवर ! श्री रतनलाल ने जन्म लिया।
जिसने दीनों की जीवन भर, सच्चे मन से तन धारण किया ॥

फिर रतनलाल के पांच लाल, जो कुल के गौरववान हुये।
वे उनमें प्रथम कन्हैया, फिर धर्मेन्द्र महेन्द्र महान् हुये॥
फिर सनत्कुमार विलासराय, क्रमशः ये पांचों भ्रात हुये।
थे, उनमें जो तीजे महेन्द्र, महावीर 'कीर्ति' विख्यात हुये।

यह कौन जानता था उस दिन युग का सुपना साकार हुआ।
यह किसे पता था चोले में, नारायण का अवतार हुआ॥
सम्वत् उन्निस सौ सडसठ का, वह वर्ष बहुत ही धन्य हुआ।
बैसाख कृष्ण नवमी का दिन, उस दिन सा अभी न अन्य हुआ॥

हो गया फिरोजाबाद धन्य, चन्दन सी धरती डोल उठी।
सूखे सरवर हो गये हरे, ऐसी चहुँ ओर हिलोर उठी॥
मानवता को मिल गया मान, कांटों मे प्रीति दिखानी है।
स्मरण रहे यह वह स्थल, जिसकी विख्यात कहानी है॥

यह वही फिरोजाबाद नगर, जिसका सुषमा से नाता है।
नारी की नरम कलाई को, जो अब तक रहा सजाता है॥
कैसे भूलेगा कोई इसे प्रिय ऐसी बात कहाँ पर है।
यह चिर सुहाग का सरस नगर, चूड़ी की खनक जहाँ पर है॥

ऐसी पावन इस नगरी मे, सचमुच अब सबको हर्ष हुआ।
मिल गया रतन को पुत्र 'रत्न, माता को अनुपम हर्ष हुआ॥
आनन्द विभोर हुई धरती, ऐसा उस समय प्रकाश हुआ।
अब सुनें आप श्री गुरुवर का, किस ढंग से 'सरस' विकास हुआ॥

बाल्यकाल

क्या कहें आपके रग-रग से, वैरागी सुधा बरसती थी।
बचपन से जिनकी वृत्ति में, व्रत की तस्वीर झलकती थी॥
जिनके बचपन को उस पन मे, कोई भी खेल न भाता था।
यह हाल देख रोगी भोगी, योगी तक चकरा जाता था॥

मुनिवर में बाल अवस्था से, वैरागी भाव लगे जगने।
परमारथ के प्रिय सस्कार, खुद अपने आप लगे बढ़ने॥

चहरा से उठा शान्तिमय रस, जब जब चंचलता चकित हुई।
उस दिन से ऐसा रूप देख, यह सारी दुनियाँ चकित हुई ॥

बचपन से छोटी काया पर, करुणा ने आकर राज किया।
अधरों को सत्य सजा बैठा, संयम ने शिर को ताज दिया ॥
दृढ़ता ने मन को वश करके, मन से जब मन को प्यार किया।
खुद आकर त्याग तपस्या ने, तन आभूषण सिंगार किया ॥

इसका कारण भी सुनें आप, कितना चौंकाने वाला है।
ममता का जल क्या बुझा सके, जिसकी वैरागी ज्वाला है ॥
जिसके रोने से लगता था, शिव-गीता का उच्चारण है।
अभिमन्यु जैसा धरती पर, यह दूजा मिला उदाहरण है ॥

जिस समय गर्भ में थे मुनिवर, मां के मन में यह भाव उठा।
सम्मेद शिखर का वन्दन कर, सौभाग्य आचानक जाग उठा ॥
की पुण्य वन्दना जो माँ ने, वैरागी भाव जगाती थी।
फिर मिला प्रसङ्ग एक अद्भुत, एक अर्थी सम्मुख आती थी ॥

लख अर्थी को मां के मन में, तन की नश्वरता भाव उठी।
यह देख असार हाल तन का, हिय तन्त्री से झंकार उठी ॥
तब स्वयं विचारों ने उस दिन, उस क्षण ऐसा पलटा खाया।
खुद बिना कहे कह उठे अधर, ओ प्रभु मुझे ऐसी माया ॥

खुद ही मां खुद से बोल उठी, भगवन ! मन में यह आया है।
दे सको प्रभु तो वह पद दो, जो प्रभु आपने पाया है ॥
जब सुनी गर्भ में यह वाणी, ऐसा जादू कुछ कर बैठी।
बस इन्हीं विचारों की वीणा, महावीरकीर्ति बन बैठी ॥

दश वर्ष न पूरे हो पाये, माता ने स्वर्ग प्रयाण किया।
मिल पाया मां का प्यार नहीं, कर्मों ने ऐसा चोर दिया ॥
इस ठोकर ने इस पीड़ा ने, नायक के मन को तोड़ दिया।
सच्चा ज्ञानार्जन करने को, मुक्ति के पथ पर मोड़ दिया ॥

फिर पढ़े मुरेना में जाकर, मुनिवर ऐसी जाने जाती।
पहली श्रेणी में लगातार, चाल्मी मैट्रिक पढ़ती पाती ॥

यह क्यों अब मन लगा यहाँ, पढ़ने में कौशल दिखलाया ।
कह उठे गुरु ऐसा बालक, अब तलक नहीं हमने पाया ॥

फिर किया आपने न्यायतीर्थ, इन्दौर पहुंच विद्यालय में ।
प्रतिभान तभी से झलक उठा, जीवन के छोटे आलय में ॥
नत होने लगे तभी से सब, चाहा निर्धन श्रीमानों ने ।
तब गणना होने लगी सरस, उस समय ख्यात विद्वानों में ॥

इस तरह अल्प आयु में ही, हो लगनशील जब ध्यान दिया ।
भाषण अनेक भाषा पिंगल, सबका खुलकर के ज्ञान किया ॥
अब सुनिये आगे का हवाल, कैसा जीवन ने मोड़ लिया ।
मन की उठती आशाओं को, कैसा कठोर हो तोड़ दिया ॥

यौवन

जब पूर्ण निखार हुआ तन का, सुषमा का सागर डोल उठा ।
जब लगा सोलमा वर्ष सरस, रग-रग से यौवन बोल उठा ॥
इक रोज पिता की ममता ने, सुत के आगे यह भाव किया ।
हे पुत्र ! बधू आ जाने दो, दृढ़ होकर यह प्रस्ताव किया ॥

वैसे तो मुझे पता ही है, तू कितना ज्ञानी ध्यानी है ।
पर जब तेरे इस तन मन की, की यौवन ने अगवानी है ॥
घर पुत्रवधू आ जाने को, पलकों में तुझको पाला है ।
तू बसा नई अपनी दुनियाँ, आने दे नया उजाला है ॥

सच मानों मेरी आशायें, तेरे कारण ही लहरी हैं ।
ये मेरी दो बूढ़ी आँखें, बस पुत्रवधू को ठहरी हैं ॥
जीवन को नीरस करो नहीं, आ रहा बुढ़ापा हेटा है ।
हां शीघ्र कहो, पूरा करदो, मेरे स्वपनों को बेटा है ॥

क्यों मौन हुये बोलो बेटा ! सिर हाथ फेर कह उठे पिता ।
क्यों करता है आनाकानी, इसका कुछ कारण मुझे बता ॥
जब ममता अधिक न ठहर सकी, सीमा तोड़ी उस धारी ने ।
झुककर के चरण दिया उत्तर, उस दिन उस आज्ञाकारी ने ॥

हे पिता ! आप ये क्या कहते, तुमसे क्या छिपा जमाना है।
तुमसे कुछ कहने का मतलब, सूरज को दीप दिखाना है ।।
यह बालक है नादान मगर, इसके मन को मत मना करो।
मैं बना नहीं बन सकता हूँ, इस जगह पिता तुम क्षमा करो ।।

क्यो भुल रहे हो ममता में, यह कैसा बचन सुनाया है।
काया का बोझ रहा ढोता, अब तलक पार ना पाया है ।।
मैं जिससे बचना चाह रहा, तुम उसमें मुझे फँसाते हो।
होकर के पिता आप ज्ञानी, क्यों उल्टी राह दिखाते हो ।।

जो देख रहे हो पिता उम्र, इसकी छुट्टी हो जावेगी।
मेरी कञ्चन सी यह काया, इक दिन मिट्टी हो जावेगी ।।
मैं नही चाहता विषयों का, विषधर इस तन को डस जाये।
हे पिता बनाओ बना नही, इतना बरदान पुत्र चाहे ।।

मैं मुनि बनूँगा पिता ! शीघ्र, हर धड़कन मुझे बताती है।
यह भोग विलासों की दुनियाँ, सपने में जरा न भाती है ।।
मैं नहीं चाहता हूँ किंचित, इससे अनुराग किया जावे।
जितना जल्दी हो सके पिता, धारण वैराग्य किया जावे।

तुम चाह रहे सुत की शादी, यह बात न खाली जावेगी।
कितना ही करना पड़े त्याग, आखिर वह लाली आवेगी ।।
हां इतना अन्तर होगा तब, हर बार न बारी आवेगी।
हे पिता ! तुम्हारी पुत्रवधू, जब मुक्तिरमा बन जावेगी ।।

हिल गये पिता के सुन आसन, तब सभी वार बेकार गये।
उत्तर प्रति उत्तर के रण में, खुद पिता पुत्र से हार गये ।।
आ गया सहोदर उसी समय, बोला आँसू भर वाणी है।
मत करो लड़कपन तुम भैया, यह जिद् व्यर्थ की ठानी है ।।

कल सुबह तुम्हारी भाभी ने, दस बार यही दुहराया है।
क्यों देर कर रहे शादी में, ऐसा क्या चक्कर आया है ।।
कह दो लाला से साफ-साफ, अब करे न आनाकानी है।
मैं घड़ी घड़ी गिन रही घड़ी, कब घर आवे दौरानी है ।।

बनना ही है तुमको भैया, तो घर में बनो विरागी है ।
शादी होने दो रोको मत यह उम्र प्यार की आदी है ॥
हँस उठे बात यह सुनकर वे, फिर बोले सुनो बड़े भाई ।
यह कैसी बात कही तुमने, इतनी भी समझ नहीं आई ॥

शादी, वैरागी एक साथ, कैसे मन होगा आदी है ।
शादी का मतलब तो भैया, इस जीवन की बरबादी है ॥
इतने में भाभी ने आकर पूरे प्रयास से समझाया ।
लेकिन उस अडिग हिमालय को, सम्मोहन डिगा नहीं पाया ॥

फिर क्या था दुनियाँ ने देखा, उतरा हो भू पर नया अरुण ।
भरपूर जवानी में देखा, बढ़ चले त्याग की ओर चरण ॥
अब चंचल नीर जवानी का, खुद लगा खेलने आगी से ।
तब होने लगा राग केवल, यौवन में छिपे विरागी से ॥

वैराग्य-पथ पर

सम्वत् उन्निस सौ निन्यानव, क्या याद भुलाई आवेगी ।
जब तक यह गाथा अमर अजर, यह बात सुनाई आवेगी ॥
मेवाड़ प्रान्त का डगर-डगर, उस समय पुण्य की जीत बना ।
टांकाटोंका सौ बार धन्य, जिस समय स्वयं वह तीर्थ बना ॥

जिसने देखा कह उठा धन्य, है धन्य-धन्य इस बाने को ।
बच्चा-बच्चा दौड़ा उस दिन, श्रद्धा के फूल चढ़ाने को ॥
हँस उठा गगन नच उठी धरा, व्रत ने जब प्रथम परीक्षा ली ।
आचार्य वीरसागर जी से, जिस दिन जब क्षुल्लक दीक्षा ली ॥

फिर बढ़े वेग से दिन पर दिन, जग ने देखा वैराग बढ़ा ।
दक्षिण भारत के अंचल में, उदगाँव नगर का भाग्य जगा ॥
जाने क्या पुण्य किया होगा, सचमुच उस दिन उस माटी ने ।
उस बेला ने उस मेला ने, उदगाँव-गाँव के वासी ने ॥

सत्ताइस सौ तिरेपन की, वह तिथि आज भी आती है ।
प्रिय ! समय भले ही गुजर जाये, पर याद न उसकी जाती है ॥
कार्तिक शुक्ला ग्यारस समझो, दिन बुधवार जब आया था ।
सबसे पहिले रवि ने आकर, चरणों में अर्घ चढ़ाया था ॥

उस समय शीत में खड़े-खड़े, दर्शक सब सिकुड़े जाते थे ।
पर यह विराग का दृश्य देख, वे फूले नहीं समाते थे ॥
भू के कण-कण में तब श्रद्धा साकार दिखाई देती थी ।
उस समय राग की डगर-डगर, बस हार दिखाई देती थी ॥

बत्तीस वर्ष का तेज पुञ्ज, हर आंख देख अचरज लाई ।
आचार्य आदिसागर जी ने, विधिवत् दीक्षा दी जब भाई ॥
हो गये रोंगटे खड़े तभी, बन निर्मोही व्रत धार लिये ।
अम्बर तज बने दिगम्बर ने, फिर सिर के केश उखाड़ दिये ॥

जयकार दिशाओं ने बोली, अम्बर से नारा गूंज उठा ।
धरती पर नर, स्वर्गों में सुर, यह दृश्य देखकर झूम उठा ॥
इस तरह सरस पावनता का, उस पल में पूरा काम हुआ ।
अब क्षुल्लक से हो गये मुनि, महावीरकीर्ति तब नाम हुआ ॥

जब सङ्घ हो गया और बड़ा, आदिसागर मन हर्षाया ।
सबसे सुयोग्य सूरिवर ने, प्रतिभाशाली इनको पाया ॥
वक्तृत्व विशद शैली सुन्दर, विद्वत्ता के सागर निकले ।
महावीरकीर्ति वाणी सुन-सुन, सुनते हैं पत्थर तक पिघले ॥

फिर दिन पर दिन गुजरा जीवन, दुनियाँ को सत्पथ दर्शाकर ।
गुरु आदिसिंधु हो गये वृद्ध, आये समाधि के दिन आकर ॥
उन गुरुवर की फिर मुनिवर ने, अपनी वैयावृत्ति के द्वारा ॥
पाया समाधि का परम श्रेय, सेवा का गूंजा जयकारा ।

चारित्र सजग व्याख्यान कला, हर तरह परीक्षा कर भारी ।
दे दिया गुरु ने अपना पद, कर दिया सङ्घ का अधिकारी ॥
स्वर्गारोहण के बाद गुरु के, आदर्शों की ले वाणी ।
सारे भारत में एक बार, उनको फैलाने की ठानी ॥

फिर दक्षिण भारत बेलगांव की, शेडवाल नगरी आये ।
दर्शन कर राजा महाराजा, सबने श्रद्धा से शिर नाये ॥
क्षुल्लक ऐलक मुनि दर्शन पा, पावन हो बैठी वह बेला ।
तब एक लाख से भी बढ़कर, लग गया दर्शकों का मेला ॥

सबके समक्ष इस उत्सव में, गुरु आज्ञा को स्वीकार किया ।
विधिवत् महावीरकीर्ति ने, आचार्य का पद प्राप्त किया ॥
अब चला सङ्घ अविरल गति से, दक्षिण भारत पावन करने ।
उन अन्धकार की गलियों में, आलोक धर्म का फिर भरने ॥

मङ्गल विहार

मिथ्या मग में भटके मन को, संयम का नया मोड़ देने ।
हर कलह द्वेष ईर्ष्या जन की, जन-जन से हृदय जोड़ देने ॥
अध्याय नया हो गया शुरू, हरने को भव-भव का फेरा ।
वह भया तीर्थ बन जाता था, जिस जगह आप डालें डेरा ॥

*

आता था चौथा काल नजर, जिस जगह आप देते दर्शन ।
दुबले तन में पावन-मन में, जाने कैसा था आकर्षण ॥
कितना ही मायाचारी हो, दो मिनट देख खो जाता था ।
काले से काला मन जन का, उस क्षण उज्ज्वल हो जाता था ।

जब शास्त्र सभा होती मुनि की, ऐसी हो जाती थी छाया ।
अशरण को 'सरस' शरण देने, लगता था समोशरण आया ॥
खिरती थी दिव्यध्वनि मुनि की, धरती मुखरित हो जाती थी ।
आनन्द जागने लगता था, पीड़ा खुद ही सो जाती थी ॥

बस इसी तरह से बीस बरस, जिसकी पद रज पाकर जागी ।
दक्षिण भारत की वह धरती, सचमुच निकली थी बड़भागी ॥
जाने कितने ही नगर डगर, किस किसके नाम सुनायें हम ।
बड़वानी और इन्दौर प्रिय ! भोपाल कहाँ तक गायें हम ॥

कटनी मधुबन इसरि सरस, विख्यात फिरोजाबाद नगर ।
जयपुर नागौर उदयपुर में, जिनसे फैली थी चहल पहल ॥

इन सब में समय-समय पर अब, प्रिय पावन चातुर्मास हुये ।
अब तलक सहस्त्रों गाँव नगर, अब भी जिनको जो याद किये ।।

इस तरह अनेकों वर्षों तक, जिनमत का सच्चा ध्यान हुआ ।
जिस ओर सङ्घ प्रियवर पहुँचा, उस ओर बड़ा सम्मान हुआ ।।
पर फूलों के सङ्घ प्रियवर पहुँचा, उस ओर बड़ा सम्मान हुआ ।
इस परमारथ के प्रिय पथ में, ऐसे भी दुर्दिन आये हैं ।।

यह सच है सन्त सदा जग में, मुर्दों में प्राण फूंकते हैं ।
पर दुर्जन कभी धरातल पर, नहिं अपना दाव चूकते हैं ।।
आक्रमण अकारण सन्तों पर, अक्सर वे करते रहते हैं ।
वे व्यर्थ जिन्दगी के घर को, पापों से भरते रहते हैं ।।

दुख है ऐसे भी महामुनि, रह सके न 'सरस' अछूते हैं ।
कुछ यहाँ उदाहरण प्रस्तुत हैं, मुनि पर जो ऐसे बीते हैं ।।
सुनियेगा सभी ध्यान देकर, शायद आँसू भर लायेंगे ।
पर ऐसा शान्त सन्त जग में, बिरला ही कोई पायेंगे ।।

उपसर्ग

है बड़वानी के पास तीर्थ, जो बावनगजा कहाता है ।
इतनी पावन विशाल प्रतिमा, लख नभ बौना हो जाता है ।।
खड़गासन आदिनाथ की छवि, मन पावन करने वाली है ।
सारे भारत में इस ढंग की, यह प्रतिमा बड़ी निराली है ।।

इसके समक्ष जब महामुनि, जप-तप में ध्यान लगाये थे ।
तब भी अचानक दुष्ट बाल, कुछ सरस यहाँ पर आये थे ।।
देखा छत पर मधुमक्खी का, छत्ता दे रहा दिखाई है ।
नीचे मुनिवर ऊपर छत्ता, उनके मन की बन आई है ।।

छत्ते में मार एक कंकड़, कंकड़ वाला तो भाग गया ।
लेकिन वह अधम शान्ति सर में, वह लगा इस तरह आग गया ।।
लाखों मक्खी छत से उड़कर, मुनिवर के तन से लिपट गईं ।
अब सुनिये कैसा हाल हुआ, मक्खी उस क्षण जो चिपट गईं ।।

वे पीने लगीं खून तन से, जैसे युग-युग से प्यासी हों ।
लग रहा कि केवल इसको ही, वे अब तक रहीं उपासी हों ।।
क्रम रहा तीन दिन तक ऐसा, लेकिन निकली कुछ आह नहीं ।
उस सच्चे ज्ञानी ध्यानी ने, की इसकी कुछ परवाह नहीं ।।

सब रहे देखते घड़ी-घड़ी, पर शीघ्र न शुभ घड़ियाँ आईं ।
हर सम्भव किये उपाय सभी, चौथे दिन मक्खी भग पाईं ।।
फिर 'सरस' पूर्व की तरह आपकी हुई तपस्या है जारी ।
जिसने ऐसा सुत जाया हो, सौ बार धन्य वह महतारी ।।

अब एक और घटना सुनिये, जो इस गाथा में आती है ।
जो होकर सबल क्षमा करदे, वह क्षमा—क्षमा कहलाती है ।।
है बांकानेर नगर बांका, अरु उसमें ऐसा हाल हुआ ।
मिल गया एक दुर्जन मग में, जिस पर दुष्कर्म सवार हुआ ।।

उसने एकान्त मार्ग पाकर लाठी से वज्र प्रहार किया ।
मुनि गिरते-गिरते बचे वहाँ, मन में बस यही विचार किया ।।
इस बेचारे का दोष नहीं, यह सब कर्मों का चक्कर है ।
हो गया असहनीय घाव पीठ, लेकिन ली हँसकर टक्कर है ।।

जब पता लगा इसका ज्यों ही, जनता में हाहाकार मचा ।
तब पता लगाने चले भक्त, उस वक्त न कोई मार्ग बचा ।।
वह पकड़ा गया दुष्ट तत्क्षण, महाराज के पास उसे लाये ।
कह उठी नगर की सब जनता, कटु दण्ड दिया इसको जाये ।।

वह बांकानेर नगर अब तक, सन्तों का रहा पुजारी है ।
पर इस दुष्टी ने आज यहाँ, करली में फेरी आरी है ।।
तब कहा दया के सागर ने, भक्तो ! इस तरह न जोश करो ।
यह सब अज्ञानता का कारण, कर क्षमा न कोई कोप करो ।।

यह सुनते ही वह कातिल दिल, चरणों में नत हो लिपट गया ।
बन गया भक्त मुनियों का वह, गलती पर पश्चाताप किया ।।
अब सुनें तीसरा हाल सभी, कवि का दिल भर-भर आता है ।
कैसा जोया होगा उनने, हमसे तो कहा न जाता है ।।

पर इच्छा है अब सुनने की, कह रहा कवि जो घटना है।
सब कर्मों को कह सका कौन, जिनका फल मिलना निश्चित है ॥
जिन कर्मों का भगवान पार्श्व, महावीर-वीर पर वार हुआ।
जिन कर्मों से छह माह आदि--जिनवर का नहिं आहार हुआ ॥

ऐसे ही अशुभ करम सब पर, अब तक दुख दर्द रहे लाते।
जब 'महावीर' बच सके नहीं, महावीरकीर्ति क्यों बच पाते ॥
सङ्कट का काम, सदा करता, उत्थान पतन की रचना है।
विक्रम सम्वत् यह दो हजार, बारह की समझो घटना है ॥

सानन्द हो गया चतुर्मास, ससङ्घ ईसरी में जानो।
सोचा गुरु ने सम्मेद शिखर, वन्दन कर क्यों न कर्म हानो ॥
फिर गये वन्दना हेतु आप, सङ्घ में मुनि मल्लिसागर थे।
क्षुल्लक शीतल अरु इक गृहस्थ, जो बजरङ्गलाल कहाते थे ॥

सानन्द वन्दना करके सब, पहुँचे जल मन्दिर में आकर।
था समय सायं सामायिक का, पहुँचा सूर्य अस्ताचल पर ॥
निशि में जल मन्दिर में ठहरें, दिल में कुछ ऐसा भाव बना।
लेकिन उसके संयोजक ने, कहने पर भी कर दिया मना ॥

तत्काल सभी गौतम गणधर, की टोंक आन करके ठहरे।
निर्विघ्न शान्ति से दृढ़ होकर, दे उठे सत्य संयम पहरे ॥
इतने में उछल-कूद करता, देख इक नैपाली आया।
रोके से रुका नहीं किंचित्, चिल्लाया भाला दिखलाया ॥

उपसर्ग किया उसने डटकर, पर मुनिराजजी अटल रहे।
अब एक और सुनिये घटना, जो यहाँ कवि दिल खोल कहे ॥
सच है संयम का साथ जहाँ, बाधा कुछ बाध्य न कर पाती ॥
जो पीड़ाओं को पीता है, उनकी गाथा गाई जाती ॥

सम्मेदशिखरजी मुनिवर, जब खण्डगिरि की ओर चले।
पुरलिया ग्राम से पूर्व तभी, जङ्गल में दङ्गल दौड़ चले ॥
दस मील न पूरे चल पाये, उस समय एक शूल आन खिला।
देखा सहसा जन का समूह, सबके सम्मुख आ रहा मिला ॥

यह याद रहे उस समय राज, आन्दोलन तेजी आये थे ।
हो मानभूमि का विषय नहीं, बन सभी विरोधी आये थे ॥
बङ्गाल में होगा विलय नहीं, इतना उस दल का नारा था ।
बस यही बताने को वह दल, आगे को बढ़ता आता था ॥

देखा दल ने आश्चर्य युक्त, यह कैसा साधू आता है ।
ऐसा साधु देखा न सुना, जैसा वह यहाँ दिखाता है ॥
निर्वस्त्र देख साधु जी को, उस समय सभी ने घेर लिया ।
अरु देख अलौकिक तेज वहां, कुछ ने तो मस्तक टेक दिया ॥

सचमुच उनका ऐसा प्रभाव, उस क्षण हर तन पर था छाया ।
अवनि अम्बर तक एक साथ, ऐसा स्वरूप लख हर्षाया ॥
पर एक अधर्मी मुखिया ने, ऐसा विष दल में फैलाया ।
ये तो केवल जैनों के हैं, यह धर्म नहीं उनको भाया ॥

तब कहा शान्त स्वर से मुनि ने, हम सबको राह बताते हैं ।
तुम जिस भाषा में समझोगे, हम उसमें ही समझाते हैं ॥
पर नहीं किसी ने एक सुनी, सबने दुर्भाव विचार लिया ।
मिट्टी कंकड़ पत्थर ढेले, जिसको जो मिला सो वार किया ॥

उस समय मुनि के साथ वहाँ, देखा कुछ श्रावक भाई थे ।
पर-वश वे जितना हो सकता, उतने वे बने सहाई थे ॥
उनमें से सेठ चांदमल ने, अपनी भक्ति दर्शा दी थी ।
मुनि पर हो पावे वार नहीं, प्राणों की आन लगा दी थी ॥

कर शिर पर अपने कर दोनों, ऐसी कुछ युक्ति लड़ा दी थी ।
शिर पर आ पावे वार नहीं, तब भुजा स्वयं फैला दी थी ॥
गुरु भक्ति का यह दृश्य देख, कह उठी धन्य मानों बेला ।
जैसे धरणेन्द्र देव का फण, श्री पार्श्वप्रभु पर था फैला ॥

सौ बार धन्य ऐसे साधु, हर जगह हमें न दिखाते हैं ।
ऐसे निर्ग्रन्थ वीतरागी, ही मुक्तिरमा को पाते हैं ॥
गर काश आज के वे मानव, जो मुनि पर चुटकी लेते हैं ।
खोलें अपने अन्तर-चक्षु, त्यागी ऐसे ही होते हैं ॥

सचमुच त्यागी होना जग में, बस तलवारों की धारा है।
जो चूक गये तो नरक मिला, जीते तो शिव का द्वारा है॥
पर जिनका नहीं आचरण कुछ, केवल बातों का नारा है।
ऐसे निंदक लोगों बोलो, क्या ये ही धर्म तुम्हारा है॥

जो स्वयं भ्रष्ट हो मुनियों पर, नित अपने दाव चलाते हैं।
वे बन्धु करोड़ों जन्मों तक, निश्चय नरकों में जाते हैं॥
इसलिये बन्धुओं! कम से कम, अब तुम इतना ही काम करो।
जो नहीं बन सको तुम त्यागी, मत त्यागी को बदनाम करो॥

उपकार

अब सुनो आप श्री गुरुवर ने, कितना तप त्याग बढ़ाया है।
उनके द्वारा किन भव्यों ने, इस पथ पर कदम बढ़ाया है॥
हैं प्रथम शिष्य मुनि विमल सिंधु, जिनसे परिचित भारत सारा।
आचार्य सुपद के धारक हैं, कर रहा जगत जिन जयकारा॥

जिनकी वाणी में सत्य शिवं, हर वक्त उतरता जाता है।
जिनका चरित्र मानव मन में, निर्मलता भरता जाता है॥
जिनकी हर घोर तपस्या की, अब धूम दिखाई देती है।
प्रिय गगन गूंजने लगता है, जब जय अँगड़ाई लेती है॥

श्री वर्द्धमान मल्लिसागर, नेमिसागर मुनि पाते हैं।
श्री वासुपूज्य कुन्थुसागर, जो सच्चा मार्ग दिखाते हैं॥
सम्भव नेमि नमि सागर श्री, आदिसागर अति नामी हैं।
मुनिवर सुधर्म का धर्म देख, मानव होता कल्याणी है॥

अब सुनों आर्यिकाओं को भी, जिनको दी गुरु ने दीक्षा है।
जो कुन्दन सी चमकी व्रत में, संयम ले चुका परीक्षा है॥
श्री पार्श्वमती महावीरमती, अतिवीरमती मातायें हैं।
जो सत्य शिवं की वर्तमान में, अब तक ज्योति जगाये है॥

श्री शीलमती श्रेयांसमति, सुव्रत माता कहलाती हैं ।
हैं परम आर्यिका अजितमति, नित नया आचरण लाती हैं ॥
ये बहुत दूर हैं ममता से, समता में सदा विचरती हैं ।
ये नारी होकर सुनों भव्य, मन को नारायण करती हैं ॥

किन किन को क्षुल्लक दीक्षा दी, अब यह सुनने का अवसर है ।
श्री पार्श्वकीर्ति श्री चन्द्रसिंधु, सम्भव शीतल सु उजेरा है ॥
श्री वर्द्धमान सागर आदि, जो धर्मध्वजा लहराते हैं ।
इनमें से पार्श्वकीर्ति तो, मुनि विद्यानन्द बन जाते हैं ॥

इनकी मच रही धूम जग में, हर जाति में हर धर्मी में ।
करते नेता तक स्वागत हैं, भगते हैं पाप अधर्मी में ॥
देखो जाकर के आप कभी, सहस्रों की संख्या होती है ।
देते हैं आप प्रवचन जब, सुई भी सुनने लगती है ॥

अब सुनें क्षुल्लिकाओं को भी, जो हुई गुरु के द्वारा हैं ।
जो स्वपर के हित साधन में, बर्षाती अमृत धारा हैं ॥
श्री आदिमति श्री सुमतिमति, बिखराती संयम सोना हैं ।
हो शान्ति जहाँ हो शान्तिमति, पावन होता हर कोना है ॥

इस तरह पूज्य श्री गुरुवर ने, की धर्म साधना जारी है ।
जो बने मुनि ऐलक क्षुल्लक, उनसे यह भू आभारी है ॥
कुछ नाम दिये केवल कवि ने, हम उनको सीस नवाते हैं ।
कितने श्रावक प्रतिमाधारी, बन गये पता न पाते हैं ॥

मधु मांस मद्य लाखों जन को, श्री गुरुवर ने छुड़वाया है ।
जाने कितने भटके जन को, सच्चा शिव मार्ग बताया है ॥
पर समय कभी न रहा एक, परिवर्तन होता आया है ।
अब सुनिये कैसा गुरुवर के, जीवन ने पलटा खाया है ॥

स्वर्गारोहण

जब चार जनवरी मङ्गल दिन, उन्निस सौ बहत्तर का आया ।
गुरुवर ने अपना अन्त जान, था ऐसा परिवर्तन लाया ॥

सबसे सुयोग्य श्रुत अभ्यासी, चमत्कार रही जिनकी छाई।
दे दिया सरस आचारी पद, सन्मतिसागरजी को भाई ॥

मुनि नेमि कुन्थु सन्मत को भी, क्रमशः परवर्तक गणधर का।
दे दिया स्थविर का उज्वल पद, सङ्घ में अनुशासन रहने का ॥
फिर सोच समझकर विजयमति को, दिया उन्होंने गणिनी पद।
अर्जिका क्षुल्लिका आदि को, अनुशासन मे रखने का पद ॥

अब सुनो जनवरी छह का दिन, जिसने जग को दुःख आन दिया।
गुरुवर ने उस दिन देह छोड़, तब स्वर्गों मे प्रस्थान किया ॥
वह दिन स्वर्गों के लिये धन्य, धरती के लिये अभागी था।
कारण उस दिन धरती पर से, उठ गया महा वैरागी था ॥

हर लिया काल ने काया को, पर ज्योति आज भी जिन्दा है।
देखो स्वर्गों से झाक रही, करती हमको शर्मिन्दा है ॥
कारण उनके आदर्शों को, हर वक्त भूलने जाते है।
पहिचान नहीं जिन रत्नों की अपने को भूले जाते है ॥

'आओ अब सब मिल प्रण ठानें, हम आगे कदम बढायेंगे ॥
महावीरकीर्ति के कदमों पर, चल धर्म-ध्वजा लहरायेंगे ॥
वे शीघ्र मुक्ति पद प्राप्त करें, जिन हुरा धरा का क्रन्दन है।
महावीरकीर्ति काव्य पूरण, करता कवि शत शत वन्दन है।

समापन

बाईस अक्टूबर शुक्रवार, उन्निस सौ बहत्तर मे आकर।
महावीर कीर्ति की काव्य किरण, की सरस 'अवागढ़' मे आकर ॥
है आठ दिनों की यह रचना, कुछ नही योग्यता पाई है।
सकरार निवासी 'सरस' जैन, यह अन्तिम विनय सुनाई है ॥

खण्ड
३
जैनधर्म
और
दर्शन

स्याद्वाद

□ आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

जिसमें अनेक अन्त-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस रूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं ऐसा और प्रत्यक्-पर द्रव्यों से, पर द्रव्य के गुण पर्यायों से भिन्न तथा पर द्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निज स्वरूप को अवलोकन करती है।

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और शब्दों के द्वारा एक बार किसी एक धर्म को ही कहा जा सकता है। उस समय दूसरे अनेकों धर्मों को गौण करके जो कथन होता है उसी का नाम है स्यात्—'कथंचित् वादः कथनं स्याद्वादः' ऐसा स्याद्वाद है। इसी को अपेक्षावाद भी कहते हैं क्योंकि यह अपने धर्म की अपेक्षा रखता ही है। यथा—

वस्तु का अस्ति धर्म अपने विरोधी नास्ति धर्म की अपेक्षा रखता ही है। इसी को अनेकांत भी कहते हैं।

'अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन्नसौ अनेकान्तः'। अनेक धर्म जिसमें पाये जावें उसे अनेकांत कहते हैं। प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक-एक धर्म को समझने के लिए आचार्यों ने सात प्रकार बतलाए हैं। इसी का नाम सप्तभङ्गी है।

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेध विकल्पना सप्तभङ्गी ।

प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि प्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभङ्गी है। जैसे—

१— द्रव्य स्यात् अस्ति रूप है। २— द्रव्य स्यात् नास्ति रूप है। ३— द्रव्य स्यात् अस्ति नास्ति रूप है। ४— द्रव्य स्यात् अवक्तव्य है। ५— द्रव्य स्यात् अस्ति अवक्तव्य है। ६— द्रव्य स्यात् नास्ति अवक्तव्य है। ७— द्रव्य स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

इसमें सर्वथा अस्तित्व का निषेधक और अनेकांत का द्योतक, कथंचित् इस अपरनाम वाला 'स्यात्' पदनिपात है।

इसमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव द्रव्य अस्तिरूप है। पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति नास्ति रूप है। युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य अवक्तव्य है। स्वचतुष्टय और युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य 'स्यात्' अस्ति अवक्तव्य रूप है। परचतुष्टय एवं स्वपर की युगपत् विवक्षा से द्रव्य स्यात् नास्ति अवक्तव्य रूप है एवं स्वपर चतुष्टय की क्रम से और युगपत् अपेक्षा से द्रव्य सातवें भङ्ग रूप 'अस्तिनास्ति अवक्तव्य है।' यह कथन बिलकुल ही ठीक है। क्योंकि सभी वस्तुएँ स्वपर से अशून्य, पर रूप से शून्य, उभय रूप से अशून्य शून्य इत्यादि सात भंग रूप हैं।

यदि कोई कहे कि वस्तु अस्ति रूप ही है अतः विधि कल्पना ही वास्तविक है सो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा वस्तु को विधि रूप ही मानने से वह वस्तु सभी रूप हो जायेगी। आप मनुष्य है यदि आप में नास्ति धर्म नहीं रहेगा तो आप इसी समय पशु या देव रूप भी हो जायेंगे अतः पर देव आदि पर्याय रूप धर्म का आप में नास्तित्व है।

इसीलिए "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इस सूत्र के अनुसार हम जब अस्ति धर्म को मुख्य करते हैं तब नास्ति धर्म गौण हो जाता है जिस धर्म को कहने की विवक्षा रहती है वही धर्म प्रधान एव जिसकी विवक्षा नही है वह धर्म गौण हो जाता है।

प्रश्न— एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी बन जायेगी ?

उत्तर— नहीं ! क्योंकि सूत्र में 'अविरोधेन' यह पद दिया गया है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान आगम से अविरुद्ध में ही सप्तभंगी घटित होगी। जैसे — किसी ने कहा कि रात्रि भोजन और अहिंसा में सप्तभंगी घटावो, तो कथंचित् हिंसा में धर्म है— कथंचित् अहिंसा धर्म है। कथंचित् रात्रि भोजन करने में धर्म है, कथंचित् रात्रि भोजन त्याग में धर्म है। यह सप्तभंगी प्रक्रिया आगम से सर्वथा विरुद्ध है जिसमें आगम से विरोध न आवे उसी में सप्तभंगी घटित करना। इसीलिए आचार्य ने सप्तभंगी के लक्षण में 'अविरोधेन' पद दिया है।

प्रश्न— अनेक वस्तुओं के आश्रय से ही सप्तभंगी बनेगी ?

उत्तर— यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि सूत्र में "एकस्मिन् वस्तुनि" ऐसा पाठ पाया जाता है अतः एक ही वस्तु में सप्तभंगी घटित नहीं होती है।

प्रश्न— एक भी जीवादि में विधि योग्य और निषेध योग्य अनन्त धर्म पाये जाते हैं अतः उन अनन्त धर्मों की कल्पना भी 'अनन्तभंगी' बन जावेगी। पुनः सप्तभंगी कैसे रहेगी ?

उत्तर— ऐसा नहीं है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक-एक धर्म के प्रति 'सप्तभंगी' घटित होती है इसलिए 'अनन्तधर्मी' न होकर अनन्तों 'सप्तभंगी' हो जाती है और यह बात हमें इष्ट है क्योंकि वस्तु में एक, अनेक, नित्य, अनित्य आदि की कल्पना से सात ही भङ्ग होते हैं। ऐसा क्यों ? तो शिष्यों के द्वारा मात्र ही प्रश्न किए जाते हैं। क्योंकि सूत्र में "प्रश्न वशादेव" ऐसा वचन है। सात ही प्रश्न क्यों किये जाते हैं ? तो सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा भी

सात प्रकार की ही क्यों है ? तो सात प्रकार का ही संशय होता है। ऐसा क्यों ? तो उस संशय के विषयभूत वस्तु के धर्म सात प्रकार के ही हैं। यदि कहो कि सात प्रकार का व्यवहार निर्विषयक है सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि इन सात प्रकार के व्यवहारों से वस्तु का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है।

प्रथम भंग में सत्त्व धर्म प्रधान भाव से जाना जाता है द्वितीय भंग में असत्त्व धर्म प्रधान है। तृतीय भंग में सत्त्वासत्त्व धर्म प्रधान है। चतुर्थ भंग में अवक्तव्य प्रधान है। पञ्चम भंग में सत्त्व सहित अवक्तव्य, छठें में असत्त्व सहित अवक्तव्य, और सातवें में सत्त्वासत्त्व धर्म सहित अवक्तव्य धर्म प्रधान है। अर्थात् प्रथम भंग में असत्त्व सहित शेष छह भंग गौण रहते हैं। ऐसे सभी भंगों मे एक-एक की प्रधानता और शेष भंगों की अप्रधानता रहती है।

यदि कोई कहे कि अवक्तव्य को पृथक भंग सिद्ध करके अपने उसे चौथे भंग में लिया है तो वक्तव्य को भी एक पृथक धर्म मानकर आठवां भंग मान लीजिए। इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि यह शङ्का निर्मूल है क्योंकि अस्तित्व आदि धर्मों के द्वारा वक्तव्य धर्म ही तो कहे हैं अतः वक्तव्य नाम से आठवां भंग नही बन सकेगा।

यदि कोई कहे कि वस्तु का अस्तित्व ही तो पर के नास्ति रूप है और पर से नास्तित्व ही तो वस्तु के अस्तिरूप है अतः इन दोनों धर्मों में से किसी के कहने से ही वस्तु का बोध हो जाता है इसलिए दोनों भंग कहना उचित नही है ? आचार्य कहते है कि यह भी कथन टीक नहीं है क्योंकि जो वस्तु का अपना अस्तित्व है यदि वहीं पर नास्तित्व है तब तो स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा के समान ही पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से भी अस्तित्व मानना होगा अथवा पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व के समान ही स्वरूपादि से भी नास्तित्व का प्रसङ्ग आ जावेगा, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः अपेक्षा के भेद से सभी धर्मों की प्रतीति विरुद्ध नहीं है।

प्रश्न— एक वस्तु में विरोधी अनेकों धर्मों का एक साथ रहना असम्भव है जैसे— शीत और उष्ण-स्पर्श एक साथ एक जगह नही रह सकते हैं।

उत्तर— अनेकांत में यह बात सम्भव नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु में अनेकों विरोधी धर्म भी स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से रह जाते हैं जैसे कि वस्तु का धर्म स्व की अपेक्षा अस्ति रूप है तो पर की अपेक्षा नास्ति रूप है।

द्रव्यदृष्टि से वस्तु एक रूप नित्य है तो पर्याय की दृष्टि से अनेक रूप एवं अनित्य है। ये सब धर्म एक समय ही पाये जाते हैं। जैसे— एक ही देवदत्त में भिन्न-भिन्न पिता पुत्र आदि की अपेक्षा से पुत्र, पिता, मामा, भानजा आदि धर्म पाये जाते हैं। जो देवदत्त का पिता है वही पुत्र नहीं है जो चाचा है उससे भिन्न दूसरा ही उसका भतीजा है। वह देवदत्त यदि अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है तो सब की अपेक्षा या अपने पिता की अपेक्षा पिता नहीं है। इस देवदत्त में एक ही समय में पिता की अपेक्षा पुत्र, पुत्र की अपेक्षा पिता आदि अनेकों विरोधी धर्म पाये जाते हैं, किन्तु व्यवहार में भी कोई

विरोध नहीं माना जाता है ।

प्रश्न— यदि अनेकांत में भी यह विधि—प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकांत में 'नास्ति' भंग प्रयुक्त होगा उस समय एकांतवाद का प्रसङ्ग आ जाता है और अनेकांत में अनेकांत लगाने पर कहीं पर भी अन्त न आने से अनवस्था नाम का दूषण आ जाता है। अतः अनेकांत को अनेकांत ही कहना चाहिये।

उत्तर— अनेकांत में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकांत और एकांतरूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती है। अनेकांत और एकांत दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते है।

सम्यगेकांत— प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को युक्ति सहित ग्रहण करने वाला सम्यक्-एकांत है।

मिथ्याएकांत— एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या-एकान्त है।

सम्यगनेकांत— एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकांत है।

मिथ्याअनेकांत— वस्तु को सत् असत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकांत है।

यहां सम्यगेकांत को सापेक्ष नय कहते हैं। एवं सम्यक् अनेकात को प्रमाण कहते हैं। यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जावे तो सम्यगेकांत के अभाव में शाखादि के अभाव मे वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जावेगा। यदि एकांत ही माना जावे तो अविना-भावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

यदि कोई कहे कि अनेकांत छल रूप है तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जहां वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहां छल होता है। जैसे 'नवकंबलोदेवदत्त': यहां 'नव' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक ९ संख्या और दूसरा नया। 'नूतन' विवक्षा से कहे गये 'नव' शब्द का ९ संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है, किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षा से सम्भव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकांतवाद छल नहीं हो सकता क्योंकि इसमें वचन विघात नहीं किया गया है; अपितु यथावस्थित वस्तु तत्त्व का निरूपण किया गया है।

यहां इस बात को और विशेष रूप से समझना चाहिये कि परस्पर सापेक्ष नय सम्यक् एकांत कहलाते हैं। इसी बात को श्री समन्तभद्र स्वामी ने अपनी स्तुति विद्या में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है जिसका भाव निम्न प्रकार है—

हे भगवन् ! आपके शासन में द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चय, व्यवहार आदि परस्पर विरोधी नय एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुये सम्यक बन जाते हैं और आपस में मित्रता को प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार षट् ऋतु के फल, फूल परस्पर विरोधी ऋतुयें आदि एक साथ फल फूल जाती हैं। सम्म-

जात विरोधी पशु-पक्षी, सिंह, हरिण, सर्प-नकुल आदि भी परस्पर के बैर भाव को छोड़कर परमप्रीति को प्राप्त हो जाते हैं।

इस स्याद्वाद में यह शक्ति है कि वह अनेक धर्म युक्त प्रमाण को अनेकांत बना देता है और परस्पर विरोधी नयों को सम्यक् एकांत बना देता है।

श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादामोघलाञ्छनं ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं ॥

महान साधु

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय बहुभाषाविद् आचार्य श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज के प्रथम पुनीत दर्शन उनके कटनी चातुर्मास के अवसर पर करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बाद में तो उनके ईसरी एवं शिखरजी चातुर्मास के समय काफी सम्पर्क में रहने एवं आहारदान का लाभ प्राप्त हुआ था। आचार्य श्री महान् दिग्गज विद्वान्, दृढ़ संकल्पी, उग्रतपस्वी, परिषहजयी, प्रभावक साधु थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया प्रभावित हुये बिना नहीं रहा। पटना पधारने पर मेरे निवास को भी पवित्र किया था तथा घर पर स्थित चैत्यालय के दर्शन किये थे साथ ही मेरे सुपुत्र आत्माराम ने जो कि उस समय बहुत छोटी उम्र का था उनके उपदेश से प्रभावित होकर उनसे यज्ञोपवीत धारण किया था: वह आज तक उनके दिये व्रतों को दृढ़ता पूर्वक पालन कर रहा है। मेरा तो उनसे बहुत उपकार हुआ है। उनके धर्मामृत रूपी उपदेशों से समाज को बहुत लाभ मिलता था। ऐसी आशा नहीं थी कि आचार्य श्री इतनी जल्दी ही हम लोगों को छोड़ जावेंगे। लेकिन विधि के विधान को कौन जान सकता है और रोकने में कौन समर्थ है। जो होनहार है होकर ही रहती है।

यह जानकर कि उनके शिष्य श्री १०५ क्षुल्लक शीतलसागर जी महाराज के सत्प्रयास से उनकी स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है प्रसन्नता हुई। इस पुनीत अवसर पर मैं उनकी स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति शान्ति की कामना करता हुआ हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ और भावना करता हूँ कि वे शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करें।

पटनासिटी (उ०प्र०) —सेठ बद्रीप्रसाद सरावगी

नरस्य सारं किल व्रत धारणं

□ विदुषी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी

अनादि काल से मोहरूपी मदिरा पान कर यह संसारी प्राणी, संसार में जन्म-मरण के दुख भोग रहा है।

मोह महामद पियो अनादि,, भूल आपको भरमत बादि ।

अनन्त काल तो इस जीव ने एकेन्द्रिय शरीर को धारण कर निगोद के अन्दर बिताया, जहाँ १ र श्वांस में अठारह बार जन्मा और अठारह बार ही मरण किया।

काल अनंत निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तनधार ।
एक श्वांस में अठ दस बार, जन्म्यो, मरयो भर्‌यो दुःख भार ।।

वहाँ से निकल कर पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय वायुकाय तथा प्रत्येक वनस्पति हुआ। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न का प्राप्त होना दुर्लभ है, उसी प्रकार त्रस-पर्याय दुष्प्राप्य है—

निकसि भूमि, जल, पावक भयो पवन प्रत्येक वनस्पतिथयो ।
दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लहि त्रस तणि ।।

इनमें सबसे दुर्लभ मानव पर्याय है जैसा कि बताया गया है— 'एकेन्द्रिय से व्याप्त इस जगत में त्रसत्व, संज्ञित्व, मनुष्यत्व, आर्यत्व, सुगोत्र, सद्‌गात्र, विभूति, आजीविका, विद्वत्ता, जिनधर्मादि एक से एक दुर्लभ है।" सम्राट अमोघवर्ष अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य जन्म को ही असाधारण महत्व की वस्तु बताते हैं। अपनी अनुपम कृति 'प्रश्नोत्तर रत्न मालिका' में उन्होंने कितनी उद्‌बोधक बात लिखी है—

किं दुर्लभं ? नृजन्म प्राप्येदं भवति किं च कर्तव्यं ।
आत्महित महित सङ्गत्यागो रागश्च गुरुवचने ।।

'दुष्प्राप्य मानव-जन्म को प्राप्त कर क्या करना चाहिए ? आत्मा की अकल्याणकारी परिणति का त्याग कर आत्म हित करना चाहिए, और गुरु-वचनों में अनुराग करना चाहिए।'

वैभव, विद्या-प्रभाव, ऐश्वर्य आदि के अभिमान में मस्त हो, यह प्राणी अपने को अजर-अमर मान, अपने जीवन की बीतती हुई स्वर्णिम घड़ियों की महत्ता पर बहुत कम ध्यान देता है। वह सोचता

है कि हमारे जीवन की आनन्द-गङ्गा अविच्छिन्न रूप से बहती ही रहेगी, किन्तु वह इस सत्य का दर्शन करने से अपनी आँखों को बन्द कर लेता है, कि परिवर्तन के इस प्रचण्ड प्रहार से बचना किसी के वश की बात नहीं है। महाभारत में एक सुन्दर घटना आई है— एक बार पांचों पांडव युधिष्ठिरादि प्यास से व्याकुल होकर एक सरोवर में पानी पीने के लिये पहुँचे। जब वे पानी पीने के लिए तत्पर हुए, तब जलाशय के समीप निवास करने वाली देवांगना ने कहा—"हे महाशय! जगत् में आश्चर्यकारी वस्तु क्या है? आप इस प्रश्न का उत्तर देकर ही पानी पी सकते हैं।" भीम, नकुल, अर्जुनादि के उत्तर से देवी सन्तुष्ट न हुई; तब युधिष्ठिर ने कहा—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरं ।
शेषा जीवितुमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परं ।।

"प्रतिदिन प्राणी यमराज के ग्रास बनते जा रहे हैं। यह देखकर भी शेष प्राणी जीना चाहते हैं। यह आश्चर्यकारी बात है।" इस मानव-पर्याय का जीवनकाल बहुत कम है। इसमें जिन्होंने अपना हित सम्पादन किया, उन्होंने ही इसका सार प्राप्त किया है।

नरस्य सारं किल व्रत धारणं

'मानव पर्याय का सार व्रतों का धारण करना है।' 'यशस्तिलक चम्पू' में जो लिखा है, उसका सार निम्न प्रकार है— स्वर्ग के देव भी निरन्तर यह विचार करते हैं, कि जिनका विपाक हलाहल विष के समान कटु है, मानसिक दुःख रूपी दावानल से व्याप्त ऐसे देवो के स्वर्गीय सुखों से हमें क्या प्रयोजन है? हमे वह दिन कब प्राप्त होगा जिस दिन मानव जीवन को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करेंगे।

जिन्होने इस मानव जीवन को प्राप्त करके, मुक्ति के लिए प्रयत्न नही किया, उन्होंने मानो कर्म-भूमि मे भवांकुर को ही बढ़ाया है। मुक्ति का पूर्ण साधन मानव-पर्याय में ही है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र इन तीनों के समुदाय को मोक्ष-मार्ग कहते हैं। देव, शास्त्र एव गुरु पर; तीन मूढता आठ मद रहित, आठ अङ्ग सहित दृढ विश्वास तथा जीवादि सात तत्वों का विश्वास हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपो भृतां ।
त्रिमूढापोढ मष्टांग सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।
तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन ।

जिससे तत्वों का यथार्थ बोध मिलता हो, हेयोपादेय का विवेक उत्पन्न होता है, उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं।

अशुभवन्निवृत्तिश्चरित्रं ।

"जिस आचार प्रणालिका के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों को नियन्त्रित किया जाता है, जीवन के

अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग को स्वस्थ एवं शुद्ध रखा जाता है, ऐसी दोष निर्नाशिनी, गुण विकासिनी प्रवृत्ति को सम्यक्चारित्र कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह के परित्याग को चारित्र कहते हैं।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च,
पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं ॥

कर्मादान क्रियाओं का निरोध करना भी चारित्र है। अशुभ से निवृत्ति तथा शुभ प्रवृत्ति को भी चारित्र कहते हैं।

"असुहादो विणिवत्ति सुहे पवित्तिय जाण चारित्तं।"

बाह्याभ्यंतर क्रियाओं के निरोध को भी चारित्र कहते हैं। यही जैन धर्म की परम पावन त्रिवेणी है, जिसमें स्नान करने वाला मानव, निर्मल, निर्विकार और निष्कालुष्य बन जाता है। जीवन शोधन और मुक्ति-लाभ के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने वाले साधक के जीव में ज्ञान, अज्ञान-अन्धकार को दूर कर आलोक को प्राप्त कराता है। श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र में समीचीनता लाता है, और चारित्र उस प्रकाश में दृष्टिगोचर होने वाले दोषों को दूर कर, ज्ञान के द्वारा आलोकित स्थान (आत्मा) को स्वच्छ बनाता है, जो इस त्रिपुटि का अवलम्बन लेता है वही संसार में सच्ची आध्यात्मिकता लाता है। वही मुमुक्षु है। वही अन्त में चरम सीमा का आत्म विकास प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः ज्ञान और विश्वास का सार शुद्धाचार अर्थात् चारित्र है। यशस्तिलक चम्पू में लिखा है—

श्रुताय येषां न शरीरवृद्धिः श्रुतं चरित्राय च येषु नैव।
तेषां बलित्वं ननु पूर्वकर्म व्यापार भारोद्वहनाय, मन्ये ॥

जिनके शरीर की वृद्धि श्रुत के लिए नहीं है, श्रुत ज्ञान, चारित्र के लिए नहीं है, उनका शक्ति-शालित्व केवल कर्म व्यापार के भार के वहन करने के लिए है, ऐसा मैं मानता हूं।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान, सम्यक्ज्ञान नहीं उसी प्रकार सम्यक्ज्ञानहीन; कर्मकाण्ड, क्रिया कलाप, जप-तप, काय क्लेश, देह-दमनादि से मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।

आतम अनातम के ज्ञान हीन, जे-जे करनी तन करन छीन

आत्मा व अनात्मा के भेद विज्ञान के बिना जो क्रिया कांड किया जाता है वह मुक्ति का साधन नहीं, केवल मात्र शरीर का शोषण करने वाला है। उसी प्रकार चारित्रहीन ज्ञान से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी और परमात्मा दशा को प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समन्वय अनिवार्य है। अर्थात् इन तीनों की एकता से ही मुक्ति की प्राप्ति होगी।

मानव जीवन में सम्यक्चारित्र का स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कर्म भूमिया मानव के ही होती है। पर उसे लेकर प्राणी चारों गतियों में जा सकता है। शेष सम्यग्दर्शन चारों गतियो में हो सकते हैं। परन्तु सम्यक्चारित्र-मानव पर्याय को छोड़कर अन्य पर्यायों में नहीं मिल सकता। इसलिए मानव पर्याय को सार्थक करने के लिए चारित्र को धारण करना चाहिए।

— क्षु० श्री आ० महावीर कीर्ति

चारित्रहीन मानव जीवन पशु-तुल्य है। अन्तर इतना है कि पशु के सींग और पूंछ है, और मानव सींग-पूंछ रहित पशु है।

मानव की सच्चाई कोरे ज्ञान एवं विश्वास से नहीं आंकी जाती है। व्यवहार में भी जिसका चरित्र जितना विशेष होता है, उतना ही वह मानव माननीय और सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। जीवन की दिव्यता का माप-दण्ड चरित्र है। लौकिक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि विश्वास और ज्ञान, जब तक मानव के जीवन में साकार नहीं होते, तब तक मानव किसी भी सांसारिक उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

सरिता के सतत् गतिशील प्रवाह को नियंत्रित रखने के लिए दो किनारों की जरूरत होती है, उसी प्रकार मानव जीवन को नियन्त्रित रखने के लिए चरित्र रूपी किनारों की परम आवश्यकता है। जिस प्रकार बांध के बिना नदी का प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा प्रगतिशील नहीं बनता है, ठीक उसी प्रकार व्रत रूपी बांध के बिना मानव जीवन का प्रवाह भी छिन्न-भिन्न हो जाता है, प्रगतिशील नहीं बनता है। अतएव जीवन शक्ति को केन्द्रित करने के लिए तथा उसे योग्य दिशा में उपयोग करने के लिए व्रतों की परमावश्यकता है।

अकाश में ऊंची उडने वाली पतङ्ग सोचती है कि उसे डोरी के बन्धन की क्या आवश्यकता है ? यह बन्धन न हो तो वह स्वच्छन्द गगन में विहार कर सकती है। परन्तु हम जानते हैं कि डोरी के टूटने के साथ ही वह पृथ्वी की ओर नष्ट होने के लिए गिरने लगती है, उसी प्रकार मानव जब तक संयम के बन्धन मे रहता है, तब तक शोभा को प्राप्त होता है, संयम का बन्धन नष्ट होते ही वह पतित होने लगता है और दुर्गति को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार ब्रेक के बिना गाड़ी का खड्डे मे गिरना अवश्यम्भावी ही है, उसी प्रकार संयम के बिना मानव जीवन हितकारी नहीं। पुष्प की शोभा सुगन्ध से, भोजन की शोभा नमक से, मुख की शोभा आँख से, राज्य की शोभा न्याय से, दिन की शोभा सूर्य से, रात्रि की शोभा चन्द्रमा से, कुल की शोभा पुत्र से और जैसे स्त्री की शोभा शील से होती है, उसी प्रकार मानव जन्म की शोभा संयम से होती है। संयम के बिना मानव जीवन पशु-तुल्य है। जिन्होंने मानव जीवन को प्राप्त कर संयम धारण नहीं किया है, उन्होंने प्रमादवश चिन्तामणि रत्न को पाकर, समुद्र में डाल दिया है।

यः प्राप्य दुष्प्राप्यमिदं नरत्वं, धर्मं न यत्नेन करोतिमूढ़
क्लेशप्रबन्धेन स लब्धमब्धौ, चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥

जो अज्ञानी दुष्प्राप्य इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर, धर्म धारण नही करता है, वह अज्ञानी कष्ट से प्राप्त हुए चिन्तामणि रत्न को समुद्र में फेंकता है। जिन्होंने संयम धारण नहीं किया, वह मूढ चन्दन के बगीचे को जलाकर कोद्रू को बोता है।

श्रीपुर नगर में धार्मिक, परोपकारी, कारुण्यमूर्ति रत्नसिंह नामक राजा राज्य करता था। एक दिन भूपाल अपनी सभा में बैठा था। एक दूत ने कहा— "राजन् ! शत्रुपक्ष ने आपके राज्य को घेर लिया है। वह आपकी प्रजा को दुःख देता है।" पृथ्वीपति ने कहा— "तब तक ही हरिण वन में स्वेच्छा-

पूर्वक उछल-कूद मचाते हैं, जब तक वे केसरी की गर्जना को नहीं सुनते हैं।" ऐसा कहकर नृप राज सिंहा-सन से उठा और सेना लेकर युद्ध के लिए निकल पड़ा। पूर्वोपार्जित पुण्योदय से तथा अपने पराक्रम से शत्रुओं को जीतकर, अपने नगर को लौटा। सारी प्रजा शत्रु-विजयी नरेश की अगवानी करने के लिए निकली। नरेश ने समस्त पुरजन- परिजन को दानादि के द्वारा सन्तुष्ट किया। इतने में दूर खड़े हुए दीन-दशा को प्राप्त किसी व्यक्ति पर भूमिपाल की नजर पड़ी। उसको देखकर नरपति ने स्वकीय सचिव से पूछा— "मन्त्रिन् ! यह दरिद्र कौन है ?" मन्त्री ने कहा— "नरनाथ ! कुल परम्परागत नगर स्वच्छ करने वाला आपका महत्तर है।" मेदनीनाथ ने कहा— "मन्त्रिन् ! आज तक तुमने मुझे इसका हाल क्यों नहीं बताया ? क्योंकि राजाओं का राज्य मन्त्रियों पर चलता है, गृहस्थियाँ स्त्रियों पर आधारित है। मन्त्रियों का यह कर्त्तव्य होता है, कि प्रजा का सुख-दुख राजाओं से कहे।" मन्त्री ने कहा— "प्रभो ! अभी भी दानादि के द्वारा इसका दुःख दूर कीजिये।" राजा ने उस दरिद्री को अपने निकट बुलाया, और एक ग्राम उसे देना चाहा। यह सुनकर दरिद्र ने कहा— 'हे नाथ ! मैं ग्राम को क्या करूँ ? जिनके भृत्य वर्ग होते हैं, जो महापुरुष होते हैं, वे ही ग्रामाधीश बन सकते हैं।" राजा विस्मयान्वित हो कर बोला - "जिसके निकट ग्रामादि विभूतियाँ होती हैं उसके नौकरादि अपने आप हो जाते हैं।" राजा के बार-बार कहने पर भी उसने ग्राम लेना स्वीकार नहीं किया और कहा— "नाथ ! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो एक खेत दे दीजिये।" उसकी इच्छानुसार नराधिप ने अपना बहुमूल्य चन्दन का बगीचा उसको दे दिया। दूसरे दिन दरिद्री खेत में गया, तो देखा कि पूरे खेत में चन्दन के वृक्षों पर महाकाय अजगर लिपटे हुए थे और चन्दन की सुगन्धि से भँवरे मँडरा रहे थे। उस चन्दन के उपवन को देखकर वह सोचने लगा, कि राजा ने खेत तो दिया, परन्तु इस सर्पों और लकड़ी से व्याप्त खेत का मैं क्या करूँगा। अल्पकाल विचारने के बाद उसने मन ही मन में विचार किया कि अपने को (मुझे) पुरुषार्थ करना चाहिए—

उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मीः ।
दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति ॥

"उद्योगी पुरुष को लक्ष्मी प्राप्त होती है। भाग्य से मिलेगी, ऐसा तो कायर लोग कहते हैं।" इसलिए भाग्य का आश्रय छोड़कर पुरुषार्थ करना चाहिए यदि पुरुषार्थ करने पर भी सिद्धि न प्राप्त हो तो अपना क्या दोष ? ऐसा विचार कर वह कुल्हाड़ी लेकर दूसरे दिन खेत में आया। धीरे-धीरे सारे चन्दन के बगीचे को काटकर जला दिया, और उसमें कोदू बो दिए। जब कोंदू का खेत हरा-भरा हो गया, तब उस दरिद्र ने राजा को अपना खेत दिखाने के लिए बुलाया। चंदन के बगीचे का अभाव देखकर नरेन्द्र ने पूछा - "रे वत्स ! यह क्या बोया है ?" उसने कहा - नाथ ! आपने मुझे लकड़ी से भरा हुआ जङ्गल दिया था। मैंने अपने परि-श्रम से स्वच्छ कर कोंदू बोये है। जब यह खेती पक जायेगी, तब मेरी संतान का पोषण होगा।" उसकी इस बात को सुनकर नृप ने कहा— "तूने सारी लकड़ी जला दी या कुछ शेष रखी है।" उसने कहा— "प्रभो ! एक हाथ लकडी का टुकड़ा मेरी पत्नी ने कपड़ा धोने के लिए मंगवाया था, वह घर पर रखा है।" राजा ने कहा—"उसे बाजार में बेचकर आओ !" दरिद्र ने सोचा एक हाथ लकड़ी से क्या मिलने वाला है, परन्तु राजाज्ञा शिरोधार्य है, ऐसा सोचकर वह उस टुकड़े को लेकर बाजार में गया। वह दाह ज्वर-नाशक

बहुमूल्य चन्दन था। किसी वणिक् ने उस टुकड़े को ५० रु० देकर खरीद लिया। इसे देखकर दरिद्री पश्चाताप करने लगा। हाय ! मैंने बिना विचारे ही मूल्यवान वस्तु को नष्ट कर दिया। यदि मैं इस का सदुपयोग करता तो सुखी बन सकता था। जो बिना विचारे कार्य करता है, उसको अन्त में पश्चाताप ही करना पड़ता है। यह तो दृष्टान्त है। दार्ष्टान्त कहते हैं— चन्दन के बगीचे के समान ही मानव पर्याय है। राजा के समान कर्मों का लघु विपाक है, अर्थात् कर्म फल चेतना भोगते कर्मों का कुछ लघु विपाक होता है, तो मानव पर्याय को प्राप्ति होती है। दरिद्र आत्मा है, और कोंदू विषय भोग-रूप है।

जिस प्रकार महान कठिनता से दरिद्री को चन्दन का बगीचा मिला था। उस मूर्ख ने उसकी कीमत न जानकर, उसे व्यर्थ में ही नष्ट कर दिया, ठीक उसी प्रकार प्राणी को भी बड़ी कठिनता से मानव पर्याय प्राप्त हुई थी। उसकी कीमत न जानकर विषय वासना रूपी कोंदू को बोकर व्यर्थ में ही नष्ट कर दिया। यदि मानव मानव-पर्याय का सदुपयोग करता, तो जन्म-जन्मान्तर के कर्मों को नाश कर वह वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता था। सुख की प्राप्ति अनादिकालीन बँधे हुए कर्मों के नाश से होती है। कर्मों का नाश चारित्र से होता है। चारित्र की प्राप्ति मानव पर्याय में ही होती है, इस लिये मानव-पर्याय को सार्थक करने के लिये व्रतों को धारण करना चाहिए।

श्री हनुमान् जी को आशीर्वाद देते हुए भगवान श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—

'मदङ्गेजीर्णतां यातु, यत्त्वयोपकृतं कपे !
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥
—बाल्मीकि रामायण

हे हनुमान् ! तुमने जो उपकार मुझ पर किये हैं वे मेरे अङ्ग में ही जीर्ण हो जाए, क्योंकि मनुष्य विपत्ति के समय प्रत्युपकार की पात्रता को प्राप्त होता है अर्थात् तुम कभी मेरे समान वनवास सीता वियोग, इत्यादि कष्टों में न पड़ो सुखी रहो।

यदि मैं कहूं कि मैं भी तुम्हारा प्रत्युपकार करने की इच्छा रखता हूं तो उसका अर्थ यही होगा कि तुम पर विपत्ति आये और मैं भी सहायता करूं। अतः मैं चाहता हूं कि तुम्हारे उपकार मुझ में जीर्ण हो जायें। कभी उन्हें लौटाने का अवसर न आये। तुम सदैव सुखी व प्रसन्न रहो।

निश्चय व्यवहार धर्म एवं निश्चय व्यवहार नय

□ श्री पं० महेन्द्रकुमार जी जैन 'महेश' शास्त्री, ऋषभदेव (राज०)

निश्चयव्यवहार धर्म और निश्चयव्यवहार नय ये दोनों एक नहीं हैं अपितु भिन्न-भिन्न विषय हैं। धर्म वस्तु के स्वरूप का नाम है और वक्ता के विवेचन करते समय किसी न किसी सापेक्षता का आश्रय नय है जिसका दूसरा नाम दृष्टिकोण है। वक्ता के कथन की सापेक्षता को नय कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने "प्रमाणनयैरधिगमः" अ० १ सू० ६ के द्वारा यह बतलाया है कि प्रमाण और नयों से जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है अतः जो भी पदार्थों को जानना चाहते हैं उन्हें प्रमाण और नय का ज्ञान अति आवश्यक है।

वस्तु के समस्त अंशों को जानने वाला प्रमाण होता है और वस्तु के एक अंश को जानने वाला नय होता है। भट्टाकलङ्कदेव ने नय का लक्षण राजवार्तिक में निम्न प्रकार लिखा है— "प्रमाण प्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपको नयः" अ० १ सू० ३३। अर्थात् प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अनेक धर्मात्मक पदार्थ के धर्म विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है। उस नय के मूल भेद दो हैं १– द्रव्यास्तिक और २– पर्यायास्तिक। इन दोनों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भी कहते हैं, सो ही लिखा है—

तस्य द्वौ मूलभेदौ द्रव्यास्तिकः पर्यायास्तिक इति। रा० वा०

अभेद विवक्षा से द्रव्य के स्वाभाविक गुणों का कथन करने वाला द्रव्यार्थिक नय है जिसे शुद्ध निश्चयनय कहते हैं और भेद विवक्षा से द्रव्यों के पर्याय सम्बन्धित गुणों का विवेचन करने वाला पर्यायार्थिक नय अर्थात् व्यवहार नय है। आशय यह है कि अभेद विवक्षा से द्रव्य के निज स्वभाव को वर्णन करते समय वक्ता को निश्चयनय का अवलम्बन होता है और द्रव्य के भेद विवक्षा या पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले गुणों का वर्णन करते समय व्यवहार नय का अवलम्बन होता है। वक्ता एक बार में वस्तु के किसी एक अंश का ही विवेचन करता है। अतः उसका विवेचन किसी न किसी नय का विषय होता है। इसी को नय सापेक्षता या अनेकांत कहते हैं। स्याद्वाद इसी का पर्यायवाची है।

निश्चय और व्यवहार नयों में से वक्ता को विवेचन करते समय एक नय मुख्य होता है तो दूसरा गौण हो जाता है। गौण का अर्थ नष्ट होना नहीं है। एक नय से कहे हुये पदार्थ के स्वरूप को अन्य

गुणों से रहित समझना या अन्य नय का अभाव समझना ही एकान्तता है। आचार्यों ने इन दोनों नयों को दही मथने वाली मथानी की दोनों रस्सियों के समान कहा है। जिस प्रकार दही मथने वाले के दोनों हाथों में दो रस्सियाँ रहती, हैं दो में से एक को छोड़ दे तो दही से घी नहीं निकले। दोनों को छोड़ दे तो भी नहीं निकले और दोनों को एक साथ खींचे तो भी नहीं निकले। हाँ, एक रस्सी को खींचे और दूसरी को ढीली छोड़ दे तो इस प्रक्रिया से दही में से घृत निकल सकता है। यहाँ वे दोनों रस्सियाँ ही दोनों नयों के समान समझना चाहिए। द्रव्य के शुद्ध स्वरूप को विवेचन करने वाले शास्त्र निश्चयनय की मुख्यता से आचार्यों ने कथन किये हैं और व्यवहार नय की मुख्यता से द्रव्य की पर द्रव्य के निमित्त से होने वाली अवस्थाओं का भी शास्त्रों में वर्णन किया है। जहाँ भी आचार्यों ने वर्णन किया है किसी न किसी अपेक्षा को लिये हुये किया है। अतः अपेक्षा को समझ लेने पर कहीं भी आगम में विरोध नहीं आता और अपेक्षा को नहीं समझने पर विरोध दिखाई देता है।

पदार्थों में अनन्तगुण हैं। सबका कथन एक साथ नहीं हो सकता इसलिए यथाक्रम प्रसङ्ग के अनुसार विवेचन ही नय का विषय कहलाता है। व्यवहार और निश्चय दोनों नयों में से किसी एक नय को ग्रहण करना और दूसरे का विरोध करना एकान्तवाद है। आचार्यों ने दोनों नयों में मध्यस्थ रहने का उपदेश दिया है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में लिखा है—

व्यवहारनिश्चयौ यः, प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः, स एव फलमविकलं शिष्यः ॥

आशय यह है कि व्यवहार और निश्चय नय को समझकर जो दोनों में से किसी एक का आग्रह नहीं करके मध्यस्थ भाव से जिनेन्द्र के उपदेश को ग्रहण करता है वही शिष्य धर्म के फल को प्राप्त करता है। तथा च—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

यहाँ आचार्य श्री ने उपदेश दिया है कि जो जिनेन्द्र के मत में प्रवेश करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इनमें से किसी एक को भी नहीं छोड़ देना क्योंकि एक को छोड़ देने से भी धर्मतीर्थ की सिद्धि नहीं होगी। व्यवहार निश्चयनय के भेद प्रभेदों को लेकर नय के अनेक भेद हो जाते हैं। प्रसङ्ग के अनुसार हमने निश्चय और व्यवहार नय का यहाँ उल्लेख किया है। अब व्यवहार और निश्चय धर्म के सम्बन्ध में बताया जा रहा है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।

अर्थात् संसार के दुःखों से छुड़ाकर जो जीवों को उत्तम सुख प्राप्त कराता है वह धर्म है। आगे उनने कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों धर्म हैं। ये तीनों रत्नत्रय कहलाते हैं। यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है।

व्यवहार, निश्चय का साधन है

किसी भी कार्य की सिद्धि व्यवहार और निश्चय दोनों से होती है उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय से होती है एक से नहीं। स्थूलरूप में कार्य की सिद्धि होना निश्चय है और कार्य की सिद्धि हेतु साधनों का अवलम्बन व्यवहार है। उदाहरण के लिये भूख लगने पर भूख का मिटाना निश्चय है और उस भूख को दूर करने के लिए भोजन बनाना, भोजन की सामग्री जुटाना और भोजन बन जाने पर भोजन करना; यह सब व्यवहार है। व्यापारी को मुनाफा कमाना निश्चय है और उस मुनाफे की प्राप्ति के लिए व्यापार करना, दूकान पर क्रय विक्रय करना यह सब पुरुषार्थ व्यवहार है। भोजन ज्यों-ज्यों उदर में पहुंचता है त्यों-त्यों भूख की व्यथा मिटती जाती है उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय के आश्रय से जीव निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करता है। निश्चय की पूर्ण सिद्धि होते ही आत्मा सम्पूर्ण कर्मों को नाशकर मोक्ष में जाती है। इसीलिये आचार्यों ने व्यवहार धर्म को निश्चय का साधन कहा है। पूज्य अमृतचन्द्र सूरि ने तत्वार्थसार में कहा है—

> निश्चयव्यवहाराभ्यां, मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
> तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं ॥

अर्थात् निश्चय और व्यवहार इन प्रकार मोक्ष मार्ग दो प्रकार कहा गया है उनमें पहला निश्चय साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार उसका साधन है। इसी को प० दौलतरामजी ने छहढाल में कहा है—

> मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरें
> तथा, अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई

इस प्रकार रत्नत्रय को दो प्रकार का स्वीकार किया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र की सिद्धि कहकर व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य स्वीकार किया है यथा— 'अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति।' पञ्चास्तिकाय की १६१ वीं गाथा में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं— 'अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्य-साधन भावो नितरामुपपन्न इति।' अर्थात् इसलिये निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य साधन भाव अच्छी तरह से घटित होता है। इसी प्रकार पञ्चास्तिकाय की १५९ वीं गाथा की टीका मे पूर्वोक्त आचार्य कहते हैं— 'निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधन भावत्वात् सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।' अर्थात् निश्चय और व्यवहार में परस्पर साध्य साधन भाव है जैसे— सोना साध्य है और सुवर्ण पाषाण साधन है।

अन्य आचार्यों ने भी कहा है— 'एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्य (प०प्र०श्लो० ७ की टीका) तथा च— 'भेद रत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गो साधको भवति अभेदरत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चयमोक्षमार्गः साध्यो भवति।' (प०प्र०पृ०१३९)।' निश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि' 'साधको व्यवहार मोक्षमार्गः साध्यो निश्चय मोक्षमार्गः' (प०प्र०पृ०१४२) और भी पढ़ने योग्य है—

'अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन भण्यते ।' (बृ०द्र०सं० गाथा १३ की टीका)

निश्चयरत्नत्रयसाधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं । (बृ०द्र०सं०पृ ८२)

व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति (बृ०द्र०सं०पृ०१७८)

निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सम्भवतीति (पं०का०गा०१०६ की टीका)

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि व्यवहार रत्नत्रय; निश्चय रत्नत्रय का साधन है। अत: व्यवहार रत्नत्रय जिसको मुनि और श्रावक धर्म कहते हैं उसका पालन किये बिना त्रिकाल में भी निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति हो नहीं सकती। प्रत्येक कार्य में साधन पहले जुटाये जाते हैं तब कहीं साध्य (कार्य) की सिद्धि होती है। पहले निश्चय होता है पश्चात् व्यवहार होता है यह कहना भूल में भूल है। भला विचारने की बात है भूख पहले मिट जाये तो ऐसा कौन बुद्धिमान है जो भोजन बनाने और भोजन करने आदि का श्रम करे। यदि विद्यार्थी परीक्षा पहले पास करले तो फिर पीछे उसे विद्यालय में जाने की आवश्यकता ही क्या रही? मुनाफा पहले मिल जाये तो व्यापार पीछे क्यों करे? गङ्गा पार करने की इच्छा वाला व्यक्ति यदि पहले पार हो जाये तो फिर नाव में बैठने और गङ्गा पार करने का पुरुषार्थ पीछे क्यों करे?

निश्चय रत्नत्रय को सीधा मोक्ष का कारण बताया और व्यवहार रत्नत्रय को परम्परा से। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि व्यवहार धर्म व्यर्थ है या हेय है। जब तक निश्चय की पूर्ण सिद्धि नहीं होती व्यवहार रत्नत्रय का अवलम्बन बना रहता है। ज्यों-ज्यों मुनिराज गुण श्रेणी निर्जरा करते हुये गुणस्थानों में ऊपर चढते जाते हैं त्यों-त्यों निश्चय रत्नत्रय बढ़ता जाता है और जब चौदहवें गुण स्थान के अन्त में पहुंचते हैं तब रत्नत्रय की पूर्णता होती है। व्यवहार स्वय छूट जाता है। जिस प्रकार नाव मे बैठे हुये यात्री को नदी के उस पार पहुँचने पर नाव, नदी और नाविक ये सब छूट जाते हैं किसी को उनके छोड़ने का उपदेश देने की आवश्यकता नही, उसी प्रकार व्यवहार धर्म को छोड़ने के उपदेश की आवश्यकता नहीं है अपितु उसके भले प्रकार पालन के उपदेश की आवश्यकता है। जब तक निश्चय की पूर्ण सिद्धि न हो जाय, व्यवहार धर्म के पालन की पूर्ण आवश्यकता है और तब तक व्यवहार धर्म उपादेय ही है, हेय नहीं है।

अनादिकाल से जो अनन्त सिद्ध हुये हैं वे सब मनुष्य पर्याय, उत्तमकुल कर्मभूमि आर्य खण्ड में जन्म लेकर मुनि धर्म स्वीकार कर ही मोक्ष गये हैं और भविष्य में भी जो मोक्ष जायेंगे वेभी उक्त साधनों से ही जायेंगे अत: व्यवहार धर्म को हेय मानना सर्वथा अनुचित है।

निमित्त व उपादान कारण

किसी भी कार्य की सिद्धि मे अनेक कारण या साधन होते हैं बिना कारण के कार्य की सिद्धि नहीं होती। उन कारणों में मुख्य दो कारण है। एक उपादान कारण दूसरा निमित्त कारण। जो कार्य रूप में परिणमित होता है वह उपादान कारण है और कार्य की उत्पत्ति में जो-जो पर द्रव्य सहायक होते हैं वे सब निमित्त कारण हैं जैसे घड़ा बनने में मिट्टी तो उपादान कारण है और कुंभकार, चक्का, पानी, डण्डा आदि सब निमित्त कारण हैं। न तो उपादान की अयोग्यता होने पर कार्य सिद्धि होती है

और न निमित्त कारण (साधनों) की अयोग्यता होने पर कार्य सिद्धि होती है अतः कार्य सिद्धि में किसी एक कारण की योग्यता को श्रेय न होकर दोनों कारणों को श्रेय है।

मोक्षमार्ग में सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन के प्राप्त करने की आवश्यकता है। इसकी प्राप्ति में उपादान कारण स्वयं आत्मा है और निमित्त कारण अनेक हैं जैसे— आत्मा का भव्य होना, शुभोपयोग होना, शुभलेश्या, जाग्रत अवस्था, मनुष्य हो तो कम से कम ८ वर्ष और एक अन्तर्मुहूर्त की आयु होना; साथ ही करणलब्धि के भाव तथा दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होना। इन कारणों में कोई भी कारण की अयोग्यता हो तो सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। वीतराग जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन, पूजन, वन्दना, शास्त्र श्रवण, गुरु उपदेश, स्वाध्याय आदि सम्यग्दर्शन के बाह्य निमित्त कारण हैं। इनके मिलने पर अन्तरङ्ग कारण न हों तो भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

यह बात हम ऊपर लिख चुके हैं कि व्यवहार और निश्चय दोनों धर्म उत्तम सुख (मोक्ष) प्राप्त करने में सहायक हैं अतः दोनों को आचार्यों ने धर्म कहा है। व्यवहार धर्म में शुभोपयोग (पुण्यभाव) की मुख्यता होने से उसे अधर्म कहना अज्ञानता है। यदि शुभोपयोग को अधर्म माना जायगा तो धर्म ध्यान भी अधर्म हो जाएगा और श्रावक धर्म एवं मुनि धर्म भी अधर्म हो जायेंगे। यहां तक कि जिन मन्दिर बनवाना, धर्म का उपदेश देना, शास्त्र लिखना, प्रतिष्ठायें कराना, व्रत उपवास, श्रावक के षट् कर्म, ये सब अधर्म हो जायेंगे इन्हें करने वाला अधर्मी बन जायगा। अधिक क्या कहें, भव्य जीवों के उपकार की भावना से आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द का रचित समयसार, नियमसार आदि शास्त्र भी अधर्म हो जायेगा। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द एवं अन्य आचार्य भी अधर्मी बन जायेंगे। शास्त्र की गद्दी पर बैठकर पुण्यभाव अर्थात् शुभोपयोग या व्यवहार धर्म को अधर्म कहने वाला स्वयं भी अधर्मी हो जायेगा। क्योंकि धर्म का उपदेश देना भी शुभोपयोग है।

पुण्यभाव संसार का कारण व हेय नहीं

क्या पुण्य भाव (शुभोपयोग) दया, दान जिन पूजन, धर्मोपदेश, व्रत पालन आदि केवल बन्ध और संसार के कारण हैं ? नहीं। सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग पुण्यबन्ध के साथ-साथ शुद्धोपयोग का कारण होने से संवर व निर्जरा का भी कारण है अतः वह संसार बढ़ाने वाला नहीं है अपितु संसार घटाने वाला है जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ, संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं, जइ वि णिदाणं ण सो कुणइ ॥भा०सं०॥

आचार्य देवसेन भाव संग्रह में स्पष्ट कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य कभी संसार का कारण नहीं हो सकता। अगर निदान सहित न हो तो यह नियम से मोक्ष का कारण है। आगे पुनः वे कहते हैं—

तम्हा सम्मादिट्ठी, पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवइ।
इय णाऊण गिहत्थो, पुण्णं चायर जत्तेण ॥४२४ भा०सं०॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण है ऐसा समझ कर गृहस्थ को पुण्य का आचरण

करना चाहिये। प्रवचनसार में भी लिखा है कि 'पुण्णफला अरहंता' अर्थात् जो भी अरहंत होते हैं वे पुण्य के फल से ही होते हैं। इस प्रकार अनेक आगम प्रमाणों से सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन सहित शुभोपयोग (पुण्यभाव); पुण्यबन्ध के साथ संवर व निर्जरा का भी कारण है। अब रही मिथ्यात्व अवस्था में किये जाने वाले पुण्य की बात सो वह भी व्यर्थ नहीं है उससे पुण्यबन्ध तो होता ही है साथ ही वह सम्यक्त्व उत्पन्न करने का भी साधन है। धवलग्रन्थ में श्री वीरसेन स्वामी के लिखने का भावार्थ है कि 'जिनेन्द्र-पूजन व भक्ति जो कि शुभोपयोग के ही अंश हैं वे अनादिकाल से लगे हुये निकाचित मिथ्यात्व कर्म को नाश कर देते हैं क्योंकि शुभोपयोग के होने पर ही करणलब्धि होती है और करणलब्धि के होने पर ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।' अतः शुभोपयोग व्यर्थ या हेय नहीं है।

निश्चय धर्म का लक्षण— श्री पं० दौलतराम जी के छहढाला के अनुसार निश्चय रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप धर्म) का लक्षण निम्न प्रकार है— पर द्रव्यों से अपने आत्मा को सर्वथा भिन्न रूप में श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है। अपनी आत्मा के स्वरूप में लीन होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। यही शुद्धोपयोग, स्वरूपाचरण है। जब ये तीनों एक साथ हो जाते हैं तब आत्मा एक ही अन्तर्मुहूर्त में मुनि अवस्था में घातिया कर्मों को नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिना मुनि बने निश्चय रत्नत्रय नहीं होता अतः यह सिद्ध है कि बिना व्यवहार के निश्चय होता नहीं और इसीलिये व्यवहार रत्नत्रय का पहले अवलम्बन लेना अनिवार्य है।

व्यवहार धर्म का लक्षण— इसके अन्तर्गत मूल में व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आते हैं अतः इन्हीं का भिन्न-२ लक्षण यहाँ लिखा जा रहा है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन— सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और धर्म का श्रद्धान करना। इसके आठ अङ्ग हैं। पच्चीस दोष रहित होने पर यह निर्मल बना रहता है। सर्व प्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है जिसका उत्कृष्ट और जघन्य समय अन्तर्मुहूर्त मात्र है। दूसरा क्षयोपशम सम्यक्त्व है। जिसका जघन्य समय अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट समय छियासठ सागर से कुछ अधिक है। तीसरा क्षायिक सम्यक्त्व है जो कि एक बार प्राप्त होने के बाद अनन्तकाल तक आत्मा से छूटता नहीं। यह दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और अनन्तानुबन्धी चारों कषाय के सर्वथा अभाव में कर्म भूमि के मनुष्य को केवली या श्रुत-केवली के पादमूल में ही होता है तथा यह या तो उसी भव में या तीसरे अथवा चौथे भव में नियम से मोक्ष जाता है। सम्यक्त्व के; वीतराग और सराग, निसर्गज और अधिगमज एवं दश प्रकार के और भी भेद कहे गये हैं।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान— पदार्थ के स्वरूप को न तो कम, न अधिक, जैसा का तैसा; संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित यथार्थ जानना सो सम्यग्ज्ञान है। वह शास्त्र स्वाध्याय; धर्मोपदेश श्रवण आदि से होता है। जिनागम चार अनुयोगों में विभक्त हैं अतः सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिये चारों अनुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये। मात्र द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को पढ़कर कोई निर्णय करना उचित नहीं।

व्यवहार सम्यक्चारित्र— सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य ने चारित्र का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं' अर्थात्— अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना चारित्र है।

हरिवंश पुराण मे लिखा है— 'शुभक्रिया सुवृत्तिश्च चरित्रमिति वर्ण्यते' इसी प्रकार क्रमशः मूलाचार और ज्ञानार्णव महाशास्त्र मे भी लिखा है—

'चारित्र पापक्रियानिवृत्तं' 'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण' आशय यह है कि पापक्रियाओं से निवृत्ति और शुभ (पुण्य) क्रियाओं में प्रवृत्ति को आचार्यों ने चारित्र कहा है। यह चारित्र सम्यक्त्व के साथ होने पर सम्यक्चारित्र कहा जाता है तथा उत्तरोत्तर गुणस्थानों में चढ़ते हुये पुण्यबन्ध के साथ-साथ असंख्यात गुणी निर्जरा का कारण है। यही व्यवहार सम्यक्चारित्र; निश्चयचारित्र (शुद्धोपयोग) की उत्पत्ति का कारण है। बिना व्यवहार के निश्चय की प्राप्ति आकाश कुसुम के समान असम्भव है। श्री पं० आशाधर जी ने जो अनगार धर्मामृत में लिखा है वह ध्यान देने योग्य है वे लिखते हैं—

व्यवहारास्पराचीन: निश्चयं य. चिकीर्षति ।
बीजादिना बिनामूढ:, स शस्यानि सिसृक्षति ॥अ०ध०॥

अर्थात् जो मनुष्य व्यवहार के बिना निश्चय को प्राप्त करना चाहता है वह मूर्ख, बीज के बिना ही धान्य उत्पन्न करना चाहता है।

व्रत, समिति, गुप्ति, मूलगुण, अणुव्रत, महाव्रत ये सब व्यवहार सम्यक्चारित्र हैं। चारित्र; सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है—

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसंगविरतानां ।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससंगानां ॥र०क०॥

समन्तभद्र आदि आचार्यों ने चारित्र का यही स्वरूप व भेद कहे हैं। सकलचारित्र मुनियों के होता है। विकल चारित्र श्रावकों के होता है। बिना चारित्र के सम्यग्दृष्टि की आगे के गुणस्थानों मे प्रगति नहीं होती है अत: सम्यग्दृष्टि प्रत्येक क्षण मुनि बनने की भावना रखता है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात–ये भी चारित्र के भेद हैं। कलिकाल में मुनियों के सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र हैं। इनका निर्दोष पालन करने वाले एवं मूलगुणों में दत्तचित्त रहने वाले मुनि; स्वर्ग में देव ही नहीं होते अपितु सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र, लोकपाल, दक्षिणेन्द्र और लौकान्तिक देव होकर दूसरे भव मे नियम से मोक्ष के अधिकारी भी हो सकते हैं।

लेख का सार यह है कि मोक्षमार्ग दो हैं– निश्चय व व्यवहार। निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है। बिना व्यवहार मोक्षमार्ग के निश्चय की प्राप्ति असम्भव है अत: व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है यह समझकर सबको व्यवहार मोक्षमार्ग का निश्चय के ध्येय के साथ अवलम्बन लेना चाहिये। व्यवहार बिगड जाने से ही मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है। आत्म कल्याण के इच्छुक को दोनों प्रकार के रत्नत्रय का पालन करना चाहिये। इतिशम्

द्रव्यलिंग और भावलिंग

☐ धर्मालङ्कार पं० हेमचन्द्रजी जैन शास्त्री, एम०ए० अजमेर

वर्तमान में विश्ववन्द्य, जगदुद्धारक स्वपर कल्याणकारक, आत्मवेत्ता, परमवीतराग, सर्वज्ञ, परमभट्टारक श्री १००८ महावीर स्वामी का धर्म चक्र प्रवर्तन काल चल रहा है। उनकी सर्वसत्व हितैषिणी वीतराग वाणी का आख्यान उत्तर वर्ती केवली, गणधर, श्रुतकेवली, अङ्ग पूर्वधारी अध्यात्मवेत्ताओं ने किया है। इस युग के अध्यात्म रस रसिक आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा जिनवाणी की अपूर्व प्रभावना हुई और आज २५०२ वर्ष तक वही वीर हिमाचल से प्रसूत हुई वाग्गङ्गा विविधनय कल्लोल विमला होकर अध्यात्म सेवियों को अपने निर्मल जल से आप्लावित करती आ रही है। विद्वद्वर हंस इस ज्ञान गङ्गा मे विचरण करते हैं, नय लहरियो का आनन्द लेते हैं, आत्मानन्दानुभव रस का मोती चुगकर अपनी ज्ञान क्षुधा शान्ति करते है। फलत वे इस निकृष्ट हुण्डाव सर्पिणी पञ्चमकाल में भी आत्मोत्थान करते हुए साक्षात्स्वर्ग और परम्परया अपवर्ग के अधिकारी होते हैं।

जब तक त्रिलोक और त्रैकाल्यषटक् के ज्ञाता सर्वज्ञ देव बने रहे तब तक सभी तत्वो का साक्षात् निर्णय प्रत्यक्ष हुआ करता था। ६३ साल तक यह प्रवृत्ति रही। शङ्काकार विश्वस्त था कि उसकी शङ्का का निराकरण पूर्णतया हो जाता है। बाद में अङ्ग-पूर्व की सैकडों वर्षों तक धारा बहती रही। भगवान की वाणी के उपासक और श्रद्धालु उसी धारा में निमज्जित होकर अपने परिणामो को जांचने का प्रयत्न करते रहे और जैसे एक रक्त परीक्षण चिकित्सक रक्त के रङ्ग, प्रभाव और कीटाणुओं को देखकर निश्चय करता है वैसे ही ये अध्यात्म जिज्ञासु अपनी आंतरिक भाव-प्रणाली को जीवन के प्रति समय सावधानी से जांचते रहे और अध्यात्म में गहरे उतरते गये। परिणामतः उनकी इस परीक्षा का परिणाम आत्म शोधन होता गया और वे इस अपार भवार्णव को पार करने मे उद्यमशील हुए, परन्तु आज वह समय आ गया है जब जिनवाणी की उपासना या तो एकांगी है या अश्रद्धापूर्ण है, तर्कों से भरी हुई। अध्येता राग, द्वेष, पक्षपात की साक्षात् मूर्तियाँ हैं। यश कामना रग-रग में भरी हुई है। कलुषित मानव अध्येता बनकर भी वस्तु तत्व का अपूर्व आनन्द नहीं ले पाता है। केवली के अभाव में समस्या दिनों-दिन दूभर होती जा रही है। भगवान वीतराग की वाणी की ओट में अपनी मान्यता को महत्व दिया जा रहा है। परिपाकतः दलबन्दी पक्षपात, मतभेद कुतर्क का आश्रय पाकर अश्रद्धा का पोषण हो रहा है, जो आत्मा के कल्याण में बाधक रहा है और सदा ही बना रहेगा। मेरी धारणा है कि यदि ऐसी अवस्था पनपती रही तो आज के मनीषी मिथ्यात्व के गहन अन्धकार से मुक्ति नहीं पा सकेंगे।

ऐदं युगीन मनीषियों ने उपलब्ध वीतराग वाणी का तर्क पूर्ण विलोडन किया है। तत्वार्थ की बाल की खाल निकाल डाली है। पर इसका फल अच्छा निकला है या बुरा, यह तो भुक्तभोगी ही जाने, पर मेरा निजी विश्वास है कि उन्होंने अपने पूर्वजों से क्या अधिक प्राप्त किया है, इस पर उनका दावा कठिन ही है। आज निश्चय-व्यवहार, निमित्तोपादान, क्रमबद्ध पर्याय, द्रव्यलिंग-भावलिंग, भव्य-अभव्य, श्रद्धा और आचार आदि अनेक विषय ऊहापोह का स्थान बन गये हैं जिन पर जैन धार्मिक मनीषी दल अपनी विचार धाराओं को प्रकट करता आ रहा है। इनके विचारों में परिपक्वता और स्पष्टता है परन्तु उनमें नयापेक्ष या समन्वयनीति की कमी के कारण जो उलझने खड़ी हो जाती हैं उनका निर्णय कौन दे और कौन माने ? इस दुरूह समस्या का समाधान किसके द्वारा हो ? यह विचारणीय प्रश्न है। इसी समस्या को सुलझाने के लिए आचार्य विद्यानंदि ने अपने आप्त परीक्षा ग्रन्थ में कहा है—

मोहाक्रान्तान्न भवति गुरो, मोक्ष मार्गं प्रणीतिः,
नैते तस्याः सकलकलुषध्वंसजा स्वात्म शक्तिः ।
तस्मै वन्द्यः परम गुरुरिह क्षीण मोहस्त्वमर्हन्,
साक्षात्कुर्वन् सकल विषयान् तत्त्वानि नाथ ।।

अर्थात् मोहाक्रांत व्यक्ति के द्वारा मोक्षमार्ग का प्रणयन नहीं हो सकता है। आज का मानव अहंकारी ही नहीं, मायाचारी भी है। उसके मानस में साक्षात्सत्य का आभास कदापि नहीं हो सकता है। समय स्थिति पर विचार रखते हुये श्री देव सेनाचार्य आलाप पद्धति में जिज्ञासुओं को एक आदेश देते हुए कहते हैं।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं, नान्यथा वादिनो जिनाः ।।

भगवान जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्व विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म है वह हेतुओं से बाधित नहीं होता है अतः आज्ञा प्रमाण उसे ग्रहण करना चाहिए। वीतराग जिनेन्द्र अन्यथा प्ररूपण नहीं करते हैं।

इन दोनों आदेशों को दृष्टि में रखते हुए विचारना है कि लिंग निर्णय कैसे किया जाये ? हमारे आद्य आध्यात्मिक आचार्य कुन्द-कुन्द, जिन्हें धार्मिक जनता सदा से स्मरण करती आई है और जो मङ्गलाचरण में इस प्रकार उदाहृत किये जाते रहे हैं।

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्द कुन्दार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं ।।

अभिप्राय यह है कि आचार्य कुन्द-कुन्द का अन्वय चला है। सहस्त्रों प्रशस्तियों और पट्टावलियों में आपका प्रमुख स्थान है। वे लिंग निर्णय देते हुए निम्न गाथाएँ उपस्थित करते हैं—

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि ।।

पंच महव्वय जुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होदि।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो, सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥
दुइयं च वुत्तलिंगम् उक्किट्ठ अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदी भासेण मोणेण ॥
लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सु एय कालम्मि ।
अज्जिय वि एक वत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥सू०प्रा०॥

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है— पहिला जिनेन्द्र का रूप (लिंग) है। दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का और तृतीय आर्यिकाओं का लिंग है चौथा लिंग दर्शन में नहीं है अर्थात् जिन शासन में लिंग तीन कहे गये है; न कम हैं और न अधिक। पांच महाव्रतों से सहित तीन गुप्तियों युक्त, निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गगामी ही संयत है और वही नियम से वंदनीय है। दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावक का है इस लिंग का धारी श्रावक भिक्षावृत्ति से मौनपूर्वक हाथ या पात्र में भोजन करता है। तृतीय लिंग स्त्रियों का है। ये दिन में एक बार नियम से भोजन करती हैं। आर्यिका एक वस्त्र धारिणी होती हैं। 'अपि' शब्द से क्षुल्लिका संव्यान वस्त्र धारक होती है पर भोजन के समय उपरिवस्त्र को उतार कर ही भोजन करती है।

द्वितीय लिंग का स्पष्टीकरण इस प्रकार उपलब्ध होता है। देशव्रती पहिली प्रतिमा से छह प्रतिमाओं तक जघन्य; सात, आठ और नवमी प्रतिमाधारी मध्यम और दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक जैन शासन में वर्णित हैं। इनमें ११वीं प्रतिमाधारी श्रावक दो प्रकार का होता है। पहिला क्षुल्लक एक वस्त्रधारी और दूसरा ऐलक केवल कोपीनधारी। कौपीनधारी नियम से रात्रि प्रतिमा योग धारण करता है। केश लोंच करता है। पीछी धारण करता हुआ हाथों में बैठकर आहार लेता है। श्रावकों के लिए वीर चर्या, आतपनादि योग, सिद्धांत रहस्य ग्रन्थों का पठन-पाठन निषिद्ध है।

उल्लिखित चर्या बाह्य लिंग की अपेक्षा से कथन की गई है। इसका बाह्यपना उसी प्रकार है जिस प्रकार तपों में बाह्य तप हैं। ये बाह्य तप बाहिरी रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं और आचार्यों की मान्यता के अनुसार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के ही पाये जाते हैं। लोक व्यवहार में इनकी ही महत्ता है। ये एक बार या अनेक बार किये जाते है। परन्तु ध्यान रहे कि लिंग धारण की व्यवस्था इस प्रकार की नहीं है। लिंग एक बार धारण करने पर एक जीवन में तब तक नहीं बदला जाता है जब तक लिंगी की दीक्षा का छेद न कर दिया जाय। ये लिंग ही पात्र की पहिचान का कारण हैं। साथ ही दाता इनके रूपों को देखकर ही आहार, वैय्यावृत्य आदि पुण्य कार्यों में प्रवृत्त होता है। जहाँ तक मोक्षमार्ग साधना का प्रश्न है वहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिना भावलिंग के द्रव्यलिंग का धारण मोक्ष-मार्गोपयोगी नहीं है। व्यर्थ का काय क्लेश है। संवर और निर्जरा का कारण तो भावलिंग ही है द्रव्य-लिंग नहीं। यह दूसरी बात है कि भावलिंगी भक्तिक इनके बाह्य वेश का दर्शन कर पुण्य लाभ कर जाते हैं परन्तु द्रव्यलिंगधारी स्वयं आत्म कल्याण नहीं कर सकते। इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द की निम्न गाथायें मननीय हैं—

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्जभावं, किं कीरइ दव्वलिंगेण ।।
भाव विमुत्तोमुत्तो, ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंथ अब्भंतरं धीर ।।
तुसमासं घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ ।।
भावेण होइ णग्गो, बाहिर लिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ।।
अंगाइ दस य दुण्णि य चउदस पुव्वाइं सयल सुयणाणं ।
पढिओ वि भव्वसेणो, ण भाव सवणत्तण पत्तो ।।
अवरोत्ति दव्व सवणो दंसण वर णाणचरणपब्भट्ठो ।
दीवायणुत्तिणामो अणंत संसारिओ जाओ ।।

संयमी भाव से ही लिंगधारी होता है। द्रव्य वेष से लिंगी नहीं होता है। इसलिये भाव विशुद्धि करे। द्रव्य लिंग मात्र धारण करने से क्या होता है। भावों से जो युक्त हुआ है वही मुक्त है। बांधवादि से मुक्त, मुक्त नहीं है। ऐसा समझकर बांधवादि में ममता त्यागकर भावलिंगी बने।

महानुभाव शिव भूति मुनि तुषमास की घोषणा करते हुये भाव विशुद्धि के कारण ही केवलज्ञानी हुये थे। बाहिरी लिंगी की नग्नता व्यर्थ है। नग्नता तो भाव की ही होना चाहिये क्योंकि कर्म प्रकृतियों का नाश तो भाव पूर्वक द्रव्य से ही होता है। द्वादश अङ्ग और चतुर्दश पूर्व रूप श्रुत ज्ञान का अध्ययन कर लेने पर भी भव्यसेन भाव श्रमणत्व को प्राप्त नहीं हुआ। दूसरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र से भ्रष्ट द्रव्य श्रमण द्वीपायन अनन्त संसारी हो गया।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में कितने ही सम्प्रदायों की उत्पत्ति हो चुकी थी और इन्हें दिगम्बर की स्थापना के लिये अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा था। आपको द्रव्य नग्नत्व तो अभीष्ट था ही परन्तु वह भाव सहित होना चाहिए ऐसी परम्परा की दृढ़ता उन्हें विशेष रूप से पालन करानी थी। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अकेले द्रव्यलिंग की स्थान-स्थान पर निन्दा की है। उन पुरुषों को धन्य बताया है जो भावलिंगी होकर आत्म कल्याण में उद्युक्त हैं। यह तो स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि भावलिङ्ग बिना द्रव्यलिङ्ग धारण किए कदापि नहीं होता है। बिना केशलुंच और नग्नत्व धारण किये कोई भी व्यक्ति सकल संयमी नहीं होता है। सत्यांश यह है कि दिगम्बरत्व की मूल प्रतिष्ठा का कारण नग्नत्व ही है। आकिंचन्य धर्म और अपरिग्रह महाव्रत तो अन्य सम्प्रदायों ने भी स्वीकृत किये हैं परन्तु नग्नत्व तो वे स्वीकृत नहीं करते हैं। उल्लिखित विचारणा उपदेश एवं चरणानुयोग दृष्टिकोण को लेकर की गई है क्योंकि इसमें आचरण व्यवहार की मुख्यता है और लोक व्यवहार सदा से ही चारित्रानुसार चला आया है, यह निश्चित है।

अब भावपेक्षा भी विचार आवश्यक है। करणानुयोग शास्त्र में यथार्थ निश्चय किये गये हैं।

यहां गणित की कथनी में अनुमति, प्रदर्शन और क्रिया कांड का महत्व नहीं है। गोम्मटसार कर्ता आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती गुणस्थान का स्वरूप भावों से ही व्यक्त करते हैं। भावों के उतार चढ़ाव के कारण एक जीव का यद्यपि बाह्यलिंग एक सा रहता है। पर गुणस्थान बदलते रहते हैं। गुणस्थान कुल चौदह हैं जिनके द्वारा अनन्त संसार में भ्रमण करने वाले तथा संसार से मुक्ति के लिये उद्यम करने वाले अनन्त प्राणियों का संग्रहीकरण किया गया है। प्रथम तीन गुणस्थान संसार भ्रमणशील संसारी के हैं जिनका मोक्षमार्ग में कोई महत्व नहीं है या स्वल्प महत्व है। परन्तु चार से चौदह तक गुणस्थान मोक्षमार्ग के ही होते हैं। विशेषत: चतुर्थ गुणस्थान सम्यग्दृष्टि, पांचवां देशविरत श्रावक और छठे से लेकर चौदहवें तक दिगम्बर मुनियों के ही होते हैं। इनमें चौथा व पाँचवा गुण स्थान धारण करने वाले परम्परया मोक्ष के अधिकारी होते हैं। आर्यिका के पाँचवा ही गुण स्थान होता है क्यों कि वह वस्त्रधारी है। स्त्री पर्याय में ५वाँ गुण स्थान इसलिए है कि उसके वस्त्र त्याग सम्भव नहीं है तथा छठे आदि गुण स्थानों की पात्रता उसमें नहीं है। स्त्री पर्याय की चरमावस्था संयम की यही है। उसे महाव्रती उपचार से कहा जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो इसे भी मुक्तिगामी स्वीकृत किया होता, परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्त्री मुक्ति का बड़ी दृढ़ता से विरोध करते हैं। दिगम्बरत्व या नग्नत्व के साथ स्त्री मुक्ति का या वस्त्र सहित मुक्ति का सर्वथा विरोध है।

वर्तमान समय में क्षायिक सम्यग्दर्शन, अवधिज्ञान, मन: पर्यय ज्ञान श्रुतकेवली, केवल ज्ञान, क्षपक श्रेणी आदि का सद्भाव नहीं होने से कर्म-क्षय का इस भव में प्रश्न ही नहीं उठता है। उत्कृष्ट स्थिति का पाप और पुण्य बन्ध भी आधुनिक प्राणी उपार्जन नहीं कर सकते हैं। वज्रवृषभ नाराच सहनन के अभाव में सप्तम नरक सर्वार्थ सिद्धि व मोक्ष गमन भी नहीं है। ऐसी काल की महिमा के कारण समस्त त्यागी वर्ग की सीमा सात गुण स्थानों तक ही सीमित हो जाती है। धर्मध्यान का फल स्वर्ग है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अध्येय है फिर भी छठे गुण स्थान तक होते ही हैं। धर्मध्यान की वृत्ति में परालम्बन अपेक्षित है फलत: आज चाहे द्रव्यलिंगी हो या भावलिंगी साधु हो, मोक्षाधिकारी तो हो नहीं सकता, उसे स्वर्गादि की प्राप्ति ही हो सकती है।

अब प्रश्न उठता है द्रव्यलिंग और भावलिंग की पहिचान का। द्रव्यलिंग और भावलिंग के मूल में सम्यक्त्व ही मुख्य है जो कि भावाश्रित अस्थाई और सूक्ष्म है। स्थिरता तो केवल द्रव्यलिंग की है जो एक बार ग्रहण करने पर जीवनांत तक विद्यमान रहती है। उसका परिवर्तन तो मार्ग बहिर्गत होना ही है। जहाँ लिंगों के भेद किये गये हैं वहाँ ३ ही भेद आचार्यों को अभिप्रेत हैं। १. लिङ्ग २. कुलिंग और ३. अलिंग। इसमें लिंग के दो भेद हुए हैं— भावलिंग और द्रव्यलिंग। ऊपर कहे गये ३ लिंग मोक्षमार्ग के अन्तर्गत हैं बाकी सम्यक्त्व रहित होने पर ये ही लिंग द्रव्यलिंग हो जाते हैं। इन तीनों से भिन्न कुलिंग हैं क्योंकि उनमें रत्नत्रय की कोई झलक नहीं मिलती है। मार्ग रहित उन्मार्ग हैं अत: आत्म कल्याण का प्रश्न ही नहीं उठता है। इन दोनों से रहित अलिंग होता है जो उपेक्षणीय है।

इस विवेचन से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि सम्यक्त्व सहित लिंग ही भावलिंग है। इस भाव-लिंग को पहिचानना नितान्त असम्भव है। कारण स्पष्ट है कि वह केवल ज्ञान गम्य है। वैसे भी विचार किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि अभी क्षायिक सम्यक्त्व तो सम्भव ही नहीं है। बाकी क्षयोपशम

और उपशम ही वर्तमान में सम्भव है। उपशम सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त माना है अतः निश्चय करना कठिन है कि वह सम्यक्त्व कब हुआ और कब बदल गया। हां, क्षयोपशम अवश्य दीर्घकाल तक रह सकता है। परन्तु उसमें सम्यक्त्व प्रकृति के दोषों के कारण स्थूल ज्ञानी कैसे जान सकता है कि ये दोष मिथ्यात्वजन्य हैं या सम्यक्त्व प्रकृतिजन्य। इस संशोपज्ञ में निर्णय किस प्रकार हो सकता है? पण्डित प्रवर टोडरमल जी ने इस विषयक जो भी सूक्ष्म विडोलन किया है वह मननीय है, परन्तु वह भी बाह्य चिन्हापेक्षक है। प्रत्यक्ष निर्णयात्मक नहीं है। अब तो केवल बाह्य चिन्हों से ही अनुमान किया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति द्रव्यलिंगी है या भावलिङ्गी। जिसका बाह्याचरण शास्त्र सम्मत है और जो अपने श्रद्धान को भेद विज्ञान रस से परिप्लावित रखता है उसे मोक्षमार्गी कहना चाहिए और बाह्याचरण में निर्दोष है वह भजनीय है तथा जिसका बाह्याचरण ही दूषित है उसे स्वपरात्मविघातक समझना चाहिये।

शास्त्रों में द्रव्यलिंगी साधु नव ग्रैवेयक तक जाता है और वह अङ्ग पूर्व का ज्ञानी भी हो सकता है। भव्य सेन मुनि की कथा सर्व ज्ञात है। इस कथा में प्रथमानुयोगी निर्णय है न कि करणानुयोग का। दक्षिण मथुरा से आये हुए क्षुल्लक का विद्या द्वारा कमण्डल का पानी शोषण, हरिततृणाङ्कुरोत्पादन आदि क्रिया करने पर अश्रद्धानमूलक अनर्गल प्रवृत्ति करने पर जब वे ग्रैवेयक जा सकते हैं तो नकुल और सहदेव के धर्मानुराग का क्या रूप होना चाहिए, यह तत्ववेत्ता ही जाने। द्रव्यलिंगीका निर्दोष चारित्र ही उन्हें कषायशमन कराता है। और इसी के बल पर वे नवग्रैवेयक तक जा पाते हैं। जब कि अलिंगी १२वें स्वर्ग तक पहुंचते हैं। जो श्रावक लभ्य १६वें स्वर्ग से भी नीचे हैं।

वर्तमान पञ्चमकालीन त्यागी वर्ग के व्रतों के फलस्वरूप सबसे सरल और समीपवर्ती मार्ग है उस सम्बन्ध में आचार्य कुन्द-कुन्द की गाथायें द्रष्टव्य हैं।

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इन्दत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुच्च णिव्वुहिं जांति ॥
भरहे दुस्सय काले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्प सहाव ठिदेण्हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥

आज भी रत्नत्रय शुद्ध आत्मध्यानी इन्द्रत्व प्राप्त कर लेते हैं वे लोकान्तिक देव का पद प्राप्त कर अन्त में मोक्ष में जाते हैं। इस दुषम काल में भरत क्षेत्र में मुनि के धर्म ध्यान होता है उस आत्माश्रित संयमी को जो प्राणी नहीं मानता वह अज्ञानी है।

अभिप्राय यह है कि इस भरत क्षेत्र में धर्मध्यानी मुनि का सद्भाव आचार्य कुन्द-कुन्द को अभीष्ट है। आज के तार्किक मुनि का जो सद्भाव नही मानते हैं उन्हें इधर ध्यान देना चाहिए। त्रिलोक्य प्रज्ञाप्ति में पञ्चमकाल के अन्तिमदिन तक मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चातुर्वर्ण्य सङ्घ का सद्भाव रहेगा और वे मरण कर स्वर्ग में उत्पन्न होंगे, ये भावलिंगी ही होंगे ऐसा उल्लेख है। जब १८½ हजार वर्ष बाद भी भावलिंगी संयमी प्राप्त होंगे तो अभी तो पञ्चमकाल का प्रारम्भ ही है। केवल अढ़ाई हजार वर्ष ही व्यतीत हुए हैं।

२४ [illegible] श्री आ० महावीर कीर्ति

प्राचीन इतिहास की ओर दृष्टि डालने और प्रथमानुयोग की पुराण, चरित्र और कथाओं का गम्भीर अध्ययन करने से पता चलता है कि इसी क्षेत्र में सैकड़ों मुनियों का संघ विहार करता था। क्या वे सब मुनि या सकृत्स्थ श्रावक भावलिंगी ही होते थे। विदेह क्षेत्र में विहार करने वाले मुनि क्या सभी भावलिंगी हैं ? इसका उत्तर यहाँ कौन दे सकता है। हाँ ! यह बात अवश्य है कि विदेह क्षेत्र में तीर्थंकरों और केवलियों का सदा विहार होता रहता है। प्रश्नकर्ता उनसे सही समाधान प्राप्त कर लेता होगा। बाकी द्रव्यलिंग दर्शन से ही वहाँ धर्म प्रवृत्ति होती है। धार्मिक जनता सभी को गुरुवत् देती है और उन्हें आहार, वैय्यावृत्य आदि देकर अटूट पुण्य का सञ्चय करती है। वे त्यागी स्वयं क्या हैं ? अपने भाव को वे ही जानें।

इस भारतवर्ष के उत्तराखण्ड में आज से ६० वर्ष तक मुनि दर्शन का अभाव था। पण्डित प्रवर टोडरमल जी, जयचन्द जी, सदासुख जी, भूधरदास जी आदि विद्वानों ने मुनि-दर्शन नहीं किये थे। उनकी निम्न पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं वे दिगम्बर भिक्षु का दर्शन करने के लिए कितने उत्सुक थे।

करजोर भूधर बीनवे, कब मिलें वे मुनिराज।
यह आस मन की कब फलै, मेरे सरें सारे काज॥

जब से आचार्य शांतिसागर जी महाराज का दक्षिण से उत्तर की ओर पदार्पण हुआ, इस प्रांत के निवासियों को भी मुनि-दर्शन-लाभ हुआ। इनकी शिष्य परम्परा ने सारे भारत में विहार किया जिससे महती प्रभावना हुई। लोगों में चारित्र की भी उन्नति हुई, आहार परम्परा और शास्त्र पठन-पाठन की प्रथा प्रवृत्त हुई। उक्त आचार्य की शिष्य परम्परा में कई विद्वान, तपस्वी, सरल परिणामी मुनि हुए हैं जिन्होंने जिनवाणी सेवा कर स्वपर कल्याण किया है। मेरे विचार से जैन धर्म के प्रचार और प्रसार में साधु वर्ग का प्रमुख हाथ रहा है। इन मुनि वर्ग की परीक्षा की कसौटी चरणानुयोगाभिमत निर्दोष चारित्र ही है। आंतरिक भावना का अङ्कन तो केवली भगवान ही कर सकते है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भावाश्रित है। शुद्धाचरण करने वाले त्यागियों का दर्शन, समागम, वैय्यावृत्य, आहारादि दान कर कोई भी धार्मिक पाप बन्ध करेगा यह आशङ्का निर्मूल है। हाँ ! यह दूसरी बात है कि किसी को द्रव्यलिंगी कहकर अपनी कषाय का पोषण सर्वजन सुलभ है। और यह मनोवृत्ति आत्मकल्याण में सहायक न होकर बाधक ही है, ऐसी मेरी धारणा है।

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम् ॥२१॥

भावार्थ—मेरी जिनेन्द्रदेव में सदा बार-बार भक्ति हो; क्योंकि उनकी भक्ति से होने वाला सम्यग्दर्शन ही, संसार का निवारण कर मोक्ष का कारण होता है।

—देवशास्त्रगुरुपूजा

भगवान् महावीर की सर्वज्ञता

□ डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, एम०ए० पी-एच०डी० नीमच (म०प्र०)

ऐतिहासिक महापुरुष वर्द्धमान का जन्म विदेह के कुण्डपुर में ई० पू० ५९९ में हुआ था। उनके जीवन का भलीभाँति अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि दार्शनिक जगत में भगवान् महावीर की मान्यता का प्रमुख कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि थी। केवल ऐतिहासिक पुरुष होने के कारण तथा धर्मप्रचारक, प्रसारक व नेता होने से ही कोई शत-सहस्राब्दियों तक पूज्य नहीं हो सकता। विभिन्न मतों की स्थापना करने वाले भी अनेक आचार्य तथा विद्वान हुए। किन्तु उनमें से कितने नाम आज हम जानते हैं और कितने नामों की माला हम जपते हैं ? भारतीय संस्कृति में त्याग और तपस्या के परम आदर्श परमात्मा का ही प्रतिदिन नाम-स्मरण किया जाता है। भगवान् महावीर ऐसे ही परमात्मा हुए, जो सभी प्रकार के दोषों तथा बन्धनो से रहित एवं परम गुणों से सहित थे।[1] परमात्मा के ही अन्य नाम हैं—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, ब्रह्मा बुद्ध, कर्ममुक्त आत्मा।[2] किन्तु विभिन्न दर्शनों में इन शब्दो की निरुक्ति एवं व्याख्या अलग-अलग रूपों में की गई है। इसलिए प्रायः एक दर्शन का ज्ञाता दूसरे दर्शन को समझते समय अपनी मान्यताओं एवं पूर्वग्रह के अनुसार अपनी-अपनी कसौटियों पर दूसरों को कसने का प्रयत्न करते हैं, जिससे उनके साथ न्याय नहीं हो पाता।

प्रश्न यह है कि महावीर सर्वज्ञ थे या नहीं ? जैन आगम ग्रन्थों में पूर्णज्ञान से विशिष्ट भगवान् महावीर का स्तवन किया गया है। भगवान महावीर सब पदार्थों के ज्ञाता, द्रष्टा थे। काम क्रोधादि अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीत कर वे केवल-ज्ञानी बने थे। निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले वे अटल पुरुष आत्मस्वरूप में स्थिर थे; सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मविद्या के पारगामी, समस्त परिग्रहों के त्यागी, निर्भय मृत्युञ्जय एवं अजर-अमर थे।[3] जिनके केवलज्ञानी रूपीउज्ज्वल दर्पण में लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होते हैं तथा जो विकसित कमल के समान समुज्ज्वल हैं, वे महावीर भगवान् जयवन्त हों।[4] आचार्य हेमचन्द्रसूरि श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति करते

---

१ "ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।" —नियमसार, १, ५

२ णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुड ।। भावपाहुड, १५१

३ सूत्रकृताङ्ग, १, १, १

४ सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं।
पुढ पडिबिम्बं दीसइ वियसियसयवत्तगब्भगउरो वीरो ।। जयधवला

हुए कहते हैं— अनन्तज्ञान के धारक, दोषों से रहित, अबाध्य सिद्धान्त से युक्त, देवों से भी पूज्य, वीतराग सर्वज्ञ एवं हितोपदेशियों में मुख्य और स्वयम्भू श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति हेतु मैं प्रयत्न करूँगा।[1]

सर्वज्ञ का अर्थ :

जो सब को जानता है, वह सर्वज्ञ है। 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया जाता है : पदार्थ के मूल तत्त्व को जानना, समान चेतना सम्पन्न प्राणियों में वही जीव तत्त्व है जो हम में है, इसलिये अपने आपको जान लेने का अर्थ उन सभी जीवों को जान लेना है। इस अर्थ के अनुसार सभी पदार्थों को जानना देखना अभीष्ट नहीं है, किन्तु तत्त्व को जानना, देख लेना ही सब को जानना, देख लेना है। कहा भी जाता है कि 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' जो इस जीव-शरीर में व्याप्त है, वही ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। वैसे इस सारे संसार का विशद ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है, इसलिये पिण्ड में व्याप्त तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने से सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। जैनागम के वचन हैं—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।" (आचारांगसूत्र १,३,४, १२२)

आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों का भी यही सार है जो आत्मा को जानता है, वह सब को जानता है[2] और जो सब को नहीं जानता, वह एक आत्मा को भी नहीं जानता। जो जानता है, वह ज्ञान है और जो ज्ञायक है, वही ज्ञान है। जीव ज्ञान है और त्रिकालस्पर्शी द्रव्य ज्ञेय है।[3] यदि आत्मा और ज्ञान को सर्वथा भिन्न माना जाए, तो हमें अपने ही ज्ञान से अपनी ही आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकेगा। आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है, इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।[4] यदि आत्मा ज्ञान से हीन हो, तो वह ज्ञान अचेतन होने से नहीं जानेगा। इसलिये जैनदर्शन में आत्मा को ज्ञानस्वभाव कहा गया है। ज्ञान की भाँति आत्मा सर्वगत है। जिनवर सर्वगत है और जगत के सब पदार्थ जिनवरगत हैं। क्योंकि जिनवर ज्ञानमय हैं (पूर्णज्ञानी हैं) और सभी पदार्थ ज्ञान के विषय हैं, इसलिये जिनवर के विषय तथा सर्व पदार्थ जिनवरगत हैं।[5] सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नहीं है; किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान है अतः इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से वह केवलज्ञान-क्रम की अपेक्षा नहीं रखता। सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी ज्ञेय पदार्थ युगपत् प्रतिबिम्बित होते हैं। केवली भगवान के ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन एक साथ उत्पन्न हो

---

१ अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ।। स्याद्वादमंजरी, १

२ सव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किद सो सव्वाणि जाणादि ।। प्रवचनसार, ४९

तथा—एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ।।
—प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, ४ ११

३ प्रवचनसार, गाथा ३५, ३६

४ वहीं, २३

५ वहीं, २६

जाते हैं। इसलिये इस ज्ञान में किसी प्रकार का अन्तराल नहीं पड़ता।[1] इस प्रकार जैनदर्शन ने सदा त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों के प्रत्यक्ष दर्शन के अर्थ में सर्वज्ञता मानी है।[2] इन्द्रियजन्य ज्ञान तो जगत के सभी संज्ञी जीवों में पाया जाता है। किन्तु यदि सर्वज्ञ को न माना जाय तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान किसे होता है?[3] अतएव सभी तीर्थंकरों तथा जिन केवलियों को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी माना गया है।[4] जिनको पूर्ण ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर इन्द्रिय, क्रम और व्यवधानरहित तीनों लोकों के सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट हो जाता है. वे केवली कहे जाते हैं। पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान है, वह परोक्ष है और केवल जीव के द्वारा ज्ञात ज्ञान प्रत्यक्ष है।[5] मन, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार तथा प्रकाश आदि पर हैं। इसलिये इनकी सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। केवल आत्मस्वभाव को ही कारण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान का साधक कहा गया है।

डा० रमाकान्त त्रिपाठी के शब्दों में 'सर्वज्ञता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जा सकता है—(१) प्रत्येक वस्तु के सार (मूल तत्त्व) को जान लेना सर्वज्ञता है; 'जैसे ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का सार है' ऐसा जान लेना प्रत्येक वस्तु का जान लेना है, और यही सर्वज्ञता है। (२) प्रत्येक वस्तु के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना सर्वज्ञता है। मीमांसक दूसरे प्रकार की सर्वज्ञता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार पुरुष अपनी सीमित शक्तियों के कारण सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यहाँ यह विचारणीय है कि कुछ व्यक्तियों के विषय में सर्वज्ञता का निषेध किया जा सकता है, किन्तु सब के विषय में सर्वज्ञता का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि सब के विषय में सर्वज्ञता का निषेध सर्वज्ञ ही कर सकता है।[6] किसी पुरुष द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने में मीमांसकों को कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु धर्म का ज्ञान वेदों से ही हो सकता है। अतः पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है; धर्मज्ञ नहीं।[7] किन्तु जैनदर्शन में धर्मज्ञता और सर्वज्ञता में कोई अन्तर नहीं माना गया है। सर्वज्ञ होने पर धर्मज्ञता स्वयमेव प्रतिफलित हो जाती है। धर्मज्ञता सर्वज्ञता में अन्तर्भूत है।

---

१ अष्टसहस्री प्रथम परिच्छेद, कारिका ३

२ जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३०२

३ वहीं ३०३

४ से भगव अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सव्वलोए सव्वजीवाणं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ"—आचारांगसूत्र २, ३

तथा-'तज्ज्योति परंज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकलः प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥ पुरुषार्थ० १

५ प्रवचनसार, गा० ५८

६ आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका का 'फोरवर्ड' पृ० २१

७ धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केन वार्यते॥ तत्त्वसंग्रह, कारिका ३१२८ (कुमारिलभट्ट)
द्रष्टव्य है: आप्तमीमांसा—तत्त्वदीपिका, पृ० ७२

सर्वज्ञ-सिद्धि :

शबर, कुमारिल आदि मीमांसकों का कथन है कि धर्म अतीन्द्रियार्थ है। उसे हम प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते। क्योंकि पुरुष में राग, द्वेष आदि दोष पाए जाते हैं। धर्म के विषय में केवल वेद ही प्रमाण हैं।[1] मीमांसकों का यह भी कथन है कि सर्वज्ञ की प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्धि नहीं होती, इसलिये उसका अभाव मानना चाहिए। मीमांसक पहले नहीं जाने हुए पदार्थों को जानने को प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मत वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति तथा कुमारिल भट्ट इनके साथ अभाव को भी प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी ईश्वर को सब पदार्थों का ज्ञाता नहीं मानते। उनका मत है कि ईश्वर सब पदार्थों को जाने या न जाने, किन्तु वह इष्ट पदार्थों को जानता है, इतना ही पर्याप्त है। यदि ईश्वर कीड़े-मकोड़ों की संख्या गिनने बैठे, तो वह हमारे किस काम का ?[2] अतः ईश्वर के उपयोगी ज्ञान की ही प्रधानता है। क्योंकि यदि दूर तक देखने वाले को प्रमाण माना जाए तो फिर गीध पक्षियों की पूजा करनी चाहिए ?

जैनदर्शन का प्रतिपादन स्पष्ट है कि किसी एक पदार्थ का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त किए बिना सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यह कहना ठीक नहीं है कि मनुष्य के राग, द्वेष कभी विनष्ट नहीं होते। जो पदार्थ एक देश में नष्ट होते हैं, वे सर्वथा विनष्ट भी हो जाते हैं। जिस प्रकार मेघों के पटलों का आंशिक नाश होने से उनका सर्वथा विनाश भी होता है, उसी प्रकार राग आदि का आंशिक नाश होने से उनका भी सर्वथा विनाश हो जाता है।[3] प्रत्येक प्राणी के राग द्वेष आदि में दोषों की हीनाधिकता देखी जाती है। कैवल्योपलब्धि पर पुरुष के सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं। अतएव वीतराग भगवान् सर्वज्ञ हैं। राग, द्वेष व मोह के कारण मनुष्य असत्य बोलते हैं। जिसके राग, द्वेष और मोह का अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता। सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट होता है। जिस तरह सूक्ष्म पदार्थ (इन्द्रियों से अज्ञेय) जन साधारण के प्रत्यक्ष नहीं होते किन्तु अनुमेय अवश्य होते हैं। जो अनुमेय होते हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष होते हैं। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य परमाणु आदि अनुमेय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते है। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य के ग्रहण को बताने वाले ज्योतिषशास्त्र की सत्यता आदि से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। केवल सूक्ष्म ही नहीं, अन्तरित, आवृत और दूरवर्ती पदार्थों को भी हम अनुमान से जानते हैं। अतः इन पदार्थों को साक्षात् जानने वाला पुरुष सर्वज्ञ है।[4] आचार्य विद्यानन्दि ने विस्तार से सर्वज्ञ की मीमांसा करते हुए सर्वज्ञ-सिद्धि की है, उनका कथन है कि किसी जीव में दोष और आवरण की हानि पूर्ण रूप से हो सकती है क्योंकि सभी में हानि की अतिशयता (तरतमता) देखी जाती है। जिस प्रकार से अपने हेतुओं के द्वारा स्वर्णपाषाण आदि में बाह्य एवं अन्तरङ्ग मल का पूर्ण

---

१ शाबरभाष्य १, १, २

२ सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ स्याद्वादमंजरी से उद्धृत

३ देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः ।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ॥ स्याद्वादमंजरी, पृ० २३६

४ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ आप्तमीमांसा १, ५

अभाव पाया जाता है।[1] 'दोषावरण' से यहाँ अभिप्राय कर्म रूप आवरण से भिन्न अज्ञान राग-द्वेषादि हैं, जो स्व-पर परिणाम हेतु से होते हैं। धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को जानने वाला धर्म-ज्ञान से कैसे बच सकता है ? अतः सर्वज्ञ को धर्म जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नहीं है।[2] संक्षेप में, सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध है। नैयायिकों के अनुसार योग विशेष से उत्पन्न हुए अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियाँ परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों को जान लेती हैं। फिर, जो परम योगीश्वर हैं, वे सम्पूर्ण सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त कर सकते हैं ? वस्तुतः सर्वज्ञ का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है, इसलिये परमार्थ प्रत्यक्ष है। वह आत्मा का स्वभाव तथा पूर्ण ज्ञान कहा गया है। उसे ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

क्या आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है ?

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जो अर्हन्त को द्रव्य, गुण और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है।[3] अरहन्त भगवान और अपनी विशुद्ध आत्मा दोनों समान हैं। इसलिये अपनी शुद्ध आत्मा को जानने वाला सर्वज्ञ है। वास्तव में इन में कोई भेद नहीं है। किन्तु हम अज्ञानी लोग इनमें भेद करते हैं।[4] वस्तुतः आत्मा ही केवलज्ञानमूर्ति है। केवलज्ञानी आत्मा सारे संसार को और लोक में रहने वाले छहों द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों को समस्त रूप से जानता, देखता है। जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समन्वित पूर्णता के साथ कैवल्योपलब्धि होती है। व्यवहार नय के अनुसार सात तत्त्वों तथा उन पदार्थों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तथा आकार विकल्प सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना व्यवहार-चारित्र है।[5] परन्तु निश्चयनय से रत्नत्रय आत्मा को छोड़ कर अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता। इसलिए आत्मा में रुचि होना, आत्मा का अनुभव और ज्ञान होना तथा आत्मा मे लीन होना पारमार्थिक रत्नत्रय है। इसलिये चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर पूर्ण ज्ञानमय कैवल्योपलब्धि होते ही विशुद्ध आत्मा अपने आप में लीन हो जाती है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से यही कहा जा सकता है।[6] 'नियमसार' में भी कहा गया है—केवली भगवान व्यवहार दृष्टि से सभी

---

१ दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ अष्टसहस्री, कारिका ४

२ धर्मादन्यत्परिज्ञात विप्रकृष्टमशेषतः ।
येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वं निषेधनम् ॥ श्लोकवार्तिकालङ्कार

३ जो जाणदि अरहन्त दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ प्रवचनसार, गा० ८०

४ सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ॥ नियमसारकलश, २५३
(अमृतचन्द्रसूरि)

५ द्रव्यसग्रह, ४१–४२,४४

६ बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत–
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ नियमसारकलश, २७१

द्रव्यों को उनकी गुण, पर्यायों सहित देखते जानते हैं; किन्तु निश्चयनय से आत्मा को जानते, देखते हैं।[1] वस्तुतः इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। आचार्य सिद्धसेन सूरि कहते हैं कि मात्र अपने-अपने पक्ष में संलग्न सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु ये ही नय यदि परस्पर सापेक्ष हों तो सम्यक् कहे जाते हैं।[2] केवलज्ञानी सहज रूप में अपने आप का निरीक्षण करते रहते हैं। क्षायिक उपयोगी होने के कारण केवलज्ञानी का सतत आत्मा में उपयोग रहता है, उसी समय पर रूप से अन्य समस्त पदार्थों का ज्ञान भी होता है। किन्तु छद्मस्थ का उपयोग एकांगी होता है, इसलिये जिस समय वह आत्मोन्मुखी होकर समाधिनिरत होता है, उसी समय आत्मनिरीक्षण करता है। निर्विकल्प समाधिस्थित पुरुष ही विशुद्ध स्वात्मा का अनुभव करते हैं।[3] आत्मा का निश्चयनय से एक चेतना भाव स्वभाव है। आत्मा को देखना, जानना, श्रद्धान करना एवं परद्रव्य से निवृत्त होना रूपान्तर मात्र है। आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये परद्रव्य का ज्ञाता द्रष्टा, श्रद्धान-त्याग करने वाला आदि व्यवहार से कहा जाता है। यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत-भविष्य और वर्तमान की अनेक पर्यायों का हो सकता है, किन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्याय का ही होता है। जो पदार्थ किसी ज्ञान के ज्ञेय हैं, वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है।

यहां सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सर्वज्ञ के ज्ञान में असद्भूत पर्यायें भी प्रतिबिम्बित होती है? जो पर्यायें भविष्य में होने वाली हैं, जिनका सद्भाव नहीं है, वे कैसे ज्ञान का विषय बन सकती है? इसी के साथ यह प्रश्न भी सम्बद्ध है कि मन एक साथ सब पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकता है और क्रम से सब पदार्थों का ज्ञान बनता नहीं है, क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं, इसलिये जब तक युगपत् पदार्थों को न जाने तब तक सर्वज्ञ कैसे हो सकता है?

जैन आगम ग्रन्थों में "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" (तत्त्वार्थसूत्र, १,२९) के अनुसार प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायों तथा छहों द्रव्यों की समस्त अवस्थाओं को केवलज्ञान युगपत् (एक साथ) जानता है। केवलज्ञान व्यापक रूप से सभी ज्ञेय पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है।[4] इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि सर्वज्ञ के ज्ञान मे केवल वर्तमान पर्यायें ही प्रत्यक्ष होती हैं। यदि ऐसा माना जाए कि सर्वज्ञ के ज्ञान मे भूत, भविष्य की पर्यायें प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होतीं तो फिर उनमें और अल्पज्ञ में क्या अन्तर रह जायगा? फिर, भूतकाल की बातो का ज्ञान कई उपायों से कई रूपों में जाना जाता है। अतः भविष्य की पर्यायों का ज्ञान होने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए? निश्चित ही सर्वज्ञ का ज्ञान

---

१ जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ नियमसार, १५९

२ तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ सम्मतिसूत्र, १,२१

३ 'सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।' समयसार, १४४
टीका– समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च–'

४ ततः समन्ततश्चक्षुरिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
निःशेषद्रव्यपर्यायविषयं केवलं स्थितम् ॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ३५३

अतीन्द्रिय होता है तथा अनन्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करता है। वह अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्त अनुत्पन्न एवं नष्ट पर्याय को भी जानता है।[1] ज्ञान के सर्वगतत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञेय सब कुछ है। ज्ञेय तो समस्त लोकालोक है। इसलिये सभी आवरणों का क्षय होते ही पूर्णज्ञान सब को जानता है और फिर कभी सबके जानने से च्युत नहीं होता, इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।[2] जैनदर्शन में आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकाल के सर्वद्रव्यों को एवं उनकी पर्यायों को जानने वाला होने से सर्वगत है। भगवान् जिन ज्ञानमय होने से सर्वगत हैं।[3] केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और पर्याय है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।[4] एक द्रव्य को या एक पर्याय को जानने की अवस्था केवलज्ञान के पूर्व की है। सातवें गुणस्थान (आध्यात्मिक भूमिका) तक धर्म ध्यान होता है। आठवें से शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है। आठवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान से आत्मा में अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में एकत्ववितर्क अविचार नाम का द्वितीय शुक्लध्यान होता है। सयोगकेवली के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यान होता है और अयोगकेवली के व्युपरतक्रियानिवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है। द्वितीय शुक्लध्यान में योगी बिना किसी खेद के एक योग से एक द्रव्य को या एक अणु को अथवा एक पर्याय का चिन्तन करता है।[5] केवलज्ञानी सयोगी जिन सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर सूक्ष्म मन, वचन और श्वासोच्छ्वास का निरोध कर जो ध्यान करते हैं वह सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान है।[6] इससे ही पूर्णज्ञान की उपलब्धि होती है, जिससे युगपत् तीन लोक व तीन काल के द्रव्य, गुण, पर्यायों का एक साथ ज्ञान होता है।

भगवान् महावीर की सर्वज्ञता के प्रमाण :

भगवान् महावीर अपने समय में ही सर्वज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। पालित्रिपिटकों में कई स्थानों पर दीर्घतपस्वी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी विशेषणों के साथ निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र भगवान् महावीर का उल्लेख किया गया है। 'मज्झिमनिकाय' में उल्लेख है-[7] आवुस! निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। वे अपरिशेष ज्ञान-दर्शन सम्पन्न हैं। चलते, खड़े रहते, सोते-जागते सभी स्थितियों में उन्हें ज्ञान, दर्शन बना रहता। उन्होंने हमें प्रेरित किया है कि निर्ग्रन्थों! पूर्व कृत कटुक कर्मों को दुर्धर तप से नष्ट कर डालो। मन, वचन, काय को रोकने से पाप नहीं बंधते और तप करने से पुराने पाप सब दूर

---

१ अपदस सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि त णाणमदिंदिय भणिय॥ प्रवचनसार, ४१

२ 'ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवा- प्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञान सर्वगतम्।' प्रवचनसार, गा० २३ की टीका।

३ सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया॥ प्रवचनसार, २६

४ दसवैकालिकसूत्र, ४.२२

५ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ० ३८८

६ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४८६

७ मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्तन्त

हो जाते हैं। इस प्रकार नए पापों का बन्ध न होने से पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है और कर्मों का क्षय होने से दुःखों का क्षय हो जाता है। दुःखों के क्षय से वेदना नष्ट होती है और वेदना के विनाश से सभी दुःखों का नाश होता है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी तीर्थंकर ऋषभ तथा वर्द्धमान की सर्वज्ञता का उल्लेख किया है।[1] वैदिक साहित्य में भी भगवान् महावीर की सर्वज्ञता के संकेत मिलते हैं। 'स्कन्दमहापुराण' में भ० वर्द्धमान तथा केवलज्ञान का उल्लेख है।[2] तीर्थंकर ऋषभदेव का तो स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के रूप में उल्लेख किया गया है।[3] 'महाभारत' में तो यहाँ तक कहा गया है कि सर्वज्ञ ही आत्मदर्शी हो सकता है।[4] इन उल्लेखों से भगवान महावीर की सर्वज्ञता का निश्चय हो जाता है। भगवान महावीर की वाणी से प्रसूत आगम ग्रन्थों में उपलब्ध तथ्यों की वैज्ञानिकता से भी उनके सर्वज्ञ होने का प्रमाण मिल जाता है।

सर्वज्ञ के अस्तित्व की प्रमाण-सिद्धि ?

सर्वज्ञ का निषेध करने में कोई भी बाधक प्रमाण सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने वाले अनेक अनुमान प्रमाण विद्यमान हैं। जिस प्रकार क्रम से विद्या का अभ्यास करता हुआ कोई बालक आचार्य तक की शिक्षा प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार ज्ञान का क्रमिक विकास होते-होते कहीं-न-कहीं पूर्णता को अवश्य प्राप्त होता है। ज्ञान की चरम अवस्था को ही 'सर्वज्ञ' कहा जाता है। सर्वज्ञ की सत्ता निर्बाध है। इसलिए प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण उसके अस्तित्व में बाधक नहीं हैं। यदि यह कहा जाए कि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वज्ञ का बाधक है, तो प्रत्यक्ष वस्तु का कारण या वस्तु का व्यापक हो तो उसकी निवृत्ति होने से वस्तु का अभाव किया जा सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष न तो पदार्थ का कारण है और न व्यापक ही। क्योंकि प्रत्यक्ष न होने पर भी दूर-देशवर्ती पदार्थ का सद्भाव देखा जाता है। इसी प्रकार लोक से परे होने के कारण सर्वज्ञ हैं, किन्तु दृष्टिगत न होने से उनका अभाव नहीं माना जा सकता। अतएव जो वस्तु कारण या व्यापक नहीं है और जिसका कार्य या व्याप्य भी नहीं है, उस पदार्थ की निवृत्ति मानने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है।

अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है। धर्मी साध्य तथा हेतु के स्वरूप का निश्चय किए बिना अनुमान बन नहीं सकता। अतः बाधक अनुमान में सर्वज्ञ धर्मी है या बुद्ध, कपिल आदि या सभी

---

१ 'यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथा ऋषभवर्द्धमानादिरिति।
—न्यायबिन्दु, अ० ३, पृ० ९८

२ यस्मात्लीनं जगत्सर्वं तस्मिंल्लिङ्गे महात्मनः।
लयनाल्लिङ्गमित्येव प्रवदन्ति मनीषिणः॥
तथाभूतं वर्द्धमानं दृष्ट्वा तेऽपि सुरर्षयः।
ब्रह्मविष्णु वाय्वाग्निलोकपालाः सपन्नगाः॥ स्कन्दमहापुराण, ६.२९-३१
तथा-'केवलं ज्ञानमाश्रित्य ते यान्ति परमं पदम्।' वही १८, ९१

३ कैलासे विपुले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः। चकार स्वावतारं सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥
प्रभासपुराण, ५९

४. लोकादीनि न पश्यन्ति एवं स्वमात्मानमात्मना। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च क्षेत्रज्ञस्तानि
पश्यति॥ महाभारत, १९९५

पुरुष ? सर्वज्ञ को तो धर्मी बनाया नहीं जा सकता, क्योंकि फिर असर्वज्ञता किस में सिद्ध करेंगे ? यदि सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करने के लिए सर्वज्ञ को अनुपलम्भ हेतु के रूप में उपस्थित किया जाता है, तो किस को सर्वज्ञ का अनुपलम्भ होगा ? स्वयं को या संसार के सब प्राणियों को ? फिर, दृश्यानुपलब्धि के द्वारा सर्वज्ञ का अत्यन्त लोप नहीं किया जा सकता । इतना अवश्य कह सकते हैं कि 'यहाँ और इस समय सर्वज्ञ नहीं है ।' किन्तु जो स्वयं सर्वज्ञ नहीं है, वह कैसे जान सकता है कि किसी को भी सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं है ? इतना ही नहीं, सर्वज्ञ के कार्य की भी अनुपलब्धि नहीं है । सर्वज्ञ की वाणी से निर्गत हो कर निबद्ध अविसंवादी आगम ही उनका महान कार्य है । इसी प्रकार सर्वज्ञ के व्यापक धर्म की भी अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती । क्योंकि सर्वज्ञ का धर्म अत्यन्त व्यापक है—समस्त पदार्थों का यथावस्थित साक्षात्कार करना । वास्तव में कोई भी विरुद्ध विधि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकती । जो सर्वज्ञ को धर्मी बनाकर उस में असर्वज्ञता सिद्ध करना चाहते हैं, वे क्या यह कहना चाहते हैं कि सर्वज्ञ भी है और असर्वज्ञ भी है ? वास्तव में जो प्रमाण से विरुद्ध कथन करता है, वह असर्वज्ञ है और जो प्रामाणिक कथन करता है, वह सर्वज्ञ है । ज्ञानी, वीतरागी महात्माओं को मिथ्या प्रलाप करने का क्या कारण है ? जिन को पदार्थ का ठीक से ज्ञान नहीं है या रागी-द्वेषी हैं, वे ही मिथ्या बोलते हैं । जो यह कहना चाहते हैं कि बुद्ध या कपिल सर्वज्ञ नहीं है तो इनका अर्थ यह है कि इनके सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति सर्वज्ञ है । यथार्थ मे सर्वज्ञ हुए बिना कोई यह नहीं बता सकता कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं है । आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ की स्पष्ट सिद्धि होती है । वेदों में अनेक स्थलों पर 'सर्वज्ञ, सर्वविद्, सर्ववेत्तार' आदि अनेक शब्दों का उल्लेख मिलता है । वेदों और पुराणों में सर्वज्ञ की महिमा का गुण-गान किया गया है । उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञता का समर्थन करता है । क्योंकि जिस क्षण असर्वज्ञ, लोक के सभी पुरुषों का और सर्वज्ञ का साक्षात्कार करता है, उसी समय स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है । इसी प्रकार से अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । सर्वज्ञ के कहे हुए होने से ही वेद प्रामाणिक हो सकते हैं । सर्वज्ञ के बिना इस वेद-वाक्य का यही अर्थ दूसरा कोई हो नहीं सकता— इस तरह का अर्थ- निर्णय भी असम्भव है । अतः सर्वज्ञ का अभाव करने के लिए कोई भी प्रमाण बाधक न हो कर साधक ही सिद्ध होते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि सर्वज्ञ समस्त वस्तुओं को किस प्रमाण से जानता है ? सर्वज्ञ पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप से ही सभी वस्तुओं को एक साथ जानता है । इस पर से यह प्रश्न उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है कि फिर वह अशुचि पदार्थों का भी रसास्वादन करने वाला होगा ? वास्तव में सर्वज्ञ का ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न नहीं होता, वह तो अतीन्द्रिय तथा आत्मा का निजी पूर्ण प्रकाश है । रस का आस्वादन जीभ के द्वारा होता है । किन्तु सर्वज्ञ के किसी भी प्रकार की इन्द्रिय का व्यापार नहीं है, अतः प्रश्न नहीं उठता । इसी प्रकार से यह भी नहीं समझना चाहिए कि केवली का ज्ञान वस्तु को क्रम से जानता है । जो छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीव हैं, वे प्रथम वस्तु का दर्शन करते हैं, पश्चात् उन को ज्ञान होता है । उनके ज्ञान में यह क्रम है, किन्तु सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इस प्रकार का क्रम वाला नहीं होता । जब कई वस्तुओं का एक साथ ज्ञान हम जैसे अल्पज्ञों को हो सकता है, तो फिर केवली भगवान का ज्ञान तो निरावरण है । अतः सर्वज्ञ सभी वस्तुओं को (त्रिकालवर्ती) एक साथ जानते हैं ।

अनन्तज्ञान सम्पन्न होने के कारण उन में यह विशेषता होती है। यह बात प्रत्यक्ष से विरुद्ध नहीं है।[1]

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि सर्वज्ञ समस्त पदार्थों को यथावत् जानता है, तो वह बीती हुई बातों को और आगे होने वाले पदार्थों को अतीत, अनागत रूप से जानते हैं या वर्तमान की भांति साक्षात् रूप से ? यदि सर्वज्ञ अतीत आदि पदार्थों को वर्तमान रूप से जानता है तो इस समय विद्यमान न होने से उनका जानना मिथ्याज्ञान हो जाएगा ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सद्भूत पर्यायें प्रतिबिम्बित होती हैं। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि भविष्य में होने वाली घटनाएं किसी के ज्ञान का विषय नहीं हैं। एक साधारण ज्योतिर्विद् भी भविष्य में घटित होने वाली कई बातों को बता सकता है, तो जो सर्वज्ञ है, यदि उसके ज्ञान में एक साथ भूत, भविष्य और वर्तमान की दशाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या है ? फिर, हम अपनी दृष्टि से काल-विभाजन कर जानते हैं कि बीते हुए समय को अतीत, आगे आने वाले को भविष्य और विद्यमान को वर्तमान कहते हैं। किन्तु यह भेद वास्तविक नहीं है। काल की दृष्टि से सभी समय समान हैं। फिर, आगामी होने वाले पदार्थों को भविष्यकाल में तो असत् नहीं कह सकते हैं। अतः सर्वज्ञ जो वस्तु जिस समय जैसी है, उसे उस समय उसी रूप में जानता है। वस्तु की जिस समय जो दशा थी, जो होगी और जैसी है, ठीक उसी रूप में सर्वज्ञ के ज्ञान में झलकती है। इसलिये यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि भावीकाल में उत्पन्न होने वाली पर्यायों को जानना मिथ्या हो जाएगा ? ऐसा समझना भ्रम मात्र है। सर्वज्ञ तो यथावस्थित स्थिति को जानते है। अतः उनका ज्ञान सम्यक् और सर्वज्ञ की सत्ता निर्बाध है; जैसे कि सुखी व्यक्ति का सुख निर्बाध है। आप देखने वाले लाख बार कहें कि अमुक साधु-सन्त परीषह, दुःख, सङ्कट से ग्रस्त है, किन्तु अनुभव करने वाला स्वसंवेदन से निर्बाध सुख का अनुभव करता है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार से जो सच्चे सुख का अनुभव करता है, जो निर्बाध, अव्याबाध, अक्षय एवं अनन्त है और उसके कारण ही यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ है, इससे बढ़ कर अन्य क्या प्रमाण हो सकता है ?

---

१ यथा सकलशास्त्रार्थः स्वभ्यस्तः प्रतिभासते।
मनस्यैकक्षणेनैव तथानन्तादिवेदनम् ॥ प्रमाणवार्तिकालङ्कार, २, २२७

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सज्ज्ञानमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम् ॥२२॥
भावार्थ- मेरी द्वादशांग श्रुत में सदा बार-बार भक्ति हो;
क्योंकि इसके निमित्त से होने वाला सम्यग्ज्ञान ही, संसार का निवारण कर मोक्ष का कारण (दाता) होता है।

—देवशास्त्रगुरुपूजा

निश्चय और व्यवहार

□ रामसिंह जैन एम.ए., एल.टी. धूलियागंज, आगरा

वचन श्रुत प्रमाण के विकल्प को नय कहते हैं। वह ज्ञान का अंश है और उसके द्वारा वस्तु के एक धर्म को सापेक्ष जाना जाता है। वस्तु में अनेक धर्म हैं। इसलिये उनको विषय करने वाले नय भी अनेक हैं। लेकिन सम्पूर्ण वचन श्रुत को यथार्थ रूप में सरलता से समझने के लिये उन सभी नयों को केवल दो भेदों में ही विभक्त कर दिया गया है। श्रीमद् देवसेनाचार्य ने कहा है कि—

णिच्छयववहारणया, मूलमभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेऊ, दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥

अर्थ— सम्पूर्ण नयों के निश्चय और व्यवहार, ये दो मूल भेद हैं। निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहार नय का विषय पर्याय है और वह साधन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख्य नय दो हैं— (१) निश्चयनय (२) व्यवहार नय। अध्यात्म पद्धति में भी नयों के ये ही दो भेद हैं। श्रीमद् देवसेनाचार्य ने उनका लक्षण करते हुये लिखा है कि "अभेदानुपचारितया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः तथा भेदोपचारितया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः।" अर्थात् अभेद और अनुपचारता से जो नय वस्तु का निश्चय करे, वह निश्चय नय है और जो नय भेद और उपचार से वस्तु का व्यवहार करता है वह व्यवहार नय है। भेद से व्यवहार करने वाले नय को सद्‌भूत व्यवहार नय कहते हैं और उपचार से व्यवहार करने वाले नय को असद्‌भूत व्यवहार नय कहते हैं। किन्तु उपचार तो सद्‌भूत व्यवहार नय में भी होता है। अतः व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है। जिनागम में व्यवहार नय के विषय अर्थात् व्यवहार को कारण रूप में माना है। निश्चयनय द्वारा प्ररूपित वस्तु को कार्य रूप में माना है। मोक्षमार्ग में दोनों नयों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। श्रीअमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—

जइ जिणमयं पवज्जय ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जय, तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थ— यदि तुम जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि व्यवहार नय के बिना तो मार्ग का (साधन) नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्व का नाश हो जायेगा।

पण्डित दौलतराम जी ने भी निश्चय और व्यवहार के विषयों को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि—

सम्यग्दर्शन ज्ञानचरन शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथरूप सो निश्चय, कारन सो व्यवहारो॥

अर्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। उनको दो प्रकार से मानना चाहिये। उनका वास्तविक स्वरूप तो निश्चय नय का विषय है और वह साध्य अथवा कार्य है और व्यवहार नय का विषय साधन अथवा कारण है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। अतः अब यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का निश्चय और व्यवहार रूप में कार्य कारण सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये विशेष विचार करना भी आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन : जिनागम में सम्यग्दर्शन के मुख्य चार लक्षण बतलाये गये हैं– (१) तत्वार्थ श्रद्धान (२) स्वपर का श्रद्धान (३) आत्म श्रद्धान (४) देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान। इन चारों लक्षणों में से किसी एक को ग्रहण करने पर बाकी के तीन लक्षण भी ग्रहण हो जाते हैं। ये चारों ही लक्षण व्यवहार रूप हैं। इनमें व्यवहार सम्यक्त और निश्चय सम्यक्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुये पण्डित टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक के नवें अध्याय में लिखते हैं कि—

"तारतम्यपने ये च्यारों आभास मात्र मिथ्यादृष्टिकै होंय। सांचे सम्यग्दृष्टीकै होंय। तहाँ आभास मात्र है सो तो नियम बिना परम्परा निश्चय सम्यग्दर्शन को) कारण हैं अर सांचे है सो नियम रूप साक्षात् कारण हैं। तातैं इनको व्यवहार रूप कहिये। इनके निमित्ततैं जो विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान भया सो निश्चय सम्यक्त है ऐसा जानना।"

इस कथन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार सम्यक्त निश्चय सम्यक्त का कारण है और मिथ्यादृष्टि का तत्वार्थ आदि का आभास मात्र (अस्पष्ट) श्रद्धान भी परम्परा से निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण हो सकता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः व्यवहार सम्यक्त बिना निश्चय सम्यक्त नहीं हो सकता। व्यवहार सम्यग्दर्शन कारण है और निश्चय सम्यग्दर्शन कार्य। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'समयसार' की गाथा नं० १३ की टीका में स्पष्ट लिखा है कि— 'भूतार्थ (निश्चय) नय से जाने हुये नौ तत्व सम्यग्दर्शन हैं और व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति के लिए व्यवहार नय से भी उनका उपदेश दिया जाता है। व्यवहार नय से जाने हुये नौ तत्वों में जब एकत्व प्राप्त हो जाता है, वह निश्चय नय का विषय हो जाता है और उससे आत्मा की अनुभूति प्राप्त होती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ भी व्यवहार श्रद्धान को कारण और निश्चय श्रद्धान को कार्य कहा है।

सम्यग्ज्ञान : आचार्यों ने श्रुत प्रमाण के दो भेद किये हैं— (१) ज्ञान रूप (२) वचन रूप। सम्पूर्ण द्वादशांग वाणी वचन रूप है। उस जिनवाणी के ज्ञान के ज्ञान से जब ज्ञान की क्रिया स्वअर्थ में होने लगती है, तब सम्यग्ज्ञान होता है। अतः वचन श्रुत कारण है और ज्ञान श्रुत कार्य। वचन श्रुत व्यवहार ज्ञान है और ज्ञान श्रुत निश्चय ज्ञान है। इस निश्चय और व्यवहार श्रुत में कार्य कारण सम्बन्ध

को स्पष्ट करते हुये पं० जयचन्द जी छाबड़ा लिखते हैं कि—

शब्द ब्रह्म परब्रह्म में वाचक वाच्य नियोग ।
मङ्गलरूप प्रसिद्ध है, नमों धर्म, धन भोग ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि वचनश्रुत ज्ञानश्रुत का कारण है। यदि वचनश्रुत न हो तो ज्ञान-श्रुत भी नहीं हो सकता। देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान भी नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में हम इस बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि तत्वादि का ज्ञान तो व्यवहार ज्ञान है और उसके द्वारा दुरभिनिवेश रहित आत्मा को जो जानन् क्रिया होती है अथवा ज्ञातृ तत्व की यथाप्रकार जो अनुभूति होती है, वह निश्चय ज्ञान है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यवहार ज्ञान के बिना निश्चय ज्ञान नहीं हो सकता।

सम्यग् चारित्र : जैन धर्म में व्रत, समिति, गुप्ति को व्यवहार चारित्र कहा है। "द्रव्य संग्रह" में लिखा है कि—

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्तीहि जाण चारित्तं ।
वद समिदि गुत्ति रूवं ववहार णयाद जिण भणियं ॥

अर्थ— अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति व्यवहार व्यवहार चारित्र है और वह व्रत, समिति, गुप्ति रूप है; ऐसा जिन देव ने कहा है। फिर आगे चलकर इस व्यवहार चारित्र को निश्चय चारित्र का कारण माना है। यथा—

तव सुद वदवं चेदा, झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय णिरदा, तल्लद्धिये सदा होऊ ॥

अर्थ— तप, श्रुत और व्रत का पालन करने वाला आत्मा ही ध्यान की धुरी को धारण करने वाला होता है। अतः मोक्ष के हेतु ध्यान के लिये तप, श्रुत और व्रतों को अवश्य धारण करो।

कहने का प्रयोजन यह है कि व्यवहार चारित्र के बिना निश्चय चारित्र नहीं हो सकता। निश्चय चारित्र शुक्ल ध्यान में होता है और शुक्ल ध्यान उसी के होना सम्भव है जो व्रत, समिति आदि धर्म ध्यान की क्रियाओं का पालन करे। पं० टोडरमल जी ने "मोक्ष-मार्ग प्रकाशक" ग्रन्थ में इस बात को स्पष्ट रूप से लिख दिया है।

"सो निश्चय करि वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। वीतराग भावनिकै अर व्रतादिकनिकै कदाचित कार्य कारणपनो है।" फिर आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि, "उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है।" यह हम कह चुके हैं कि उपचार और व्यवहार के एक ही अर्थ हैं। पण्डित जी ने व्रतादिकों के निरंतर पालन करते रहने को कहा है। यथा— "बहुरि व्रतादिक रूप परिणति मेटि केवल वीतराग उदासीन भाव रूप होना बनै तो भले ही है। सो नीचली दशा विषै होइ सकै नाहीं। तातैं व्रतादि साधन छोड़ि स्वच्छन्द होना योग्य नाहीं।" उन्होंने शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का स्पष्ट कारण बताया है। उन्होंने कहा है कि "सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्त होय,

ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण भी कहिये है, ऐसा जानना।" अब पूज्यपाद स्वामी का एक और उदाहरण देकर हम इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे। स्वामी जी ने "समाधि शतक" में लिखा है कि—

> अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः।
> त्यजेतान्यपि संप्राप्य, परमं पदमात्मनः॥

अर्थ— मोक्ष के चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर आत्मा के परम पद को पावै और उस आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर उन व्रतों का भी त्याग करे। यहाँ भी व्रतादि को शुद्धोपयोग (परमपद) का कारण ही बताया है। वास्तव में बात यह है कि जिनागम में सर्वत्र ही व्यवहार को निश्चय का कारण माना है। बिना व्यवहार के निश्चय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्यग्दृष्टि के व्यवहार में मिश्र भाव होते हैं। व्रतादि का पालन करने में आत्मा का जितना परिणाम निवृत्ति रूप होता है, वह शुद्धोपयोग का ही अंश है और वही वीतरागता का कारण होता है। व्यवहार चारित्र मे ही शुद्धोपयोग का वह अंश प्रगट हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

समयसारादि ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार : श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य देव ने व्यवहार नय का प्रयोजन स्पष्ट करते हुये 'समयसार' में लिखा है कि—

> जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
> तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥

अर्थ— जैसे अनार्य को अनार्य भाषा बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप नहीं ग्रहण कराया जा सकता, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता।

यद्यपि परमार्थ का उपदेश कथंचित् वचन के अगोचर है, फिर भी निश्चय और व्यवहार द्वारा उसकी प्रतीति कराई जाती है। पुनः निश्चय और व्यवहार का प्रयोजन बताते हुये कहा है कि—

> सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरसीहिं।
> ववहार देसिदा पुण, जेदु अपरमेट्ठिदा भावे॥

अर्थ— जो शुद्ध नय तक पहुँच कर परमभाव को प्राप्त हुये हैं, उनको शुद्ध नय प्रयोजनभूत है और जिन्होंने दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की एकता रूप स्थिति को प्राप्त नहीं किया है, उनको व्यवहार नय ही प्रयोजनभूत है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा की टीका में स्पष्ट कहा है कि व्यवहार नय का विषय तीर्थ (धर्म) है और निश्चयनय का विषय तीर्थफल है। इस प्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार में कार्य कारण सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार "प्रवचन सार" के चारित्र प्रज्ञापन में लिखा है कि—

> पंच समिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
> दंसणणाण समग्गो, समणो सो संजदो भणिदो॥

अर्थ— पांच समिति युक्त, पांच इन्द्रियों का संवर वाला, तीन गुप्ति सहित, कषायों को जीतने वाला,

दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण जो श्रमण है, वह संयत कहा गया है। इस गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रा-चार्य ने लिखा है कि यह संयत कषाय समूह को नष्ट करके उसे मार डालता है और उसे ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता सिद्धि होती है और वही मोक्ष का कारण है।

यह हम पहले कह चुके हैं कि समिति आदि व्यवहार चारित्र हैं। उक्त गाथा से सिद्ध है कि व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का कारण है। 'पञ्चास्तिकाय' में भी आचार्यवर्य ने यही कहा है। उस की गाथा नं० १६० की टीका करते हुये कहा गया है कि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है। जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकरूपता हो जाती है, तभी वह निश्चय मोक्षमार्ग हो जाता है।

अन्त में एक बात यह है कि व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्-चारित्र के बिना निश्चय मोक्षमार्ग होता हुआ जिनागम में कहीं भी नहीं कहा गया है क्योंकि ऐसा होना युक्तिसंगत नहीं है।

महासती सीता जी ने हनुमान जी से पूछा—यदि तुम श्रीराम द्वारा भेजे हुये दूत हो तो उनके रूप-गुण का कुछ वर्णन करो। श्री हनुमान जी ने कहा—

न मांसं राघवो भुंक्ते, न चैव मधु सेवते ॥
वन्य सुविहितं, नित्यं, भक्तमश्नाति केवलम् ॥

—वाल्मीकीय रामायण

श्री राम मांस नहीं खाते और मधु सेवन भी नहीं करते। वे केवल अच्छी प्रकार से– पवित्रता से सिद्ध किया हुआ भात-चावल खाकर रहते हैं।

गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
चारित्रमेव संसार-वारणं मोक्ष–कारणं ॥२३॥

भावार्थ– मेरी निर्ग्रन्थ गुरुदेव में सदा बार-बार भक्ति हो; क्योंकि इनके निमित्त से प्रकट होने वाला चारित्र ही, संसार का निवारण कर मोक्ष का कारण होता है।

—देवशास्त्रगुरुपूजा

卐◎卐

अहिंसा और लोक कल्याण

☐ प्रेमसागर जैन, दिल्ली

आज सम्पूर्ण मानव जाति विनाश के कगार पर खड़ी हुई है । उसे वैज्ञानिक प्रगति एवं भौतिकवाद ने एक ऐसे ज्वालामुखी के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया है जिसका एक विस्फोट ही उसके पूर्ण विनाश का कारण बन सकता है । संसार के सभी बड़े देश अपने को परमाणु बमों तथा हाइड्रोजन बमों से लैस कर चुके हैं तथा इनसे भी अधिक घातक शस्त्रास्त्रों की खोज के लिए पानी की तरह रुपया बहा रहे हैं । इन देशों का कहना है कि अपने शत्रु का सामना करने के लिए शत्रु देश से अधिक सैनिक तैयारी करना आवश्यक है । इसके परिणामस्वरूप हिंसा में विश्वास रखने वाली शक्तियाँ दिन पर दिन बलवती होती जा रही हैं । स्पष्ट है कि हिंसा का उत्तर और अधिक हिंसा से देने की यह प्रवृत्ति मानव जाति को केवल विनाश के गर्त में ही ढकेल सकती है और केवल अहिंसा के मार्ग पर चल कर ही मानव जाति को विनाश से बचाया जा सकता है ।

भगवान महावीर के लोक मङ्गलकारी सिद्धान्तों में से अहिंसा अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह और कर्मवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और इनमें भी अहिंसा को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है । महावीर स्वामी का कहना था कि—

धम्मो मङ्गल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवाविनं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

अर्थात्— धर्म ही उत्कृष्ट मङ्गल है । अहिंसा, संयम और तप यह धर्म हैं । जिसका मन सदा ऐसे धर्म में रत रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

'अहिंसा परमोधर्मः' कह कर महावीर स्वामी ने अहिंसा को अधिक से अधिक महत्व देना चाहा है । केवल जैन धर्म ही नहीं, भारत के अन्य धर्मों में भी अहिंसा को परम धर्म माना गया है । महात्मा बुद्ध के लोक धर्म का आधारभूत सिद्धान्त भी अहिंसा ही है । ईसा ने भी अपने जीवन में क्षमाशीलता को महत्व देकर अहिंसा के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया था । महात्मा गांधी का कहना था कि जो धर्म सत्य और अहिंसा का विरोधी है, वह धर्म नहीं है ।

लोक कल्याण के लिए अहिंसा के मार्ग को अपनाना परम आवश्यक है । अहिंसा के संप्रत्यय की

उत्पत्ति ही लोक कल्याण की भावना से हुई है। 'Survival fo the fittest' अथवा 'जीवो जीवस्य भोजनम्' का नियम केवल वन प्रदेशों के लिए ही हो सकता है। वह मानव समाज में लागू नहीं होता। कहते हैं कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषुयः पश्यति सः पश्यति'। वास्तव में दृष्टिवान मनुष्य वही है जो सब प्राणियों को अपने समान समझे। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है : 'परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।' दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से बढ़कर अधम कार्य संसार में नहीं है।

अहिंसा दुर्बलता नहीं है। वास्तव में यह एक अमोघ अस्त्र है जिसका प्रयोग दुर्बल और सबल दोनों ही कर सकते हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसा की शक्ति को पहचाना था और शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य से टक्कर लेने के लिए इसी अमोघ अस्त्र का प्रयोग किया था। जिस साम्राज्य में कभी सूर्य नहीं डूबता था उसका निहत्थे भारतवासियों के आगे घुटने टेक देना अहिंसा के सिद्धान्त की अपार सफलता का ही द्योतक है।

पुरुषार्थ सिद्धूपाय में हिंसा को पाप का कारण बताया गया है। हिंसा पाप की जननी है। पाप से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हिंसा का त्याग किया जाए और अहिंसा को अपनाया जाए। हिंसक-वृत्ति, असत्य भाषण, काम, क्रोध, परिग्रह आदि दुर्गुण मानव की आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, बल्कि पर के निमित्त से आये हुए विकार मात्र हैं। मानव की आत्मा का स्वभाव शांत, अहिंसक एवं समताभावी है। जहाँ अहिंसा है वहाँ अपार धीरज, भीतरी शांति, भले-बुरे का ज्ञान, आत्म-त्याग और सच्ची जानकारी भी है।

अहिंसा का नियम है-- मर्यादा पर कायम रहना, अभिमान न करना और नम्र रहना। अहिंसा की बहादुरी केवल मरने का इल्म सिखाती है, मारने का नहीं। हमें लाठी, तलवार और बन्दूक को छोड़ कर केवल भगवान को अपने साथ लेकर चलना चाहिए।

अहिंसा न तो कायर बनने की शिक्षा देती है और न ही वह सत्य को त्याग देने को कहती है। महात्मा गांधी ने कहा था कि जहाँ कायरता और अहिंसा के बीच चुनाव करने की बात हो वहाँ मैं हिंसा के पक्ष में राय दूंगा। उनका यह भी कहना था कि यदि सत्य और अहिंसा के बीच चुनाव करना पड़े तो मैं अहिंसा को छोड़कर सत्य को रखने में आगा-पीछा नहीं देखूंगा। उनके मत के अनुसार मनुष्य को झूठ बोलने का मौका देना और झूठ बुलवाना भी हिंसा है।

इस दुःखी जगत की पीड़ा नष्ट करने के लिए कठिन होने पर भी सिवाय अहिंसा के और कोई सीधा रास्ता नहीं है। दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है लोकमत और वह सत्य और अहिंसा से उत्पन्न हो सकता है। शांति तलवार के नहीं, बल्कि प्रेम के जोर से होनी चाहिए, क्योंकि प्रेम से बढ़कर जोड़ने वाली चीज दुनिया में नहीं है।

मनुष्य जाति को अनन्तकाल से हिंसक पशुओं का सामना करना पड़ रहा है, परन्तु आज तक मानव जाति का संहार नहीं हुआ। महाभारत तथा प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धों जैसे विनाशकारी युद्धों के बाद भी मानव जाति जीवित रही है। इसका यही अर्थ है कि सब जगह अहिंसा ओतप्रोत है।

उपनिषदों का कथन है कि 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत' अर्थात् संसार के सभी पदार्थों एवं प्राणियों में ईश्वर का निवास है। संसार के सभी प्राणियों को उत्पन्न करने वाला केवल ईश्वर ही है। विज्ञान की भारी प्रगति के बावजूद मनुष्य को जीव का सृजन करने में असफलता ही हाथ आई है। अत: प्रश्न यह है कि जब आदमी जीव को बना नहीं सकता तो उसको मारने का अधिकार उसके पास कैसे आया ?

अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए मनुष्य में अनासक्ति भाव होना आवश्यक है। बगैर अनासक्ति के वह न सत्य का पालन कर सकता है और न अहिंसा का। सत्य के साक्षात्कार का एकमात्र मार्ग अहिंसा है। बिना अहिंसा के सत्य की खोज असम्भव है।

मुनि श्री सुशीलकुमार का कहना है कि वस्तुत: काफी समय पहले से ही भगवान महावीर के संदेशों का विश्व में प्रचार होना चाहिए था। यदि ऐसा हुआ होता तो आज पूरे विश्व में अहिंसा होती। उन्होंने यह भी विश्वास प्रकट किया है कि यदि अब भी लगन से काम किया जाए तो इसमें कोई शक नहीं कि आने वाला युग 'अहिंसा युग' होगा। अहिंसा के विश्वव्यापी प्रचार के लिए न्यूयार्क में एक विशाल 'महावीर केन्द्र' स्थापित किया गया है। यह केन्द्र अपने किस्म का अनूठा जैन केन्द्र होगा और इसमे जैन धर्म से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं के अध्ययन की समुचित व्यवस्था होगी।

पाश्चात्य देशों में मनुष्य का जीवन आज विभिन्न कुंठाओं से ग्रस्त है और लोगों के मनों में असुरक्षा की भावना व्याप्त है। वे भौतिकता की चरम सीमा पर पहुंच कर अब उससे ऊब गये हैं। इससे विश्व में एक भयानक विस्फोटक स्थिति पैदा होती जा रही है। ऐसी दशा में केवल अहिंसा और अनेकान्त के मार्ग पर चल कर ही परम शांति प्राप्त की जा सकती है।

अहिंसा के मार्ग पर चलने वालों को चाहिए कि वे अहिंसा के सिद्धांतों को सही ढग से लागू करें। अहिंसा को यदि कहीं असफलता मिलती दिखाई देती है तो उसका कारण यह नहीं है कि अहिंसा के सिद्धांतों में कोई दोष है। अहिंसा की असफलता अहिंसा का उपयोग करने वाले की अयोग्यता के कारण होती है।

अत: लोक कल्याण के लिए एक बात मूलभूत रूप से आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति धर्माचरण करे और अहिंसा का पालन करे। भागवत के ग्यारहवें अध्याय में कहा गया है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पाद वस्त्रपूतं पिबेज्जलम ।
सत्यपूता वदेद् वाचं मन: पूतं समाचरेत् ॥

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह नेत्रों से धरती देखकर पैर रखे, कपड़े से छानकर जल पिये, मुंह से प्रत्येक बात सत्यपूत अर्थात् सत्य से पवित्र हुई निकाले और शरीर से जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक सोच-समझ कर ही करे। ऐसा करने से कभी किसी प्राणी का अहित नहीं होगा। लोक कल्याण का यही एकमात्र सही मार्ग है। ●

उपचरित कथन में शास्त्रीय दृष्टिकोण

□ बन्शीधर व्याकरणाचार्य, बीना

आजकल जैन समाज मे वचन के अर्थभूत उपचरित पदार्थ के विषय में अत्यधिक विवाद चल रहा है। मुख्य विवाद सोनगढ़ पक्षीय और पुरातन पक्षीय जनों के मध्य है। इस विवाद को लक्ष्य में रखकर ही यह लेख लिखा जा रहा है।

वचन के प्रकार और उनके अर्थभूत पदार्थों का विवेचन

मूल में वचन दो प्रकार के हैं। इनमें से एक प्रकार के वचन वे हैं जो निरर्थक हुआ करते हैं अर्थात् जिनसे पदार्थ का प्रतिपादन नहीं होता है और दूसरे प्रकार के वचन वे हैं जिनसे पदार्थ का प्रतिपादन होता है।

जो वचन निरर्थक हैं उनसे पदार्थ का प्रतिपादन इसलिये नहीं होता है कि उनके प्रतिपाद्य पदार्थों का लोक में अभाव पाया जाता है। जैसे बन्ध्यासुत, आकाश कुसुम और खर विषाण। इन वचनों से पदार्थ का प्रतिपादन नहीं होता है क्योंकि इनके प्रतिपाद्य बन्ध्यासुत, आकाशकुसुम और खरविषाण इन पदार्थों का लोक में अभाव पाया जाता है। इस प्रकार बन्ध्यासुत, आकाशकुसुम और खरविषाण ये वचन निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं।

पदार्थ के प्रतिपादक वचन दो प्रकार के होते हैं— मिथ्यावचन और सत्यवचन। जो वचन विद्यमान पदार्थ का जैसा है वैसा प्रतिपादन नहीं करके अन्यथा प्रतिपादन करते हैं वे मिथ्यावचन कहलाते हैं और जो वचन विद्यमान पदार्थ का जैसा है वैसा प्रतिपादन करते हैं वे सत्यवचन कहलाते हैं।

मिथ्यावचन तीन प्रकार के होते हैं— संशयरूप मिथ्यावचन, विपर्ययरूप मिथ्यावचन और अनध्यवसायरूप मिथ्यावचन। जो वचन विद्यमान पदार्थ का अनिर्णीत नाना पक्ष-संस्पर्शी प्रतिपादन करते हैं वे संशयरूप मिथ्यावचन हैं। जैसे विद्यमान सीप का सीप और चांदी के रूप में अनिर्णीत नाना पक्ष-संस्पर्शी प्रतिपादन करने वाला— "यह सीप है या चांदी", यह वचन संशयरूप मिथ्यावचन है। जो वचन विद्यमान पदार्थ का निर्णीत विपरीत पक्ष-संस्पर्शी प्रतिपादन करते हैं वे विपर्ययरूप मिथ्यावचन हैं। जैसे विद्यमान सीप का चांदी के रूप में निर्णीत विपरीत पक्ष संस्पर्शी प्रतिपादन करने वाला- "यह चांदी है" यह वचन विपर्ययरूप मिथ्यावचन है। इसी प्रकार जो वचन विद्यमान सीप का

अनिर्णीत सामान्य पक्ष-संस्पर्शी प्रतिपादन करते हैं वे अनध्यवसायरूप मिथ्यावचन हैं। जैसे विद्यमान सीप का कुछ के रूप में अनिर्णीत सामान्य पक्ष-संस्पर्शी प्रतिपादन करने वाला "यह कुछ है" यह वचन अनध्यवसाय रूप मिथ्यावचन है। आगे सत्यवचन के विषय में प्रतिपादन किया जाता है।

ऊपर बतलाया गया है कि जो वचन विद्यमान पदार्थ का जैसा है वैसा प्रतिपादन करते हैं वे सत्यवचन कहलाते हैं। यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि सत्यवचन द्वारा विद्यमान पदार्थ का जैसा है वैसा प्रतिपादन अभिधेय रूप में भी होता है, लक्ष्यरूप में भी होता है और व्यंग्यरूप में भी होता है। इसका कारण यह है कि वचन में तीन प्रकार की पदार्थ प्रतिपादन शक्तियाँ पायी जाती हैं। एक अभिधा वृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति, दूसरी लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति और तीसरी व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति। इनमें से किसी नियमित पदार्थ का वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में जैसा है वैसा प्रतिपादन होता है। किसी नियमित पदार्थ का वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्य रूप में जैसा है वैसा प्रतिपादन होता है और किसी नियमित पदार्थ का वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्यरूप में जैसा है वैसा प्रतिपादन होता है। इस प्रकार एक पदार्थ का वचन द्वारा उक्त प्रकार अभिधेय रूप में जैसा है वैसा प्रतिपादन होने की दृष्टि से, एक पदार्थ का वचन द्वारा उक्त प्रकार लक्ष्य रूप में जैसा है वैसा प्रतिपादन होने की दृष्टि से और एक पदार्थ का वचन द्वारा उक्त प्रकार व्यंग्य रूप में जैसा है वैसा प्रतिपादन होने की दृष्टि से सत्यवचन के तीन भेद निश्चित हो जाते हैं— एक अभिधेय रूप में पदार्थ का प्रतिपादक सत्यवचन, दूसरा लक्ष्य रूप में पदार्थ का प्रतिपादक सत्यवचन और तीसरा व्यंग्य रूप में पदार्थ का प्रतिपादक सत्यवचन। तथा इसी आधार पर सत्यवचन के प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में पदार्थ भी तीन प्रकार के निश्चित हो जाते हैं— एक सत्यवचन का अभिधेय रूप पदार्थ, दूसरा सत्यवचन का लक्ष्य रूप पदार्थ और तीसरा सत्यवचन का व्यंग्य रूप पदार्थ। इनमें से जो पदार्थ सत्यवचन द्वारा उक्त प्रकार अभिधेय रूप में जैसा है वैसा प्रतिपादित होता है वह सत्यवचन का अभिधेय रूप पदार्थ है। जो पदार्थ सत्यवचन द्वारा उक्त प्रकार लक्ष्यरूप में जैसा है वैसा प्रतिपादित होता है वह सत्यवचन का लक्ष्य रूप पदार्थ है और जो पदार्थ सत्यवचन द्वारा उक्त प्रकार व्यंग्य रूप में जैसा है वैसा प्रति-होता है वह सत्यवचन का व्यंग्य रूप पदार्थ है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि सत्यवचन के अभिधेय रूप पदार्थ दो प्रकार के होते हैं— एक सत्यवचन का अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ और दूसरा सत्यवचन का अभिधेय रूप उपचरित पदार्थ।

वचन के अभिधेय रूप मुख्य और उपचरित पदार्थों के लक्षण

वचन का अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो तथा वचन का अभिधेय रूप उपचरित पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध न होकर निमित्त और यथा सम्भव प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न हुआ हो। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायेगा।

वचन के लक्ष्य रूप और व्यंग्य रूप पदार्थों के लक्षण

वचन का लक्ष्य रूप पदार्थ वह है जो उपचरित पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि में निमित्त रूप

आधार होता है और वचन का व्यंग्य रूप पदार्थ वह है जो उपचरित पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि में प्रयोजन रूप आधार होता है। इस विषय को भी आगे स्पष्ट किया जायगा।

उक्त सभी पदार्थों के वचन द्वारा प्रतिपादित होने की व्यवस्था

वचन के अभिधेय रूप मुख्य और उपचरित दोनों प्रकार के पदार्थ तो वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधा-वृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में जैसे हैं वैसे प्रतिपादित होते हैं तथा वचन के लक्ष्य रूप पदार्थ वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्यरूप में व वचन के व्यंग्यरूप पदार्थ वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्य रूप में जैसे है वैसे प्रतिपादित होते हैं। इस विषय को भी आगे स्पष्ट किया जाएगा।

उक्त पदार्थों में वचन द्वारा साक्षात् और परम्परया प्रतिपादन का भेद

उक्त सभी पदार्थों में से वचन के अभिधेय रूप मुख्य और उपचरित दोनों प्रकार के पदार्थ तो वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में जैसे के तैसे साक्षात् प्रतिपादित होते है तथा लक्ष्य रूप पदार्थ वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्यरूप में व व्यंग्यरूप पदार्थ वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्य रूप में जैसे के तैसे परम्परया प्रतिपादित होते हैं। इस विषय को भी आगे स्पष्ट किया जायगा। यहां पर अब उपचरित पदार्थ की स्थिति के विषय में विचार किया जाता है।

उपचरित पदार्थ असद्रूप में कल्पित पदार्थ नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति उक्त उपचरित पदार्थ को असद्रूप में कल्पित पदार्थ मानता हो तो उसके प्रति मेरा यह कहना है कि असद्रूप में कल्पित पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व सम्भव न हो। जैसे पूर्वोक्त वन्ध्यासुत, आकाशकुसुम और खरविषाण असद्रूप में कल्पित पदार्थ हैं क्योंकि इनका अस्तित्व सम्भव नहीं है। यत: उपचरित पदार्थ का पूर्वोक्त प्रकार निमित्त तथा यथा सम्भव प्रयोजन के आधार पर अस्तित्व सिद्ध होता है अत: उसे असद्रूप में कल्पित पदार्थ कदापि नहीं कहा जा सकता है।

उपचरित पदार्थ लक्ष्य या व्यंग्य रूप पदार्थ भी नहीं है।

ऊपर के कथन से उपचरित पदार्थ की सद्रूपता सिद्ध हो जाने पर यदि कोई व्यक्ति उसे लक्ष्य-रूप या व्यंग्य रूप पदार्थ मानना चाहे तो उसके प्रति भी मेरा यह कहना है कि पूर्वोक्त प्रकार उपचरित पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि में जो निमित्त रूप से आधार होता है वह लक्ष्यरूप पदार्थ है और उसी उपचरित पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि में जो प्रयोजन रूप से आधार होता है वह व्यंग्य रूप पदार्थ है। इस तरह लक्ष्यरूप और व्यंग्यरूप पदार्थों से पृथक् ही उपचरित पदार्थ सिद्ध होता है।

उपचरित पदार्थ अभिधेय रूप पदार्थ ही है।

ऊपर के कथन से जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि उपचरित पदार्थ न तो असद्रूप में कल्पित पदार्थ है और न सद्रूप में लक्ष्य या व्यंग्य रूप पदार्थ ही है तो इससे यही सिद्ध होता है कि उपचरित

पदार्थ सद्रूप में अभिधेय रूप पदार्थ ही है क्योंकि सत्यवचन के प्रतिपाद्य पूर्वोक्त प्रकार तीन ही तरह के पदार्थ होते हैं— एक अभिधेय रूप पदार्थ दूसरा लक्ष्यरूप पदार्थ और तीसरा व्यंग्यरूप पदार्थ। इनमें से उपचरित पदार्थ जब पूर्वोक्त प्रकार लक्ष्यरूप या व्यंग्यरूप पदार्थ सिद्ध नहीं होता है तो इस से यही निर्णीत होता है कि उपचरित पदार्थ अभिधेय रूप पदार्थ ही है।

उपचरित पदार्थ अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ नहीं है

यहाँ पर यदि कोई यह शङ्का करे कि जब उपचरित पदार्थ सद्रूप में अभिधेय रूप पदार्थ है तो उसे अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ ही क्यों न माना जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उपचरित पदार्थ सद्रूप में अभिधेय रूप पदार्थ है फिर भी वह अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ पूर्वोक्त प्रकार वह है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध होता है। यतः उपचरित पदार्थ का अस्तित्व पूर्वोक्त प्रकार स्वयं सिद्ध न होकर निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन रूप आधारों के बल पर ही निष्पन्न होता हुआ निर्णीत होता है अतः वह अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ से भिन्न ही अभिधेय रूप उपचरित पदार्थ सिद्ध हो जाता है। इससे यह भी निर्णीत हो जाता है कि उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन भी अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ की तरह वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है क्योंकि वचन में पदार्थ प्रतिपादन शक्तियाँ शब्द शास्त्र द्वारा पूर्वोक्त प्रकार तीन ही प्रकार की स्वीकृत की गयी हैं— एक अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति, दूसरी लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति और तीसरी व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति। इनमे से उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर इसलिये नहीं होता है कि वह पूर्वोक्त प्रकार लक्ष्यरूप पदार्थ नहीं है और उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर इसलिये नहीं होता है कि वह पूर्वोक्त प्रकार व्यंग्यरूप पदार्थ भी नहीं है। इसी तरह उपर्युक्त तीन प्रकार की पदार्थ प्रतिपादन शक्तियों से अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ प्रतिपादन शक्ति वचन में शब्दशास्त्र द्वारा नहीं स्वीकार की गयी है जिसके आधार पर उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन हो सके। अतः यही निर्णीत होता है कि उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन भी अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ की तरह वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर ही होता है। संशयादि मिथ्यावचनों द्वारा तो उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन इसलिये नहीं होता है कि वे संशयादि वचन विद्यमान पदार्थ का प्रतिपादन जैसा है वैसा नहीं करके अन्यथा ही किया करते हैं।

वचन के अर्थभूत उपचरित पदार्थ के विषय में जैनागम का यही दृष्टिकोण है व आगे जितना विवेचन किया जाता है उससे भी उपचरित पदार्थ के विषय में जैनागम का यही दृष्टिकोण फलित होगा, परन्तु सोनगढ़ पक्षीय जन उपचरित पदार्थ के विषय में जैनागम के उक्त दृष्टिकोण को मानने के लिए तैयार नहीं हैं क्योंकि उनका दृष्टिकोण उपचरित पदार्थ के विषय में जैनागम के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न ही है जैसा कि आगे प्रगट किया जा रहा है।

उपचरित पदार्थ के विषय में सोनगढ़ पक्षीयजनों का दृष्टिकोण

उपचरित पदार्थ के विषय में सोनगढ़ पक्षीय जनों का दृष्टिकोण यह है कि वे उसे न तो सद्रूप

ही मानते हैं और न वह भी मानते हैं कि उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर जैसा का तैसा अभिधेय रूप में होता है। अतः सोनगढ़ पक्षीयजनों का यह दृष्टिकोण जैनागम के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है अतः आगे इस पर विचार किया जाता है।

सोनगढ़ पक्षीय जनों के उपर्युक्त दृष्टिकोण पर विचार

सोनगढ़ पक्षीय जनों के उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मेरा यह कहना है और जैसा पूर्व में प्रतिपादित भी किया जा चुका है कि उपचरित पदार्थ केवल असद्रूप में कल्पित ऐसा पदार्थ नहीं है जैसे बन्ध्यासुत, आकाशकुसुम और खरविषाण असद्रूप में कल्पित पदार्थ हैं। यदि कोई व्यक्ति उपचरित पदार्थ को बन्ध्यासुत आदि की तरह असद्रूप में कल्पित पदार्थ मानता भी हो तो उसका निराकरण पूर्व में किया ही जा चुका है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि सोनगढ़ पक्षीय जन उपचरित पदार्थ को बन्ध्यासुत आदि की तरह असद्रूप में कल्पित पदार्थ नहीं मानते हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि वे उसे किस रूप में असद्रूप पदार्थ मानते हैं? इसका स्पष्टीकरण करने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया है।

यद्यपि सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी ने अपनी जैनतत्त्व मीमांसा पुस्तक के विषय प्रवेश प्रकरण में उपचरित पदार्थ की विवेचना की है जिसमें उन्होंने उसे निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न हुआ पदार्थ स्वीकार किया है, परन्तु उनके उस कथन के विषय में यह बात विचारणीय हो जाती है कि उपचरित पदार्थ को पं० फूलचन्द्र जी द्वारा निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न हुआ पदार्थ स्वीकार कर लिये जाने पर वह फिर सर्वथा असद्रूप पदार्थ किस प्रकार हो सकता है? यद्यपि उपचरित पदार्थ को जैनागम द्वारा भी निमित्त तथा यथा सम्भव प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न हुआ पदार्थ स्वीकार किया गया है परन्तु वहाँ पर उसे सर्वथा असद्रूप न स्वीकार किया जाकर कथंचित् सद्रूप ही स्वीकार किया गया है।

समयसार गाथा १४ की आत्मख्याति टीका में भूतार्थता (सद्रूपता) और अभूतार्थता (असद्रूपता) के विषय में जो कुछ लिखा गया है[1] उसके अनुसार भी प्रकृत में यह निर्णीत होता है कि उपचरित पदार्थ यद्यपि मुख्य पदार्थ की तरह स्वयं सिद्ध सद्रूपता का धारक नहीं है फिर भी निमित्त तथा यथा सम्भव प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न सद्रूपता का धारक तो वह है ही। इस प्रकार निमित्त तथा यथा सम्भव प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न सद्रूपता का धारक होने से ही उपचरित पदार्थ को जैनागम में उपचरित, आरोपित, आगन्तुक, आपेक्षिक, परसापेक्ष, नैमित्तिक, कल्पित या व्यवहार रूप कहा गया है जिससे उस की कथंचित् सद्रूपता सिद्ध हो जाती है, सर्वथा असद्रूपता नहीं सिद्ध होती है। यह बात दूसरी है कि मुख्य और उपचरित दोनों प्रकार के पदार्थों में सद्रूपता विद्यमान रहते हुए भी भेद दिखलाने के लिए यह कहा जा सकता है कि मुख्य पदार्थ की सद्रूपता तो स्वयं सिद्ध है और उपचरित पदार्थ की सद्रूपता निमित्त तथा यथा सम्भव प्रयोजन के आधार पर ही निष्पन्न होती है।

---

१ "यथा खलु बिसनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्व पर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्व भूतार्थमपि एकान्ततः सलिलास्पृश्यं बिसनीपत्र स्वभाव मुपेत्यानुभूयमानतायाम भूतार्थम्—" इत्यादि।

इस प्रकार इस स्पष्टीकरण से पं० फूलचन्द्र जी व अन्य सोनगढ़ पक्षीय जनों की यह मान्यता समाप्त हो जाती है कि उपचरित पदार्थ निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर कल्पित होने से असद्रूप है तथा यह बात निर्णीत हो जाती है कि पूर्वोक्त प्रकार संशयादि मिथ्यावचनों द्वारा प्रतिपादित न होने से व लक्ष्यार्थ न होने के कारण वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्य रूप में और व्यंग्यार्थ न होने के कारण वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्य रूप में प्रतिपादित न होने से वह मुख्य पदार्थ की तरह वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही प्रतिपादित होता है।

यतः पं० फूलचन्द्र जी और अन्य सोनगढ़ पक्षीय जन उपचरित पदार्थ को पूर्वोक्त प्रकार कथंचित् सद्रूप स्वीकार नहीं करके सर्वथा असद्रूप ही स्वीकार करते हैं तथा उसे वचन का अभिधेयार्थ न मान कर उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। अतः अब मैं यहाँ पर वचन के अभिधेय रूप मुख्य पदार्थों का, वचन के अभिधेय रूप उपचरित पदार्थों का तथा वचन के लक्ष्य रूप व व्यंग्य रूप पदार्थों का भी पृथक्-पृथक् विवेचन कर देना उचित समझता हूँ जिससे यह निर्णीत हो सके कि उपचरित पदार्थ सद्रूप हो कर वचन का अभिधेय रूप पदार्थ ही है और उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है। इनमें से सर्व प्रथम मैं यहाँ पर वचन के अभिधेय रूप मुख्य पदार्थों का विवेचन कर रहा हूँ।

वचन के अभिधेय रूप मुख्य पदार्थों का विवेचन

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वृक्ष, घट, पट, मठ, नरकगति तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति, सिद्धगति, नारकजीव, तिर्यग्जीव मनुष्यजीव, देवजीव, सिद्धजीव, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य सुख, दुःख, पाप पुण्य और धर्म आदि द्रव्यरूप गुणरूप और पर्यायरूप पदार्थों को जैनागम द्वारा लोक में अपने-अपने रूप से सद्रूप ही स्वीकार किया गया है अतः इनकी सद्रूपता सामान्य रूप से स्वयं सिद्ध स्वीकृत करने योग्य है और इसीलिये इन पदार्थों को जैनागम द्वारा मुख्य पदार्थ माना गया है तथा इसीलिए इनका प्रतिपादन भी यथाक्रम से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल पृथ्वी, जल, अग्नि वायु वृक्ष, घट, पट, मठ, नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति, सिद्धगति, नारक-जीव, तिर्यग्जीव, मनुष्यजीव, देवजीव, सिद्धजीव, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सुख, दुःख, पाप, पुण्य और धर्म आदि वचनों द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है। इस तरह ये सभी पदार्थ उस वचन के अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ प्रसङ्गवश मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि एक ही वचन के ऐसे अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ एक ही भाषा में अनेक भी होते हैं। अतः इस आधार पर मुख्य पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है— एक विवक्षित मुख्य पदार्थ और दूसरा अविवक्षित मुख्य पदार्थ, जैसे "सैन्धव" इस वचन का अभिधेय नमक भी मुख्य पदार्थ है और सिन्धु देश का घोड़ा भी मुख्य पदार्थ है, परन्तु भोजन के प्रसङ्ग में वक्ता को उसका अभिधेय नमक रूप मुख्य पदार्थ ही विवक्षित होता है, सिन्धु देश का घोड़ा रूप मुख्य पदार्थ विवक्षित नहीं होता है। इसी तरह गमन के प्रसङ्ग में वक्ता को उसका

अभिधेय सिन्धु देश का घोड़ा रूप मुख्य पदार्थ ही विवक्षित होता है, नमक रूप मुख्य पदार्थ विवक्षित नहीं होता है।

इस प्रसङ्ग में मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि भाषा भेद के आधार पर एक वचन के अभिधेय भिन्न-भिन्न मुख्य पदार्थ हुआ करते हैं। जैसे मेरी स्मृति के अनुसार किसी व्यक्ति के कथन के आधार पर कन्नड़ आदि किसी दाक्षणात्य भाषा में "नाई" इस वचन का अभिधेय पशु विशेष कुत्ता रूप मुख्य पदार्थ ही होता है जब कि हिन्दी भाषा में उसका अभिधेय बाल बनाने वाला व्यक्ति विशेष रूप मुख्य पदार्थ ही होता है।

वचन के अभिधेय रूप उपचरित पदार्थों का विवेचन

लोक में कुम्भकार (कुम्हार), लौहकार (लुहार), काष्ठकार (बढ़ई), पटकार (जुलाहा), चर्मकार (चमार), अध्यापक (शिक्षक), और पाचक (रसोइया) इन पदार्थों का अस्तित्व है तथा इनका प्रतिपादन भी यथाक्रम से कुम्भकार, लौहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार, अध्यापक और पाचक इन वचनों द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि कुम्भकार आदि उक्त वचन सामान्य रूप से उन-२ व्यक्ति विशेष का प्रतिपादन करते हैं तो उस समय उन वचनों का अभिधेयार्थ कुम्भकार आदि व्यक्ति विशेष रूप मुख्य पदार्थ ही होता है क्योंकि कुम्भकार आदि वे व्यक्ति उस समय अपने-अपने स्वयंसिद्ध अस्तित्व के धारक बने हुए हैं, परन्तु कुम्भकार वचन के अभिधेय रूप कुम्भकार व्यक्ति का जो अस्तित्व कुम्भकार वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार कुम्भ के कर्ता रूप में है, लौहकार वचन के अभिधेय रूप लौहकार व्यक्ति का जो अस्तित्व लौहकार वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार लौह के कर्तारूप में है, काष्ठकार वचन के अभिधेय रूप काष्ठकार व्यक्ति का जो अस्तित्व काष्ठकार वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार काष्ठ के कर्तारूप में है, पटकार वचन के अभिधेय रूप पटकार व्यक्ति का जो अस्तित्व पटकार वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार पट के कर्तारूप मे है, चर्मकार वचन के अभिधेय रूप चर्मकार व्यक्ति का जो अस्तित्व चर्मकार वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार चर्म के कर्तारूप में है, अध्यापक वचन के अभिधेय रूप अध्यापक व्यक्ति का जो अस्तित्व अध्यापक वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार शिक्षण के कर्तारूप में है और पाचक वचन के अभिधेय रूप पाचक (रसोइया) व्यक्ति का जो अस्तित्व पाचक वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार रसोई के कर्तारूप में है ये सभी प्रकार के अस्तित्व निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर अवलम्बित हैं जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा। इसलिये ये सभी प्रकार के अस्तित्व जैन मान्यता के अनुसार मुख्य रूप न होकर उपचरित रूप ही हैं और चूँकि इन अस्तित्वों के यथा योग्य रूप में धारक कुम्भकार, लौहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार, अध्यापक और पाचक व्यक्ति रूप पदार्थों का प्रतिपादन क्रमशः अपनी-अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार कुम्भकार, लौहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्म-कार अध्यापक और पाचक वचनों द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है इसलिये इन सब पदार्थों को उस उस वचन का अभि-धेयार्थ ही माना जाता है।

उक्त सभी प्रकार के अस्तित्वों की उपचरितरूपता का स्पष्टीकरण

यद्यपि कुम्भकार आदि व्यक्तियों का कुम्भ आदि के कर्तारूप में प्रतिपादन कुम्भकार आदि वचनों द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है क्योंकि कुम्भकार आदि उक्त वचनों का कुम्भ आदि को करने वाला व्यक्ति रूप अर्थ उन कुम्भकार आदि वचनों की व्युत्पत्ति से ही प्रगट होता है, परन्तु विचारणीय बात यह है कि जैन मान्यता के अनुसार कर्ता वही पदार्थ कहलाता है जो कार्य रूप परिणत होता है।[1] जैसे मिट्टी चूंकि कुम्भ कार्य रूप परिणत होती है इसलिये वह तो कुम्भ की कर्ता है, परन्तु जब कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ रूप परिणत नहीं होता तो उसे कुम्भ कार्य का कर्ता कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है। अतः यहां यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ रूप परिणत नहीं होता तो उसे जैन मान्यता में कुम्भ का कर्ता कैसे कहा गया है ? इसका उत्तर जैन मान्यता में ही यह दिया गया है कि चूंकि कुम्भकार व्यक्ति मिट्टी की कुम्भ रूप परिणति में सहायक होता है क्योंकि कुम्भकार व्यक्ति का सहयोग मिले बिना मिट्टी कदापि कुम्भ रूप परिणत नहीं होती है अतः इस आधार पर कुम्भकार व्यक्ति में कुम्भ कर्तृत्व का उपचार (आरोप) कर लिया जाता है। यही कारण है कि जैनागम में कर्ता के दो भेद स्वीकार किये गये हैं। एक मुख्य या उपादान कर्ता और दूसरा उपचरित या निमित्त कर्ता। इनमें से मुख्य या उपादान कर्ता तो वह है जो कार्य रूप परिणत होता है और उपचरित या निमित्त कर्ता वह है जो स्वयं कार्य रूप परिणत नहीं होकर कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की उस कार्य रूप परिणति में सहायक होता है। इस तरह चूंकि मिट्टी स्वयं (आप) कुम्भ कार्य रूप परिणत होती है इसलिये मिट्टी कुम्भ कार्य की मुख्य या उपादान कर्ता है और चूंकि कुम्भकार व्यक्ति स्वयं (आप) कुम्भ कार्य रूप परिणत नहीं होकर मिट्टी की कुम्भ कार्य रूप परिणति में मिट्टी का सहायक मात्र होता है[2] अतः वह कुम्भकार व्यक्ति कुम्भ कार्य का उपचरित या निमित्त कर्ता है।

यहां ऐसा समझना चाहिये कि कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्य रूप परिणति में सहायक होना कर्तृत्व का लक्षण नहीं है क्योंकि कर्तृत्व का लक्षण तो पूर्वोक्त प्रकार वस्तु का कार्य रूप परिणत होना ही है। दूसरी बात यह है कि कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्य रूप परिणति में सहायक होना उस सहायक होने वाली वस्तु की कर्तृत्व सिद्धि में कारण रूप ही है, वह स्वयं कर्तृत्व रूप नहीं है जैसा कि आगे प्रकट किया जाएगा। इसलिए यही निर्णीत होता है कि कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्य रूप परिणति में जो वस्तु वास्तविक रूप में सहायक होती है उसमें वास्तविक रूप से विद्यमान उस सहायकपने के आधार पर कर्तृत्व का उपचार (आरोप) किया जाता है और यही कारण है कि इस प्रकार के कर्तृत्व को उपचरित, आरोपित,

---

१ "यः परिणमति स कर्ता" (समयसार गाथा ८६ की आत्मख्याति)

२ जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्मतस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

आगन्तुक आपेक्षिक, परसापेक्ष, कल्पित नैमित्तिक या व्यवहार शब्दों से पुकारा जाता है। जिसका तात्पर्य यह होता है कि कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की कार्य रूप परिणति में सहायक होने वाली वस्तु में यद्यपि कार्य रूप परिणत होने रूप स्वयं सिद्ध या स्वाश्रित मुख्य कर्तृत्व विद्यमान नहीं है फिर भी कार्य रूप परिणत होने वाली उस वस्तु की उस कार्य रूप परिणति में सहायक होने के आधार पर निर्णीत उपचरित, आरोपित, आगन्तुक, आपेक्षिक, परसापेक्ष, कल्पित, नैमित्तिक या व्यवहार रूप कर्तृत्व तो उसमें विद्यमान है ही।

इस विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकल आता है कि कर्तृत्व का उपचार या आरोप उसी वस्तु में हुआ करता है जो वस्तु कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की उस कार्य रूप परिणति में सहायक हुआ करती है। इस तरह जब कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु की उस कार्य रूप परिणति में निमित्त कही जाने वाली वस्तु का सहायकपना वास्तविक है कथन मात्र नहीं है तो इससे वह वस्तु वहां पर अकिंचित्कर सिद्ध न होकर कार्यकारी ही सिद्ध होती है। यही कारण है कि श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव ने अपनी आप्तमीमांसा कारिका १० की अष्टशती टीका में निम्नलिखित कथन किया है—

तद सामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

अर्थ— सहकारी कारण यदि कार्य रूप परिणत होने की योग्यता रखने वाली उपादान कारण भूत वस्तु की कार्य रूप परिणत न हो सकने रूप असामर्थ्य (अशक्ति) का खण्डन नहीं करता हुआ सर्वथा अकिंचित्कर ही रहता है तो फिर उसे सहकारी कारण कहा जा सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि विवक्षित उपादन कारण से किसी विवक्षित कार्य की उत्पत्ति तभी होती है जब कि सहकारी कारण कही जाने वाली वस्तु उसे सहायता प्रदान करती है अन्यथा नहीं। इसलिये उपादान कारण की कार्य रूप परिणति में सहायक होने के आधार पर निमित्त कारण भूत वस्तु वहाँ पर कार्यकारी ही सिद्ध होती है सर्वथा अकिंचित्कर नहीं।

इस तरह जो महानुभाव उपादान कारण की कार्य रूप परिणति में निमित्त कही जाने वाली वस्तु को कार्यकारी न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानते हैं उनकी ऐसी मान्यता सत्य न होकर असत्य ही है क्योंकि उपादान कारण की कार्य रूप परिणति में निमित्त कही जाने वाली वस्तु जब तक उस उपादान कारण को अपनी सहायता प्रदान नहीं करती है तब तक वह उपादान कारण भूत वस्तु कार्य रूप परिणत नहीं हो सकती है। लोक में भी देखा जाता है कि मिट्टी तभी घट कार्य रूप परिणत होती है जब कुम्भकार व्यक्ति अपने तदनुकूल व्यापार द्वारा उसे सहायता प्रदान करता है। इसी तरह कोट, कमीज आदि विवक्षित रूप से परिणत होने की योग्यता विद्यमान रहते हुए भी दर्जी के पास दिया हुआ कपड़ा तब तक कोट, कमीज आदि रूप परिणत नहीं होता है जब तक दर्जी अपना व्यापार तदनुकूल नहीं करता है और यही कारण है कि उस कपड़े का स्वामी दर्जी के यहाँ बार-बार चक्कर लगाकर तब तक उसे प्रेरणा देता रहता है जब तक वह दर्जी उसे उस कपड़े से कोट, कमीज आदि का निर्माण कर के उसे दे नहीं देता है। यहाँ ऐसा जो समझते हैं कि जब उक्त कपड़े का कोट या कमीज आदि रूप

परिणत होने का स्वकाल आ जाता है तभी दर्जी अथवा व्यापार तदनुकूल करता है और तभी वह कपड़ा कोट, कमीज आदि रूप परिणत होता है। तो इस सम्बन्ध में उन से मेरा यही कहना है कि फिर वे कार्योत्पत्ति के लिये उपादान कारण की तरह निमित्त कारणों को जुटाने का प्रयत्न क्यों करते हैं ? आगम भी उनकी उक्त समझ का विरोधी है। प्रमेय कमलमार्तण्ड में अध्याय २ के सूत्र २ की "तत्र द्रव्य शक्तिर्नित्यैव—" इत्यादि व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि उपादान कारणभूत वस्तु का वह स्वकाल सहकारी कारण की सहायता से ही निर्मित हुआ करता है।[1] इस तरह जो महानुभाव उपादान की कार्य रूप परिणति में निमित्त कही जाने वाली वस्तु को वहां पर सहायक न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानते हैं उनकी यह मान्यता उक्त कथन से खण्डित हो जाती है क्योंकि उक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि जो वस्तु उपादान कारणभूत वस्तु की कार्यरूप परिणति में सहायक होती है उसी को निमित्त कारण या सहायक कारण कहा जाता है।

प्रकृत में इस कथन का इस प्रकार समन्वय कर लेना चाहिये कि कुम्भकार व्यक्ति मिट्टी की कुम्भ रूप परिणति में सहायक होता है इसलिये उसे वहां पर निमित्त या सहायक कारण कहा जाता है सर्वथा अकिंचित्कर होने के आधार पर उसे वहां पर निमित्त या सहायक कारण कहा जाता हो— ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार की व्यवस्था लोहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार अध्यापक और पाचक आदि सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार यदि उपर्युक्त कुम्भकार, लोहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार, अध्यापक और पाचक व्यक्तियों मे मिट्टी आदि उस उस पदार्थ की कुम्भ आदि उस उस कार्य रूप परिणति के प्रति वास्तविक रूप से यथा योग्य सहायकपने का अस्तित्व नहीं माना जाय अर्थात् उन्हें वहां पर सर्वथा अकिंचित्कर ही मान लिया जाय तो फिर उन कुम्भकार आदि व्यक्तियों मे उस उस कार्य के प्रति कर्तृत्व का उपचार या आरोप करना असंगत ही हो जायगा क्योंकि सर्वत्र उपचार या आरोप की प्रवृत्ति निमित्त तथा यथा सम्भव प्रयोजन रूप आधारों के बल पर ही हुआ करती है। इसके अतिरिक्त कुम्भकार आदि व्यक्तियों में मिट्टी आदि उस उस पदार्थ की कुम्भ आदि उस-२ कार्य रूप परिणति के प्रति सहायकपने का अस्तित्व नही मानने से अर्थात् वहां पर उन्हें सर्वथा अकिंचित्कर मान लेने से उन कुम्भकार आदि व्यक्तियों में जब कुम्भ आदि के कर्तृत्व का उपचार या आरोप करना असंगत हो जाता है तो ऐसी हालत में यह समस्या भी खड़ी हो जायगी कि उन कुम्भकार आदि व्यक्तियों के प्रतिपादन के लिये कुम्भकार आदि वचनों का प्रयोग करना भी असंगत हो जायगा।

समयसार गाथा १०५ में जीव में जो कर्मों के कर्तृत्व का उपचार या आरोप स्वीकार किया गया है वह इसी आधार पर स्वीकार किया गया है कि जीव पुद्गल के कर्म रूप परिणमन में सहायक होता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार मत्तेण ॥

---

१ "तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षयैव, इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावात् सर्वदा कार्योत्पत्ति प्रसंगः सहकारिकारणापेक्षा वैयर्थ्यं च"

अर्थ— यतः जीव के हेतुभूत अर्थात् निमित्त या सहायक होने पर ही बन्ध का परिणाम देखा जाता है अतः उपचार से जीव को कार्य का कर्ता कहा जाता है।

पुद्गल के कर्म रूप परिणमन में जीव की हेतुता को और जीव के रागादि रूप परिणमन में पुद्गल कर्म की हेतुता को समयसार गाथा ८० में स्पष्ट स्वीकार किया गया है। वह गाथा भी निम्न प्रकार है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥

अर्थ— जीव के परिणामों के हेतु अर्थात् निमित्त होने पर पुद्गल कर्म रूप परिणत होते हैं और पुद्गल कर्मों के निमित्त होने पर जीव भी रागादि रूप परिणत होता है।

समयसार के ये उद्धरण स्पष्ट बतला रहे हैं कि विवक्षित वस्तु की विवक्षित कार्य रूप परिणति मे जो वस्तु अपने ढग से सहायक हुआ करती है उसमें कर्तृत्व का उपचार या आरोप होता है। आलाप पद्धति ग्रन्थ में भी यही व्यवस्था उपचार या आरोप के विषय में बतलायी गयी है और जिसे प० फूलचन्द्र जी ने भी स्वीकार किया है कि निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर ही उपचार की प्रवृत्ति होती है। आलाप पद्धति का वह कथन निम्न प्रकार है—

मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते ॥

अर्थ— जहाँ मुख्यरूपता का आभाव हो तथा निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव हो वही पर उपचार प्रवृत्त होता है।

इससे यही सिद्ध होता है कि निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन के आधार पर ही पदार्थ मे उपचरितरूपता मानी जा सकती है अन्यथा नही। आलाप पद्धति के उक्त कथन का प्रकृत मे निम्न प्रकार से समन्वय होता है।

आलाप पद्धति के कथन का प्रकृत में समन्वय

एक तो कुम्भकार व्यक्ति में पूर्वोक्त प्रकार कुम्भ कर्तृत्व के रूप में मुख्यरूपता का अभाव है क्योंकि कुम्भकार व्यक्ति स्वयं (आप) कुम्भ रूप परिणत नहीं होता है, दूसरे जब मिट्टी से कुम्भ की उत्पत्ति कुम्भकार व्यक्ति की सहायता के बिना असम्भव है तो उस कुम्भकार व्यक्ति मे मिट्टी की कुम्भ रूप परिणति के प्रति सहायक होने रूप से निमित्त रूपता का सद्भाव सिद्ध हो जाता है और तीसरे वहाँ पर जलाहरण आदि प्रयोजन सिद्धि की भी अपेक्षा होने से प्रयोजन का भी सद्भाव सिद्ध हो जाता है। इस तरह आलाप पद्धति में निर्दिष्ट उपचार का उपर्युक्त लक्षण घटित हो जाने से कुम्भकार व्यक्ति में कुम्भ कर्तृत्व की उपचरितरूपता निर्णीत हो जाती है तथा उसके आधार पर उस कुम्भकार व्यक्ति का कुम्भ के कर्ता रूप मे प्रतिपादन करने के लिये कुम्भकार वचन का प्रयोग भी संगत हो जाता है क्योंकि तब वह कुम्भकार वचन व्युत्पत्ति के अनुसार स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही उस कुम्भ कर्तृत्व का प्रतिपादन करता है। यही

व्यवस्था लोहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार, अध्यापक और पाचक आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

यहां प्रसङ्ग वश मैं इतनी बात और लिख देना चाहता हूं कि जिस प्रकार कुम्भकार, लोहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार, अध्यापक और पाचक व्यक्तियों का अस्तित्व सामान्य रूप से स्वतन्त्र रहते हुए भी कुम्भ आदि के कर्ता रूप में उनका जो अस्तित्व है वह निमित्त तथा प्रयोजन के आधार पर ही सिद्ध होता है उसी प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम की स्वतः सिद्ध अतएव अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और स्वरूप तथा प्रदेशों के साथ अखण्डरूपता को प्राप्त वस्तुओं को छोड़कर जितनी भी पूर्व में अभिधेय भूत मुख्य पदार्थों के विवेचन में बतलायी गयी पृथ्वी आदि वस्तुयें हैं वे सभी सामान्य रूप से अपने-अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की धारक होती हुई भी उनका जो अस्तित्व यथा योग्य सादि, सान्त, पराश्रित और स्वरूप तथा प्रदेशों के साथ सखण्डरूपता को प्राप्त है वह भी निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन के आधार पर ही सिद्ध होता है। अतः कुम्भकार आदि पदार्थों की तरह पृथ्वी आदि पूर्वोक्त सभी वस्तुयें भी उपचरित पदार्थों में ही गर्भित होती हैं।

तात्पर्य यह है कि जीव नाम की असंख्यात प्रदेश वाली अनन्त वस्तुयें, अणु रूप पुद्गल नाम की एक प्रदेश वाली अनन्त वस्तुयें, अणुरूपता को प्राप्त काल नाम की असंख्यात वस्तुयें तथा असंख्यात प्रदेश वाली धर्म नाम की एक वस्तु, असंख्यात प्रदेश वाली ही अधर्म नाम की एक वस्तु और अनन्त प्रदेश वाली आकाश नाम की एक वस्तु— इस तरह ये ही ऐसी वस्तुयें हैं जिन्हें स्वतः सिद्ध अतएव अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और स्वरूप तथा प्रदेशों के साथ अखण्डरूपता को प्राप्त रहने के कारण स्वयं सिद्ध अस्तित्व की धारक मुख्य वस्तु माना जा सकता है तथा इनके अतिरिक्त विश्व में जितनी भी पृथ्वी आदि के रूपों को धारण करने वाली नाना अणुओं के पिण्ड रूप को प्राप्त होने के आधार पर सादि, सान्त, पराश्रित और स्वरूप तथा प्रदेशों के साथ सखण्डरूपता को प्राप्त वस्तुयें सम्भव हैं वे सभी वस्तुयें निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन के आधार पर ही अपने अस्तित्व को रख रही हैं। इसलिये ऐसी सभी वस्तुओं को उपचरित वस्तु ही माना जा सकता है। यही कारण है कि जैनागम में उपर्युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम की स्वतः सिद्ध अतएव अनादि अनिधन, स्वाश्रित और स्वरूप तथा प्रदेशों के साथ अखण्डरूपता को प्राप्त वस्तुओं को स्वयं सिद्ध अस्तित्व की धारक होने के आधार पर शुद्ध अर्थात् मुख्य पदार्थों के रूप में स्वीकार किया गया है तथा इनके अतिरिक्त नाना अणुरूप शुद्ध पुद्गलों के पिण्ड रूप में सखण्डरूपता को प्राप्त पृथ्वी आदि सभी वस्तुओं को, पौद्गलिक कर्म तथा नोकर्म के साथ बद्धता को प्राप्त संसारी जीवों को एवं प्रत्येक वस्तु की समस्त पर्यायों को निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न अस्तित्व की धारक वस्तु होने के आधार पर अशुद्ध अर्थात् उपचरित पदार्थों के रूप में स्वीकार किया गया है तथा इन शुद्ध अर्थात् मुख्य व अशुद्ध अर्थात् उपचरित पदार्थों का प्रतिपादन चूंकि उस-उस वचन के द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है अतः यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि उपचरित पदार्थ भी मुख्य पदार्थ की तरह सद्रूप ही है केवल मुख्य और उपचरित दोनों पदार्थों की उस सद्रूपता में इतना भेद है कि मुख्य पदार्थों की सद्रूपता तो स्वयं

सिद्ध है व उपचरित पदार्थों की सद्रूपता निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन रूप आधारों के बल पर ही निष्पन्न होती है।

पदार्थों की उपचरितरूपता के नियामक आधारों की सार्थकता

ऊपर आलाप पद्धति का जो पदार्थों की उपचरितरूपता के नियामक आधारों को बतलाने वाला वचन उद्धृत किया गया है उसमें यह बतलाया गया है कि पदार्थ की उपचरितरूपता के नियामक आधार तीन होते हैं— एक तो जिस पदार्थ मे उपचरितरूपता सिद्ध करना हो उसमें मुख्यरूपता का अभाव होना चाहिये, दूसरे उस पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि का वहां पर कोई निमित्त रूप आधार होना चाहिये और तीसरे उस पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि का वहाँ पर यथासम्भव कोई प्रयोजन रूप आधार होना चाहिये।

इसमें यह विचार करना है कि पदार्थों में उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये जो उनमें मुख्यरूपता के अभाव को आधार माना गया है वह इसलिये माना गया है कि जो पदार्थ जिस रूप में मुख्यरूपता को प्राप्त है वह पदार्थ उसी रूप में उपचरितरूपता को प्राप्त नहीं हो सकता है और जो पदार्थ जिस रूप में उपचरितरूपता को प्राप्त है वह पदार्थ उस रूप में मुख्यरूपता को प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि पदार्थ की मुख्यरूपता और उपचरितरूपता दोनों में परस्पर विरोध है। जैसे कुम्भकार व्यक्ति का जो सामान्य रूप से अस्तित्व है वह स्वयं सिद्ध होने से मुख्य रूप ही है उपचरित रूप नहीं है और उसका कुम्भ के कर्ता रूप में जो अस्तित्व है वह परतः सिद्ध होने से उपचरित रूप ही है मुख्य रूप नहीं है। इससे यह निर्णीत हो जाता है कि जिस पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि करना हो उस पदार्थ में मुख्यरूपता का अभाव नियम से होना चाहिये। इसी प्रकार पदार्थ की उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये जो वहां पर निमित्त के सद्भाव को भी आधार माना गया है वह इसलिये माना गया है कि जहाँ पर किसी प्रकार के निमित्त का सद्भाव नहीं है वहाँ पर पदार्थ की उपचरितरूपता नही सिद्ध की जा सकती है। जैसे कुम्भकार व्यक्ति का जो कुम्भ के कर्ता रूप में अस्तित्व है वह इसलिये उपचरित है कि उसका वह अस्तित्व मिट्टी के घट रूप परिणमन में उसके सहायक होने के आधार पर ही निष्पन्न होता है। अर्थात् कुम्भकार व्यक्ति को कुम्भकार इसलिये कहा जाता है कि वह मिट्टी के कुम्भ रूप परिणमन में सहायक होता है जिसका तात्पर्य यह होता है कि कुम्भकार व्यक्ति के सहयोग के बिना मिट्टी कदापि कुम्भ रूप परिणत नहीं होती है। इससे यह निर्णीत हो जाता है कि पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये उस में मुख्यरूपता का अभाव रहने के साथ ही वहां पर निमित्त रूप आधार का सद्भाव भी नियम से होना चाहिये। पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये उस पदार्थ में मुख्यरूपता का अभाव और वहाँ पर निमित्त का सद्भाव इन दोनों को जिस प्रकार स्थान प्राप्त है उसी प्रकार वहां पर प्रयोजन को भी यथा सम्भव स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि कुम्भकार व्यक्ति जलाहरण आदि प्रयोजनों की सिद्धि को लक्ष्य में रखकर ही मिट्टी से कुम्भ को निष्पन्न करने में प्रवृत्त होता है अन्यथा नहीं। पदार्थ की उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये उपर्युक्त तीनों आधारों की सार्थकता कुम्भकार की तरह लौहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार, अध्यापक और पाचक इन सभी स्थलों में समझ लेना चाहिये। इस तरह यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि

जहाँ पदार्थ में मुख्यरूपता का अभाव हो तथा निमित्त का नियम से सद्भाव हो और प्रयोजन का यथासम्भव सद्भाव हो वहीं पर उपचार की प्रवृत्ति होती है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये प्रयोजन के सद्भाव को जो यथा सम्भव आधार स्वीकार किया गया है उसका आशय यह है कि कहीं तो पदार्थ की उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये उपर्युक्त तीनों आधार अपेक्षित रहा करते हैं और कहीं मुख्यरूपता का अभाव तथा निमित्त का सद्भाव इस तरह दो ही आधार अपेक्षित रहा करते हैं। इसका कारण यह है कि पदार्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि के लिये कहीं तो प्रयोजन का सद्भाव विद्यमान रहता है और कहीं उसका अभाव भी रहा करता है। जैसे कुम्भकार व्यक्ति में कुम्भ कर्तृत्व का उपचार, लोहकार व्यक्ति में लोहकर्तृत्व का उपचार, काष्ठकार व्यक्ति में काष्ठकर्तृत्व का उपचार, पटकार व्यक्ति में पटकर्तृत्व का उपचार, चर्मकार व्यक्ति में चर्मकर्तृत्व का उपचार, अध्यापक व्यक्ति में शिक्षणकर्तृत्व का उपचार और पाचक व्यक्ति में रसोई के कर्तृत्व का उपचार तो उपर्युक्त तीनों आधारों के बल पर होता है, लेकिन पृथ्वी आदि में जो वस्तुत्व का उपचार होता है वह केवल मुख्यरूपता का अभाव और निमित्त का सद्भाव इन दोनों आधारों के बल पर ही हो जाता है। क्योंकि वहां पर प्रयोजन रूप आधार का अभाव पाया जाता है। इसका कारण यह है कि अणु रूप नाना पुद्गल प्राकृतिक ढंग से ही बद्ध होकर पृथ्वी आदि का रूप धारण कर लेते हैं। इतना अवश्य है कि यदि कोई वैज्ञानिक हाइड्रोजन और आक्सीजन को यथा योग्य परिमाण में मिलाकर जहाँ जल का निर्माण करता है वहां वह जल का वह निर्माण किसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही करता है— इस तरह वहां उपचरित पदार्थ के निर्माण में तीनों आधार उपयोगी हो जाया करते हैं।

ऊपर पदार्थों की उपचरितरूपता का जो विवेचन किया गया है वह उन पदार्थों की स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है। अब आगे पदार्थों की उपचरितरूपता का विवेचन वचन के अर्थ के आधार पर किया जाता है।

लोक में तथा आगम में "अन्नं वै प्राणा:", "सिंहो माणवक:" और "गङ्गायां घोष:" वचनों के प्रयोग देखे जाते हैं जिनका अर्थ क्रमशः अन्न ही प्राण हैं, बालक सिंह है और गङ्गा के तट पर टपरा है— होता है, परन्तु न अन्न प्राण हैं, न बालक सिंह है और न गङ्गा नदी गङ्गा तट है। यद्यपि यह स्थिति वास्तविक है परन्तु फिर भी लोक में तथा आगम में उक्त अर्थों को लक्ष्य में रखकर ही उक्त तीनों प्रयोग किये गये हैं या किये जाते हैं और उन्हें वहां पर सङ्गत ही माना जाता है असङ्गत नहीं। इसका कारण यह है कि "अन्नं वै प्राणा:" इस प्रयोग में अन्न में जो प्राणरूपता स्वीकृत की गयी है वह उपचरित रूप में ही स्वीकृत की गयी है। इसी तरह "सिंहो माणवक:" इस प्रयोग में बालक में जो सिंहरूपता स्वीकार की गयी है वह भी उपचरित रूप में ही स्वीकृत की गयी है और इसी तरह "गंगायां घोष:" इस प्रयोग में जो गंगा शब्द का गंगा तट अर्थ स्वीकार किया गया है वह भी उपचरित में ही स्वीकार किया गया है तथा यह सब आलाप पद्धति के पूर्वोक्त कथन के अनुसार पूर्वोक्त तीनों आधारों के बल पर ही स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि "अन्नं वै प्राणाः" यहां पर अन्न में जो प्राणरूपता स्वीकृत की गयी है वह तभी सङ्गत मानी जा सकती है जब कि अन्न में प्राणों का उपचार किया जाय क्योंकि अन्न स्वयं प्राण नहीं है। यह उपचार इस आधार पर स्वीकृत करना योग्य है कि एक तो अन्न में प्राणरूपता का अभाव है, दूसरे अन्न को प्राण स्वीकार करने में निमित्त यह है कि अन्न प्राणों के संरक्षण में कारण है और तीसरे अन्न को प्राण स्वीकार करने में प्रयोजन यह है कि प्राण संरक्षण में अन्न की महत्ता प्रस्थापित होती है। इसी तरह "सिंहो माणवकः" यहां पर बालक में जो सिंहरूपता स्वीकृत की गयी है वह तभी संगत मानी जा सकती है जब कि बालक म सिंह का उपचार किया जाय, क्योंकि बालक स्वयं सिंह नहीं है। यह उपचार भी इस आधार पर स्वीकृत करने योग्य है कि एक तो बालक मे सिंहरूपता का अभाव है, दूसरे बालक को सिंह स्वीकार करने मे निमित्त यह है कि बालक में सिंह जैसा शौर्य विद्यमान है और तीसरे बालक को सिंह स्वीकार करने में प्रयोजन यह है कि इससे बालक के शौर्य की प्रसिद्धि होती है और इसी तरह 'गङ्गायां घोष." यहां पर गङ्गा में जो गङ्गा तटरूपता स्वीकार की गयी है यह भी तभी सङ्गत हो सकती है जब कि गङ्गा में गङ्गा तट का उपचार किया जाय क्योंकि गङ्गा स्वयं गङ्गा तट नहीं है। यह उपचार इस आधार पर स्वीकृत करना योग्य है कि एक तो गङ्गा में गङ्गा तटरूपता का अभाव है दूसरे गङ्गा को गङ्गा स्वीकार करने में निमित्त यह है कि गंगा का गंगा तट के साथ सामीप्य सम्बन्ध है और तीसरे गगा को गंगा तट स्वीकार करने मे प्रयोजन यह है कि गगा तट को गंगा कहने से टपरा में शीतता और पवित्रता की प्रतीति होती है। इस तरह आलाप पद्धति के पूर्वोक्त कथन के अनुसार मुख्यरूपता का अभाव, निमित्त का सद्भाव व प्रयोजन का सद्भाव सिद्ध हो जाने से अन्नं वै प्राणाः" यहां पर अन्न मे प्राणरूपता का, "सिंहोमाणवकः" यहाँ पर बालक में सिंहरूपता का और "गगायां घोषः" यहां पर गगा में गगा तटरूपता का उपचार सिद्ध हो जाता है। यह अन्न की प्राण रूपता, बालक की सिंह रूपता और गगा की गंगा तटरूपता बन्ध्यासुत, आकाशकुसुम तथा खर-विषाण की तरह सर्वथा असद्रूप नहीं है किन्तु कथंचित् सद्रूप ही है। लेकिन सद्रूप होकर भी न लक्ष्यार्थ रूप है और न व्यंग्यार्थ रूप ही है क्योंकि उपचरितरूपता की सिद्धि में जो निमित्त होता है वही लक्ष्यार्थ माना जाता है और उपचरितरूपता की सिद्धि में जो प्रयोजन होता है वही व्यग्यार्थ माना जाता है। अतः इन सब से भिन्न ही उपचरितरूपता है जिसका प्रतिपादन उस-२ वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति या स्वनिष्ठ व्यजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर न होकर स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर ही होता है।

लोक तथा आगम में "मञ्चाः क्रोशन्ति" और "धनुर्धावति" वचनों का भी प्रयोग देखा जाता है। इन वचनों का अर्थ क्रमशः मञ्च पर बैठे पुरुष चिल्लाते हैं व धनुर्धारी पुरुष दौड़ता है होता है। अब विचारना यह है कि "मञ्चाः क्रोशन्ति" यहाँ पर मञ्च का जो मञ्चस्थ पुरुष अर्थ स्वीकार किया गया है वह तभी सङ्गत हो सकता है जब कि मञ्च में मञ्चस्थ पुरुष का उपचार किया जाय, क्योंकि मञ्च स्वय मञ्चस्थ पुरुष नहीं है। यह उपचार इस आधार पर स्वीकृत करना योग्य है कि एक तो मञ्च में मञ्चस्थ पुरुषरूपता का अभाव है और दूसरे मंच को मंचस्थ पुरुष स्वीकार करने में निमित्त यह है कि मंच और मचस्थ पुरुष में संयोग या आधाराधेय सम्बन्ध विद्यमान है। इसी तरह "धनुर्धावति"

यहां पर धनुर् का जो धनुर्धारी पुरुष अर्थ स्वीकार किया गया है वह तभी संगत हो सकता है जब कि धनुर् में धनुर्धारी पुरुष का उपचार किया जाय, क्योंकि धनुर् स्वयं धनुर्धारी पुरुष नहीं है। वह उपचार इस आधार पर स्वीकृत करना योग्य है कि एक तो धनुर् में धनुर्धारी पुरुष रूपता का अभाव है और दूसरे धनुर् को धनुर्धारी पुरुष स्वीकार करने में निमित्त यह है कि धनुर् और धनुर्धारी पुरुष में संयोग या स्व स्वामिभाव सम्बन्ध विद्यमान है। इस तरह मुख्यरूपता का अभाव और निमित्त का सद्भाव सिद्ध हो जाने से "मञ्चाः क्रोशन्ति" यहां पर मंच में मंचस्थ पुरुष का तथा "धनुर्धावति" यहां पर धनुर् में धनुर्धारी पुरुष का उपचार सिद्ध हो जाता है। यह मंच की मंचस्थ पुरुषरूपता और धनुर् की धनुर्धारी पुरुषरूपता भी बन्ध्यासुत, आकाशकुसुम और खरविषाण की तरह सर्वथा असद्रूप नहीं है किन्तु कथंचित् सद्रूप ही है। लेकिन सद्रूप होकर भी न लक्ष्यार्थ रूप है और न व्यंग्यार्थ रूप ही है क्योंकि उपचरित रूप की सिद्धि में जो निमित्त होता है वही लक्ष्यार्थ माना जाता है और उपचरित रूप की सिद्धि में जो प्रयोजन होता है वही व्यंग्यार्थ माना जाता है। अतः इन सब से भिन्न ही उपचरित पदार्थरूपता है जिसका प्रतिपादन उस-२ वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्यरूप में या स्वनिष्ठ व्यञ्जनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्य रूप में न होकर स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है।

उपचार प्रवृत्ति के उपर्युक्त विवेचन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कहीं तो उपचार प्रवृत्ति के लिये विवक्षित पदार्थ में विवक्षित वचन के अभिधेय रूप में मुख्यरूपता का अभाव तथा निमित्त और प्रयोजन का सद्भाव इस तरह तीनों आधार रहा करते हैं और कहीं विवक्षित पदार्थ में विवक्षित वचन के अभिधेय रूप में मुख्यरूपता का अभाव तथा निमित्त का सद्भाव इस तरह दो ही आधार रहा करते हैं।

इस सब कथन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि वचन का प्रयोग करने वाला वक्ता होता है। अब यदि वक्ता मूर्ख या पागल नहीं है तो वह वचन का प्रयोग या तो अभिधेय रूप में मुख्य पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये करता है या अभिधेय रूप में उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये करता है। यदि वक्ता वचन का प्रयोग अभिधेय रूप में मुख्य पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये करना चाहता है तो ऐसे वचन का प्रयोग करता है जिसका अभिधेय रूप में प्रतिपाद्य स्पष्ट रूप से मुख्य पदार्थ होता है। जैसे "मिट्टी का घड़ा" यह वचन अभिधेय रूप में मिट्टी से निर्मित घड़ा रूप मुख्य पदार्थ का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है क्योंकि मिट्टी से घड़े का निर्माण हुआ करता है। इसी प्रकार यदि वक्ता वचन का प्रयोग अभिधेय रूप में उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये करना चाहता है तो ऐसे वचन का प्रयोग करता है जिसका अभिधेय रूप में प्रतिपाद्य स्पष्ट रूप से उपचरित पदार्थ होता है। जैसे "घी का घड़ा" यह वचन अभिधेय रूप में घी का आधारभूत घड़ा रूप उपचरित पदार्थ का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है। क्योंकि घी से घड़े का निर्माण होना असम्भव है इसलिये उस वचन से घी से निर्मित घड़ा का प्रतिपादन तो हो नहीं सकता है लेकिन घड़ा घी का आधार भूत तो होता है इसलिये उस वचन से घी के आधारभूत घड़े का प्रतिपादन हो सकता है। इस तरह वक्ता "घी का घड़ा" इस वचन का प्रयोग अभिधेय रूप में घी का आधार भूत घड़ा रूप

उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये ही करता है तथा श्रोता भी वक्ता के द्वारा बोले गये उस वचन से घी के आधारभूत घड़े का ही बोध किया करता है। अब विचारना यह है कि "घी का घड़ा" इस वचन का घी का आधारभूत घड़ा रूप उपचरित पदार्थ क्यों है ? इसके विषय में आगे विचार किया जाता है।

पहली बात तो यह है कि "घी का घड़ा" इस वचन में घी से निर्मित घड़ा रूप मुख्य पदार्थ के प्रतिपादन की क्षमता का अभाव है क्योंकि घी से घड़े का निर्माण असम्भव है तथा घी का आधारभूत घड़ा जो "घी का घड़ा" इस वचन का विवक्षित अर्थ है उसमें मुख्यरूपता का अभाव है क्योंकि घी का आधारभूत घड़ा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध नहीं है किन्तु परतः सिद्ध है। अर्थात् घी और घड़े में विद्यमान आधाराधेय सम्बन्ध को निमित्त करके ही "घी का घड़ा" यह प्रयोग वक्ता द्वारा किया जाता है और श्रोता भी इसी आधाराधेय सम्बन्ध को ध्यान मे रखकर ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त "घी का घड़ा" इस वचन का प्रतिपाद्य घी के आधारभूत घड़े को ही निर्विवाद स्वीकार कर लेता है। इसके साथ ही जब कोई वक्ता किसी अन्य व्यक्ति को यह कहता है कि घी का घड़ा लाओ, तो इसमें उसका उस घड़े में से घी निकालने का या उसमें घी रखने का प्रयोजन भी रहा करता है। इस तरह आलाप पद्धति के "मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते" वचन के अनुसार उक्त अर्थ में उपचरितरूपता की सिद्धि हो जाती है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि वक्ता "घी का घड़ा" इस वचन को बोलते समय और श्रोता उसको सुनते समय उक्त तीनों बातों के आधार पर ऐसा निर्धारण कर लेते हैं कि "घी का घड़ा" इस वचन का अभिधेयार्थ घी का आधारभूत घड़ा रूप उपचरित पदार्थ ही है। यदि वक्ता और श्रोता उक्त प्रकार निर्धारण न कर सकें तो न तो वक्ता घी के आधारभूत घड़े को बुलाने के अभिप्राय से "घी का घड़ा लाओ" इस वचन का प्रयोग कर सकेगा और न श्रोता ही उस वचन से वक्ता के उक्त अभिप्राय को समझ सकेगा। इसलिये यह स्वीकार करना पड़ता है कि वक्ता "घी का घड़ा" इस वचन को बोलते समय और श्रोता सुनते समय उक्त तीनों बातों के आधार पर यह निर्धारण कर लेते हैं कि "घी का घड़ा" इस वचन का अभिधेयार्थ घी का आधारभूत घड़ा रूप उपचरित पदार्थ ही है।

इसी प्रकार के उपचरित पदार्थ की और उसके प्रतिपादन की व्यवस्था वक्ता और श्रोता की दृष्टि से कुम्भकार, लौहकार, काष्ठकार, पटकार, चर्मकार अध्यापक और पाचक वचनों के प्रयोगों में तथा "अन्नं वै प्राणाः", "सिंहो माणवकः", "गङ्गायां घोषः", "मञ्चाःक्रोशन्ति" और "धनुर्धावति" वचनों के प्रयोगों में भी समझ लेनी चाहिये।

इस प्रकार मैंने यहां पर वचन के अर्थभूत उपचरित पदार्थ के विषय में आगम के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है तथा इसके साथ ही वचन के अर्थभूत मुख्यपदार्थ के विषय में भी आगम का दृष्टिकोण स्पष्ट किया है और अब प्रसङ्गवश वचन के लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ भूत पदार्थों का भी संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है।

वचन के लक्ष्य और व्यंग्यभूत पदार्थों का विवेचन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि वचन के अभिधेय रूप पदार्थ मुख्य और उपचरित के भेद से दो प्रकार के होते हैं और यह भी बतलाया जा चुका है कि वचन का अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो तथा वचन का अभिधेय रूप उपचरित पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध न होकर निमित्त व यथासम्भव प्रयोजन के आधार पर निष्पन्न हुआ हो। इस तरह उपचरित पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि में जो निमित्त रूप पदार्थ होता है उसे तो लक्ष्य रूप पदार्थ समझ लेना चाहिये तथा जो वहां पर प्रयोजन रूप पदार्थ होता है उसे व्यंग्य रूप पदार्थ समझ लेना चाहिये। इनमें से लक्ष्य रूप पदार्थ का प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्य रूप में ही होता है और व्यंग्य रूप पदार्थ का प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्य रूप में ही होता है जिसका तात्पर्य यह है कि जो वचन अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ का प्रतिपादन नहीं करके अभिधेय रूप उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन करता है उसी वचन से उपचरित पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि मे निमित्तभूत लक्ष्य रूप पदार्थ का प्रतिपादन, भी लक्ष्य रूप में होता है और उसी वचन से उपचरित पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि में प्रयोजनभूत व्यंग्य रूप पदार्थ का प्रतिपादन भी व्यंग्य रूप में होता है। इतना अवश्य है कि उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन तो वचन द्वारा अभिधेय रूप में साक्षात् होता है और लक्ष्य रूप तथा व्यंग्य रूप पदार्थों का प्रतिपादन उसी वचन द्वारा परम्परया होता है। ये सभी बातें पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी हैं। इन सब बातों का समन्वय दृष्टान्त में इस प्रकार कर लेना चाहिये कि कुम्भकार व्यक्ति का कुम्भकार वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में साक्षात् होता है व कुम्भकार व्यक्ति में विद्यमान कुम्भ कर्तृत्व का प्रतिपादन भी कुम्भकार वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप मे कुम्भकार वचन की व्युत्पत्ति के अनुसार साक्षात् होता है। यतः कुम्भकार व्यक्ति मे विद्यमान कुम्भ कर्तृत्व की सिद्धि कुम्भ और कुम्भकार व्यक्ति में विद्यमान निमित्त नैमित्तिक भाव के आधार पर होती है। अतः निमित्त नैमित्तिक भाव का प्रतिपादन भी उसी कुम्भकार वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्यरूप मे परम्परया होता है और इसी प्रकार यतः कुम्भकार व्यक्ति जलाहरण आदि प्रयोजनो को ध्यान मे रख कर ही कुम्भ के उत्पादन मे प्रवृत्त होता है। अतः उन प्रयोजनों का प्रतिपादन भी उसी कुम्भकार वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्यरूप में परम्परया होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम की दृष्टि में उपचरित पदार्थ बन्ध्यासुत, आकाशकुसुम, और खरविषाण की तरह सर्वथा असद्रूप नहीं है किंतु कथंचित् सद्रूप ही है और जिस रूप में वह सद्रूप है उस रूप से उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ लक्षणावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर लक्ष्य रूप में भी नहीं होता है व जिस रूप में वह सद्रूप है उस रूप से उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ व्यंजनावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर व्यंग्य रूप में भी नहीं होता है— इस तरह यह भी भली भांति सिद्ध हो जाता है कि उपचरित पदार्थ सद्रूप होकर भी लक्ष्य रूप और व्यंग्य रूप दोनों पदार्थों से भी भिन्न अभिधेय रूप

पदार्थ है तथा उसका प्रतिपादन वचन द्वारा स्वनिष्ठ अभिधावृत्ति नामक पदार्थ प्रतिपादन शक्ति के आधार पर अभिधेय रूप में ही होता है। वह अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ इसलिये नहीं है कि उसका अस्तित्व स्वयं सिद्ध न होकर निमित्त तथा यथासम्भव प्रयोजन के आधार पर सिद्ध होता है जब कि अभिधेय रूप मुख्य पदार्थ का अस्तित्व स्वयं सिद्ध होता है। संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय रूप मिथ्या वचनों द्वारा उसका प्रतिपादन इसलिये नहीं होता है कि उपचरित पदार्थ का प्रतिपादन वचन द्वारा जैसा है उसी रूप में होता है जब कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप मिथ्या वचन पदार्थ का प्रतिपादन जैसा है उसी रूप में नहीं करके अन्यथा रूप में ही करते हैं।

इस घोर निकृष्ट पंचमकाल (कलियुग) में दि० मुनि होना निरर्थक नहीं।

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं, तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

आज भी इस कलिकाल में रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुये दिगम्बर मुनि आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकान्तिक पद को प्राप्त करते हैं और वहां से च्युत होकर निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

—मो० प्रा० आ० कुन्दकुन्द

◉

दि० जैनाचार्यों की मार्मिक चेतावनी!

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एएण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थात् हे भव्य जीवो! यदि तुम जिन मत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (साधन) का नाश हो जायगा तथा निश्चय के बिना तत्व (साध्य) का नाश हो जायगा।

—समयसार गाथा १२ की टीका

●

श्रावक के प्राथमिक गुण

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

ऋषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थंकर जिनेन्द्रों द्वारा पुरस्कृत धर्म व्यवस्था में उसके अनुयायी चतुर्विध सङ्घ के रूप में सङ्गठित रहते आए हैं। मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका समन्वित इस धर्म सङ्घ में प्रथम दो अर्थात् मुनि आर्यिका अथवा साधु साध्वियां तो संसार एवं गृह त्यागी अनागार होते हैं। सर्वथा निष्परिग्रही और निर्ग्रंथ होते हैं। पूर्ण संयमी और तपोधन होते हैं। मोक्ष उनका लक्ष्य होता है और वे मोक्षमार्ग के एकनिष्ठ साधक होते हैं। इसके विपरीत श्रावक-श्राविका गृहस्थ संसारी नर-नारी हैं। वे आहार-भय-मैथुन-परिग्रह नामक सहज सज्ञाओं के वशीभूत तथा भोगेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा आदि मौलिक इच्छाओं से प्रेरित होकर जीवन के संरक्षण एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामग्री के उत्पादन-अर्जन और उत्पादित या अर्जित सामग्री के भोगोपभोग में ही मुख्यतया रत रहते हैं। गृहस्थ स्त्री-पुरुषों की ये प्रवृत्तियां यदि स्वेच्छाचारी एवं उच्छृङ्खल हो जाती हैं तो सामाजिक ही नहीं वैयक्तिक सुख-शांति भी नष्ट हो जाती है। ससारी अवस्था जो पहले ही दुख-पूर्ण है ऐसी नितान्त वैयक्तिक स्वार्थ से प्रेरित अनर्गल प्रवृत्तियों से साक्षात् नरक तुल्य हो जाती है। अतएव वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख-शांति के सम्पादन की दृष्टि से मनुष्य की उक्त सांसारिक प्रवृत्तियों को संयमित, नियमित एवं मर्यादित करने के लिए तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का उसकी दृष्टि में उचित मान बनाए रखने के लिए उसे धर्म का उपदेश दिया जाता है। अर्थ और काम पुरुषार्थों का साधन तो मनुष्य स्वतः करता ही है साथ में धर्म पुरुषार्थ का यथाशक्य साधन करने की प्रेरणा उसे इसलिए दी जाती है कि वह उक्त दोनों पुरुषार्थों का साधन भी अन्य प्राणियों से निर्विरोध, धर्मानुकूल एवं न्यायानुकूल करे और अन्ततः ससार से मुक्ति दिलाने वाले आत्म-साधन के परम लक्ष्य को भी वह जाने ले, पहिचान ले, और दृष्टि से ओझल न होने दे।

यों तो जैनधर्म का प्रत्येक अनुयायी जैन या जैनी कहलाता है, किन्तु ये जैन भी कई प्रकार के हो सकते हैं। होते भी है। बहुसंख्या तो ऐसी ही व्यक्तियों की है जो जैन कुल में जन्म लेने या जैन माता-पिता की संतान होने के कारण ही जैन हैं। अनेक बार अजैन लड़कियां भी जैनकुल में विवाहित होने के कारण जैन कहलाती हैं। ऐसे जैनी मात्र जन्मतः अथवा नाम के जैनी हैं। उनमें से जो जैनधर्म के स्वरूप को जान-समझ कर उसमें विश्वास और आस्था रखने लगते हैं, उन्हें विश्वासतः जैन कहा जा सकता है। जैन धर्म में नवदीक्षित व्यक्ति भी इसी कोटि में आते हैं, और जो केवल विश्वास तक ही सीमित न रहकर धर्मानुसार आचरण भी करने लगते हैं वे कर्मतः जैन है।

इसी प्रकार पाक्षिक जैन या पाक्षिक श्रावक वे हैं जिन्हें जैन धर्म का पक्ष होता है। उन्हें धर्म की सम्यक् जानकारी भी न हो, उसमें विश्वास या निष्ठ भी न हो, आचरण भी तदनुकूल न हो तथापि अपने को जैन मानते, समझते और घोषित करते हैं, उसे ही स्वधर्म कहते हैं। जन्मतः कोटि के श्रावक प्रायः ऐसे ही होते हैं। अब तो उनमें से अनेक अपनी अनभिज्ञता, अतएव अनास्था के कारण, साथ ही एक प्रकार की हीन भावना से ग्रस्त होने के कारण स्वयं को जैन कहने में भी संकोच करते हैं। किन्तु जिन्हें धर्म का आवश्यक निम्नतम ज्ञान भी है और अतएव उसमें निष्ठा भी है वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। यदि वे जीव-अजीव आदि तत्वों का अथवा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप जानकर पच्चीस दोष रहित अष्टांग व्यवहार सम्यक् दर्शन का अभ्यास करते हैं। भले ही उन्हें निश्चय सम्यक्त्व की उपलब्धि न हुई हो, वे दार्शनिक श्रावक कहलाते हैं। उनमें से जो श्रावकाचार में प्रतिपादित व्रत चरित्र भी यथाशक्य अंगीकार करते हैं, वे वृतिक श्रावक कहलाते हैं। जब व्रती श्रावक क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओं का चरित्र ग्रहण करते हुए धर्ममार्ग में उत्तरोत्तर अग्रसर होता जाता है तो वह प्रतिमाधर श्रावक है। ग्यारहवीं प्रतिमा में क्षुल्लक-ऐलक के रूप में वह श्रावक पद की उत्कृष्टता को प्राप्त करता है। वह आरम्भ, परिग्रह अनुमति एवं उद्दिष्ट त्यागी, संसार देह-भोगों से विरक्त साधक, प्रायः मुनि तुल्य होता है और मुनि दीक्षा लेकर सर्वथा निर्ग्रन्थ, सकल संयमी, महाव्रती, एक निष्ठ मोक्ष साधक मुनि हो जाता है। ऐसी स्त्री साधिका, आर्यिका हो जाती है।

एक अन्य विवक्षा से, प्रथम कक्षा का श्रावक सुलभ बोधि या भद्रक कहलाता है। उसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र नहीं होते, किन्तु वह सरल स्वभावी होता है। धर्म अच्छा लगता है, उसे सुनने और जानने में मन लगता है। वह प्रायः अव्युत्पन्न मिथ्या दृष्टि होता है किन्तु सरल परिणामी और धर्म कार्यों में भले ही गतानुगतिक सही, रुचि लेने वाला होता है। दूसरी कक्षा सम्यग्दृष्टि की है। तीसरी व्रती या व्रतधर श्रावक की और चौथी प्रतिमाधर की। अन्तिम कक्षा की अन्तिम श्रेणी अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाला उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) श्रमणाभूत कहलाता है— वह साधु तुल्य होता है, महाव्रती पूर्ण, संयमी मुनि से केवल एक सीढ़ी नीचे. आचार्य तुलसी के शब्दों में— "इन कक्षाओं का निर्माण साधक की क्षमता, रुचि और विकास के आधार पर किया गया है। यह बहुत मनोवैज्ञानिक उपक्रम है। क्षमता आदि की भिन्नता होने पर भी साधना का भाव हर व्यक्ति में होना चाहिए और वह होता है तो क्षमता आदि भी क्रमशः विकसित हो जाते हैं। यह साधना का क्रमिक विकास जैन परम्परा की अपूर्व देन है।"

भगवान महावीर ने स्वयं कहा है कि— "मनुष्य जन्म दुर्लभ है, उसमें भी धर्म का ज्ञान दुर्लभ है। ज्ञान होने पर श्रद्धा बहुत दुर्लभ है और श्रद्धा भी हो तथापि आचरण दुर्लभ है।" किसी व्यक्ति में जन्मतः जैन होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से धर्म के प्रति एक प्रकार का स्वाभाविक या अव्यक्त आकर्षण हो सकता है, किन्तु जब तक उसे जीवाजीव आदि तत्वों का, उनके पारस्परिक सम्बन्धों एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं का समीचन ज्ञान नहीं होता, उसे संयम-असंयम तथा पुण्य-पाप का स्वरूप एवं अन्तर हृदयङ्गम नहीं होता। ऐसा हो जाने पर ही उसे तत्व एवं धर्म के प्रति रुचि, श्रद्धा, प्रीति, प्रतीति होती है। यह ज्ञानाधारित आस्था ही उक्त नैसर्गिक

आकर्षण या रुचि को अभिव्यक्ति एवं स्थायित्व प्रदान करती है। साथ ही सम्यक् आचरण के लिए व्यक्ति को प्रेरित भी करती है।

जैन धर्म के गृहस्थ अनुयायी को सामान्यतः श्रावक कहा जाता है। श्राद्ध, उपासक, श्रमणोपासक, साधु, भव्य, सागार, मुमुक्षु आदि अन्य संज्ञाएँ भी उसके लिए प्रयुक्त होती हैं। आत्मोपलब्धि अथवा मोक्ष की इच्छा रखने के कारण उसे मुमुक्षु, घर में रहते ही धर्म-साधना करने के कारण सागार-श्रमण-मुनियों का उपासक होने के कारण श्रमणोपासक, (श्रमण-श्रावक, श्रमण-श्राविका) पञ्चपरमेष्ठी की उपासना ही उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रधान अङ्ग होने के कारण उपासक, अंशतः ही सही, धर्म की साधना करने के कारण साधु, वैष्णवादि भक्तों से भिन्नता करने के लिए एवं भद्र परिणामी होने के कारण, भव्य और श्रद्धागुण समन्वित होने अथवा मुनिजनों के आचार-विचार में श्रद्धा रखने के कारण श्राद्ध। इनमें सर्व प्राचीन रूढ़, परम्परा सम्मत एवं समीचीन संज्ञा 'श्रावक' है। 'श्रावक' का अर्थ है, 'सुनने वाला' अर्थात् 'शृणोति हित वाक्यानि सः श्रावकः'— जो हितकारी वाक्यों को सुनने वाला हो अथवा पं० आशाधर जी के अनुसार— 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः'— जो गुरु आदि के मुख से धर्म श्रवण करता है उसे 'श्रावक' कहते हैं। श्रावक प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ में भी यही कहा है—

> संमत्तदंसणाई पयदिहं जइजण सुणेई य।
> सामायारिं परमं जो खलु तं सावयं बिन्ति॥

जो सम्यग्दर्शनादि युक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनों के पास जाकर परम समाचारी को (साधु तथा गृहस्थों के आचार विशेष को) सुनता है उसे श्रावक कहते हैं। इन परिभाषाओं में स्पष्ट ही यह भाव निहित है कि ऐसे व्यक्ति में धर्म के प्रति सहज आकर्षण एवं रुचि का होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही वह गुरु समागम प्राप्त करने के लिए नित्य लालायित रहेगा और गुरुओं के निकट अथवा अन्य प्रकार धर्म शास्त्र-प्रवचन के सुनने का सुयोग पाकर, विनय एवं श्रद्धापूर्वक धर्मोपदेश सुनेगा। यह विश्वास तो उसे होता ही है कि ऐसा उपदेश उसके लिए हितकारी होगा, उसके इहलोक एवं परलोक के हित का अभ्युदय एवं निःश्रेयस सुख का सम्पादक होगा, और इस उपदेश श्रवण का परिणाम यह होता है कि धर्म तत्त्व के विषय मे उसके ज्ञान में वृद्धि होती है तथा वह ज्ञान उत्तरोत्तर निर्मल होता है। साथ ही उसमें उसकी श्रद्धा एवं आस्था भी सुदृढ़ होती जाती है। उक्त उपदेश से उसमें हेयोपादेय का विवेक जागृत होता है, करणीय और अकरणीय का बोध होता है, और समीचीन धर्माचरण के लिए प्रेरणा मिलती है अपनी रुचि क्षमता, परिस्थितियों आदि के अनुसार वह यथाशक्ति उक्त धर्माचरण को अपने जीवन में उतारने के लिए भी प्रयत्नवान होता है। भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य ने भी गृहस्थ साधक के लिए श्रावक (सावय) और सागर शब्द प्रयुक्त किये हैं और सागर श्रावक के लिए सग्रन्थ (परिग्रह सहित) संयमाचरण का उपदेश दिया, जिसे पञ्चाणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का बताया तथा देश विरत श्रावक की ग्यारह श्रेणियां या प्रतिमा प्रतिपादित कीं। श्रावक धर्म का मूलाधार उन्होंने सम्यग्दर्शन बताया और उसकी प्राथमिक भूमिका की दृष्टि से ही उसकी परिभाषा की :—

हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पवयणे सद्दहणं होई सम्मत्तं ॥

अर्थात् हिंसा रहित धर्म, अट्ठारह दोष वर्जित देव, निर्ग्रंथ गुरु और अर्हत्प्रवचन (समीचीन धर्म शास्त्र) का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रावक मुख्यतया आज्ञाप्रधानी होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके लिए किसी प्रकार की भी जिज्ञासा, शङ्का या परीक्षा करने का कोई निषेध है, किन्तु वह अपने दैनन्दिन अर्थ एवं काम पुरुषार्थों के साधन में इतना व्यस्त रहता है कि धर्म सम्बन्धी बातों के लिए उसके पास अत्यल्प समय एवं उपयोग होता है। उसे भी व्यर्थ के तर्क वितर्क में गँवा दे तो जहाँ का तहाँ पड़ा रह जाय। श्रद्धा के साथ उसमें विवेक और क्रिया भी होनी चाहिए, किन्तु प्रधानता उसके लिए श्रद्धागुण की है। यों श्रावक शब्द के तीनों अक्षर (श्र, व, क) इन तीन गुणों, श्रद्धा-विवेक-क्रिया, के सूचक समझे जाते है।

श्रावकाचार का निरूपण करने वाले समन्तभद्रादि आचार्यों ने श्रावकों के कतिपय मूलगुण भी निर्धारित किये हैं, जिनकी संख्या सामान्यतया आठ है, किन्तु जिनके नाम, स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद भी हैं। समन्तभद्राचार्य के अनुसार—

मद्य-मांस मधु त्यागैः, सहाणुव्रत पंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥

अर्थात् श्रमणोत्तम जिनेन्द्र देव ने मद्य-मांस-मधु त्यागपूर्वक पञ्च अणुव्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार संतोष, परिग्रह, परिमाण) के पालन को गृहस्थों के अष्टमूल गुण बताये हैं। जिनसेन, अमितगति आदि कई अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं आठ मूलगुणों का अनुमोदन किया। किन्तु अमृतचन्द्र, सोमदेव, देवसेन आदि अन्य कई आचार्यों ने तथा लाटी संहिताकार पाण्डेय राजमल ने पञ्चाणुव्रत ग्रहण के स्थान में पञ्च उदुम्बर फलों के त्याग का निर्देश किया। इस प्रसङ्ग में पं० जुगलकिशोर मुख्तार का कहना है कि आचार्य समन्तभद्र ने अष्ट मूलगुणों का जो निरूपण किया है वह देशव्रती श्रावकों को लक्ष्य में रखकर किया है। पञ्च उदुम्बर वाला विकल्प अव्रतों अर्थात् बालबुद्धि, दुर्बल चित्त अति सामान्य जनों को दृष्टि में रखकर किया गया है। आचार्य शिवकोटि की रत्नमाला के निम्न पद्य से भी यही बात प्रमाणित होती है—

मद्य मांस मधु त्याग, संयुक्ताणु व्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥

पञ्चाध्यायी एवं लाटी संहिताकार पाण्डेय राजमल भी यही कहते हैं कि—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ, गृहिणां व्रत धारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्व साधारणा इमे ॥

अर्थात् ये सर्व साधारण (पञ्च उदुम्बर फल त्याग वाले) अष्ट मूलगुण व्रती एवं अव्रती, सभी गृहस्थों के लिये साधारणतया सामान्य रूप से पालनीय हैं तथा—

> मद्यमांसमधु त्यागी, त्यक्तोदुम्बर पंचकः ।
> नामतः श्रावकः ख्यातो, नान्यथापि तथागृही ॥

अर्थात् जो गृहस्थ इन आठ अभक्ष्यों का भी त्यागी नहीं है वह नाम का भी श्रावक नहीं है। ऐसे ही निम्नतम भूमिका वाले श्रावक के प्राथमिक आवश्यक गुणों की दृष्टि से किन्हीं ग्रन्थों में मद्य-मांस-मधु, रात्रि भोजन एवं पञ्च उदुम्बर फलों का त्याग, पञ्च परमेष्ठी की भक्ति, जीवदया और छना जल पीना, अष्ट मूलगुण प्रतिपादित किये यथा—

> मद्य—पल-मधु निशाशन, पंचफली विरति पंचकाप्तनुतिः ।
> जीवदया, जलगालन मिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः ॥

इन सामान्य मूलगुणों के साथ-साथ प्राथमिक श्रावक से हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह नामक पांच पापों के स्थूल त्याग का, सप्तकुव्यसनों, यथा—

> द्यूत-मांसं-सुरा, वेश्या, पापर्द्धिः परदारता ।
> स्तेयेन सह सप्तेति, व्यसनानि विदूरयेत ॥

के त्याग की और—

> देव पूजा-गुरुपास्तिः स्वाध्याय संयमस्तपः ।
> दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ॥

के रूप में प्रतिदिन करणीय षट्कर्मों का विधान किया।

इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा सम्मत कतिपय आगम सूत्रों में भगवान महावीर द्वारा श्रावक के प्राथमिक गुणों का जो संकेत किया गया उसके अनुसार उसे अल्पेच्छा (अल्प इच्छा वाला), अप्प-रिग्गहा (अल्प परिग्रह वाला), अप्पारम्भा (अल्प आरम्भ वाला) कहा गया है। तथा उसके लिये धार्मिक (धम्मिए) धर्मानुग-धर्म का अनुसरण करने वाला (धम्माराणुए), धर्मिष्ठ (धम्मिठ्ठे), धर्म की ख्याति-आख्यान (धम्मक्खाइ), धर्म का प्रलोकन-प्रकाश करने वाला, (धम्मप्पलोई), धर्मानुरंजित धर्म के रङ्ग में रँगा हुआ (धम्मपलज्जणे), धर्मशील-सदाचार का आचरण करने वाला (धम्मसील समुदाचारे) तथा धर्मपूर्वक आजीविका उपार्जन करने वाला (धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे) विशेषणों का प्रयोग किया है। उसकी यह अभिलाषा रहती है कि वह एक न एक दिन परिग्रह का त्याग कर पावे। आगार छोड़ अनगार बन पावे और अन्त में सल्लेखनापूर्वक मरण कर पावे।

पं० आशाधर जी ने सागार धर्मामृत (अध्याय १) में कहा है कि जो व्यक्ति सागार धर्म श्रावकाचार का विधिवत पालन करने के उन्मुख हो उसमें निम्नोक्त १७ गुण होने चाहिये—
(१) न्यायपूर्वक द्रव्य उपार्जन करना, (२) गुणीजनों का सम्मान करना, (३) सत्यभाषी (४) धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग का निर्विरोध सेवन, (५) योग्य स्त्री से विवाह सम्बन्ध करना, (६) उपयुक्त बस्ती या मुहल्ले में रहना, (७) उपयुक्त मकान में निवास करना, (८) लज्जाशील होना, (९) योग्य भोजन-पान करना, (१०) उपयुक्त आचरण करना, (११) उत्तम पुरुषों की संगति करना, (१२) बुद्धि-

मता, (१३) कृतज्ञता, (१४) जितेन्द्रियता, (१५) धर्मोपदेश श्रवण करना, (१६) दयालुता, और (१७) पाप से भय करना ।

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचन सारोद्धार में बताया कि निम्नोक्त २१ गुणों को धारण करने वाला श्रावक ही अणुव्रतादि व्रतों की साधना करने के योग्य होता है— अक्षुद्रपन, स्वस्थता, सौम्यता, लोकप्रियता, अक्रूरता, पापभीरुता, अशठता, दानशीलता, लज्जाशीलता, दयालुता, गुणानुराग, प्रियसम्भाषण या सौम्यदृष्टि, मध्यस्थवृत्ति, दीर्घ दृष्टि, युक्तियुक्त, सत्य का पक्ष करना, नम्रता, विशेषज्ञता, वृद्धानुगामी होना, कृतज्ञता, परोपकारी होना, लब्ध्य लक्ष्य अर्थात् जीवन के साध्य का ज्ञाता होना ।

हेमचन्द्राचार्य ने अपने योग शास्त्र (प्रथम प्रकाश) में श्रावक के ऐसे प्राथमिक गुणों की संख्या ३५ दी है और उन्हें मार्गानुसारी गुण कहा है, यथा— न्यायपूर्वक धनोपार्जन ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध शिष्ट जनों का सम्मान समान कुलशील साधर्मी किंतु भिन्न गोत्रोत्पन्न व्यक्ति के साथ विवाह सम्बन्ध चोरी, परस्त्रीगमन, झूठ, आदि पापाचार का परित्याग स्वदेश के हितकर आचार से विचार एवं संस्कृति का पालन-संरक्षण, परनिन्दा से बचना, उपयुक्त मकान में निवास, सदाचारी जनों की सङ्गति, माता-पिता का सम्मान-सत्कार एवं उन्हें सन्तुष्ट रखना । जिस नगर या ग्राम का वातावरण अशान्त-अराजकतापूर्ण हो वहां निवास न करना, देश-जाति-कुल विरुद्ध आचरण न करना, देश कालानुसार वेष-भूषा एवं रहन-सहन रखना, आय से अधिक व्यय न करना और अनुचित कार्यों में व्यय न करना, धर्म श्रवण की इच्छा रखना, शास्त्र चर्चा-तत्व चर्चा आदि में रस लेना, जीवन को उत्तरोत्तर उच्च एवं पवित्र बनाने का प्रयत्न, अजीर्ण होने पर भोजन न करना, समय पर भोजन करना, भूख से अधिक न खाना, धर्म-अर्थ काम का निर्विरोध सेवन, अतिथि-साधु-दीन जनों को यथायोग्य दान देना, आग्रहशील न होना, सौजन्य-औदार्य-दाक्षिण्य आदि गुणों की प्राप्ति में प्रयत्नशील होना, अयोग्य देश एवं आयोग्य काल में गमनागमन न करना, आचारवृद्ध-ज्ञानवृद्ध जनों को स्वगृह पर आमन्त्रित कर उनकी सत्कार सेवा करना, माता-पिता-पत्नी-पुत्र-पुत्री आदि आश्रित जनों का यथायोग्य भरण-पोषण करना और उनके विकास में सहायक होना, दीर्घदर्शिता, विवेकशीलता, कृतज्ञता-निरहंकार, विनम्रता लज्जाशीलता, करुणाशीलता, सौम्यता, परोपकारिता, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य आदि आंतरिक शत्रुओं से बचे रहने का प्रयत्न और इन्द्रियों की उच्छृंखलता पर रोकथाम ।

तीनों तालिकाओं में अनेक गुण अभिन्न या समान हैं । इन गुणों के सकेत से तीर्थंकर भगवानों तथा उनके अनुगामी पुरातन आचार्यों एवं मनीषियों का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि श्रावक की भूमिका को समुचित ढंग से निभाने के लिये अथवा मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के लिये व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम वह स्वयं में मानवोचित व्यावहारिक सद्गुणों का विकास करके एक सभ्य, शिष्ट, सर्वप्रिय, उपयोगी नागरिक एवं समाज का प्रशंसनीय सदस्य बन जाय । ऐसा व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में श्रावक बनने की योग्यता रखता है और श्रावक कहलाने का अधिकारी है । कम से कम एक श्रावक से यह अपेक्षा तो की ही जाती है कि वह श्रावक के सभी उपरोक्त प्राथमिक गुणों को अपने व्यक्तित्व में विकसित करने, अपने जीवन में उतारने और अपने व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्नशील रहें ।

जैन धर्म की महत्ता

☐ मक्खनलाल जैन, एटा

धर्म किसे कहते हैं ? जो पतित को पावन बनादे, नीच को उच्च बनादे, हीन को महान् करदे अशान्ति के हृदय को शांति का भण्डार बनादे, विश्व को मैत्री का पाठ पढ़ादे, भक्त को भगवान बनादे, संसार के दुःखों से निकाल कर शाश्वत सुख (मोक्ष) में पहुँचादे, उसको धर्म कहते हैं। अथवा पदार्थ के सत्तात्मक (अविनाशी) गुण अथवा स्वभाव को धर्म कहते हैं, प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव उस पदार्थ का धर्म है जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, वह अपने स्वभाव में सर्वदा उष्ण रहेगी। जल का स्वभाव (धर्म) शीतलता है, पर (दूसरे) के संयोग से वह गर्म हो सकता है जैसे आग के सम्पर्क से जल गर्म हो जाता है, परन्तु गर्म जल को भी आग पर डालने से वह आग को शीतल (शान्त) कर देता है या आग के सम्पर्क से अलग होने पर फिर शीतल हो जाता है। यदि जल का स्वभाव शीतल न होता तो गर्म वस्तु के संयोग से गर्म होने पर वह सर्वदा गर्म ही रहता, ठंडा न होता। इसी प्रकार आत्मा का निज स्वभाव अथवा धर्म अन्य सब पदार्थों से राग द्वेषरहित, शुद्ध, ज्ञाता दृष्टा है यानी शुद्ध आत्मा सब को देखता व जानता है। विभाव परिणति से अर्थात् कर्मों के मिलने से आत्मा में विकार पैदा हो जाते हैं और उन्हीं विकारों के कारण आत्मा सदैव जन्म मरण के चक्कर में अर्थात् संसार में फँसा रहता है, इसीलिये वह संसारी आत्मा कहलाता है। विकारों के दूर होने पर वह फिर अपने निज स्वभाव अथवा धर्म में स्थिर हो जाता है।

धर्म के आचरण करने से आत्मा पूर्ण विकास और उन्नति कर सकता है। अतः ऐसे कार्य जिनसे आत्मा उन्नति करके शुद्ध बन सकता है यानी कर्म मल से रहित हो सकता है उन सब कार्यों को भी धर्म कहा गया है। जैन धर्म में इन्हीं सब कार्यों को बतलाया गया है। और चूंकि ऐसे कार्य करना आत्मा का धर्म है इसीलिये उसको आत्म-धर्म अथवा विश्व धर्म माना गया है।

जैन धर्म क्या है ? 'जैन' शब्द जिन से बना है।

जिन किसे कहते हैं ? जिन सम्यक दृष्टी जीवों ने मनुष्य भव पाकर अपने मन और इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करके राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से रहित होकर आत्म ध्यान में लीन होकर केवल ज्ञान रूपी निधि को प्राप्त कर लिया है अर्थात् जिनके ज्ञान में तीनों लोकों के त्रिकालवर्ती पदार्थों की अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष झलकती हैं और जो हितोपदेशी हैं अर्थात् संसार के प्रत्येक प्राणी मात्र को जिनका

उपदेश कल्याणकारी है और जो वीतरागी हैं अर्थात् संसार के किसी पदार्थ से जिनका राग नहीं है ऐसे जीवों को जितेन्द्रिय, जिनेन्द्र अथवा जिन कहते हैं उनका बताया हुआ धर्म जैन धर्म कहलाता है और उस धर्म के मानने वाले जैनी कहलाते हैं। जैनियों में ऐसे धर्मोपदेशक चौबीस हुए हैं जिनको तीर्थंकर कहते हैं। सब से प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान कर्म भूमि की आदि में हुए और सब से अन्तिम श्री महावीर भगवान जो ईसा मसीह से करीब छः सौ वर्ष पूर्व हुए।

जैनी कौन हो सकता है? जैन धर्म प्राणी मात्र के लिए है न कि किसी वर्ग विशेष के लिए। जो प्राणी जैन धर्म के सिद्धान्तों पर चलता है वही जैनी है, जो उन सिद्धान्तों पर नहीं चलता वह जैन कुल में पैदा होकर भी जैनी नहीं कहा जा सकता। भगवान महावीर के समवशरण (विशाल सभा मण्डप) में सभी जीवों के, यहाँ तक कि पशुओं तक के बैठने और भगवान का धर्मोपदेश सुनने की व्यवस्था थी इसलिए इस धर्म को मानव अथवा प्राणी मात्र का धर्म माना गया है।

जैनी के मुख्य बाह्य चिन्ह क्या हैं? जैनी के मुख्य बाह्य चिन्ह निम्न प्रकार हैं:—
(१) नित्य प्रति भोजन करने से पहले देव दर्शन करना (२) जल छान कर पीना, (३) रात्रि-भोजन का त्याग, और (३) जीवों पर दया भाव रखना। जो जैनी इन चिन्हों से विभूषित नहीं है वह अपने को जैनी कहलाने का कदापि अधिकारी नहीं हो सकता।

देव दर्शन क्यों करना चाहिये? मन्दिर (देवालय) समवशरण का प्रतीक है। जिस प्रकार समवशरण में तीर्थंकर गन्ध कुटी में विराजमान होते थे, उसी प्रकार मन्दिरों में तीर्थंकरों की मूर्ति भी सूर्यादि मन्त्रों से प्रतिष्ठा करके विराजमान की जाती हैं, उनकी शांत और वीतराग मुद्रा होती है अतः वह दर्शन करने वालों के मन और आत्मा पर शांति और वीतरागता का अवश्य प्रभाव डालती है। जिस प्रकार किसी वीर पुरुष का फोटो हमारे मन पर यह प्रभाव डालता है कि हम भी उसी के सदृश वीर बनें, वेश्याओं के फोटो से काम वासना उत्पन्न होती है। सिनेमा के देखने से हमारे मन मे तरह-तरह के विचार पैदा होते हैं, इसी प्रकार वीतराग शांत मूर्ति के दर्शन करने से हमारे विचारों में शांति और वीतरागता उत्पन्न होती है यही देव दर्शन की उपयोगिता है कि हमारे परिणामों में निर्मलता आती है। भोजन से पहिले देव दर्शन करना इसलिए अनिवार्य रक्खा गया है कि भूख अवश्य ही लगती है, इसलिए देव दर्शन भी अवश्य हो जायगा।

रात्रि भोजन का त्याग क्यों करना चाहिए? रात्रि भोजन का त्याग स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। इससे अपनी और दूसरों की हिंसा से भी बचा जा सकता है। सूर्यास्त हो जाने पर वायु-मंडल भी दिन के मुकाबले स्वच्छ, व स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं रहने पाता, वृक्ष भी दिन भर की संचित दूषित वायु छोड़ते रहते हैं। सूर्य के प्रकाश में प्रत्येक वस्तु भले प्रकार से दिखाई देती है इसलिए खाद्य सामिग्री भले प्रकार शोध बीन कर पकाने और खाने से किसी जीव की हिंसा भी नहीं होती और अपना स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। सूर्य का प्रकाश बहुत से सूक्ष्म कीटाणुओं को भी नहीं उत्पन्न होने देता है जो कि सूर्यास्त के बाद ही निकलते हैं और भोजन में पककर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। बहुत से जीव इतने छोटे होते हैं जो रात्रि में नेत्रों से तो क्या खुर्दबीन से भी नहीं दिखाई देते।

बिजली या गैस का प्रकाश तेज अवश्य होता है परन्तु उस प्रकाश में रात्रि में उत्पन्न होने वाले जीव नहीं रुकते किन्तु और अधिकता से आते हैं। वर्षा ऋतु में तो खास तौर से देखने में आता है कि बिजली के प्रकाश में असंख्यात जीव आते हैं जो भोजन में पड़कर उसको दूषित बना देते हैं। वैद्यक दृष्टि से भी भोजन पचाने के लिए चार पांच घन्टे चाहिए और रात्रि को सोने से चार पांच घन्टे पहिले ही भोजन कर लेना चाहिए ताकि भोजन पचकर ठीक से नींद आवे, यह तभी हो सकता है जब हम दिन मे ही भोजन करलें। रात्रि का बना हुआ भोजन भी दिन मे नहीं खाना चाहिये। इससे भी हिंसा होती है और स्वास्थ्य खराब होता है। भोजन चार प्रकार का होता है (१) खाद्य, (रोटी, पूड़ी दाल, शाक आदि) (२) स्वाद्य, (पेड़ा, बर्फी आदि) (३) लेह्य (चटनी आदि) और (४) पेय (पानी, दूध आदि) इन चारों प्रकार के भोजन का रात्रि मे त्याग होना चाहिए। भोजन करने का उपयुक्त समय सुबह सूर्योदय के ढाई घड़ी बाद, और शाम को सूर्यास्त से ढाई घडी अर्थात् एक घन्टा पहिले है।

जल छान कर क्यों पीना चाहिए ? मनुष्य को अपने जीवनोपयोगी वस्तुओं में वायु के बाद जिस वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता है वह है जल। ऐसी अत्यन्त आवश्यक वस्तु को शुद्ध रूप में ही काम मे लाना चाहिए। जल यों तो खुद ही एक इन्द्रिय स्थावर जीव है। फिर भी उसमें स्वभाव से त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है, उनमें से कुछ जीव तो नेत्रो से दिखाई देते हैं और कुछ इतने सूक्ष्म होते है कि खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देते हैं। यदि जल को छानकर न पिया जावे तो बहुत से भयङ्कर रोग उत्पन्न हो सकते हैं। नहरुवा रोग जो प्राय: पूर्वी प्रान्तों मे हुआ करता है ऐसा ही है जो बिना छने जल पीने के कारण ही हुआ करता है, इसलिए जल छानकर पीना स्वास्थ्य क लिए अत्यन्त आवश्यक है। किसी ने कहा भी है कि 'पानी पीजे छान और गुरु कीजे जान।' इसके अलावा जल छानकर पीने से त्रस काय के जीवो की, जो जल मे उत्पन्न होते रहते हैं, रक्षा भी हो जाती है किन्तु उन जीवों की रक्षा केवल तभी सम्भव हो सकती है जब जिवानी (छन्ने मे जल छानने के बाद जो जीव रह जाते हैं) यथा स्थान जहाँ से जल लाया गया है उसी जल में पहुँचाई जावे। पानी को शुद्ध स्वच्छ खादी के दोहरे छन्ने से छानना चाहिए। मैल गदे छन्ने से नहीं। छने हुए जल में भी दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट के बाद फिर त्रस जीव पैदा हो जाते हैं, इसलिए जल को जब पीना हो सदैव छान कर पीना चाहिये यदि छने हुए जल में लौंग आदि का चूर्ण डाल दिया जावे तो उसमें छ: घन्टे तक जीव उत्पन्न नहीं हो सकते। छन्ना बर्तन के मुह मे बड़ा होना चाहिये। स्नान भी शुद्ध छने जल से ही करना चाहिये।

जीवों पर दया भाव क्यों रखना चाहिए ? जैन धर्म में अहिंसा को मुख्य माना गया है या यों कहिये कि अहिंसा ही जैन धर्म की आधार शिला है। दिव्य दृष्टि से सब शुद्ध जीव एक समान हैं परन्तु कर्मों के आवरण से चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हैं फिर भी कोई प्राणी चाहे वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा, चाहे वह नाली का कीड़ा ही क्यों न हो, यह नहीं चाहता कि उसको कोई कष्ट दे। सब प्राणी तकलीफ से डरते हैं और सुख व शांति के साथ रहना चाहते हैं। शेर जो सबसे बलवान और हिंसक समझा जाता है जब किसी शिकारी द्वारा मारा जाता है उस समय वह भी अपने प्राणों की रक्षा चाहता है। हिंसक शेर को मारने वाला शिकारी भी जब

निशाना करके गोली निशाना बनाया जाता है तब वह भी अपने प्राणों की रक्षा के लिये छटपटाता है, इससे साबित होता है कि कोई भी प्राणी कष्ट पाना नहीं चाहता। जब कोई भी प्राणी कष्ट पाना नहीं चाहता तो जो बात सर्वमान्य है वही ठीक समझी जाती है। सुख व शांति चूंकि अहिंसा के द्वारा ही मिल सकती है इसलिये अहिंसा ही प्राणी मात्र का धर्म है। इसलिए कहा है कि जो बात या काम दूसरों का अपने लिये बुरा लगे उस बात या काम को दूसरों के साथ भी न करें। सब जीव जब एक समान हैं तो तकलीफ से जैसा दुःख हम को होता है, वैसा ही दूसरों को भी होता है इसलिए प्रत्येक जीव पर दया भाव रखना चाहिये।

जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य क्या है ? जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य आत्मा को सच्चा सुखी बनाना है। सच्चा सुख उसे कहते हैं जिससे आत्मा में पूर्ण रूप से शाश्वत (सर्वदा कायम रहने वाली) निराकुलता रहे। ऐसी निराकुलता संसार में कहीं नहीं है। संसार में प्रत्येक जीव को आधि, व्याधि घेरे रहती हैं। किसी को मानसिक दुःख है तो किसी को शारीरिक। संसार में जिसको हम सुख मानते हैं, सुख नहीं, सुख का आभास है। सच्चा सुख मोक्ष में है। मोक्ष क्या चीज है और कहाँ है ? आत्मा का सम्पूर्ण कर्म-बन्धनों से छूटने अथवा स्वतन्त्र होने का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष पाकर जीव आवागमन यानी जन्म मरण के चक्कर से दूर हो जाता है। स्वतन्त्र जीव चूंकि ऊर्ध्वगमन-स्वभावी होता है, इस कारण वह लोक के शिखर पर जाकर ठहर जाता है क्योंकि उसके ऊपर धर्मद्रव्य जो जीव को चलने में सहायक होता है, नहीं है। उस स्थान पर (जिसको सिद्ध शिला भी कहते हैं) पहुंच कर जीव चिरकाल के लिये के लिये पूर्ण सुखी होकर रहता है, जीव को किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता। आत्मा पूर्ण रूप से आकुलता रहित हो जाती है।

मोक्ष पाने के क्या उपाय हैं ? अब उस सच्चे सुख अथवा मोक्ष पाने के जो उपाय हैं उनको संक्षेप में बतलाते हैं। मोक्ष का मार्ग पाने के लिये जीव को तीन बातें धारण करना अत्यन्त आवश्यक हैं, बिना इन तीनों बातों के धारण किये हुये मोक्ष का मार्ग मिलना दुर्लभ ही नहीं बिल्कुल असम्भव है। इसलिए इन तीनों बातों को रत्नत्रय अथवा तीन रत्न कहा गया है। वह तीन रत्न इस प्रकार हैं:—

(१) सम्यक दर्शन	(२) सम्यक ज्ञान	(३) सम्यक चारित्र
सच्चा यकीन	सच्चा इल्म	सच्चा अमल
Right Faith	**Right Knowledge**	**Right Conduct**

सम्यक दर्शन सम्यक् शब्द के मानी, सच्चे के हैं और दर्शन के मानी श्रद्धा के है, सम्यक ज्ञान के मानी सच्चे ज्ञान के, और सम्यक चारित्र के मानी सच्चे अमल करने के हैं। सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, और सम्यक चारित्र दो भेद रूप हैं—(१) निश्चय (२) व्यवहार।

१— निश्चय सम्यक् दर्शन— आत्मा को दूसरे पदार्थों से भिन्न समझकर, इसमें (आत्मा में) पूर्ण रुचि अथवा सच्ची श्रद्धा होने ही का नाम सम्यक् दर्शन है क्योंकि जब तक किसी वस्तु पर उसके विषय में सच्ची श्रद्धा नहीं होगी, उस वस्तु के सम्बन्ध में उसका ज्ञान भी सच्चा नहीं हो सकता।

२— निश्चय सम्यक ज्ञान—यों तो ज्ञान प्रत्येक जीव को होता है, चाहे वह कितना ही छोटा हो या कितना

ही बड़ा, मगर जब तक उसको अपनी आत्मा पर सच्ची श्रद्धा नहीं होगी, उसका आत्म सम्बन्धी ज्ञान भी सच्चा नहीं हो सकता। आत्मा पर सच्ची श्रद्धा होते ही उसका ज्ञान भी सच्चा हो जायगा। आत्म स्वरूप का ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

(३) निश्चय सम्यक चारित्र—आत्म को अपने निज स्वरूप में ही लीन होने अथवा रमण करने को निश्चय सम्यक चारित्र कहते हैं।

इन निश्चय सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, और सम्यक चारित्र तक पहुँचने के जो कारण हैं उनको व्यवहार सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र कहते हैं क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता है। यह तीनों इस प्रकार हैं :—

(१) व्यवहार सम्यक दर्शन—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, और मोक्ष इन को जैन धर्म में सात तत्व कहा है क्योंकि आत्मा का सम्बन्ध इन सब से है। इन सातों तत्वों का जैसा स्वरूप है यथार्थ वैसा ही मानना सो व्यवहार सम्यक दर्शन है। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक दर्शन का कारण है।

(२) व्यवहार सम्यक ज्ञान—सच्चे शास्त्रों का स्वाध्याय करना, व्यवहार सम्यक ज्ञान है।

(३) व्यवहार सम्यक चारित्र—चारित्र अमल करने को कहते हैं। किसी वस्तु पर श्रद्धा भी है और उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी सही है मगर सच्चे तरीके से हम उस पर अमल नहीं करते, तो सब अपूर्ण है। मोक्ष मार्ग पाने के लिये हमको सम्यक दर्शन और ज्ञान के साथ-साथ सच्चा अमल भी करना पड़ेगा तभी मोक्ष का यथार्थ मार्ग मिल सकेगा।

श्रेयोमार्ग

भगवान की प्रतिमा का दर्शन, गुरु संगति, उपदेश श्रवण छानकर पानी, मद्य-मधु-मांस-अण्डा का त्याग और स्वाध्याय करना तथा अपने सम्यक्त्व को हानि नहीं पहुँचाना एवं व्रतों में दोष न आने देना; सामान्य रूप में जो व्यस्त, बहुधन्धी व्यक्ति इतना नियम भी पालन कर सके तो वह श्रेयोमार्ग का पथिक बन सकता है।

—मुनि विद्यानन्द
(उपाध्याय पद विभूषित)

विश्व शान्ति का अमोघ उपाय : अहिंसा और अपरिग्रह

□ सिद्धान्ताचार्य अगरचन्द जी नाहटा बीकानेर

विश्व में चारों ओर अशान्ति के बादल छा रहे हैं और मनुष्य-मनुष्य में जो वैर-विरोध बढ़ रहा है उसके कारणों पर गम्भीरता से विचार करने पर मूर्च्छा, आसक्ति या ममत्व ही उसका मूल कारण प्रतीत होता है। मनुष्यों में संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। उनकी आवश्यकतायें दिन प्रतिदिन बढ़ रही हैं और उन आवश्यकताओं से भी अधिक उनकी संग्रह प्रवृत्ति नजर आ रही है। संग्रह ही संघर्ष का कारण है। एक ओर धनादि वस्तुओं का ढेर लगता है। एक ओर गड्ढा खोदते हैं तो दूसरी तरफ मिट्टी का ढेर ऊँचा पहाड़-सा लग जाता है। इसी प्रकार कुछ लोगों द्वारा जिन-२ वस्तुओं का संग्रह किया जायगा दूसरों को उनकी कमी पड़ेगी ही। और जब एक के पास आवश्यकता से अधिक दिखाई देगा तो जिनके पास उन वस्तुओं की कमी है उनके हृदय में एक आन्दोलन व संघर्ष उत्पन्न होगा ही और उसका परिणाम आगे चलकर चोरी, लूटमार, युद्ध, हिंसा, विद्वेष आदि विविध रूपों में प्रकट होगा।

मनुष्य की तृष्णा का अन्त कहां ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जायें पर उसकी इच्छायें और अधिक पाने को ही लालायित रहेंगी, जिसके पास कुछ नहीं वह चाहता है कि किसी प्रकार जीवन-यापन योग्य सामग्री मिल जाय बस, जब इतना मिल जायगा फिर सोचेगा अरे! इतने से क्या होगा ? मेरा शरीर बीमार पड़ गया या अन्य कारण से मैं उत्पादन में असमर्थ रहा तब इस थोड़ी सामग्री से कैसे काम चलेगा, घर वाले भी तो हैं ? बाल बच्चों के लिये भी तो चाहिये। इस प्रकार वर्तमान से भविष्य की ओर बढ़ता-२ वह बालक और पीढ़ी तक का सामान संग्रह करना आवश्यक समझ बैठता है। पूर्व इच्छाओं की पूर्ति होते ही नई-नई इच्छाएँ जाग उठती हैं। खाने, पहनने, रहने आदि के साधन उचित नहीं लगकर साधारण से बढ़ते हुये ऊँचे से ऊँचे स्तर की चीजों की चाह लगेगी। इस प्रकार संग्रह की प्रवृत्ति मन का ओर-छोर नहीं। जो चीजें पास होंगी उन पर मेरापन ममत्व एवं आसक्ति होती जायगी तथा जब किसी पर ममत्व हो जाता है तो उसको किसी प्रकार की आंच नहीं आये कोई ले नहीं ले, इस चिंता से संरक्षण और सम्वर्धन की भावना बढ़ेगी। अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं को लेना चाहेगा तो उससे संघर्ष हो जायगा। तृष्णावश दूसरे की चीजों को लेने की प्रवृत्ति भी होगी। अतः

सारी अशांति का मूल मूर्च्छा है, ममत्व है तथा भगवान महावीर स्वामी ने इस ममत्व को ही परिग्रह बताया है। संसार में जितने भी पाप होते हैं वे सारे परिग्रह के कारण ही। इसी प्रकार मनुष्य दूसरे की हिंसा करता है तो अपने स्वार्थ के लिए, बचाव के लिये या परिग्रह को बढ़ाने के लिए। जिन व्यक्तियों या वस्तुओं पर मेरापन छा गया तो उनके संगठन एवं सम्वर्धन के लिए दूसरे का कितना ही नुकसान हो ध्यान नहीं दिया जाता। इसी प्रकार झूठ बोलना, चोरी करना, कपट करना, लोभी होना, दूसरों से द्वेष ईर्ष्या करना, इन सारी प्रवृत्तियों के मूल में परिग्रह ही है। धनादिक उत्पन्न करने में इसलिए अठारह पाप लगने का बताया गया है। उसके उत्पादन, भोग, संरक्षण व सम्वर्धन में अठारह पाप लग जाते हैं।

तीर्थंकर सभी क्षत्रीय व राजवंश के थे। उनके घर में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। धन-धान्य कुटुम्ब परिवार सभी प्रकार से वे पूर्ण थे। फिर भी उन्होंने त्याग को स्वीकारा, इसका एकमात्र कारण यही था कि उन्हें समत्व की ओर बढ़ना था। सीमित ममत्व से ऊँचे उठे बिना समभाव हो नहीं सकता। राग और द्वेष, मोह एवं अज्ञानजनित हैं। कर्मों के मूल बीज राग और द्वेष हैं। इस लिए उन्होंने सोचा कि द्वेष भी राग के कारण होता है। और वह राग भाव ममत्व है। शरीर को अपना मान लेना, धन, घर, कुटुम्ब आदि में अपनापन आरोपित करना ही ममत्व है, राग है, परिग्रह है। समत्व की प्राप्ति के लिये परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अभ्यन्तर परिग्रह के १४ प्रकार बताये गये हैं। हास्य, रति अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद, और मिथ्यात्व। बाह्य परिग्रह धन धान्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद चतुष्पद, चांदी आदि धातु व ऊन पदार्थ इनका संग्रह करना व इस पर ममत्व करना ही परिग्रह है। साधु के लिये परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। गृहस्थ के लिए भी अनावश्यक वस्तुओं का त्याग और आवश्यक का परिमाण करना, सीमा निर्धारण करना आवश्यक होता है। आवश्यकताओं को कम करते जाना सुख शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। इससे इच्छाओं पर अंकुश रहता है। कोई भी प्राणी न कुछ साथ लेकर आता है न कुछ साथ ले जा सकता है, फिर ममता क्यों? संग्रह वृत्ति क्यों? तृष्णा व हाय-२ क्यों? संघर्ष द्वेष व हिंसा क्यों? वस्तुयें सभी उपयोग के लिए हैं। व्यक्ति विशेष का ममत्व या अधिकार ही संघर्ष का कारण है। वस्तुयें सभी यहां पड़ी रहेंगी। हमें छोड़कर जाना होगा, जीवन क्षणभंगुर है। न मालूम कब मृत्यु आ जाय। अतः अनीति के प्रधान कारण ममत्व को छोड़ समभाव को अपनाना ही कल्याण का पथ है।

विषमताओं का मूल परिग्रह में है। मनुष्य की अहं बुद्धि ने ही भेद बुद्धि सिखाई है। वह अपने को बहुत बड़ा विशेष बुद्धिमान, धनवान आदि मान बैठता है तो दूसरों के प्रति तुच्छ भावनायें पैदा हो जाती हैं। जातीय अहंकार व अपने विचारों का एकान्त आग्रह भी परिग्रह है। धन आदि वस्तुओं की कमी-बेशी से ऊँच तथा नीच की भेद रेखा आज सर्वत्र दिखाई देती है जिसके पास धन, सत्ता, अधिकार आदि का परिग्रह अधिक है वह अपने को बड़ा समझकर दूसरों के प्रति घृणा की भावना रखता है। और जो नीची श्रेणी के हैं वे अपने से अधिक समृद्ध को देखकर ईर्ष्यावश उससे जलने लगते हैं। इसी से प्रेम, मैत्री, अहिंसा, करुणा, सहानुभूति, सहयोग और शान्ति के स्थान पर; द्वेष, घृणा,

कलह, विरोध, संघर्ष, भेद-बुद्धि, ईर्ष्या व अशान्ति की आग सुलग रही है। अपने परिग्रह को बढ़ाने के लिए और दूसरों के अधिकार छीनने के लिए ही युद्ध आदि अशान्तिजनक कार्य होते हैं। यदि हम अपनी आवश्यकताओं को कम और सीमित करलें, इच्छाओं पर अंकुश लगा लें, दमन करलें तो अशान्ति का कारण ही नहीं रहेगा। सन्तोष से प्राप्त वस्तुओं में शान्ति और सुख का अनुभव करने लगेंगे। आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ एक स्थान पर संग्रहीत न करने पर वे सब के लिए सुलभ हो जावेंगी फिर समाजवाद व साम्यवाद के नाम से जो विरोध व संघर्ष चल रहे हैं वे स्वयं समाप्त हो जावेंगे। वास्तव में विश्व में वस्तुओं की कमी नहीं है परन्तु जो अभाव दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है किसी का आवश्यकता से अधिक संग्रहीत कर रखना और पुरुषार्थहीन जीवन।

जैन ग्रन्थानुसार भगवान ऋषभदेव के समय तक मनुष्यों की बहुत सीमित आवश्यकता थी तो बैर-विरोध का कारण ही नहीं था। पर एक ओर आवश्यकता बढ़ी, तो दूसरी ओर उत्पादन कम हुआ। अतः संघर्ष पैदा हुआ फिर पुरुषार्थ से उत्पादन बढ़ा तो संग्रह वृत्ति ने घर बनाया। परिस्थिति अशान्ति बढ़ती रहने की ही बनी रही, और आज भी उसी का बोलबाला है।

यदि हम शान्ति चाहते हैं तो इच्छा, तृष्णा और आवश्यकताओं पर अंकुश लगाना होगा। संग्रह की प्रवृत्ति बन्द करनी होगा। अहं और ममत्व घटाना होगा। समस्त प्राणियों को अपने ही समान मानना होगा। सबको प्रेम, मैत्री, सहानुभूति और सहयोग से जीतना होगा। जीवन में संयम और त्याग को प्रधानता देकर निवृत्ति व अनासक्ति की ओर बढ़ते रहना होगा।

परिग्रह के कारण ही आज अनीति का साम्राज्य है। मनुष्य में सन्तोष नहीं रहा दिनों दिन आवश्यकताएँ और संग्रहवृत्ति बढ़ रही है। अपने स्वार्थ के पीछे मनुष्य इतना अन्धा है कि दूसरे का चाहे दम भी निकल जाय उसकी उसे तनिक भी परवाह नहीं। भेद बुद्धि इतनी बढ़ गई कि देश भेद, प्रान्त भेद, धर्म भेद, सम्प्रदाय भेद, काले और गोरे का भेद, धनी निर्धन का भेद, शिक्षित और अशिक्षित का भेद, स्त्री और पुरुष का भेद, खान-पान और रीति-रिवाज का भेद नजर आते हैं। तो प्रेम और मैत्री का विस्तार ही कैसे हो। हमारे बीच रंग-बिरंगी अनेकों मजबूत दीवारें खड़ी कर दी गई हैं तो फिर एक दूसरे से आपस में टकरावेंगे ही और यह सारे भेद अहं या ममत्व पर आश्रित हैं। जहाँ परिग्रह है, हिंसा है, द्वेष है। परिग्रह ही बन्धन है, पाप का प्रधान कारण है। अपरिग्रही ही परम सुखी है। उसे चिन्ता किसकी ? चाह नहीं तो आह भी नहीं।

चाह गई चिन्ता गई मनुआ बेपरवाह

भारतीय मनीषियों ने इन भेदों के भीतर रहे हुए अभेद तक अपनी दृष्टि बढ़ाई। आत्मा सब की समान है स्वरूपतः शुद्ध बुद्ध सत्-चित् आनन्द रूप है। देहादि के बाहरी भेद कल्पित हैं अभेद बुद्धि ही अहिंसा है, अपरिग्रह है, और वही विश्व शान्ति का अमोघ उपाय है।

हिंसा से बैर परम्परा बढ़ती है। आज वह कमजोर है अतः बलवान उसे दबाते हैं। वह प्रतिकार नहीं कर पाता। पर जब भी वह सशक्त होगा बदला लेगा ही। सब जीवों को जीवन एवं सुख प्रिय है तो हम दूसरों को दुःख क्यों दें ? आज हम जीवन, धन हरण करते हैं तो हमें उसका परिणाम

भुगतना ही पड़ेगा—'कर भला होगा भला, कर बुरा होगा बुरा'। देर हो सकती है अन्धेर नहीं। याद रखिये ! जैन महर्षियों के वचनों को याद रखिये।

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीडनम्॥

दूसरों के साथ वही व्यवहार करिये जो आप उनसे अपने प्रति अपेक्षा रखते हैं। वैसा व्यवहार न करें जो स्वयं नहीं चाहते।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

सब जीवों को अपने समान समझ उनसे प्रेम और मैत्री भाव बनाये रखो। सब जीवों को सुख शान्ति दो तो आपको भी सुख शांति मिलेगी।

अनेकान्त सिद्धान्त भी वैचारिक अहिंसा का ही स्वरूप है। विचार भेद तो रहेगा ही, पर अपने विचारों का इतना आग्रह न हो कि दूसरों को झूठा कहकर उनसे लड़ाई मोल ले लें, उनके दृष्टिकोण को भी समझिये। वस्तु अनेक धर्मात्मक है, अतः प्रतिपादन किसी दृष्टिकोण विशेष से ही किया जाता है। वह सापेक्ष सत्य होती है। अनेकान्त वैचारिक संघर्ष को मिटाने की महौषधि है। इन तीनों सिद्धान्तों से विश्व शान्ति सुनिश्चित है। इसका अधिकाधिक प्रचार एवं जीवन में उपयोग होना चाहिए।

---

* सत्संगति *

दूसरों को उपदेश देते समय तो सभी कुशल बन जाते हैं किन्तु जब अपने ऊपर बीतती है तो उस उपदेश को भुला देते हैं।

हर व्यक्ति का अनुभव अलग-अलग है और स्वतन्त्र भी। आगम मार्ग से वह अनुभव बाधित न होना चाहिए तभी प्रमाण माना जा सकता है।

जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों के संसर्ग से जल भी समुद्र-वृद्धि को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जड़-मूर्ख मनुष्य भी निश्चय से शिष्ट पुरुषों की संगति से ज्ञानवान हो जाता है।

श्री मुनि विद्यानन्द जी महाराज
(उपाध्याय पद विभूषित)

देव-पूजा : एक चिन्तन

☐ सौ० चन्द्रकान्ता 'फणीश' एम०ए० इन्दौर

पण्डित आशाधर जी ने गृहस्थों के लिये जो छह आवश्यक कर्तव्य बताये हैं उनमें देव-पूजा सर्वप्रथम और अतीव आवश्यक काम बतलाया है।

परिभाषा :

देव-पूजा में दो शब्द जुड़े हैं— पहला 'देव' और दूसरा 'पूजा'। 'देव' शब्द का एक अर्थ देव-गति का देवता भी है पर यहाँ वह इष्ट नहीं है, बल्कि जो स्वयं मोक्ष जाने वाला है और दूसरों को भी मोक्ष का मार्ग बतलाने वाला है। इस देवता या देव को हम अर्हन्त भी कह सकेंगे। देवता या अर्हन्त में तीन गुण होते हैं— १– वीतरागता २– सर्वज्ञता ३– हितोपदेशता

इन तीनों गुण में से एक गुण न हुआ तो देवता-देव नहीं होगा। वह कुदेव या अदेव भले ही हो पर सुदेव नहीं होगा।

१–वीतरागता : जो जन्म जरा और मरण आदि पर दोषों से रहित हो, वह वीतरागी है। यदि वह देवता वीतरागी न हुआ तो हम और आप जैसा रागी और द्वेषी हो जायेगा और तब वह भक्त को देखकर सुखी होगा, उसे वरदान होगा। विरोधी को देखकर दुखी होगा, उसे जलकर भस्म होने का अभिशाप देगा।

२–सर्वज्ञता : जो संसार के सभी पदार्थों उनकी सभी अवस्थाओं एवं भूत भविष्य वर्तमान सभी कालों और दशाओं का ज्ञाता हो, वह सर्वज्ञ है। यदि देव सर्वज्ञ न हुआ तो हम और आप जैसा अल्पज्ञ हो जावेगा, फिर तो वह किसी भी विषय में अकारण, खींच-तान करेगा और स्वयं उलझेगा तथा दूसरों को उलझा देगा।

३–हितोपदेशता : जो संसार के प्राणियों को हितकारी उपदेश दे, हितमितप्रिय दिव्य भाषा द्वारा कल्याण का मार्ग (धर्म) बतलाये वह हितोपदेशी है। यदि देवता हितोपदेशी न हुआ तो उसका ज्ञान उसकी निरीहता हमारे किस काम की है ? जङ्गल में मोर नाचा, किसने देखा वैसी उसकी स्थिति होगी, अतएव देवता के लिये हितोपदेशी होना भी अतीव आवश्यक है।

पूजा का अर्थ है—अर्चना या उपासना अथवा भक्ति भावना। स्तुति-विनती स्तोत्र पद विनय भी पूजा के पर्यायवाची हैं। विधान या आख्यान भी पूजा के ही बृहद् संस्करण हैं। जब कभी भी भक्त देवभक्ति की नदी में बहने लगता है तब उसकी द्रव्य या भाव पूजा सार्थक हो जाती है। दूसरे शब्दों में पूजा की पूर्णता के लिये सुरुचि सामग्री के साथ तन्मयता और संयम तथा विवेक की भावना भी आवश्यक है। हिन्दी वाङ्मय में तीन प्रकार की भक्ति मिलती है। १. दास्य २. सख्य ३. माधुर्य। पर पूजक बहुभाव में अपने लिये दास्य भक्ति ही अपनाता है। हां, तो देव की पूजा का प्रयत्न ही देव-पूजा है।

प्रकार :

जनसाधारण में पूजा के सामान्यतया दो प्रकार प्रचलित है— १– द्रव्यपूजा २– भावपूजा।

१. द्रव्यपूजा : जल, चन्दन, अक्षत आदि अष्ट द्रव्यों को उनके निश्चित पद और मन्त्र बोलकर देवता के सम्मुख चढ़ाना द्रव्यपूजा है। ऐसी पूजा हम और आप प्रति-दिन मन्दिर में करते हैं या होते देखते हैं।

२. भावपूजा : भगवान की गुणानुवाद सूचक पूजाएँ पढ़ना अथवा भगवान के सम्बन्ध में विनती, स्तोत्र, पद, स्तुति पढ़ना और देवता के गुणों का चिंतवन करना भावपूजा है। ऐसी पूजा बहुभाग में साधु ही करते हैं। कभी-कभी हम भी चाहें तो कर सकते हैं। साधुओं के लिये विशेषतया भावपूजा का ही विधान है। कारण वे सर्वथा आरम्भ त्यागी और अपरिग्रही है। पर श्रावकों के लिये द्रव्यपूजा का ही विधान है। यह इसलिये कि उसकी देवता के प्रति भक्ति बढ़े और उसमें त्यागमयी प्रवृत्ति जागे।

पूजा का वर्गीकरण निम्नलिखित दो प्रकार से समाज में प्रचलित है— (१) नित्य पूजा (२) नैमित्तिक पूजा।

१. नित्यपूजा– से आशय उन पूजाओं का है जो श्रावकों द्वारा मन्दिर में प्रतिदिन की जाती हैं। जैसे— देव-शास्त्र-गुरु पूजा, चौबीस तीर्थंकर पूजा, विद्यमान बीस तीर्थंकर पूजा, सिद्ध पूजा आदि।

२. नैमित्तिक पूजा– से अभिप्राय उन पूजाओं का है जो विशेष पर्व के निमित्त से की जाती हैं। जैसे— नन्दीश्वर द्वीपपूजा, सोलहकारण पूजा, दशलक्षण पूजा।

पूजा कैसी भी क्यों न हो पर उसका महत्व हमारे लिये पूँजी से किसी भी प्रकार कम नहीं है। पूजनों का महत्व उनके अन्त में दिये गये आशीर्वादात्मक पद्यों से भलीभांति विदित होता है। इसलिये पूजा के प्रकार (शैली) में संयम और विवेकमयी दृष्टि होना अतीव आवश्यक है। इस दिशा में कुछ स्वर्ण सूत्र निम्नलिखित होंगे जो पूजकों के लिये सुरुचिपूर्ण सुझाव सिद्ध होंगे—

१– पूजा में सुरुचिपूर्णता हो यानी हम पूजन के शब्दों को शुद्धतापूर्वक पढ़ें और उनमें निहित, मूल व ध्वनित अर्थ को ग्रहण करें।

२– पूजा में सामग्री शुद्ध हो। भले वह मात्रा में कम हो पर न्यायोपार्जित धन से लाई गई हो। पूजक के मन में देवता के सम्मुख सामग्री चढ़ाते समय अर्पण या त्याग का ही भाव हो पर अहं-

कार या प्रदर्शन का भाव नहीं हो और पूजन के बदले में या भक्ति के फल में देवता से शुभाशीर्वाद के रूप में भी कोई कामना न हो।

३— चूंकि द्रव्यपूजा भावपूजा की तैयारी के लिये है, अतएव केवल द्रव्य चढ़ाने की नियत न हो बल्कि अधिकाधिक भावना को बढ़ाने की नियत हो।

४— चूंकि पूजा का उद्देश्य मानसिक सुख-शान्ति लाभ है, अतएव पूजा राग-लयबद्ध मन्द स्वर में हो। तीव्र और शीघ्रता के स्वर में कदापि न हो।

५— पूजा के समय हमारी दृष्टि प्रभु की प्रतिमा पर हो, उनकी वीतराग निर्वसन सौम्य छवि पर हो। इसके लिये यदि पूजा कंठस्थ हो तो क्या कहना। पूजनीय की पूजा का आनन्द पूजक शीघ्र पा लेगा और उतने समय के लिये निष्पाप भी हो सकेगा।

महत्व :

जय परमशान्ति मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेतु।
तुम गुण चिंतत निज पर विवेक प्रगटै विघटै आपद अनेक॥

यह कहकर पं० प्रवर दौलतराम जी ने बतलाया कि जिनेन्द्र भगवान की वीतराग मूर्ति का प्रभाव हमारे हृदयों पर आशा से भी कहीं अधिक पड़ता है।

'अर्हन्ते सुहभत्ती सम्मत्तं' कहकर कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया कि अरहन्त भगवान में पवित्र भक्ति सम्यक्त्व है। गुणों में अनुराग भक्ति है और वह भक्ति मन वचन काय से जिन दो अक्षर निरन्तर स्मरण करने में है। प्रभु के नाम कीर्तन का अंश भी सभी पापों को दूर करता है।

'दरश नहिं कहुं लखि होत सम्यकदरं, महावैराग परिणाम ठहरात हैं'

यह लिखकर द्यानतराय जी ने बतलाया कि जिनेन्द्र की प्रतिमा का पूजन करने से सम्यक्त्व होता है और संसार से विरक्ति के परिणाम होते हैं।

पं० भागचन्द जी ने महावीराष्टक के चतुर्थ श्लोक में यदर्चाभावेन आदि लिखकर बताया कि मेंढक भगवान की पूजा के लिये कमल का फूल मुख में लेकर चला वह भगवान महावीर के समवशरण तक भी नहीं पहुंचा था कि मगधराज श्रेणिक के हाथी के तले आकर मर गया, पर फिर भी पूजन की भावना के कारण वह देव हुआ और श्रेणिक से पहले ही भ० महावीर के समवशरण में जा पहुंचा।

चूंकि सज्जातित्व, सद्गृहस्थपना, परिव्राजकत्व, सुरेन्द्रता, साम्राज्यपद अर्हन्त और निर्वाणपद देव-पूजा से मिलते हैं, अतएव हम सब प्रतिदिन प्रमाद छोड़कर देव-पूजा करें जिससे स्वर्ग और सम्यकदर्शन तथा मोक्ष की प्राप्ति कर सकें।

प० पू० श्री आ० महावीर कीर्ति

जैनागमों में गृहस्थाचार

☐ पंडित जयकुमार, काव्यतीर्थ, शास्त्री, नीमच

जैनागम में गृहस्थ-आचार से अभिप्राय जैन-धर्म-ग्रन्थों में वर्णित श्रावक अथवा श्रमणोपासक के आचरण से है। न जाने कब कौन जीवात्मा काल-लब्धि के योग से श्रमण-साधु बनकर मुक्ति-श्री का वरण करने में समर्थ हो जाए। विचार के इस धरातल को ध्यान में रखने के कारण ही जैनाचार्यों द्वारा देशना की दृष्टि से सर्वप्रथम मुनि-धर्म का प्रतिपादन किया जाता रहा, अनन्तर श्रावकधर्म का और फिर श्रावकधर्म अथवा गृहस्थ-आचार स्वयं भी अनगार के आचरण का एक अंश ही है।

जैनागम : एक रिकार्ड

जैनागम एक रिकार्ड है। जैसे रिकार्ड गायक की संगीतमयी आरोह-अवरोहमयी स्वर-लहरी से सुपरिचित कराता है, वैसे ही महर्षियों के मुखारविन्द द्वारा उच्चरित अथवा संकलित-लिपिबद्ध सन्देश भी उनके भाषणों-धर्मग्रन्थों के माध्यम से परम्परागत सत्य एवं तथ्य का साक्षात्कार कराता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में तो दो मत हो ही नहीं सकते हैं कि मानव-आचरण का महत्त्व अत्यधिक है। जैसे फूल में सुगन्ध का, मणि में कान्ति का, दीप में ज्योति का दूध में धवलता का, घी में स्निग्धता का महत्त्व है वैसे ही जीवन में आचरण का। मनु के शब्दों में आचरण या आचार सभी धर्मग्रन्थों में सर्वोपरि है। आचार प्रथम धर्म है और मनुष्यों के लिये अतीव श्रेयस्कर है।[1] बर्क के शब्दों में आचरण-दृष्टान्त ही मानव जाति की पाठशाला है। आचार के आधार पर ही विचार का महल सुस्थिर सुदीर्घ-जीवी और समुन्नत होगा।

जैनागमों की दृष्टि से आचरण को सुधारने के लिये मिथ्यात्व का निरोध करना अतीव आवश्यक है। दूसरे शब्दों में मिथ्या आचरण (व्यवहार) को सम्यक् आचरण (चरित्र) के रूप में परिणत करने पर ही जीवात्मा को स्वानुभूति संभव है, अन्य किसी प्रकार नहीं। मिथ्या आचरण से अभिप्राय कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को मान्यता देने का है और सम्यक् आचरण से आशय सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्र पर अपनी अखण्ड अपार आस्था बनाये रखने का है। पहला झूठ एवं निष्फल है, दूसरा सच्चा एवं

---

१. सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते,
आचारः प्रभवो धर्मो नृणां श्रेयस्करो महान् ॥

सफल है। यदि हम गृहस्थों के आचरण के सम्बन्ध में स्वामी समन्तभद्राचार्य से परामर्श चाहें तो वे अपने अमर ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' का उद्धरण प्रस्तुत कर कहेंगे—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ॥
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥
गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पंचत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥

चारित्र के दो भेद हैं—(१) सकल (२) विकल। सकलचारित्र अपरिग्रही मुनिजनों के होता है और विकलचारित्र मर्यादित परिग्रही गृहस्थो के होता है। गृहस्थो का चारित्र तीन प्रकार का है—(१) अणुव्रत (२) गुणव्रत और (३) शिक्षाव्रत। इनमें से अणुव्रत के पांच, गुणव्रत के तीन और शिक्षाव्रत के चार भेद होते हैं।

पण्डितप्रवर आशाधर जी से गृहस्थ-आचार के विषय मे पूछें तो वे 'सागारधर्मामृत' के आधार पर कहेंगे—

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥

उल्लिखित पंक्तियो मे सम्यक्त्व शब्द सर्वप्रथम है। अणुव्रत, गुणव्रत शिक्षाव्रत और अन्त मे सल्लेखना सहित मरण, गृहस्थ का धर्म या कर्तव्य है। सम्यक्त्व से अभिप्राय उस जीवत्व भाव की श्रद्धा प्राप्त करना है जो कल था, आज है और अनागत मे रहेगा। धर्म के आचार्यों की भाषा में परम पारिणामिक भाव पर आस्था रखना गृहस्थ का कर्तव्य है। यह गृहस्थ-धर्म की सर्वप्रथम वह भावभूमि है जिस पर आस्था न रखने से मुनिधर्म भी पुण्यबन्ध का कारण होकर लगभग निष्फल-सा हो जाता है। सम्यक्त्वमूलक परमपारिणामिक भावानुभूति बिना अनन्त अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति सम्भव नही है।

सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताके पावत होत कल्याण ॥

यह कहकर भूधरदास जी ने परमपारिणामिक भाव पाने की प्रेरणा दी।

अहिंसा और सत्य का समर्थक

अणुव्रत से तात्पर्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन व्रतों का अपूर्णतया, एक देश पालन करने का है। दूसरे शब्दो मे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पाचों पापों से लोक-जीवन में यथासम्भव बच कर रहने का है।

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'—तत्वार्थ सूत्र। प्रमादपूर्वक कषायो के सम्बन्ध से प्राण-घात करना हिंसा है। चूंकि गृहस्थ को सांसारिक जीवन बिताना है, अतएव वह पूर्णतया अहिंसक जीवन

व्यतीत करने में असमर्थ है। गृहस्थ की इस अक्षमता को ध्यान में रखते हुये भगवान् ने उसे संकल्पी हिंसा से पूर्णतया और आरम्भी, उद्यमी विरोधी हिंसा से यथासम्भव बचने की सलाह दी है। इस आधार पर कहा जा सकेगा कि उद्योग के निमित्त और शत्रु से अपने को बचाने के लिए परिस्थिति विशेष में जीवन-यात्रा के लिये गृहस्थ आरम्भी हिंसा का त्यागी नहीं होता। पर गृहस्थ को निरुद्देश्य त्रस और स्थावर जीवों के घात से तो बचना ही है।[1] इस हेतु वह अनावश्यक रूप से न अन्न का संचय करेगा और न धन का, कोयला, लाख बनवाना, वन कटवाना मद्य-मांस-मधु का क्रय-विक्रय करना जैसे हिंसामूलक कार्य वह कदापि नहीं करेगा। अच्छा सच्चा अहिंसाणुव्रती न तो अभक्ष्य वस्तु का भक्षण करेगा और न बिल्ली, कुत्ता तीतर-मुर्गी जैसे मांसभोजी जीवों को पालेगा। वह जहाँ लोक-प्रचलित बाईस अभक्ष्यों से बचेगा, वहा शराब और मछली के तैल से बनी विदेशी दवाइयाँ भी नहीं सेवन करेगा। इतना ही नहीं बल्कि बहुत दिनों के बने अरिष्ट आसव, अचार-मुरब्बा, मिष्टान्न पक्वान्न को भी ग्रहण नहीं करेगा।

यों वह एक ओर अपने को हिंसा से बचाएगा और दूसरी ओर अपने जीवन तथा स्वास्थ्य की भी रक्षा करेगा। इसी दिशा मे वह यथावश्यक एकाशन-उपवास भी पर्व के अवसर आत्मशुद्धि की दृष्टि से करेगा और आचार्य उमास्वामी के शब्दो मे अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें ध्यान मे रखेगा।[2] दूसरे शब्दो मे वह अधिकाधिक अहिंसक जीवन बितावेगा तथा अहिंसाणुव्रत के अतिचारो से भी अपने को सतर्क होकर बचावेगा।[3]

वह वचनो का सावधानी से प्रयोग करेगा, मनोनिग्रह करेगा, आगे निर्जीव जमीन देखकर चलेगा, जीव-रहित भूमि पर ही सतर्कतापूर्वक वस्तु को रखेगा तथा देख-शोध कर ही दिन में भोजन-पानी ग्रहण करेगा। मनु के शब्दो में 'दिवाचरेभ्यो नम' कहकर उनके अनुरूप अपने जीवन को ढालेगा।

पूर्वोक्त पाँचों भावनाओं को बढ़ाने के लिये वह इच्छित स्थान में जाने मे किसी को रोकेगा नहीं। वह किसी को थप्पड़-कोड़ा-बेत मारेगा नहीं। वह किसी के नाक-कान छेदेगा नहीं। वह न तो अधीनस्थ पशुओं-पुरुषो पर शक्ति से अधिक भार-काम लादेगा और न उनके भोजन पानी में किसी प्रकार की बाधा ही पहुँचावेगा।

जैन श्रावक सत्यभाषी होगा। उसका सत्य, हित-मित-प्रिय होगा। वह अप्रिय-असत्य से बचेगा और प्राण-रक्षा के निमित्त परिस्थिति विशेष में असत्य बोलकर भी अहिंसाधर्म का पालन करना अंगीकार करेगा। उदाहरण के लिये, कोई छलिया शिकारी गृहस्थ से पूछेगा कि पक्षी मरा है या जीवित ? तो वह जीवित पक्षी को देखकर भी शिकारी उसे मार न डाले, इस विचार से पक्षी को मरा कह कर उसकी प्राणरक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

---

१. त्रसघात कबहुं नहिं करि है, थिरथा न थावर संहरिहै।

२. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच।

३. बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

सत्यव्रत का पालन करने के लिये जैन गृहस्थ क्रोध और लोभ, भय और हास्य का त्याग करेगा और निश्छल होकर निर्दोष वचन कहेगा। वह धर्मराज की भाँति न तो 'नरो वा कुंजरो वा' कहेगा और 'न अजैर्यष्टव्यम्' के सन्दर्भ में अज' का अर्थ बकरा करेगा। उसका मनन-चिन्तन-भाषण सुस्पष्ट होगा।

अपने सत्य अणुव्रत को बढ़ाने के लिए गृहस्थ न तो किसी को मिथ्या उपदेश देगा और न किसी की गुप्त बात को प्रकट ही करेगा। वह न झूठे दस्तावेज बनावेगा और न किसी की धरोहर का अपहरण करेगा। वह संकेत द्वारा किसी का अभिप्राय जानकर भी प्रकट नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में जैनगृहस्थ यथासम्भव अहिंसा और सत्य का समर्थक होगा।

अचौर्य और ब्रह्मचर्य का उपासक

चोरी का त्याग करके, लोभ कषाय को कम से कम करने का प्रयत्न जैनगृहस्थ करेगा। वह किसी की गिरी-भूली-रखी वस्तु को अपने लिये अंगीकार नहीं करेगा। निर्गुणवादी सन्त कबीर के शब्दों में वह स्वयं भले ही ठगा जावेगा परन्तु दूसरों को नहीं ठगेगा,[1] वह स्वयं दुखी हो लेगा, पर दूसरों को दुख पहुँचाने का विचार स्वप्न में भी नहीं करेगा। वह न भाव की चोरी करेगा और न द्रव्य (धन-वस्तु) की। वह न भ्रष्टाचारी होगा और न रिश्वतखोर या रिश्वतदाता भी। उसका जीवन आरसी-सा निर्मल और गुलाब-सा सुवासित होगा।

वह जहां सुरक्षित स्थान में रहेगा, वहां दूसरों को भी रहने से रोकेगा नहीं। वह शास्त्रों के अनुरूप ही भोजन-पानी ग्रहण करेगा। अपने सहधर्मी बन्धुओं से विसंवाद नहीं बढ़ावेगा। वह सदाशय और सहृदयता का एक केन्द्र ही होगा। अचौर्य अणुव्रत की उपासना करने के लिये वह न तो चोर को चोरी करने की प्रेरणा देगा और न चुराई हुई वस्तु को ही खरीदेगा। शासन की आज्ञा के विरुद्ध वह आचरण नहीं करेगा और लेन-देन के बाँट-तराजू कम-बढ़ नहीं रखेगा। वह बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर नहीं बेचेगा।

जैनगृहस्थ यथाशक्य ब्रह्मचर्य की उपासना करेगा। वह अपनी स्त्री से ही सन्तुष्ट होकर रहेगा और अन्य स्त्रियों को छत्रपति शिवाजी और धनुर्धारी अर्जुन की भांति अपनी मां-बहिन-बहू-बेटी ही समझेगा। दूसरे शब्दों में वह अन्य स्त्रियों का विषय की दृष्टि से त्यागी होगा। 'सहवास में अनेकानेक जीवों की हानि-हत्या होती है।' इस वचन को ध्यान में रखकर वह अपनी स्त्री से भी अत्यधिक काम-वासना की पूर्ति के लिये लालसा नहीं बढ़ावेगा।

ब्रह्मचर्य व्रत का सुगमतापूर्वक पालन हो सके, इसके लिये वह स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली न तो बातें करेगा-सुनेगा, न चलचित्र देखेगा, न अश्लील उपन्यास ही पढ़ेगा। वह न स्त्रियों के मनोहर अंगों

---

१. कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय॥

को देखेगा और न पिछले भोगों का स्मरण ही करेगा। काम के वेग को रोकने के लिये न केवल गरिष्ठ राजसी और निकृष्ट तामसी भोजन का ही परित्याग करेगा अपितु शरीर की सज्जा भी ऐसी नहीं करेगा, जो उसके अथवा अन्यजनों के ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में बाधक हो।

जितने भी साधक पराजित हुये वे प्राय: स्त्री के क्षेत्र में हुये। इस बात को ध्यान में रखकर वह यथासम्भव उनसे बचकर ही रहेगा और ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना के लिये पण्डित बनारसीदास जी के शब्दों में 'संसार में विष-बेल नारी तजि गये जोगीश्वरा' को कहने से नहीं चूकेगा। इस प्रकार जैन गृहस्थ ब्रह्मचर्यव्रत का मर्यादानुसार पालन करेगा।[1]

अपरिग्रह का आराधक

इच्छायें असीमित हैं। आकाश की तरह अनन्त है। उनका पूर्ण होना सम्भव नहीं है। यह विचार कर जैन श्रावक अपनी इच्छाओं को यथासम्भव कम से कम कर लेगा और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण-इन पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी आसक्ति को बढ़ाने वाली वस्तुओं और बातों को अतीव सीमित कर लेगा। इन इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिये वह एक ओर भोगोपभोग विषयक सामग्री कम करेगा और दूसरी ओर उपलब्ध सामग्री में अत्यधिक राग-भाव नहीं बढ़ावेगा। राग कम करने के लिये, प्रतिदिन-प्रतिक्षण सावधान रहने के लिये वह भोजन-पानी, वस्त्र-सुगन्ध, घी-तैल आदि के प्रयोगों के सम्बन्ध में निश्चित नियम बनाकर पालन करेगा।

अपरिग्रह का आरम्भिक आराधक होने के नाते जैन गृहस्थ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत का धारक बनेगा। वह सीमित परिग्रही बनेगा। वह खेत और घर, दुकान और व्यवसाय को सीमित रखेगा। वह न तो मर्यादा से आगे चाँदी-सोना-रुपया बढ़ावेगा और न गाय-भैंस, हाथी-घोड़ा जैसे पशु बढ़ावेगा तथा न गेहूँ-चना-दालें-शक्कर आदि की मात्रा बढ़ावेगा। वह जहाँ नौकर-नौकरानी सीमित संख्या में रखेगा, वहाँ वस्त्र और बर्तन आदि के प्रमाण का भी उल्लंघन नहीं करेगा।[2]

यों अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को कम से कम करके जब जैन गृहस्थ अपरिग्रह की आराधना करने लगेगा तब वह देश और काल तथा समाज को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहेगा। उसका यह आचरण समाज में समता लाने वाला और विषमता मिटाने वाला सिद्ध होता है।

दिग्व्रत और देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रताचारी :

गुणव्रत के तीन भेद हैं— (१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत। इन्हें सच्चा श्रमणोपासक बखूबी समझेगा। वह सूक्ष्म पापों से निवृत्ति के लिए दसों दिशाओं में आने-जाने का

---

१. वह न तो अन्य जनों के विवाहों में उलझेगा और न व्यभिचारणी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध ही रखेगा। वह न निश्चित अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम-सेवन करेगा और न काम-सेवन की अत्यधिक लालसा रखेगा।

२. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमः।

परिमाण कर लेगा और दिग्व्रतधारी बनेगा तथा जीवन-पर्यन्त अपनी मर्यादा नहीं छोड़ेगा। स्वीकृत दिग्व्रत के क्षेत्र में क्रमशः कमी करता जाएगा। घड़ी-घन्टा, दिन-महीना आदि की दृष्टि से भी नगर-मुहल्ला तक ही आवेगा-जावेगा और देशव्रत का पालन करेगा। इस स्वीकृत मर्यादा को न तो भूलेगा और न उसके बाहर की वस्तुयें मंगावेगा। न व्यक्तियों को भेजेगा, न संकेतों द्वारा ही लाने का मनोभाव दूसरों पर प्रकट करेगा। वह प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करके अनर्थदण्ड विरमण व्रतधारी बनेगा। अर्थात् वह न किसी पाप का उपदेश देगा और न हिंसा के साधन देगा तथा न दूसरे का बुरा ही विचारेगा। न वह रागद्वेषवर्धक खोटे शास्त्र पढ़ेगा और न बिना प्रयोजन इधर-उधर घूमेगा। न निरुद्देश्य पृथ्वी को खोदेगा न जल का अपव्यय करेगा। वह न तो कभी अशिष्ट वचन कहेगा और न शारीरिक कुचेष्टा करेगा। वह न बचाला बनेगा और न मन-वचन-काय को मनमानी करने देगा। वह भोग-उपभोग के पदार्थों का अधिक संग्रह नहीं करेगा।

पूर्वोक्त तीनों व्रतों के सम्यक्रीत्या आचरण के द्वारा जैनगृहस्थ उस संयम की ओर उन्मुख होगा, जिसके सम्बन्ध में आचार्य आदि युग-युग से कहते आ रहे हैं कि 'संयम के बिना एक घड़ी भी न बीते।'

शिक्षाव्रतधारी :

मुनियों के व्रतों का पालन करने की प्रेरणा देने वाले शिक्षाव्रत ४ हैं— (१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण (४) अतिथिसंविभाग व्रत। चारों ही सार्थक संज्ञा वाले हैं।

सामायिक शब्द 'सम-आय-इक' से मिल कर बना। जिस का आशय समभाव की प्राप्ति की साधना से है। प्रत्येक जैन गृहस्थ के लिये सामायिक करना अतीव आवश्यक है। वह कम से कम दो घड़ी के लिये, ४८ मिनट के लिये तो अवश्य ही अहिंसक जीवन बितावे। इतने समय तक न केवल पापों से ही बचे अपितु विघ्न आने पर भी भयभीत न हो। सामायिक करने वाला गृहस्थ इसके छह अंगों को कदापि नहीं भूलेगा। वह समता, वन्दना, प्रतिक्रमण-स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और स्तुति पर जागरूक होकर दृष्टि रखेगा। आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक में स्थित, गृहस्थ की उपमा राख में दबे अंगारे से दी है। सामायिकधारी गृहस्थ को सवस्त्र मुनि भी कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामायिक करने से गृहस्थ न केवल पापों से ही बचता है बल्कि आत्मिक सुखानुभूति भी पाता है।

जैन गृहस्थ प्रोषध (एकाशन) करेगा, उपवास करेगा तथा प्रोषधोपवास भी अर्थात् पहले दिन एकाशन, दूसरे दिन उपवास तथा तीसरे दिन पुनः एकाशन भी करेगा। प्रोषधोपवास के दिनों में वह संसार के कार्यों से उदासीन रहेगा और एकान्त शान्तिपूर्ण स्थान में रहेगा। वह अंजन-मंजन, स्नान-उबटन, तेल-फुलेल से जहां बचेगा वहां सिनेमा-नाटक आदि से भी बचेगा। वह देखी-शोधी भूमि पर मल-मूत्र त्याग करेगा सभी वस्तुओं को सावधानी से रखेगा-उठावेगा। भूख से व्याकुल होकर भी धार्मिक क्रियाओं में उत्साहित रहेगा।

भोग और उपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करके उन्हीं ही जैनगृहस्थ ग्रहण करेगा, शेष को त्याग देगा। त्यागी हुई वस्तु का स्पर्श हो जाने पर मिल जाने पर या वह स्वीकृत वस्तु को भी भोजन में नहीं लेगा।

अपने और दूसरों के उपकार के लिये दान[1] देना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र-विशेष की अपेक्षा दान के फल में विशेषता होती है। यह विचार कर जैन गृहस्थ अतिथि-संविभाग व्रत का पालन करेगा। वह मुनि या श्रावक के लिए भोजन देकर ही स्वयं भोजन करेगा। एक कवि के शब्दों में उसकी प्रवृत्ति यों होगी—

मुनि आवन बिरियां जोवे। तब भोग अशन कुछ लेवे॥

जब जैन गृहस्थ प्रसन्न मुखमुद्रा लिये समुचित पात्र को दान देगा तो उसकी उदारता में भारतीय संस्कृति बढ़ेगी। तीर्थंकरों को जिन लोगों ने दान दिया, उनके यहां देवताओं ने पांच आश्चर्य प्रकट किये।

समाधिमरण का इच्छुक :

गृहस्थ प्राण-त्याग के समय सल्लेखना अथवा समाधिमरण को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करे। वह इहलोक-परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रयोजन की इच्छा न करे और कषायों को तथा शरीर को कृश-क्षीण करे। पर क्यों? इसलिए कि वह अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक अपने प्राणों को वैसे ही छोड़ सके, जैसे सांप केंचुली को छोड़ देता है अथवा हम पुराने कपड़े को छोड़ देते हैं। अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मरण से चारों गतियों में भ्रमण करने से बचकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

अन्ते समाहिमरणं चउगइदुक्खं णिवारेई।

इस स्वर्णसूत्र को दृष्टिपथ में रखता हुआ जैन गृहस्थ समाधि के समय न तो मन-वचन-काय की अन्यथा प्रवृत्ति ही करेगा और न समाधि दशा में अनादर रखेगा अथवा न स्मरणीय पाठों को दुखी हो कर भुला ही बैठेगा। वह सल्लेखना या समाधिमरण को स्वीकार करने के बाद — न जीवन की इच्छा करेगा न मृत्यु की, न मित्रों का स्मरण करेगा न अतीत के भोगों का भी ध्यान रखेगा तथा न आगे के लिए भी विषयों की इच्छा करेगा। ऐसा करने से उसके प्राण सहज स्वाभाविक रूप से छूटेंगे, वह जैन-धर्म के बीजभूत वीतरागता के रहस्य को भी समझ सकेगा।

संक्षेप में जैनागमों में जो गृहस्थ के आचार का वर्णन मिलता है, वह बहुत ही उच्च कोटि का है। उसकी भाव-भूमि बड़ी ही मनोहारी है। उसमें आहार-विहार और निहार पर नियन्त्रण है, अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही दृष्टियों से त्याग की कामना है लोक और परलोक की दृष्टियों से उसमें वैराग्य की भावना है। जैन गृहस्थ का जीवन जैनमुनि के जीवन की पूर्व भूमिका है। जैन धर्म जनधर्म है, अतएव जैनाचार प्रत्येक प्राणी का कल्याण करने में सक्षम है।

---

1. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।

चारित्तं खलु धम्मो

□ पं० धर्मचन्द्र जैन शास्त्री, इन्दौर

शास्त्रकारों ने यथावसर व यथावश्यक तौर पर धर्म की पृथक्-पृथक परिभाषा की है। कहीं वस्तु के स्वरूप को धर्म बताया है, कहीं सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है, तो कहीं सच्चे देव, शास्त्र गुरु के श्रद्धान को धर्म की संज्ञा दी गयी है। पुण्य को भी धर्म कहा है। प्रवचन सार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र को धर्म कहा है। धर्म की उपरोक्त परिभाषाएँ उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार समुद्र में गिरने वाली सभी नदियाँ। इन सभी धर्मों का अन्त अन्ततोगत्वा आत्म रूप की प्राप्ति में ही होता है। अतः सभी परिभाषायें अपनी-अपनी जगह सत्य व अनिवार्य हैं। इनमें से किसी भी परिभाषा का अनौचित्य प्रमाणित करना, आर्षमार्ग के प्रतिकूल जाना होगा।

किसी भी कार्य की सिद्धि, उसके प्रमुख आधार तद्विषयक सम्पूर्ण जानकारी और तदनुसार उस पर अमल करने से होती है। मोक्ष प्राप्ति भी एक अनोखा व अभूतपूर्व लक्ष्य या कार्य है, जो आज तक अनंतान संसारी जीव को प्राप्त नहीं हुआ। जो भी इस जीव ने अनेक बार स्वाधिगम, पराधिगम से यह माना स्वोपदेश परोपदेश से उसकी जानकारी प्राप्त की और कायक्लेश को सहन करते हुए आचरण भी किया, किन्तु या तो वे भिन्न-भिन्न रहे या फिर इनमें समीचीनता नहीं रही। अतः यह जीव अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुआ। समीचीनता के अभाव-वश बड़े से बड़ा महनीय लौकिक पद (अन्तिम ग्रैवेयक) पाकर भी वहीं का वहीं रहा। अतः आस्था (श्रद्धान), ज्ञान और क्रिया आचरण (अमल करना) ये तीनों एक साथ, अपने समीचीन रूप में नहीं मिलते, तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

उपर्युक्त तीनों में से पूर्व के दो अर्थात् श्रद्धान (विश्वास) और ज्ञान, ये दोनों प्रमुख रूप से भावात्मक अदृश्य होते हैं, जब कि इनका अन्यतम प्रमुख सहयोगी क्रियात्मक अङ्ग आचार (चारित्र) दृश्य करने योग्य होता है। जिस प्रकार व्यक्ति की विभिन्न मुखाकृतियों या उस पर झलकने वाले भावों से उसके अन्तरङ्ग परिणामों या मनोदशा का अनुमान-ज्ञान कर लिया जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति का चाहे वह सागार (गृहस्थ) या अनागार (मुनि-साधु) हो, बाह्य व्यवहार क्रिया-कलाप उसकी अन्तरङ्ग परिणामात्मक स्थिति का द्योतक होता है। व्यक्ति का बाह्याचार-विचार यदि पवित्र है तो उसका अन्तरङ्ग भी पवित्र होगा। सम्यग्दर्शन के प्रमुख चिह्न-प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सभी किसी न किसी क्रिया के रूप में चरितार्थ होते हैं। फिर संवेग भाव तो नियम से विषाद अधिकम

चारित्र के रूप में उसी प्रकार परिणित होता है, जिस प्रकार किसी बीज का वृक्ष में परिणत होना। सर्व विदित है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चौथे गुण स्थान में हो जाती है। ज्ञान की परिपूर्णता (अविकलता) तेरहवें सयोगकेवली गुण स्थान में होती है, जब कि चारित्र की पूर्णता चौदहवें अयोग-केवली गुण स्थान में होकर, वह मुक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। व्युपरत क्रिया निवर्ति नाम का शुक्ल ध्यान, चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में होता है। ध्यान; अन्तरङ्ग छः प्रकार (प्रायश्चित्त, विनय, व्युत्सर्ग, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान) के तपों में से एक है। तप; चारित्र का भेद है। इस दृष्टिकोण से ही आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र को धर्म का लक्षण कहा है, और धर्म (वस्तु) आत्मा का स्वरूप है। प्रकारान्तर से चारित्र आत्मा का स्वरूप ठहरता है, या यों कहिए कि चारित्र की चरम परिणति आत्म-स्वरूप की प्राप्ति ही है। इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि सम्यग्दर्शन (श्रद्धान्) और सम्यक्ज्ञान मुक्ति के अंग या आत्म-स्वभाव नहीं हैं। विश्लेषण करने पर तीनों ही आत्म स्वभाव रूप प्रमाणित होते हैं। आशय केवल इतना है कि आंशिक या परिपूर्ण चारित्र की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, न उनके धारकों (अणुव्रती-महाव्रती) को हीन भावना से देखा जा सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से प्रभावित होने पर भी कभी कोई वस्तु, अवस्तु नहीं कहला सकती। चारित्र की अवहेलना, उसके अभिन्न अनिवार्य अंग सम्यग्दर्शन व सम्यक्ज्ञान की अवहेलना भी होगी। इन तीनों का अवमूल्यन या इनके प्रति अनादर भाव, मुक्ति से दूर हटना होगा। मुक्ति से हटने का अर्थ होगा—वस्तु स्वरूप, आत्म-स्वरूप (शुद्ध चिद्रूप) से च्युत होना या अनवरत संसार-परम्परा में उलझे रहना-गोते लगाते रहना।

अतः जैन धर्म, जैन संस्कृति व जैन दर्शन के मूर्त स्वरूप के हामी यदि हम हैं, तो हमें अपनी आचार, चारित्र परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखना होगा, भले ही भौतिकवाद, विज्ञानवाद का कैसा भी प्रभाव क्यों न हो।

हा ! नित्य घटती आयु है, पर पाप मति घटती नहीं।
आई बुढ़ौती पर विषय से, कामना हटती नहीं॥
मैं यत्न करता हूँ दवा में, धर्म में करता नहीं।
दुर्मोह महिमा से ग्रसित हूँ, नाथ ! बच सकता नहीं॥

卐

शास्त्रोक्त विधि वैराग्य भी, करना मुझे आता नहीं।
खल वाक्य भी गत क्रोध हो, सहना मुझे आता नहीं॥
अध्यात्म विद्या है न मुझ में, है न कोई सत्कला।
फिर देव ! कैसे यह भवोदधि, पार होवेगा भला ?

—रत्नाकर पंचविंशतिका

स्याद्वाद सिद्धान्त की सार्वभौमिकता

□ पंडित फतहसागर जैन शास्त्री, ऋषभदेव (राज०)
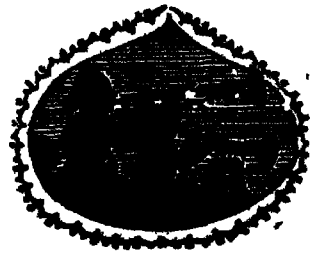
मानव के हृदय को विशाल और दृष्टि को निर्मल करके, विश्व की विषमता और विद्वेष को दूर करने वाला 'स्याद्वाद' या 'अनेकांत' सिद्धान्त जैन धर्म की अमूल्य देन है। स्याद्वाद वह समन्वय का मार्ग है जो अपनी बात को सत्य मानने के साथ ही अन्य बातों को भी अपेक्षाकृत सत्य स्वीकार करने में संकोच नहीं करता। सत्य का यथार्थ निर्णय स्याद्वाद का मूल आधार है। स्याद्वाद सिद्धान्त से किसी भी विचार धारा को विवेचनात्मक प्रणाली से समझ लेने की सहिष्णुता और तथ्य को ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

जैन धर्म का सप्तभंगी तह, 'स्यात्' से प्रारम्भ होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'शायद' या 'भ्रम' नहीं है, किन्तु यह 'स्यात्' शब्द अनेकांत या अपेक्षा का सूचक है। किसी भी तात्विक प्रश्न का समाधान, सप्तभंग नय प्रधान स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा ही सम्भव है। स्वामी समन्तभद्राचार्य एवं सिद्धसेन आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त को मार्मिक रूप देकर व्यवस्थित किया है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से अस्ति और परभाव से नास्ति रूप कही जा सकती है। एक ही समय में वस्तु में नाना विरोधी धर्मों का समावेश किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप— एक ही व्यक्ति किसी का पिता है तो किसी का पुत्र भी, किसी का मामा है तो किसी का काका भी। इस प्रकार केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। अतः यह सिद्ध हुआ कि व्यक्ति में दो विरोधी गुणों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत सत्य है और यदि एक वस्तु को एक ही रूप में देखा जाय तो हम उसे एकांतवादी दृष्टिकोण कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में मूलतत्व की स्थिरता रहती है और पूर्व प्रकृति का नाश होता है। प्रत्येक पदार्थ में नाना विरोधी धर्मों की सकारण स्थितियाँ होती हैं। अतः तत्व-निर्णय में इनकी अपेक्षा किये बिना हम वास्तविक निर्णय नहीं कर सकते हैं।

जैन दर्शन में सत्य को परखने के दो पहलू हैं— एक तात्विक सत्य और दूसरा व्यावहारिक सत्य। वस्तु की वास्तविकता को हम तात्विक सत्य से ले सकते हैं तथा लोक सत्य या व्यवहारिक सत्य जिसको हम जान सकते हैं। जैसा कि एलबर्ट आइंस्टीन ने भी कहा है— "We can know only the relative truth. The absolute truth is Known to the universal observer." इस प्रकार अपेक्षावाद सिद्धान्त में भी व्यवहारिक सत्य को जानने की बात बताई है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जब स्याद्वाद जैसा गहन सिद्धान्त कतिपय विद्वानों की समझ से बाहर था तो उन्होंने इसकी आलोचना करने का प्रयत्न किया, जैसे शङ्कराचार्य आदि। परन्तु अमेरिका के कई दार्शनिकों ने स्याद्वाद या

अनेकांत सिद्धान्त की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए यह स्वीकार किया है कि जैन दर्शन का यही एक मात्र सिद्धान्त है जो विश्व के तनाव को दूर कर विवादों को समाप्त करने की क्षमता रखता है। अमेरिका के अनेक प्रसिद्ध विद्वान स्याद्वाद सिद्धान्त को विश्व शांति के लिए परमावश्यक बताते हैं। स्वामी रामभिक्ष ने तो यहाँ तक कहा है— "स्याद्वाद जैन धर्म की वह अभेद्य किला है जिसमें वादियों प्रतिवादियों के मायावयगोले, प्रवेश ही नहीं कर सकते हैं।" वास्तव में सच कहा है—

"न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्षं. स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।"

बिना समझे लोगों का निन्दा करना स्वाभाविक है। धर्म विरोधी लोग जब तक इस सिद्धांत की उपेक्षा करते रहेंगे तब तक उनके मस्तिष्क में संकीर्ण विचारधारा बनी रहेगी।

आज विज्ञान के सापेक्षवाद के सिद्धान्त की मान्यता बढ़ने पर स्याद्वाद का प्रभाव और अधिक बढ़ रहा है। गणित शास्त्र के 'Law of Permutation and Combination' का सिद्धान्त भी इसके समीप ही है। स्याद्वाद के अनुसार निरपेक्ष सत्य 'Absolute Truth' तो कुछ है ही नहीं, क्योंकि विश्व की हर वस्तु की सत्यता उसकी सापेक्षता में ही निहित है जैसे—आम छोटा है या बड़ा? यहाँ वास्तविक या पूर्ण सत्य यही है कि वह बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। अपेक्षाकृत छोटा व बड़ा है। इसे अपूर्ण सत्य कहना भूल होगा।

स्याद्वाद वस्तु-सत्य परखने का ठोस माध्यम है। इसको हम जीवन का व्यवहारिक मार्ग भी कह सकते हैं। सत्य के यथार्थ निर्णय में यह सिद्धान्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यद्यपि स्याद्वाद जैन धर्म की अमूल्य सम्पत्ति है तथापि विश्व शांति एवं पारस्परिक मतभेदों को दूर करके मानव को वास्तविकता की ओर ले जाने में दर्पण का कार्य करता है। इस महान सिद्धान्त को सूक्ष्मता एवं गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है। विश्व के अनेक दार्शनिकों एवं कतिपय वैज्ञानिकों के द्वारा प्रस्तुत किये गये तथ्यों को स्याद्वाद सिद्धान्त ने वास्तविकता की कसौटी पर खड़ा किया है फलतः यह सिद्धान्त दिन-प्रतिदिन सार्वभौमिकता का स्थान ग्रहण कर रहा है।

क्रोधाग्नि से मैं रातदिन हा! जल रहा हूँ हे प्रभो!
मैं लोभ नामक साँप से काटा गया हूँ हे विभो!
अभिमान के खल ग्राह से अज्ञानवश मैं ग्रस्त हूँ।
कि भाँति हों स्मृत आप, माया जाल से मैं व्यस्त हूँ॥

卐

पर दोष को कहकर सदा मेरा वदन दूषित हुआ।
लखकर पराई नारियों को हा नयन दूषित हुआ॥
मन भी मलिन है सोचकर पर की बुराई हे प्रभो!
किस भाँति होगी लोक में मेरी भलाई हे विभो॥

—रत्नाकर पंचविंशतिका

देव - दर्शन क्यों ?

□ जगरूपसहाय जैन, एम०ए० (अंग्रेजी, अर्थ०) साहित्यरत्न
फिरोजाबाद

"मैं न ब्राह्मण हूँ न क्षत्रिय, न वैश्य हूँ और न शूद्र। न मैं हिन्दू हूँ न मुसलमान, न ईसाई हूँ और न सिक्ख। मैं न जैन ही हूँ और न बौद्ध हूँ। न मैं हिन्दुस्तानी हूँ और न पाकिस्तानी न अंग्रेज हूँ और न जर्मनी। न मैं पुर्तगाली हूँ, न फ्रान्सीसी। न अमेरिकन हूँ और न रूसी। मैं न पिता हूँ न पुत्र, न भाणजा हूँ न मामा। न मैं चेवता ही हूँ और न भतीजा। न मैं पुत्री हूँ न पत्नी, न बहिन हूँ न भाई। मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं।

न मैं मांस हूँ न मज्जा, न रक्त हूँ और न रक्कार। मुझमें न कोई रस है और न गन्ध। मेरा कोई रूप भी नहीं है। न मैं हलका हूँ और न भारी, न ठंडा हूँ न गरम। न मैं पण्डित हूँ न मूर्ख न राजा हूँ न रङ्क, न ऊँचा हूँ और न नीचा। ये सब तो देह के सम्बन्ध हैं। मैं तो इन सभी से भिन्न स्वतन्त्र, निश्चल और निष्काम आत्मद्रव्य हूँ। जिसका मूल; ज्ञान और दर्शन है। मुझ में किसी अन्य द्रव्य का एक अंश भी प्रवेश नहीं कर पाता। मैं तो एक अखण्ड द्रव्य हूँ[1] जिसमें आनन्द का अतुल कोष समाहित है।"

अपने इस रूप का यदि साक्षात्कार करना है तो इसका सहज उपाय है वीतराग प्रभु के दर्शन। जिस प्रकार दर्पण में झांकने पर अपनी ही आकृति दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार वीतराग प्रभु के दर्शन से अपनी ही आत्मा के दर्शन होते हैं।

जिन बिम्ब दर्शन से सम्यग्दर्शन (स्वानुभूति) की प्राप्ति होती है। इसके लिये आगम में अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। षट्खण्डागमसूत्र (जीवट्ठाण चूलिका-२९-३०) में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के तीन हेतु दिये हैं। उनमें एक हेतु जिन बिम्ब दर्शन भी है। आचार्य महाराज लिखते हैं—'मणुस्सा मिच्छा-इट्ठी कदिहि कारणेहिं पढम सम्मत्तमुप्पादेंति ? तीहि कारणेहिं पढम सम्मत्तमुप्पादेंति। केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिम्ब दट्ठूण।"

---

1. "अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि॥"
—आ० कुन्दकुन्द

अर्थात् मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों को किन कारणों से प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ? तीन कारणों से उन्हें प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । किन्हीं को जाति स्मरण द्वारा, किन्हीं को धर्म श्रवण द्वारा तथा किन्हीं को जिनबिम्ब दर्शन द्वारा ।

बुधजन कवि लिखते हैं— 'मिट गयो तिमिर मिथ्यात्व मेरो, उदय रवि आतम भयो ।'

कविवर भूधरदास जी लिखते हैं— 'दुर्बुद्धि चकवी विलख बिछुरी, निबिड मिथ्यातम हरो ।'

द्यानतराय जी नन्दीश्वर द्वीप की पूजा में लिखते हैं— "कोटि शशि भानु द्युति तेज छिप जात हैं, महावैराग्य परिणाम ठहरात हैं । बयन नहिं कहैं लखि होत सम्यक् धरं, भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं ॥"

कविकुल चन्द्र दौलतराम जी भी इसी प्रकार 'सकल ज्ञेय' स्तुति में लिखते हैं— 'तुम गुण चिन्तत निज पर विवेक, प्रकटै विघटै आपद अनेक ।'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जो प्रतिदिन देव दर्शन करते हैं उन्हें निस्संदेह ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो गया तो समझिये जीवन धन्य हो गया । क्योंकि—

"तीन लोक तिहुंकाल मांहि नहिं दर्शन सों सुखकारी ।
सकल धर्म को मूल यही इस बिन करनी दुखकारी ॥
मोक्ष महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा ।
सम्यकता न लहैं सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा ॥"

अर्थात् त्रिकाल तथा त्रिलोक में सम्यक्दर्शन से अधिक सुखकर कोई वस्तु नहीं है । यह समस्त धर्म का मूल है । इसके अभाव में जो भी क्रिया की जाय वह दुखकर है । मोक्ष के भव्य तथा शालीन प्रासाद का प्रथम सोपान सम्यक्त्व ही है तथा ज्ञान और चरित्र भी सम्यक्त्व होने पर ही समीचीन बन पाते हैं ।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रभु दर्शन से क्या केवल आध्यात्मिक विकास ही सम्भव है अथवा कोई भौतिक उपलब्धियाँ भी सम्पादित की जा सकती हैं ? सरल शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर है कि वीतरागता के विकास के साथ आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं । इसका बहुत सुन्दर वर्णन आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में प्रस्तुत किया है । वे लिखते हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ् नपुंसक स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥
ओजस्तेजोविद्यावीर्य यशोवृद्धिविजयविभव सनाथाः ।
महाकुलामहार्था, मानवतिलका भवंति दर्शनपूताः ॥
अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टि विशिष्टाःप्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिर रमन्ते जिनेन्द्र भक्ताः स्वर्गे ॥

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रं ।
वर्तयितुं प्रभवंति, स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखर चरणाः ॥
अमरासुरनरपतिभिर्यम धरपतिभिश्चनूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवंति लोकशरण्याः ॥
शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभय शंकं ।
काष्ठागतसुख विद्याविभवं विमलं भजति दर्शनशरणाः ॥
देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृत सर्वलोकं,
लब्ध्वा शिवं च जिन भक्तिरुपैति भव्यः ॥
(श्लोक ३५ से ४१)

अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व को धारण करने वाले अव्रती जीव भी, नारक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री पर्याय, अकुलीनता, विकलांगता, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते।[1] सम्यग्दृष्टि जीव उत्साह, विद्या, शक्ति, कीर्ति, अभ्युदय, विजय और वैभव इनसे युक्त उच्च कुलीन श्रेष्ठ मानव होते हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा आदि आठ ऋद्धि धारक वैमानिक स्वर्गों में इन्द्र बनते हैं। नवनिधि और चौदह रत्नों के धारक तथा छह खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती बनते हैं। गणधरों से पूजित चरण तथा संसारी जीवों के शरण रूप धर्म चक्र के धारक तीर्थंकर बनते हैं और अन्त में अजर-अमर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन्हें पारमार्थिक सुख की कोई वाञ्छा नहीं। उनके हृदय में ललक है केवल मात्र भौतिक सुखों की। उन्हें चाहिये धन-सम्पदा, पुत्र-पुत्रियां, मनोहारी रमणी और विशाल प्रासाद। क्या जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने वाले को यह सभी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं? इस प्रश्न का उत्तर मैं अपने शब्दों में न देकर कविवर भूपाल के शब्दों में देना चाहूंगा। जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्र में वे लिखते हैं—

"श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्ति प्रमोदास्पदं
वाग्देवीरतिकेतनं जय रमा क्रीड़ानिधानं महत् ।
स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥१॥"

अर्थात् "जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल के समय जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करता है, वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है, पृथ्वी उसके वश में रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह

---

१. सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व नरकायु बाँधने वाला प्राणी सम्यग्दृष्टि बनने पर पहले नरक में जाता है। और तिर्यंच आयु बांधने वाला भोग भूमि का तिर्यंच बनता है।

हमेशा प्रसन्न रहता है। उसे अनेक विद्यायें प्राप्त हो जाती हैं। युद्ध में उसकी विजय होती है। अधिक क्या, उसे सब उत्सव प्राप्त होते हैं।"

"दर्शन दशक" में लिखा है[1]—

देखे श्री जिनराज, आज अघ जाहिं दिसंतर।
देखे श्री जिनराज, काज सब होंय निरन्तर॥
देखे श्री जिनराज, राज मन वांछित करिये।
देखे श्री जिनराज, नाथ दुख कबहुं न भरिये॥

अर्थात् 'प्रभु दर्शन के साथ ही सारी मनोकामनायें पूर्ण हो जाती हैं। प्रभु दर्शन करने वाला राज्य करता है और कभी दुखी नहीं होता है।'

द्यानतराय जी एक पद में लिखते हैं[2]—

धन सम्पत्ति मनवांछित भोग, सब विधि आन बने संयोग।
कल्पवृक्ष ताके घर रहै, कामधेनु नित सेवा वहै॥
पारस चिन्तामनि समुदाय, हित सों आय मिलें सुखदाय।

अर्थात् 'जिनेन्द्रदेव के भक्त को धन, सम्पत्ति, मन चाहे भोग, प्राप्त होते हैं। उसके घर में कल्प-वृक्ष का निवास होता है। कामधेनु उसकी सेवा में रत रहती है और पारसमणि तथा चिन्तामणि आदि सभी मणियां सहज ही उसके पास आ जाती हैं।"

किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है। जिनेन्द्रदेव तो वीतरागी हैं, उनमें न रागांश है और न द्वेषांश। पूजा करने वाले पर प्रसन्न होकर वे आशीर्वादों की बौछार नहीं करते और न निन्दा करने वाले का बैर भाव से कोई अहित ही करते हैं जैसा कि समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ! विवान्त वैरे।

फिर वीतरागप्रभु का उपासक भौतिक समृद्धि का अधिपति कैसे बन जाता है? इसका समाधान समन्तभद्र महाराज ने स्वयं प्रस्तुत किया है नमिप्रभु की स्तुति करते हुये आप लिखते हैं—

"स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि-जिनम्॥"

---

1. बृहज्जिनवाणी संग्रह—स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवाल, १०वां संस्करण पृ० ३१-३२
2. बृहज्जिनवाणी संग्रह—स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवाल, १०वां संस्करण पृ० २१-२२

अर्थात् 'स्तुति के समय स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फल की प्राप्ति चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु भक्ति-भावपूर्वक स्तुति करने वाले की स्तुति पुण्य प्रसाधक परिणामों की हेतु अवश्य है और वह पुण्य प्रसाधक परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्य विशेष श्रेय फल का प्रदाता है।'

इस बात को अभी और भी अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। कर्म प्रकृतियां दो प्रकार की होती हैं। पुण्य प्रकृतियां अथवा शुभकर्म तथा पाप प्रकृतियां अथवा अशुभकर्म। इन कर्म प्रकृतियों में शुभाशुभ भावों के अनुरूप सदैव ही परिवर्तन अथवा संक्रमण होता रहता है। जिनेन्द्रदेव के दर्शन, स्तवन आदि से पाप प्रकृतियों का स्थान पुण्य प्रकृतियां ले लेती हैं। ऐसी स्थिति में पाप प्रकृतियों का रस (फल देने की शक्ति) सूख जाता है और पुण्य प्रकृतियों का रस बढ़ जाता है। परिणामस्वरूप अन्तराय कर्म— जो हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में बाधा उपस्थित करता है— निष्प्राण हो जाता है और फिर हमारे अनेक इष्ट कार्य स्वतः ही पूर्ण हो जाते हैं।[1]

किन्तु अभी एक और प्रश्न इस सन्दर्भ में अवशेष है जिसका समाधान होना चाहिये। कुछ लोग शंका प्रस्तुत कर सकते हैं कि अनेकों को सारा जीवन हो गया वीतराग प्रभु के दर्शन, स्तवन, उपासना करते हुये, किन्तु उन्हें आज तक कोई सुख ही नहीं मिला। न वे आत्मोत्थान के सोपान पर चढ़ पाये और न उन्हें भौतिक समृद्धि ही हाथ लगी। फिर जिनेन्द्र दर्शन का क्या प्रयोजन? क्यों समय और शक्ति का अपव्यय किया जाय; मन्दिर जाने में, दर्शन करने में, पूजा में, और जिन भक्ति में? प्रश्न बड़ा सारगर्भित और सुन्दर है और साथ हीं कुमुदचन्द महाराज द्वारा प्रस्तुत इसका उत्तर भी उतना ही श्रेष्ठ तथा गरिमामय है। पार्श्व प्रभु की स्तुति करते हुए वे लिखते हैं—

"नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधोविधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते॥"

अर्थात् प्रभो! मैंने मिथ्यात्व के उदय से अन्धे होने के कारण कभी भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि दर्शन किये होते तो आज ये दुःख मुझे दुखी कैसे करते? क्योंकि आप के दर्शन करने वालों को कभी कोई भी कष्ट सहन नहीं करना पड़ता।

उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णन से स्पष्ट है कि विवेकपूर्ण देव दर्शन सर्व सिद्धियों का सुगम उपाय है। किन्तु इसका मुख्य लक्ष्य है सम्यक्त्व की प्राप्ति। ध्यानस्थ मूर्ति के समक्ष जाते ही मैं कौन हूं? क्या हूं? कैसा हूं? आदि मानव की गुत्थियां सहज ही सुलझ जाती हैं। उसे अपनी शक्ति का बोध होता है। आत्म-अनात्म का बोध उसके समक्ष दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाता है और उसका जीवन

---

1. 'समन्तभद्र-विचार दीपिका' प्रथम भाग, ले० जुगलकिशोर मुख्तार
   निःस्पृह-वीतराग से प्रार्थना क्यों? पृ० २२-२३

अन्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख हो जाता है।' पं० आशाधर जी के शब्दों में इस पञ्चमकाल में जिन प्रतिमा ही आत्मबोध का प्रमुख साधन है।[२] अतः आइये हम सभी आज से ही प्रतिदिन देव दर्शन की प्रतिज्ञा करें और सम्यक्त्व प्राप्त कर मुक्तिरमा से मिलने की तैयारी में लग जायें।

---

२. धिग्दुःषमाकालरात्रिं, यत्रशास्त्रदृशामपि ।
चैत्यालोकादृते न स्यात्, प्रायो देव विशामतिः ॥
—सागार धर्मामृत

卐 दिगम्बर मुनि बने बिना मोक्ष नहीं ! 卐

ण वि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।
णग्गो वि मोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

अर्थात् जिन शासन के अनुसार यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हो तो वह आत्म सिद्धि नहीं पा सकता। दिगम्बरत्व ही मोक्ष का मार्ग है। शेष तो सब उन्मार्ग हैं।

—सूत्रपाहुड आ० कुन्दकुन्द

●

卐 कल्याणकारी भावना 卐

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झंण केण वि ॥
हा दुट्ठकयं हा दुट्ठचिंतियं, भासियं च हा दुट्ठं ।
अंतो अंतो इज्झमि, पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरो सब जीवों पर मित्रता है, किसी से भी मेरा बैर भाव नहीं है।

हा! मैंने कोई दुष्ट कार्य किया हो, दुष्ट चिन्तवन किया हो तथा दुष्ट वचन बोले हों तो पश्चाताप पूर्वक अपने मन ही मन में दग्ध होता हूँ अर्थात् अपनी निन्दा करता हूँ।

—प्रतिक्रमण पाठ

मुनि निन्दा का दुष्परिणाम

□ सुमेरचन्द्र 'दिवाकर' B.A., L.L.B. सिवनी (म.प्र.)

जैन आगम में जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और दिगम्बर साधु की श्रद्धा को सम्यक्दर्शन का आधार कहा गया है। इस कलिकाल में शारीरिक कमजोरी आदि के कारण, मुनि पद को धारण करना, पहले लोग असम्भव सोचा करते थे, किन्तु महान साधु, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी के पवित्र जीवन और उपदेश से प्रेरणा पाकर अनेक साहसी, मनोबली, भोग विरक्त सत्पुरुषों ने दिगम्बर मुद्रा को स्वीकार कर धर्मात्मा पुरुषों के हृदय में आनन्द की वृद्धि की है।

दुष्टवृत्ति :

कुछ लोगों की खोटी होनहार होने के कारण दिगम्बर साधुओं की निन्दा तथा उन पर दोषारोपण करने में बड़ी खुशी होती है। ऐसे लोगों में कुछ तो ऐसे हैं, जो विषयासक्त आगम विरुद्ध आचार और प्रचार में निरत रहने वाले व्रतशून्य गृहस्थ के चरणों की धूलि मस्तक पर रखते हैं, किन्तु दिगम्बर मुनीश्वरों को देख उनमें न जाने क्यों दुष्टभाव और निन्दा करने के परिणाम होते हैं।

शोचनीय बात :

यह बड़े सन्ताप की बात है कि इस निन्दा कार्य में कई ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो अपने को शास्त्रों का महान ज्ञाता घोषित करते हैं। कभी-कभी लोग ऐसे व्यक्तियों के बारे में हमसे पूछते हैं कि शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी ये लोग संस्कृति के मूल पर क्यों कुठाराघात करते हैं? ऐसी प्रवृत्ति वालों के लिए हमें आचार्य कुन्दकुन्द की शीलपाहुड़ की बात स्मरण हो आती है कि जिसमें दसपूर्व के ज्ञाता पण्डितों के भी महापण्डित सात्यकि-पुत्र के नरक-गमन की बात कही गयी है। वह गाथा इस प्रकार है—

> जइ विसयलोलएहिं णाणीहिं हविज्ज साहिदो मोक्खो।
> तो सो सच्चइपुत्तो दस पुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥
> यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितः मोक्षः।
> तर्हि सः सात्यकिपुत्रः दसपूर्विकः किं गतः नरकम् ॥

"यदि विषयों के लोलुपी व्यक्ति, ज्ञानी होने मात्र से मोक्ष के साधक मान लिये जायें तो वह दस पूर्व आगम का ज्ञानी सात्यकि-पुत्र नरक में क्यों गया?"।

साधु विद्वेष रूप स्वभाव :

बात यह है कि निसर्गतः कुछ व्यक्तियों का बौद्धिक ढाँचा इस प्रकार का होता है, कि उन्हें साधु को देखकर अकारण क्रोध आता है। मेरे एक सुपरिचित विद्वान हैं, जो मेरे आचार्य शांतिसागर महाराज के महत्व पर लिखे गये लेख को पढ़कर, बहुत समय पूर्व जब मैं उनके साथ था, रुष्ट हो गये थे। आज तो वे साधुनिन्दा में अग्रणी बन रहे हैं। नीतिकार ने कहा है—

मृग, मीन, सज्जनानां, तृण, जल, सन्तोष वृत्तीनाम्।
लुब्धक-धीवर-पिशुनाः निष्कारण वैरिणो जगति॥

हिरण, मछली तथा सज्जन, तृण, जल तथा सन्तोष द्वारा जीवन व्यतीत करते हैं। फिर भी बिना कारण हिरण के प्रति शिकारी, मछली के प्रति धीवर तथा सज्जनों के प्रति चुगलखोर वैर भाव धारण करते हैं।

ऐसी साधु-निन्दा में प्रवीण पढ़े-लिखे लोगों की प्रवृत्ति को देख समाज के हितार्थ यह लिखना कर्त्तव्य प्रतीत हुआ कि साधु की निन्दा करने वालों के बारे में पुरातन इतिहास रूप आगम किस रूप में प्रकाश डालता है?

पद्म पुराण का कथानक :

पद्म पुराण के ३८ वें पर्व में लक्ष्मण जी के बारे में एक महत्वपूर्ण उल्लेख है। लक्ष्मण जी की स्त्री वनमाला को जब यह ज्ञात हुआ कि उसके प्राणनाथ उसे छोड़कर बहुत समय के लिए बाहर जायेंगे तब उसने कहा — "स्वामिन्! आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।" तब लक्ष्मण जी ने कहा "हे प्रिय! विषाद को मत प्राप्त हो। मैं बहुत थोड़े ही समय बाद फिर वापस आ जाऊँगा........यदि मैं शीघ्र ही तुम्हारे पास वापिस न आऊँ, तो सम्यक्दर्शनहीन मनुष्य जिस गति को प्राप्त होते हैं, उसी गति को प्राप्त होऊँ। यदि मैं तुम्हारे पास न आऊँ, तो साधुओं की निन्दा करने वाले अहंकारी मनुष्यों के पाप से लिप्त होऊँ—

सम्यग्दर्शनहीना यां गतिं यान्ति सुविभ्रमे।
व्रजेहं तां पुनः क्षिप्रं न वेवेमि तवान्तिकम्॥३८॥
नराणां मानदग्धानां साधुनिन्दनकारिणाम्।
प्रिये! पापेन लिप्येहं, यदि नायामि तेऽन्तिकम्॥३९॥

इस कथन से यह बात ज्ञात होती है, कि जो दुर्गति मिथ्यादृष्टि की होती है, वही स्थिति साधु के निन्दक की भी होती है। इसका कारण यह है कि साधु की निन्दा करने वाला स्वयं अपने सम्यग्दर्शन से दूर होकर मिथ्यात्वी का खेल खेलता है। अनेक मिथ्यात्वी भी साधु-सेवा द्वारा अपना जीवन उज्ज्वल बनाते हैं। साधु निन्दक की जो दुर्गति होती है, उसका चित्रण करना कठिन है।

हरिवंश पुराण :

हरिवंश पुराण में रानी रुक्मिणी ने नेमिनाथ भगवान से अपने पूर्वभव पूछे थे। भगवान ने बताया था— "मगध देश में सोमदेव नाम का ब्राह्मण था। उसकी स्त्री का नाम था लक्ष्मीमती। उसे अपने रूप का बड़ा अभिमान था। एक समय दर्पण में वह अपना मुख देख रही थी। उस समय समाधिगुप्त नाम के तप द्वारा अतिशयकृश शरीर मुनिराज भिक्षा के लिए उस ग्राम में आये। उसने उन मुनिराज को देख, ग्लानि-युक्त हो, उनकी निन्दा की—

समाधिगुप्त-नामानं तपसातिकृशीकृतम् ।
साधुं भिक्षागत दृष्ट्वा, निनिन्द विचिकित्सिता ॥२६ सर्ग ६०॥

मुनि-निन्दा के बहुत भारी पाप से वह सात दिन के भीतर ही उदुम्बर कुष्ठ से पीड़ित हो गयी। उसकी पीड़ा इतनी अधिक हुई, कि उसने अग्नि में प्रवेश कर प्राण त्याग दिये। मरकर लक्ष्मीमती ने गधी की पर्याय प्राप्त की। उसके बाद उसने शूकरी की पर्याय पाई, पश्चात् वह कुतिया हुई। दावाग्नि में जलकर वह कुतिया मरी। मरकर पूतिगन्धिका नाम की धीवर की पुत्री हुई। पाप के उदय से उसकी माता मर गई।

उस धीवरी के घर के समीप के उपवन में समाधिगुप्त नाम के मुनिराज विहार करते हुए आये, और वटवृक्ष के नीचे विराजमान हो गये। रात्रि के समय भयंकर शीत पड़ी। पूतिगन्धिका ने करुणावश मुनिराज को अपने जाल से ढांक दिया।

मुनिराज अवधिज्ञानी थे। उन्होंने पूतिगन्धिका को उसके पूर्व भव समझाये। उनसे उसने धर्म धारण किया। दूसरे गांव में आकर आर्यिकाओं की भक्ति करने का सौभाग्य मिला। उसने राजगृह आकर समाधिमरण किया। उसके प्रभाव से वह सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र की महादेवी हुई। स्वर्ग से चयकर उसका रुक्मिणी के रूप में जन्म हुआ। भगवान नेमिनाथ ने कहा, "इस उत्तम पर्याय में तू दीक्षा धारणकर श्रेष्ठ देव पर्याय प्राप्त करेगी, और वहाँ से चयकर मुनिपद धारण कर निश्चय से मोक्ष प्राप्त करेगी।"

महापुराण :

महाकवि जिनसेन स्वामी के महापुराण में महाराज वज्रजंघ की महारानी श्रीमती के जीवन चरित्र का इस प्रकार वर्णन लिखा है—

धातकी खण्ड द्वीप के पाटली ग्राम में एक निर्नामा नाम की कन्या थी। उसने अम्बरतिलक पर्वत पर विराजमान ऋद्धिधारी अवधिज्ञानी मुनि पिहितास्रव महाराज के दर्शन किये। मुनिराज से उसने पूछा, "भगवन्! मैं किस पाप के उदय से दरिद्र कुल में उत्पन्न हुई।" उत्तर में मुनिराज ने कहा, "हे पुत्री! पूर्व भव में तूने पलाल पर्वत ग्राम में एक पटेल के घर में जन्म लिया था। तेरा नाम धनश्री था। किसी दिन तूने समाधिगुप्त मुनिराज के समीप मरे हुए कुत्ते का कलेवर डाल दिया था। अपने इस अज्ञानपूर्ण कार्य से तू खुश हुई थी। उस समय मुनिराज ने उपदेश दिया था, 'बालिके! तूने यह

अच्छा नहीं किया। भविष्य में इसका फल बुरा होगा।" उस समय धनश्री ने मुनिराज से क्षमा माँगी। उस उपशम भाव से तुझे यह मनुष्य पर्याय मिली, किन्तु पूर्व दोष से दरिद्र कुल में जन्म लिया। हे कल्याणि ! तू जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान इन व्रतों को धारण कर।

मार्मिक बात :

मुनिराज ने यह भी कहा था—

> वाचातिलंघनं वाचं निघ्नन्ति भवे परे ।
> मनसोल्लंघनं चापि स्मृतिमाहन्ति मानसीम् ॥१५३ पर्व ६॥
> काये चातिक्रमस्तेषां कायार्ताः साधयेत्पराम् ।
> तस्मात्तपोधनेन्द्राणां कार्योनातिक्रमो बुधैः ॥१५४ पर्व ६॥

—"जो पुरुष वाणी के द्वारा मुनियों का तिरस्कार करते हैं, वे दूसरे भव में गूंगे होते हैं, जो मन से उनका अनादर करते हैं, उनकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। और जो शरीर से तिरस्कार करते है, उन्हें महान शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। इससे बुद्धिमान पुरुषों को तप रूपी धन को धारण करने वाले मुनियों का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए।"

मुनिराज के वचन को मानकर निर्नामा पुत्री ने त्रेसठ तथा एक सौ अठ्ठावन उपवास द्वारा जिनेन्द्रगुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान नाम के व्रतों का पालन किया। आयु के अन्त में वह स्वर्ग में जाकर स्वयं प्रभा नाम की देवी हुई। वहाँ से चयकर वह वज्रदन्त चक्रवर्ती की पुत्री श्रीमती हुई। जिसने आगे जाकर राजा श्रेयांस की पदवी प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया।

हरिषेणाचार्य ने बृहत्कथाकोष मे यम मुनिराज की कथा दी है। उसमें बताया है कि उड़ीसा प्रांत मे धर्मपुर नगर के राजा का नाम यम था। एक समय सुधर्म नाम के मुनिराज पांच सौ शिष्यों सहित धर्मपुर के समीप आये। उस समय यम राजा ने मुनिराज की तीव्र निन्दा की।

राजा को अपने ज्ञान का बड़ा अहङ्कार था। वह मुनिराज के समीप गया, परन्तु उसने अपना मुनि-निन्दा का नीच कार्य जारी रखा।

मुनि निन्दा प्रकुर्वाणो याति साधु समीपकम् ॥११ पृष्ठ १३२॥

मुनि निन्दा के तीव्र पाप का फल राजा को तत्काल मिल गया। निन्दा करते समय उस की बुद्धि नष्ट हो गई। इससे उसका अहकार दूर हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर सुधर्म महाराज की शरण ग्रहण की। तपस्या के प्रभाव से यम मुनि को अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई। उन्होंने कुमारगिरि (जिसे खण्डगिरी-उदयगिरी कहते हैं) के शिखर पर समाधिमरण किया तथा स्वर्ग प्राप्त किया।

मर्म की बात :

इन कथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुनि-निन्दा करने वालों को आगे बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। जिस व्यक्ति की किसी साधु विशेष में श्रद्धा न हो, वह कम से कम साधु-निन्दा का कार्य

सो न करे। विचारवान व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि आज के विलासितापूर्ण, हीनयुग में जहाँ गृहस्थ अष्ट मूल गुण पालन करने से डरता है, वहाँ दिगम्बर मुद्रा को धारण कर महाव्रतों को पालन करने वाले महापुरुषों का दर्शन तो होता है। पूर्ण निर्दोष तो अरिहन्त भगवान कहे गये हैं। उनके पहिले ऐसा कौन है, जिसमें दोष न हो? सज्जन पुरुष गुण-ग्राही होते हैं।

इस प्रसङ्ग में एक महत्वपूर्ण शंका का भी समाधान किया जाना आवश्यक है। आजकल कोई-कोई मुनि आगम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करते हुए नहीं डरते। ऐसी स्थिति में आगम-भक्त, धर्मात्मा का क्या कर्त्तव्य है? मैंने आचार्य शांतिसागर जी महाराज से एक बार पूछा था, "शिथिलाचारण वाले साधु के प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए?" महाराज ने कहा था, "ऐसे साधु को एकांत में समझाना चाहिए। उसका स्थितीकरण करना चाहिए।" मैंने पूछा, "समझाने पर भी यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति न बदले, तब क्या कर्त्तव्य है? क्या पत्रों मे उसके सम्बन्ध में समाचार प्रकाशित कराना चाहिए?" महाराज ने कहा, 'समझाने से भी काम न चले, तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अङ्ग का पालन करो। पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हँसी होने के साथ-साथ अन्य मार्गस्थ साधुओं के लिए भी अज्ञानी लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जा सकती है।''

महाराज ने यह भी कहा कि, "मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का भयङ्कर दुष्परिणाम होता है। श्रेणिक की नरकायु का कारण, निरपराध मुनि के गले में सर्प डाला जाना था। अतः सम्यग्दृष्टि श्रावक विवेकपूर्वक स्थितिकरण, उपगूहन तथा वात्सल्य अङ्ग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रों में चर्चा नहीं चलायेगा।"

आचार्य श्री का उपरोक्त मार्ग-दर्शन सत्पुरुषों के लिए चिरस्मरणीय है। उच्छृङ्खल तथा दुर्गति-गामी जीव की निन्दा की ओट में सच्चे साधु के मार्ग में भी कंटक बिछ जाते हैं। अतः सार्वजनिक पत्रों में उत्सूत्र चलने वाले की भी चर्चा छापना उचित नहीं है। उसका स्वच्छन्द वृत्ति वाले पर क्या असर पड़ेगा? सच्ची आत्माओं को कष्ट होगा। मिथ्यादृष्टि विधर्मी भी सत्साधु की निन्दा पर उतर आते हैं। अतः गुरुदेव का आदेश पालन करना प्रत्येक सज्जन, धर्मात्मा श्रावक का पावन कर्त्तव्य है। वह आदेश दूरदर्शितापूर्ण है। पापी व्यक्ति पर ऐसे आदेश का कोई प्रभाव न होगा, क्योंकि उसकी खोटी होनहार उसे कुपथ में प्रवृत्ति हेतु प्रेरित करती है।

जिनको अपना कल्याण इष्ट है, उन्हें साधु-निन्दा के महापातक से बचना चाहिए।

वर्तमान स्थिति पर सिंहावलोकन

☐ श्री पं० छोटेलाल बरैया उज्जैन (म०प्र०)

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की यह विशेषता है, कि गुरु-परम्परा से शास्त्र-पठन करते हैं। केवली श्रुत केवली के ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानते हैं। बाकी किसी व्याख्याता का अर्थ स्वतः प्रमाणिक नहीं होता है, क्योंकि उस व्याख्याता की बात जब तक केवली, श्रुत केवली के प्ररूपित शास्त्र से पुष्ट नहीं होती, तब तक वह यथार्थ है, ग्राह्य है। यह स्वीकार नहीं किया जाता; चाहे वह व्याख्याता कितना ही वाक्‌चतुर क्यों न हो।

वीतराग सर्वज्ञ अपनी दिव्य देशना द्वारा जिस तत्व का वर्णन करते है, वही निर्दोष और यथार्थ होता है, क्यो कि उनका ज्ञान निर्मल और पूर्ण होता है। इसके विपरीत जिनका ज्ञान, राग-द्वेष की सत्ता रहने से मलीन तथा अपूर्ण है, वह कोई हो, उसका ज्ञान प्रमाण मानने योग्य नहीं है।

दिगम्बर जैनाचार्यों की यह परम्परा थी, कि वे अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहते थे, न लिखते थे। सदा गुरु-परम्परा से चले आये तत्वार्थ का प्रतिपादन करते थे।

परन्तु काल-क्रम से वर्तमान में इस मर्यादा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है और वीतराग तथा सर्वज्ञ देव के प्रति लोगों की श्रद्धा भी कम होती जा रही है, किन्तु जिनको थोड़ा-सा ज्ञानावरणीय कर्म का कुछ अधिक क्षयोपसम हुआ। वचन शक्ति (व्याख्यान देने का ढंग), लेखन शैली आदि सामान्य व्यक्तियों से कुछ अधिक हुई, तो वे अपने ज्ञान और अनुभव को श्रेष्ठ समझने लगते हैं। ऐसे लोग अपने अपूर्ण, मलीन ज्ञान और अनुभव को अपने तक ही सीमित रखते, तब तो कुशलता थी तथा उससे केवल उनका ही अहित होता, परन्तु ऐसे लोग उस अज्ञान का प्रचार दूसरों तक पहुँचाते हैं और अपने साँचे में सबको ढालना चाहते हैं। इससे भोले प्राणियों का महान अहित होता है। ये लोग केवल व्याख्यान देकर ही सन्तुष्ट हो जाते, तो जो उस व्याख्यान को सुनते उनके समकालीन नर-नारियों का ही अहित होता, परन्तु ये लोग मुद्रण कला का सहारा लेकर साहित्य में, शास्त्रों में अपने मन्तव्यों को सम्मिलित करने लगे हैं जिससे दिगम्बर जैनों की शास्त्र-श्रद्धा का दुरुपयोग कर अपने मन्तव्य को 'सर्वज्ञ प्रणीत यही है' ऐसी श्रद्धा कराने का साधन जुटाने लग गये हैं और भविष्य में होने वाली या आने वाली पीढ़ी का भी। ऐसे आगम विरुद्ध साहित्य के द्वारा अहित करने का सम्प्रति में प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे लोगों के कुछ धनाढ्य भी सहायक हो गये हैं, जो साहित्य-प्रकाशन में द्रव्य लगा रहे हैं।

हमारा कर्त्तव्य :

ऐसे जहाँ अनर्थ के बीज बोये जा रहे हों, वहाँ दिगम्बर जैन शास्त्रों को निर्दोष रखने के पक्षपाती लोगों का कर्त्तव्य बन जाता है, कि वे इस अनर्थ का सामना अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर करें, जिससे वर्तमान तथा भावी जनों का अहित न हो और भविष्य की पीढ़ी को सर्वज्ञ की वाणी का यथार्थ बोध प्राप्त होवे।

हमारा स्वाध्याय :

हमको शास्त्रों का स्वाध्याय गुरु-मुख से करना चाहिए। जिन्होंने न्याय, व्याकरण, शास्त्रों का अध्ययन कर प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग का अभ्यास श्रद्धापूर्वक किया है, उन लोगों की व्याख्यान शैली भले ही प्रिय न हो तो भी तत्त्वानुप्रेक्षण उनसे करें। इससे शास्त्र के अर्थ में गलतफहमी न होगी और श्रद्धान में शिथिलता न आवेगी।

हमारा हित :

हमारा हित इसी में है, कि हम सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों का ही स्वाध्याय करें। जिन्होंने राग-द्वेष को नष्ट करने के लिए महाव्रतादि चारित्र को धारण किया है और श्रद्धापूर्वक सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार ही ग्रन्थों का निर्माण किया, उन वीतराग ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थ का ही स्वाध्याय किया जाय और उनके अनुसार ही श्रद्धान, ज्ञान चारित्र का पालन किया जाय, उसी में हमारा हित है।

चारों ही अनुयोग पढ़ने चाहिए :

सम्यक्ज्ञान के अङ्ग समन्तभद्र स्वामी ने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, इस प्रकार चार अनुयोग लिखे हैं। इनका नाम उल्लेख जिस प्रकार किया गया है उसी क्रम से इनका अध्ययन करने से सुगमतापूर्वक यथार्थ आत्मा का हित हो सकता है। यह परम्परा इतनी सुन्दर है कि संसारी आत्मा शीघ्र ही कर्म-बन्धन से छूटकर शिव-स्वरूपमय हो जाती है। परन्तु हमने आज इस क्रम को भुला दिया है और सब के अन्त में जिस अनुयोग का स्वाध्याय करना चाहिए, उसे हम सबसे प्रथम करने लगे हैं। उसका कुफल यह होता है कि हमें सम्यक्ज्ञान नहीं होता, हमारा श्रद्धान सम्यक् श्रद्धान नहीं हो पाता और चारित्र के विषय में तो हम कोरे रह जाते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने बड़ी ही मार्मिक बात 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के एक श्लोक में प्रकट की है— "पाप इस जीव का शत्रु है, और धर्म बन्धु है, ऐसा पहले निश्चय करे, उसके बाद समयसार का ज्ञान (अध्ययन) करे, तो श्रेष्ठ होता है। अथवा कल्याण को भोगने वाला होता है।"[1]

पापों से दुःख होता है, और जिन्होंने पाप उपार्जन किया है, वह अवश्य ही दुःखों को भोगता है इसका वर्णन प्रथमानुयोग मे मिलता है।

---

१. पापमरातिर्धर्मो, बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते, श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

करणानुयोग का अभ्यास करने से, यह जीव कहाँ-कहाँ घूमता है ? कैसी-कैसी पर्याएँ धारण करता है ? आदि बातों का ज्ञान है ।

उन दुःखदायक पापों का सञ्चय किस कार्य के करने से होता है, और धर्म का आचरण किन-किन क्रियाओं से होता है, यह सब चरणानुयोग बताता है ।

इन तीनों अनुयोगों का ज्ञान हो जाने के बाद जब द्रव्यानुयोग पढ़ा जाता है, तब यथार्थ ज्ञान होता है । बुद्धि सर्वतोन्मुखी हो जाती है । और प्रमाणनय की व्याख्या का महत्व ज्ञात होता है ।

प्रमाण तथा नय के विषय में भूल :

जिन लोगों ने सर्वप्रथम अध्यात्म ग्रन्थ (द्रव्यानुयोग) पढ़े, उनको न तो पहले यथार्थ ज्ञान हुआ और न अब होता है । जो अध्यात्म शास्त्र को बिना प्रमाण तथा नय को समझे एवं शब्द (व्याकरण) शास्त्र का बिना अध्ययन किये पढ़ते हैं, वे मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं । साथ ही अकेले ज्ञान को कार्यकारी समझ, चारित्र को अपने लिए आवश्यक नहीं समझते हैं, वे प्रमादी बन स्वयं संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं । अकेले चारित्र-रहित भ्रान्त ज्ञान से वे दूसरों का भी अहित करते हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश' में बतलाया है "कि केवल कर्मनय (व्यवहारनय) का जो अवलम्बन लेते हैं, ज्ञान-नय (निश्चयनय) को छोड़ बैठते है, वे संसार में मग्न होते हैं । उनका भव-भ्रमण नहीं मिटता । कारण को उन्होंने कार्य समझ लिया तथा उद्यम (चारित्र) को छोड़ दिया है— स्वच्छन्द हो प्रवृत्ति करने लगे हैं, उन्होंने कार्य को कारण समझ लिया है । इस तरह एकांत को पकड़ने वाले दोनों ही संसारी हैं, हाँ ! जो ज्ञाननय को तो साध्य समझते है और कर्मनय को उसका साधन समझ प्रवृत्ति करते हैं, प्रमादी नही बनते है अर्थात् ज्ञान और चारित्र दोनों का आश्रय लेते हैं, वे संसार से ऊपर उठकर सिद्ध लोक पहुंच जाते हैं ।"[1]

यहाँ आचार्यों ने व्यवहार तथा निश्चय नाम न लिखकर 'कर्मनय' और 'ज्ञाननय' शब्दों का उल्लेख किया है । इसका अभिप्राय यह है कि संसारी जीव अकेला नहीं है, नीर-क्षीरवत् अनादि से सम्मिलित है । इसी प्रकार अनादिकाल से कर्म (पुद्गल वर्गणा) और ज्ञान दोनों संयुक्त रूप से चले आ रहे हैं । इसलिए जब दो द्रव्य मिश्रित है तब दोनों का ही प्रभाव देखने में आवेगा । शब्द, दो बातें एक साथ नहीं कह सकता, इसलिए क्रम से कहा जायगा । जब कर्म के प्रभाव की मुख्यता से विवेचन होगा, तब कर्म का क्या-क्या प्रभाव होता है, उससे जीव की क्या हालत होती है, यह सब बतानी होती है । कर्म का प्रभाव किस प्रकार कम हो सकता है, इसके उपाय का भी विवेचन करना होगा । और उपाय जानने से ही काम नहीं चलेगा । इसका आचरण भी करना पड़ेगा, तब उसके द्वारा कर्म का संयोग

---

1. मग्ना: कर्मनयावलम्बन परा: ज्ञान न जानंति ये,
   मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति स्वच्छन्द मंदोद्यमाः ।
   विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवन्त: स्वयं,
   ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं, यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥
   —(समयसार कलश)

आत्मा से छूट जायगा। जब संयोग ही न रहेगा तब ज्ञान (आत्मा) पर कर्म का असर ही क्या पड़ेगा ?

जब जीव की मुख्यता से विवेचन किया जायगा, तब जीव का असाधारण लक्षण ज्ञान है, उसका मुख्य विवेचन होगा। उसका स्वरूप क्या है, कैसा है आदि बताया जायगा। कर्म या कर्मकृत प्रभाव का कोई विचार ही न होगा।

बिना इस अपेक्षा भेद को समझे, बिना अनेकांत के पक्षपाती होते हुए भी एकांत में जो-उलझ जाते हैं, वे कर्म बन्धनरहित जीव के स्वरूप को अपना स्वरूप समझने लगते हैं, यही उनकी नय के विषय मे भूल है।

एक और विलक्षणता :

वर्तमान में निश्चयनय का अवलम्बन लेकर जो अपने को श्रेष्ठ ज्ञानी समझ रहे हैं और चारित्र-धारियों को अज्ञान तथा दया का पात्र समझते है, और कहा करते हैं कि 'ये बेचारे देहाश्रित क्रिया करते हैं और व्यर्थ ही समय गँवाते हैं' इसलिये इन्हें चारित्र धारियों के प्रति उपेक्षा है और उनकी प्रसंग आने पर भर्त्सना करते हैं। यदि इन सज्जनों की एकांत दृष्टि न होकर स्याद्वाद रूप विचारधारा होती, तो वे *कदापि इस विडम्बना में न पड़ते, और स्याद्वाद रूप सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र* पर समान दृष्टि रख, तीनों का समन्वय करके ही चलते।

इस संसारी जीव का मन, वचन और काय से अनादिकाल से सम्बन्ध है। इसके कारण आत्म प्रदेशों में सदा हलन-चलन होता है। यदि कोई चाहे कि हम तीनों का सहारा छोड़ दें, तो ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हमेशा शुभ और अशुभ रूप होती ही रहती है। महाव्रत, अणुव्रत, जिनेन्द्र पूजनादि, गुरु वन्दना आदि के भावों को शुभ प्रवृत्ति रूप कहा है और सप्त व्यसन, पाँच पाप आदि निन्दनीय कार्यों में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को अशुभ माना है। इन दोनों प्रवृत्तियों का अनादिकाल से जीव के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है, अतः कभी कोई अधिक तथा कभी कोई कम अशुभ अथवा शुभ प्रवृत्ति हुआ करती है।

शुभ में प्रवृत्ति का प्रयत्न करने में बड़ी कठिनता होती है और अशुभ में प्रवृत्ति बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव होती है। इन दोनों प्रवृत्तियों को छोड़कर संसारी जीव यदि चाहे कि मैं तीसरी शुद्ध प्रवृत्ति कर लूँ और उसमें लीन हो जाऊँ तो यह असम्भव है।

अतः जो शुभ प्रवृत्तिरूप जिनेन्द्र देवपूजन, व्रताचरण, संयमादि क्रियाओं के अनुरूप प्रवृत्ति करता है, उसको तो संसार-वर्द्धक बताया जाता है, शुभ प्रवृत्ति को विकारी भाव कहकर उसकी भर्त्सना की जाती है।

अतः उपरोक्त सिद्धान्त से शुभ प्रवृत्ति या शुभ भाव करना अज्ञानता है। अशुभ प्रवृत्ति को छोड़-कर शुभ प्रवृत्ति का आचरण करना तो मानो ससार में अपने परिभ्रमण को बढ़ाना है। इस प्रकार से शुभ प्रवृत्ति या शुभ भावों का आज जो तिरस्कार किया जा रहा है, उसे किस प्रकार सहन किया जा सकता है ?

किन्तु इधर जैनाचार्यों का सिद्धान्त हमें यह प्रेरणा देता है कि शुभ भाव ही मोक्ष के कारण हैं। स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि— "विनय रूप शुभ भाव से आठों प्रकार के कर्मों का नाश होकर चतुर्गति संसार से आत्मा मुक्त होता है।"[1] शुभ प्रवृत्ति कहो या शुभ भाव दोनों का एक ही अर्थ है। इस शुभ भाव के लक्षण श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने इस प्रकार बतलाये हैं कि "छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, बन्ध, मोक्ष, बन्ध के कारण, मोक्ष के कारण, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्यकर्म, दया आदि भावों में जो प्रवृत्ति करता है, वे शुभ भाव या शुभ प्रवृत्ति हैं।"[2] इन शुभ प्रवृत्तियों के जितने व्रत, शील, संयम, तप आदि के कारण हैं, वह भी सब मोक्ष के कारण हैं। सम्यक्त्व के साथ जितनी भी शुभ प्रवृत्ति होती है, और तज्जन्य जो शुभ भाव हैं एवं उन भावों का पुण्यफल है वे सब मोक्ष-मार्ग होने से धर्म हैं, ऐसा आचार्यों ने निरूपण किया है। इसलिए देव-पूजा, सुपात्रदान आदि शुभ प्रवृत्तियों को मोक्ष की कारण माना गया है।

धर्म ध्यान और मोक्ष :

आचार्यवर उमास्वामी ने अपने तत्वार्थ सूत्र में धर्म ध्यान को मोक्ष का हेतु 'परेमोक्षहेतू' बतलाया है परन्तु धर्म ध्यान तो क्या शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से आदि के तीन भेद भी मोक्ष के साक्षात् कारण नहीं हैं। मोक्ष का कारण तो 'व्युपरत क्रिया निवर्त्ती' नामक चौथा शुक्ल ध्यान ही है। यदि साक्षात् कारण को ही मोक्ष का कारण मान लिया जाय तो 'परेमोक्षहेतू' उमास्वामी का कथन गलत हो जायगा। जिस प्रकार चार धर्म ध्यान (आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, तथा संस्थान विचय) और शुक्ल ध्यान के तीन (पृथकत्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क वीचार और सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति) ध्यान परम्परा मोक्ष का कारण हैं। देव-पूजा, दान, तप, व्रत आदि को मोक्ष का कारण न मान, बन्ध का कारण मानना तत्व ज्ञान से सर्वथा शून्यता की सूचना देना है।

तात्पर्य यह है कि ऐसे धार्मिक कार्यों को बन्ध का कारण बतलाकर हेय कहते हुए छोड़ दिया जायगा तो धर्म से प्राप्त होने वाली सांसारिक सुख संपदाओं से भी वंचित हो जाना पड़ेगा, और मोक्ष प्राप्ति तो असम्भव होगी ही। कोरी चर्चा या बातों से काम नहीं चलता है। मोक्ष के लिये परमोच्च कोटि के चारित्र की आवश्यकता है। इससे तो पाप से मिलने वाला जो दुःख दरिद्रता, शोक, परि-तापादि फल है, वही मिलेगा। पूजा दानादि, व्रत, तप आदि छोड़ देने से स्वर्ग सम्पदा भी नहीं मिलेगा। तब नरक तिर्यञ्च गति के सङ्कटों में ही अनन्त भव पूरे हो जायेंगे। जबकि साधारण व्रत, तप को ही हेय बतलाया जाता है तो महान् तप तो और भी हेय ठहर जाता है। क्योंकि जिसके लिए एक पैसा भी हेय है, उसके लिए करोड़ों रुपये हेय क्यों न ठहरेंगे? असंख्य पैसे ही तो मिलकर करोड़ों रुपये होते हैं।

---

१. जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य।
तम्हा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीण संसार॥ (७, ६, मूलाचार)

२. दव्वत्थिकाय छप्पण तच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु।
बंधण मुक्के तक्कारण रूवे बारसणुवेक्खे॥६४॥

अतः अब सोचने और समझने की बात है कि कोई उक्त पूजा, दानादि शुभ प्रवृत्ति रूप धर्म ध्यान को ही बन्ध का कारण आभापकर, हेय बतलाता रहे तो यह तत्त्व अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व नहीं तो और क्या है ?

नय के ज्ञान की परमावश्यकता :

सिद्धान्त प्रतिपादक उपदेष्टा के लिए नय तथा प्रमाण के ज्ञान की परमावश्यकता है। उक्त ज्ञान के बिना जो भी उपदेष्टा या उपदेशक होते हैं, उनके लिए यह उक्ति चरितार्थ होती है— 'स्वयं नष्टः परान्नाशयति' अर्थात् वह स्वयं नष्ट होता है और दूसरों को भी नष्ट करता है। समयसार' पर विशद टीका लिखने वाले श्री अमृतचन्द्र स्वामी स्वयं लिखते हैं कि 'न नयविदां सोऽपिदोषाय' अर्थात् नय प्रमाण वेत्ताओं के लिए यह कथन परस्पर विरोधी नहीं है, यानी प्रत्येक विवेकशील विद्वान उपदेष्टा को नय प्रमाण का ज्ञान होना परमावश्यक है। 'जो नय दृष्टि से विहीन हैं उनको वस्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती और जो वस्तु स्वभाव की प्राप्ति से शून्य हैं, वे सम्यग्दृष्टि कैसे कहे जा सकते है ?[1]

दोनो नयों की आवश्यकता :

'समयसार' की ४६वीं गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि यदि व्यवहार नय को नहीं माना जाय तो हिंसा, बन्ध, मोक्ष का अभाव हो जायेगा। निश्चय नय विषयक एकांतभूतार्थ (सत्यार्थ) रूप मान्यता तथा व्यवहार नय विषयक एकांत रूप से अभूतार्थ (असत्यार्थ) रूप मान्यता, आजकल के अध्यात्म-पन्थ के सिद्धान्त की भूल में बज्र भूल है। इस एक भूल के कारण आजकल के अध्यात्म पन्थ का सभी सिद्धान्त गलत बन गया है। क्योंकि जिस तरह व्यवहार नय का एकांतवाद मिथ्यात्व है उसी तरह निश्चय नय का एकांत पक्ष भी मिथ्यात्व है।

निश्चय नय तथा व्यवहार नय के विषय में आत्मख्याति, प्रवचन सार, मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि आदि अध्यात्म ग्रन्थों में बहुत ही विस्तार से कहा गया है। वहाँ से नयों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर अपने ज्ञान को सम्यक्ज्ञान बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे ज्ञान को सम्यक्ज्ञान बनाने में जिनवाणी ही निमित्त कारण है, परन्तु क्या किया जाय, आजकल तो केवल उपादान को ही महत्व दिया जाता है, और निमित्त की अवहेलना की जाती है। बिना निमित्त की सहायता के कोई भी कार्य उपादान अकेला नहीं कर सकता। इसी तरह बिना उपादान की योग्यता के केवल अकेला निमित्त भी कुछ नहीं कर सकता है। दोनों का परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध ही कार्य-सिद्धि का मूल बीज है।

निमित्त कारणों की आवश्यकता :

यह सुनिश्चित है कि निमित्त कारणों की योजना उपादान को स्वयं करनी पड़ती है। ये निमित्त कारण स्वयं नहीं मिल जाया करते हैं। इनके लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। उपादान कारण तो नित्य

---

१. जे णय दि ट्ठि विहूणा ताण ण वत्थु सहाव उवलद्धी।
वत्थु सहाव विहूणा सम्माइट्ठी कहं ते होंति॥

निगोदिया जीव के पास भी अनादिकाल से हैं। तब उसके उद्धार होने में किस बात की कमी है ? इस बात पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

आज तक ऐसा कोई भी मुक्तगामी आत्मा प्रकट नहीं हुआ जो वज्रवृषभनाराच संहनन, मनुष्य भव, पुरुषलिंग आदि शरीर का निमित्त कारण कर्म भूमिजता रूप क्षेत्रीय निमित्त कारण, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा काल में जन्म रूप काल निमित्त कारण तथा सर्व परिग्रह त्यागमयी मुनि दीक्षा, महाव्रतादि शुक्लध्यानादि सम्बन्धी विविध निमित्त कारणों के बिना प्राप्त किये, केवल अपने उपादान कारण से मुक्त हो गया हो। इन निमित्त कारणों में से यदि एक की भी कमी रही तो कभी किसी की मुक्ति होना असम्भाव्य है। यदि हुआ हो तो बतलावें।

हजारों बार अध्यात्म प्रवचन सुनकर और लाखों बार समवशरण में जाकर भी यदि किसी का उद्धार नहीं हुआ तो उसका भी निमित्त कारण है। जब तक संसार परिभ्रमण का निमित्त कारण या मुक्ति का प्रतिरोध रूप निमित्त कारण मिथ्यात्व बना रहता है, तब तक प्रवचन, देव-दर्शन आदि निमित्त कारण सफल नहीं होते हैं। आज उद्धार के लिए बहिरङ्ग निमित्त कारणों के साथ-साथ अन्तरङ्ग निमित्त कारणों (आत्म गुणों के प्रतिबन्धक, मिथ्यात्व आदि का अभाव) का होना भी अनिवार्य है। न केवल उपादान से कार्य होता है और न केवल निमित्त कारण से कार्य होता है।

जगत में जितने भी पदार्थ हैं उन सबके लिये; परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल, और परभाव निमित्त कारण पड़ते है उनमें कोई समर्थ निमित्त कोई उदासीन निमित्त होते हैं। बिना निमित्त कारण के कोई निश्चय पर्याय भी किसी द्रव्य में नहीं होती। सिद्ध भगवान भी जो स्वयं निश्चय एवं शुद्ध पर्याय स्वरूप है बिना निमित्त के परिणमन नहीं करते। सिद्धों के परिणमन में काल द्रव्य निमित्त है।

इस निमित्त की उपयोगिता के विषय में; राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्ट-सहस्री आदि ग्रन्थों में प्रचुरता से समर्थन मिलता है। उसे विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखा है। अतः जो यह कहते हैं कि 'जीव की पर्याय निमित्त के बिना होती है अर्थात् अपने आप होती है।' यह कहने वालों की सैद्धान्तिक महान भूल है।

मात्र ज्ञान से कर्मों का विनाश नहीं !

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

अर्थात् जो अवश्य मोक्ष जाने वाले हैं तथा जो चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय) सहित हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान भी तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर सकल शास्त्र प्रवीण ज्ञानी पुरुष को भी तपश्चरण करना ही चाहिये।

—मो० प्रा० आ० कुन्दकुन्द

आत्म कल्याण का प्रशस्त मार्ग—ध्यान

☐ विमलकुमार जैन सोंरया एम०ए०, शास्त्री

मन्त्री— श्री बुन्देलखण्ड स्याद्वाद परिषद्

जंथिर मज्झवसाणं, तं झाणं जं चलत्तयं चित्तं ।
तं होई भावणा व, अणुपेहा व अहव चिंता ॥

एक पदार्थ में मन का अटक जाना अथवा ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना ध्यान है। ध्यान और धारणा में बहुत अन्तर है। यद्यपि धारणा के द्वारा ही ध्यान का अभ्यास किया जाता है। जिसका ध्यान किया जाए उस विषय में निश्चय रूप से मन का लगा देना धारणा है। आत्मा के शुद्ध करने का; सहज सुख पाने का एक मात्र उपाय ध्यान ही है। अस्तु आत्म-शुद्धि के लिए व्यक्ति को सच्चे ज्ञान वैराग्य सहित व्यवहार चरित्र को लेकर आत्मा को शुद्ध करना चाहिए। केवल जप तप करने, संयम पालने परन्तु उपयोग को एकाग्र न करने पर आत्मशुद्धि सम्भव नहीं।

आचार्य उमास्वामी ने कहा है "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्" उत्तम संहनन वाले का अन्तर्मुहूर्त पर्यंत एकाग्रता से चिंता का रोकना ध्यान है। इस सूत्र में आचार्यश्री ने उत्तम संहनन वाले व्यक्ति के ध्यान बतलाया है क्योंकि चित्त को स्थिर करने के लिए आवश्यक शरीर बल अपेक्षित रहता है। संहनन ६ प्रकार के कहे गए हैं। (१) वज्रर्षभनाराच संहनन (२) वज्र नाराच संहनन (३) नाराच संहनन। ये तीन उत्तम संहनन कहे गए हैं परन्तु मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव के प्रथम संहनन ही होता है। चूंकि चित्त अनवस्थित स्वभाव वाला है। वह एक विषय पर चिरकाल तक टिक नहीं सकता। हर समय बदलता रहता है। चित्त के बदलने का यह क्रम बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक होता है। अतः बड़े यत्न के साथ उसे बुद्धिपूर्वक अशेष विषयों से हटाकर किसी एक उपयोगी विषय में स्थिर रखना ही ध्यान कहलाता है।

योग, समाधि, आत्मलीनता, मनोनिग्रह, बुद्धि का स्थिर रखना यह सब ध्यान के पर्यायवाची शब्द हैं। ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट से कुछ कम) समय तक ही रहता है। इसके बाद चित्तवृत्ति की धारा बदल जाती है और चित्त की एकाग्रता नहीं रहती। जहाँ एकाग्रता नहीं वहाँ भावना है। अतः आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है—

एक चिन्ता निरोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थ चिन्तावा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥

अर्थात् जो एक चिन्ता का निरोध है, एक ज्ञेय में ठहरा हुआ है वह ध्यान है और इससे भिन्न भावना। भगवत् जिनसेनाचार्य ने श्री आदिपुराण में लिखा है कि "चित्त का परिणाम जब स्थिर रहता है तब वह ध्यान कहलाता है और जब चित्त का परिणाम चंचल रहता है तब उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं। बार-बार विचार करना भावना है। विचार विकल्प है और विकल्प से पाप कर्मों की निर्जरा होती है तथा पुण्य कर्मों का बंध होता है। उसी भावना का नाम चरित्र कहा जाता है जो वीतराग भाव है। आचार्य देवसेन के शब्दों में "चित्तणिरोहो झाणं" चित्त का निरोध करना ध्यान है। चित्त में अन्य समस्त चिन्तवनों का त्यागकर किसी एक ही पदार्थ का चिन्तवन करना ध्यान है।

चित्त की शुद्धि के लिए यथार्थ तत्वों का चिन्तवन करना चाहिए। क्योंकि चित्त की शुद्धि से ज्ञान की शुद्धि होती है और ज्ञान की शुद्धि होने से ध्यान की शुद्धि होती है। भगवान जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण मे कहा है "ध्यान में सभी पदार्थों का चिंतवन किया जा सकता है। वे ध्येय पदार्थ शुभ ध्यान में ही चिन्तवन किये जाते हैं। यदि वे ही पदार्थ इष्ट और अनिष्ट के लिये चिन्तवन किये जाते हैं तो वह अपध्यान कहलाता है। जो पुरुष तत्वों का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते वही पुरुष तत्वों का स्वरूप विपरीत रीति से चिंतवन करता हुआ इष्ट अनिष्ट पदार्थों का चिन्तवन करता है और वह संक्लेश सहित ध्यान करता है ऐसा जीव अनेक सकल्प विकल्पों में पड़कर पदार्थों में इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है इसके उसके रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेष उत्पन्न होने से उसे गाढ कर्मों का बन्धहोता है। क्योंकि अध्यात्म तत्व के चिन्तवन करने से ध्यान करने वाले जीव के उपयोग की शुद्धि हो जाती है। उपयोग की शुद्धि होने से वह जीव बन्ध के कारण मिथ्यात्व रागद्वेष आदि को नष्ट करता है तथा बन्ध के कारणों का नाश होने से संवर और निर्जरा होती है जिससे निःसन्देह उस जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। समीचीन प्रशस्त ध्यान से केवल ध्यान ही स्थिर नहीं होता बल्कि कर्म के समूह से मलिन यह जीव भी शुद्ध होता है समता भाव के बिना ध्यान कर्मों को क्षय करने का कारण नहीं होता।

ध्यान की समर्थता :

सोमदेव सूरि ने अपने "योगमार्ग" ग्रन्थ में कहा है कि ध्यान धारण करने के लिये व्यक्ति को सर्वप्रथम प्राणायाम का अच्छा अभ्यास होना (२) धारणा में बुद्धि का निपुण होना (३) इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अपने-अपने विषय में जाने से रोकना (४) स्याद्वाद संयुक्त श्रुत का अध्ययन करना (५) ध्यान योग्य ध्येय में लीन होना (६) यमनियम के मार्ग में अवस्थित आत्मा में और माध्यस्थभाव रूप समाधि में अधिक बुद्धि का उपयोग लाना। इन छह आवश्यक तथ्यों से युक्त व्यक्ति ही ध्यान धारण करने में समर्थ होता है। इन्द्रिय विजयी ध्यानी हो सकता है। ध्यान से ही आत्मा की शुद्धि हो सकती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए आचार्य वादीभसिंह सूरि ने क्षत्र चूणामणि महा-काव्य में कहा है "कालायसं ही कल्याणं कल्पतेरसयोगतः" सोमदेवसूरि ने अपने ध्यान विधि ग्रन्थ में इसका बहुत ही रोचक शब्दों में वर्णन करते हुए लिखा है :—

यद्वत् सिद्धौषधैः स्यात्सुखपरसरतिर्ध्मान वैश्वानरेऽस्मिन्,
निःसन्धेय्यमूर्धे समधगमदृढा धार संबन्धेन ।
संबाप्ताद्यं सिद्धिः कथमिति भवता वेहि लोहे सपत्न,
यद्वत् व्योमापयोगाल्लघु समधिगते काञ्चनत्वा रसेन्द्रे ॥

अर्थात् जैसे पारा का शोधना बहुत कठिन है क्योंकि अग्नि के सम्पर्क से वह अदृश्य हो जाता है उसकी भस्म नहीं बन पाती परन्तु सिद्धौषधि के प्रभाव से अत्यन्त दृढ़ मजबूत आधार में रखा जाए तो नीचे से ईंधन जलाने पर उसकी भस्म हो जाती है। उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से कर्मों का क्षय होता है, और आत्मा निर्मल (कर्म रहित) हो जाती है।

श्री देवसेन आचार्य ने "भाव संग्रह" ग्रन्थ में ध्यान का फल तीन प्रकार का बतलाया है। पहला इसी भव में होने वाला फल, दूसरा— परलोक में होने वाला सुख और तीसरा समस्त कर्मों को नाश करने वाला फल।[1] इसके साथ ही ध्यान की अचिन्त्य महिमा भी इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने दर्शाई है।[2]

अष्ट प्राभृत के मोक्षप्राभृत की ७७वी गाथा में कहा गया है, कि जीव आज भी रत्नत्रय के द्वारा शुद्ध आत्मा का ध्यान कर स्वर्गलोक में अथवा लौकान्तिक में देवत्व की प्राप्ति करता है और वहाँ से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए पञ्चमकाल मे अनुत्तम संहनन वाले जीवों के भी धर्म ध्यान हो सकता है और अपने अभीष्ट परम सुख के फल को प्राप्त कर सकता है।

डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य डी०लिट्० ने "मङ्गलमन्त्र णमोकार एक अनुचिंतन" ग्रन्थ में ध्यान के लिए ८ प्रकार की शुद्धि की आवश्यकता दर्शाई है। अतः प्रशस्त ध्यान के लिए मुख्य रूप से यह शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं।

१– *द्रव्यशुद्धि*— ध्यान के लिए अष्ट शुद्धियों में प्रथम द्रव्यशुद्धि का होना मुख्य है। इसके बिना ध्यान की क्रिया स्थिर नहीं हो सकती।

२– *स्थान शुद्धि*— जहाँ ध्यान किया जाता है वह स्थान शांत, पवित्र तथा क्षोभ रहित होना चाहिए। ऐसे स्थान पर स्त्री पुरुष का कोई शब्द न पहुँचे, वहाँ की वायु अनुकूल हो, अति शीतोष्ण न हो—ऐसा स्थान ध्यान के लिए उचित है।

---

१ ध्यानस्य फलं त्रिविधं, कथयन्ति बरबोगिनो विगतमोहाः ।
इहभव परलोक भवं सर्वं कर्मक्षये तृतीयम् ॥
२ ध्यानस्य च शक्त्या जायन्तेऽतिशयानि विविधानि,
दूरालोकन प्रभृतीनि ध्याने आवेश करणम् च ॥६३४॥
मतिश्रुतावधि ज्ञानं मनः पर्ययः केवलं तथा ज्ञानं,
ऋद्धयः सर्वाः यतिपूजा इह फलं ध्याने ॥६३५॥

—आचार्य देवसेन

३– समय शुद्धि— ध्यान करने का सर्वोत्तम समय प्रातःकाल है। सूर्योदय के पूर्व से लेकर सूर्योदय तक छह, चार या दो घड़ी का समय क्रमशः उत्तम मध्यम, जघन्य कहा है। यदि ध्यान छह घड़ी करना है तो सूर्योदय के ३ घड़ी पूर्व से सूर्योदय के ३ घड़ी बाद तक ध्यान करना चाहिए। दोपहर' सायं एवं मध्य रात्रि को भी ध्यान का समय कहा गया है।

४– मनःशुद्धि— जितनी देर तक ध्यान करना होता है उतने समय तक समस्त प्रकार के कार्यों से निश्चित हो जाना आवश्यक है क्योंकि बिना निश्चितता के ध्यान में मन का लगना सम्भव नहीं होगा। निराकुलता के साथ ध्यान की अवधि तक के लिए मन का ममत्व सभी से छोड़ देना ही मन की शुद्धि है।

५– वचन शुद्धि— ध्यान के समय मौन रहना चाहिए। केवल ध्यान के सहकारी मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण ही करें। अन्य प्रकार की बातचीत किसी से नहीं करना वचन शुद्धि है।

६– तन शुद्धि— शरीर में किसी प्रकार की आंतरिक व बाह्य पीड़ा व निराकुलता न हो। शरीर को भीतर से स्वस्थ व बाहर से पवित्र होना चाहिए। शरीर के कारण मन में किसी प्रकार की बाधा न आवे ऐसा शरीर को रखना चाहिए।

७– आसन शुद्धि— ध्यान के लिए जिस आसन पर बैठना हो वह निश्चित कर लेना चाहिए। ध्यानासन के लिए घास या चटाई का आसन अथवा पाटा आदि होना चाहिए। इनके अभाव में पवित्र भूमि पर भी ध्यान किया जा सकता है।

८– विनय शुद्धि— ध्यान के समय हमारे परिणाम विनयशील व नम्र हों इष्ट और शुद्ध आत्मा के प्रति हमारे नम्र परिणाम हों ससार के समस्त जीवों के प्रति समता के भाव होना चाहिए।

आचार्य सोमदेव सूरि ने अपने "योगमार्ग" ग्रन्थ में ध्यान धारण करने के लिए व्यक्ति को प्रणायाम का अभ्यासी होना बताया है। ध्यान के लिए पद्मासन, अर्द्धपद्मासन, कायोत्सर्ग; यह तीन प्रकार के सुगम और उपयोगी आसन बताए हैं। आसन लगाने से शरीर स्थिर रहता है। शरीर की स्थिरता से श्वासोच्छवास सम तरह से चलता है व मन निश्चल रह सकता है। पद्मासन के लिए दोनों पैरों को अपनी जंघाओं पर रखकर दोनों हथेलियों को एक दूसरों पर रखकर मस्तक और छाती सीधी करके दृष्टि नासाग्र भाग पर रखकर ध्यान करना चाहिये। अर्द्धपद्मासन के लिये एक जांघ के ऊपर एक नीचे पग रखकर पद्मासन की अवस्था में बैठने को अर्द्धपद्मासन कहा गया है। तथा सीधे खड़े होकर दोनों पग आगे की तरफ चार अंगुल की दूरी पर रखकर दोनों हाथ लटका कर ध्यानमय रहना कायोत्सर्ग है। इसके अलावा वीरासन, मयूरासन आदि बहुत-सी आसनें ध्यान के लिये महत्वपूर्ण कही गई हैं।

पूर्वाचार्यों ने ध्यान करने की अनेक विधियाँ प्रदर्शित की हैं उसी परम्परा में "सहज सुख साधन" नामक ग्रन्थ में ६ प्रकार की महत्वपूर्ण विधियों का निदर्शन किया गया है। इन विधियों से ध्यान का अभ्यास होता है और उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती ज्ञान की क्षमता तथा केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये

ध्यान करने की पात्रता आती है। मन का उपयोग आत्मतत्व के अलावा अन्य पदार्थों से विलग रहे। ब्र० शीतलप्रसाद जी ने अपने ग्रन्थ में इन विधियों का सुन्दर प्रतिपादन किया है जो अविकल रूप में यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

१– ***प्रथम विधि*** : अपने शरीर के भीतर व्याप्त आत्मा को शुद्ध जल की तरह भरा हुआ विचार करे और मन को उसी जल समान आत्मा में डुबाये रक्खे जब मन हटे तब 'अर्हं, सोहं, सिद्ध, अर्हंत्, ॐ' आदि मन्त्र पढ़ने लगे फिर उसी में डुबोए। इस तरह बार-बार करे। कभी-कभी आत्म स्वभाव पर विचार करे।

२– ***दूसरी विधि*** : अपने आत्मा को शरीर प्रमाण आकारधारी स्फटिक मणि की मूर्ति समान विचार करके उसी के दर्शन में लय हो जाये। जब मन हटे तब मन्त्र पढ़ता रहे कभी-कभी आत्मा का स्वभाव विचारता रहे।

३– ***तीसरी विधि*** : पिण्डस्थ ध्यान की है इसकी ५ धारणायें हैं जिनका क्रमशः अभ्यास करके आत्मा के ध्यान पर पहुँच जावे। वह ५ धारणाएँ पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, मारुती-धारणा, वारुणी धारणा, तत्वरूपी धारणाएँ हैं।

४– ***चौथी विधि*** : पदों के द्वारा पदस्थ ध्यान किया जाये। उसके अनेक उपाय हैं। कुछ यहाँ दिये जाते हैं कि 'हूँ' मन्त्रराज को जपता हुआ नासाग्र पर या भौंहों के मध्य पर स्थापित करके चित्त को रोके कभी मन हटे तो मन्त्र कहे व अर्हंत् सिद्ध का स्वरूप विचारा जावे।

५– ***पाँचवीं विधि*** : रूपस्थ ध्यान की है। इसमें समोशरण में विराजित तीर्थंकर भगवान को ध्यानमय सिंहासन पर शोभित बारह सभाओं से वेष्ठित इन्द्रादिकों से पूजित ध्यावे और उनके ध्यानमय स्वरूप पर दृष्टि लगावे।

६– ***छटवीं विधि*** : रूपातीत ध्यान की है— इसमें एकरूप से सिद्ध भगवान को शरीर रहित पुरुषाकार शुद्ध स्वरूप विचार करके अपने आपको उनके स्वरूप में लीन करे।

इस प्रकार ब्र० शीतलप्रसाद जी के उपरोक्त ६ विधियां ध्यान की एकाग्रता अथवा ध्यान करने के लिये आरम्भिक अभ्यास रूप में दर्शाई हैं। विशद वर्णन 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ के ३७ से ४० अध्याय में किया है। आत्म कल्याण की विशेष इच्छा रखने वाले भव्यों को इसका मनन, चिंतन और अभ्यास वहाँ से करना चाहिये।

ध्यान के प्रकार :

ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का कहा गया है। प्रशस्त ध्यान वह ध्यान है जिसमें व्यक्ति राग रहित होकर वस्तु स्वरूप का चिंतवन करता है। क्योंकि इस ध्यान से इष्टफल की प्राप्ति होती है। यह ध्यान ही उत्तम फल का हेतु है। यथार्थ में ध्यान जितने अंश में वीतराग भाव है उस भाव का नाम ध्यान है और उस वीतरागता के साथ में जितने अंश में राग है उसको व्यवहार

ध्यान कहा है। यथार्थत: ध्यान चलायमान नहीं है वह तो चिरकाल तक ही रहता है परन्तु व्यवहार ध्यान चलायमान रहता है।

आदिपुराण में कहा गया है कि ध्यान चारित्रगुण की निर्मल पर्याय ही है। एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चिन्ता का अवस्थान होना छद्मस्थों का ध्यान है और योग निरोध जिन भगवान का ध्यान है। प्रशस्त ध्यान दो प्रकार का कहा गया है— धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

धर्म ध्यान :

असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक, उपशमक, अपूर्वकरण, संयत, क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिकरण संयत, सूक्ष्मसाम्पराय संयत—इन जीवों के धर्म ध्यान की प्रवृत्ति होती है अत: यह स्पष्ट है कि धर्म ध्यान कषाय सहित जीवों के होता है। धर्म का अर्थ है स्वभाव और ध्यान का अर्थ है स्थिरता या एकाग्रता। अपने शुद्ध स्वभाव में जो एकाग्रता है वह निश्चय धर्म ध्यान है। यही संवर और निर्जरा का कारण है। इसमें क्रिया काण्ड के सर्व आडम्बरों का त्याग है। अन्तरंग क्रिया के आधार रूप जो आत्मा है और उसे मर्यादा रहित तीनों काल के कर्मों की उपाधि रहित निज स्वरूप से जानता है वह ज्ञान की विशेष परिणति है अथवा जिसमें आत्मा स्वाश्रय में स्थिर होता है वह निश्चय से धर्म ध्यान है। दूसरे रूप में हम कह सकते हैं कि धर्म ध्यान— धर्म विशिष्ट ध्यान है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों सहित जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है उसे धर्म कहा है। इसे ७वें अप्रमत्त गुणस्थान में सबसे उत्कृष्ट माना गया है। यह अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है। धर्म ध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र, मंद आदि भेदों सहित क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं। अशुभ लेश्याएँ नहीं रहती। तथा क्षयोपशमिक भाव रहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने ऐसे धर्म ध्यान के चार भेद कहे हैं। "आज्ञाऽपायविपाक संस्थानविचयाय धर्म्यम्" अर्थात्—

(i) **आज्ञा विचय**— सूक्ष्म पदार्थ केवल आगम से ही जाने जा सकते हैं। आगम आप्त द्वारा प्ररूपित होता है उस आगम को सत्यार्थ मान कर उसमें कहे हुए पदार्थों का चिन्तवन करना तथा युक्ति और उदाहरण की गति न होने पर आगम की प्रमाणता से वस्तु का श्रद्धान करना आज्ञा विचय है। वीतराग की आज्ञा का विचार, उसी का स्वसम्मुखता पूर्वक विचार करना ही आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

(ii) **अपाय विचय**— संसारी जीवों के दु:ख का और उससे छूटने का विचार करना— यह रागादि ही दु:ख के कारण हैं। ऐसे भाव कर्म रूप बाधक भावों का विचार कर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक (मन की चिन्ता) इन तीनों प्रकार के दुखों से दु:खी जीवों का दु:ख कब और किस प्रकार दूर होगा ऐसा चिन्तवन कर बारह अनुप्रेक्षा, दस धर्म आदि का चिन्तवन करना अपाय विचय नाम का दूसरा धर्म ध्यान है।

(iii) **विपाक विचय**— कर्म फल के उदय का विचार करना, द्रव्य कर्म के विपाक का विचार, जीव के मूलरूप मलिन भावों में कर्मों का निमित्त मात्र रूप सम्बन्ध जानकर स्वसम्मुखता के बल को

सम्हालना, जड़ कर्म किसी को लाभ हानि करने वाला नहीं है, शुभाशुभ कर्मों के उदय से ही जीव संसार की विभिन्न गतियों में सुख दुःख भोगता है इत्यादि चिन्तवन करना ही विपाक विचय नाम का तीसरा धर्म ध्यान है।

(iv) *संस्थान विचय*— लोक की रचना उसके आकार का विचार करते समय स्वसन्मुखता के बल से जितनी आत्म परिणामों की शुद्धता हो, शुद्धोपयोग की पूर्णता सहित स्वभाव व्यजन पर्याय का स्वयं स्थिर, शुद्ध आकार कब प्रकट हो ऐसा विचार करना संस्थान विचय धर्म ध्यान है। पूज्यपाद, देवसेनाचार्य ने संस्थान विचय नामक चौथे धर्म ध्यान के विषय में कहा है कि—

चित्तणिरोहे झाणं, चहुविह भेयं च तं मुणेयव्वं।
पिंडत्थं च पयत्थं रुवत्थं रुवविज्जयं चेव ॥

अर्थात् चित्त का निरोध करना ध्यान और उस ध्यान को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ रूपातीत नामक चार भेदों में विभक्त किया है। पिण्ड का अर्थ शरीर है। उस शरीर के मध्य स्थित आत्मा का दर्शन करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसकी पांच धारणाएँ बतलाई हैं (१) पथिवी (२) आग्नेय (३) वायवी (४) जलीय (५) तत्त्वरूपवती। शरीर के बाहर अपने शुद्ध स्वभाव आत्मा का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है इसके दो उपभेद हैं (१) जहाँ पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान किया जाए वह परगत रूपस्थ ध्यान है (२) जहाँ अपने ही आत्मा का अपने शरीर के बाहर ध्यान किया जाए वह स्वरूपस्थ ध्यान है। अर्हन्तादि तीर्थंकर प्रभु के वाचक एक पद या एक अक्षर का जप करना पदस्थ नाम का ध्यान है तथा बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान करना रूपातीत नामक ध्यान है। इस ध्यान से इन्द्रियों के समस्त विकार नाश हो जाते हैं तथा रागद्वेष एवं मन का व्यापार नष्ट हो जाता है।

स्वर्ग प्राप्त होना धर्म ध्यान का साक्षात् फल है और मोक्ष प्राप्त होना इसका परम्परा फल है। ऐसा धर्म ध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ने के पहले-पहले होता है और श्रेणी चढ़ने पर क्रमशः शुक्ल ध्यान होता है।

शुक्ल ध्यान :

शुक्ल ध्यान के एक पदार्थ में स्थित रहने का काल धर्म ध्यान के अवस्थान काल से संख्यात गुणा है। क्योंकि वीतराग परिणाम मणि की शिखा के समान बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता। अभय, असंमोह, विवेक और विसर्ग-शुक्ल ध्यान के चिह्न हैं जिनके द्वारा शुक्ल ध्यानी पहचाना जाता है। कषाय रूपी मल के नष्ट होने से जो शुक्लता को धारण करता है वह शुक्ल ध्यान कहलाता है। यह ध्यान अत्यंत उज्ज्वल सफेद रजु के समान निर्मल और निर्विकार होता है। इसके दो भेद हैं—

(i) शुक्ल ध्यान— यह छद्मस्थ मुनियों के लिए बारहवें गुणस्थान तक होता है। इसके दो उपभेद हैं

(क) पृथकत्व वितर्क वीचार— वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है और वीचार का अर्थ व्यंजन योगों का संक्रमण है अर्थात् श्रुत में किसी एक पदार्थ का या उसकी पर्याय का मुख्यतः ध्यान करता है। फिर उसे छोड़कर दूसरे पदार्थ या उसकी किसी एक पर्याय विशेष का ध्यान करता है। इसी

प्रकार एक शब्द को छोड़कर दूसरे शब्द को ध्याता है। एक योग को छोड़कर दूसरे से ध्यान करता है। ऐसे ध्यान को त्रियोग के धारक ११ अङ्ग १४ पूर्व के ज्ञाता व्यक्ति ही धारण कर सकते हैं। यह उपशमश्रेणी में ८वें से ११वें गुणस्थान तक रहता है। और क्षपक श्रेणी में आठवें से दसवें गुणस्थान तक रहता है।

(ख) एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान— यह ध्यान किसी एक योग के धारक के होता है। जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया ऐसे ११ अङ्ग १४ पूर्व के ज्ञाता के यह ध्यान होता है। इसमें व्यंजन और योग का संक्रमण नहीं होता। इसका फल केवल ज्ञान है और यह क्षपक श्रेणी में ही १२ वें गुणस्थान में होता है।

(ii) परम शुक्ल ध्यान— शुक्ल ध्यान में मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम होता है। परन्तु परम शुक्ल ध्यान में शेष घातिया कर्म (ज्ञानावरणी दर्शनावरणी, अन्तराय) का क्षय होता है। यह ध्यान १२वें गुणस्थान में होता है तथा केवली भगवान के ही होता है। इसके दो प्रभेद हैं—

(क) व्युपरत क्रिया निवर्ति—यह ध्यान योग रहित अयोगी जीवों के १४वें गुणस्थान में होता है।

(ख) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति— यह ध्यान मात्र काययोग को धारण करने वाले १३ वें गुणस्थान के अंतिम भाग में होता है। इस प्रकार इन दोनों ध्यानों के स्वामी केवली भगवान ही होते हैं।

केवली भगवान जब योग निरोध करने के लिए उद्यत होते हैं तब योग निरोध करने के पहले उनके सहज ही केवली समुद्घात प्रकट होता है। पहले समय में उनके आत्मा के प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्डाकार होते हैं। दूसरे समय में कपाट रूप चौड़े होते हैं। तीसरे समय में मेघ पटल के समान मोटे प्रतर रूप होते हैं और चौथे समय में वह लोक में व्याप्त होकर रहता है। उस समय समस्त लोक में व्याप्त हुआ सबका हित करने वाला और सबको जानने वाला वह केवली लोक व्यापी कहलाता है। लोकपूर्ण होने के बाद वह रेचक अवस्था को धारण करता है अर्थात् वह आत्म प्रदेशों को संकुचित करता है। वह सर्वज्ञ भगवान पांचवें समय में लोकपूर्ण होने के एक समय बाद प्रतर अवस्था को प्राप्त होता है। छठे समय में कपाट रूप सातवें समय में दण्ड रूप और आठवें समय में शरीर प्रमाण हो जाता है। इस प्रकार क्रम से संकोच करता है। उस समय समुद्घात अवस्था में वह अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करता है और अशुभ कर्मों के रस विशेष के अनन्त भागों को नष्ट करता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त में योगरूप आस्रव का निरोधकर काययोग के आश्रय से वाग्योग और मनोयोग को सूक्ष्म कर तथा फिर सूक्ष्म वाग्योग और मनोयोग के आश्रय से काययोग को सूक्ष्म कर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरे शुक्लध्यान को करता है। फिर चौदहवें गुणस्थान में योगों का निरोध कर समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याता है। इसे अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान के बाद समस्त कर्मों को नष्ट कर वह मुक्त हो जाता है और संसार से मुक्त होना ही वास्तव में ध्यान का फल है।

अप्रशस्त ध्यान :

अप्रशस्त नामक दूसरा ध्यान है। इस ध्यान से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। जिसका आत्मा; राग, द्वेष से पीड़ित रहता है ऐसे व्यक्ति की स्वच्छंद प्रवृत्ति को अप्रशस्त ध्यान कहा

है। "संसरणं संसारः परिवर्तनम्" जहाँ जीव परिभ्रमण करता रहता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारण करता है। जिसमें थिरता, ध्रुवता और निराकुलता नहीं है, जहाँ दुःखों का समुद्र भरा हुआ है ऐसे संसार परिभ्रमण का हेतु यह अप्रशस्त ध्यान है। इसके दो भेद हैं—

(i) आर्त ध्यान— कष्ट या दुःख में उत्पन्न होने वाले ध्यान को आर्त ध्यान कहा है। आचार्य शुभचन्द्र ने इसका परिचय देते हुए लिखा है कि—

अनिष्ट योग जन्माद्य तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक् प्रकोपात्तुताय स्यान्निदानात्तुमङ्गिनाम् ॥

अर्थात् आर्त ध्यान प्रथम क्षण मे रमणीक होता है और अन्त के क्षण में अपथ्य है। क्योंकि जिनकी आत्मा किसी दुःख से पीड़ित है ऐसे जीव ही आर्त ध्यान करते हैं। यह कृष्ण नील, कपोत नाम की अशुभ लेश्याओं के बल से बिना किसी उपदेश के स्वतः सस्कारवश अपने आप प्रकट होता है। इसे छठवे गुणस्थान तक होने की सामर्थ्य है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है और इसमें क्षयोपशमिक भाव होता है।

आर्त ध्यानी व्यक्ति को प्रत्येक बात मे शका होती है। फिर क्रमशः शोक, भय, प्रमाद होता है। सावधानी का अभाव होने से कलह करने मे प्रवृत्त होता है जिससे मनः स्थिति भ्रम मे पड जाती है। उद्भ्रान्ति हो जाती है और विषयाकाक्षा से मूर्छा उत्पन्न होती है। आर्तध्यानी के बाह्य चिन्हों के सम्बन्ध में कहा गया है कि आर्तध्यानी अत्यन्त आसक्ति वाला चिन्तित, अश्रु बहाने वाला, दुष्ट स्वभावी लोभी, आलसी, मायावी, उद्वेगी तथा अति इच्छा करने वाला होता है। इस ध्यान का फल तिर्यंच गति है। इसके ४ प्रभेद है-

(अ) अनिष्ट संयोग— अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए बार-बार विचार करना तथा उनका सम्बन्ध कैसे छूटे इसकी चिन्ता करना अनिष्ट सयोग नाम का आर्त ध्यान है।

(क) इष्ट वियोग— प्रिय वस्तु का वियोग होना और उसके संयोग के लिये बार-बार विचार करना इष्टवियोग नाम का आर्त ध्यान है।

(ग) वेदनाजन्य— शरीर मे रोग होने पर उसकी पीड़ा से क्लेशित भाव रखना तथा उसके दूर करने के लिए बार-बार चिंतवन करना वेदनाजन्य आर्त ध्यान है।

(घ) निदानज— आगे भोगो की प्राप्ति हो इस चिन्ता से आकुलित भाव रखना तथा दूसरों की भोगोपभोग सामग्री देखकर उसकी प्राप्ति का चिन्तवन करना निदानज आर्तध्यान है।

इस प्रकार यह आर्तध्यान प्रथम गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक रहता है। केवल निदान नाम का आर्तध्यान छठवें गुणस्थान मे नही होता। कल्याण चाहने वालों को यह ध्यान त्याज्य कहा है।

रौद्र ध्यान :

अप्रशस्त ध्यान का यह दूसरा प्रकार है। क्रूर दुष्ट आशय वाले प्राणी को रुद्र कहा गया है।

और रौद्र उसके भावों का बोधक है। हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण के भाव से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्र ध्यान है। यह कृष्ण लेश्या से युक्त पञ्चम गुणस्थान पर्यंत होता है। यह ध्यान क्षयोपशमिक भाव वाला है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है और यह खोटी वस्तु पर ही होता है। इस ध्यान का फल नरक है। बाह्य रूप से यह ध्यान क्रूरता, दण्ड के समान परुषता, कठोरता, वञ्चकता, कुटिलता एवं अङ्गों का विकृत करना आदि चिन्हों से जाना जाता है। ऐसे रौद्र ध्यान के ४ प्रकार हैं।

(i) हिंसानन्दी— हिंसा में आनन्द मानकर उसके साधन मिलाने में तल्लीन रहने वाले, निर्दयी, क्रूर प्राणी को यह ध्यान होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित कर सके या न कर सके परन्तु हिंसक भावना के द्वारा अपनी आत्मा का घात तो पहले ही कर लेता है।

(ii) मृषानन्दी— झूठ बोलने मे आनन्द मानना, झूठ बोलकर लोगों को धोखा देने वाली बातों का चिंतवन करना मृषानन्दी रौद्रध्यान है।

(iii) चौर्यानन्दी— दूसरों की चोरी करके, चोरी कराके, या चोरी जानकर प्रसन्न होना अथवा चोरी में आनन्द मानकर उसका विचार करना, द्रव्य को हरण करना और चोरी के योग को मिलाना चौर्यानन्दी रौद्र ध्यान है।

(iv) परिग्रहानन्दी— जो तृष्णावान होकर अन्याय से दूसरों को कष्ट देकर धनादि परिग्रह की तीव्र लालसा रखता है वह परिग्रहानन्दी रौद्र ध्यानी है।

इस प्रकार यह आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान दुर्ध्यान हैं जो कि जीवों के अनादिकाल के संस्कार से बिना ही प्रयत्न के स्वयमेव निरंतर उत्पन्न होते है। यह दुर्ध्यान युग्म है और समस्त प्रकार के पापों का उदय इसी अप्रशस्त ध्यान के माध्यम से होता है। इन्ही के वर्जन से ही प्रशस्त ध्यान की ओर प्रवृत्ति जाती है। जो सुख का हेतु और आत्म कल्याण के लिये कारणभूत है।

यद्यपि सामान्य रूप से ध्यान एक है परन्तु उनके कार्यों में भिन्नता है। आर्त रौद्र ध्यान की उपमा धुंआ और अन्धकार से दी जा सकती है क्योंकि इस ध्यान से तिर्यंच और नरक गति का बन्ध होता है तथा धर्म और शुक्लध्यान दिवा और दिवाकर के समान दैदीप्यमान कहा जा सकता है। क्योंकि इनसे दूसरे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ध्यान
प्रशस्त ध्यान
अप्रशस्त ध्यान
धर्म ध्यान
शुक्ल ध्यान
आर्त ध्यान
रौद्र ध्यान
आज्ञाविचय
अपायविचय
विपाकविचय
संस्थानविचय
अनिष्ट संयोग
इष्ट वियोग
वेदनाजन्य
निदानज
शुक्ल ध्यान
परम शुक्ल ध्यान
हिंसानन्दी
मृषानन्दी
चौर्यानन्दी
परिग्रहानन्दी
पृथक्त्व वितर्क
सुविचार
एकत्व वितर्क वीचार
व्युपरतक्रियानिवर्ति
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति
पिण्डस्थ
पदस्थ
रूपस्थ
रूपातीत

हमारा लक्ष्य

□ रूपवती 'किरण' जबलपुर
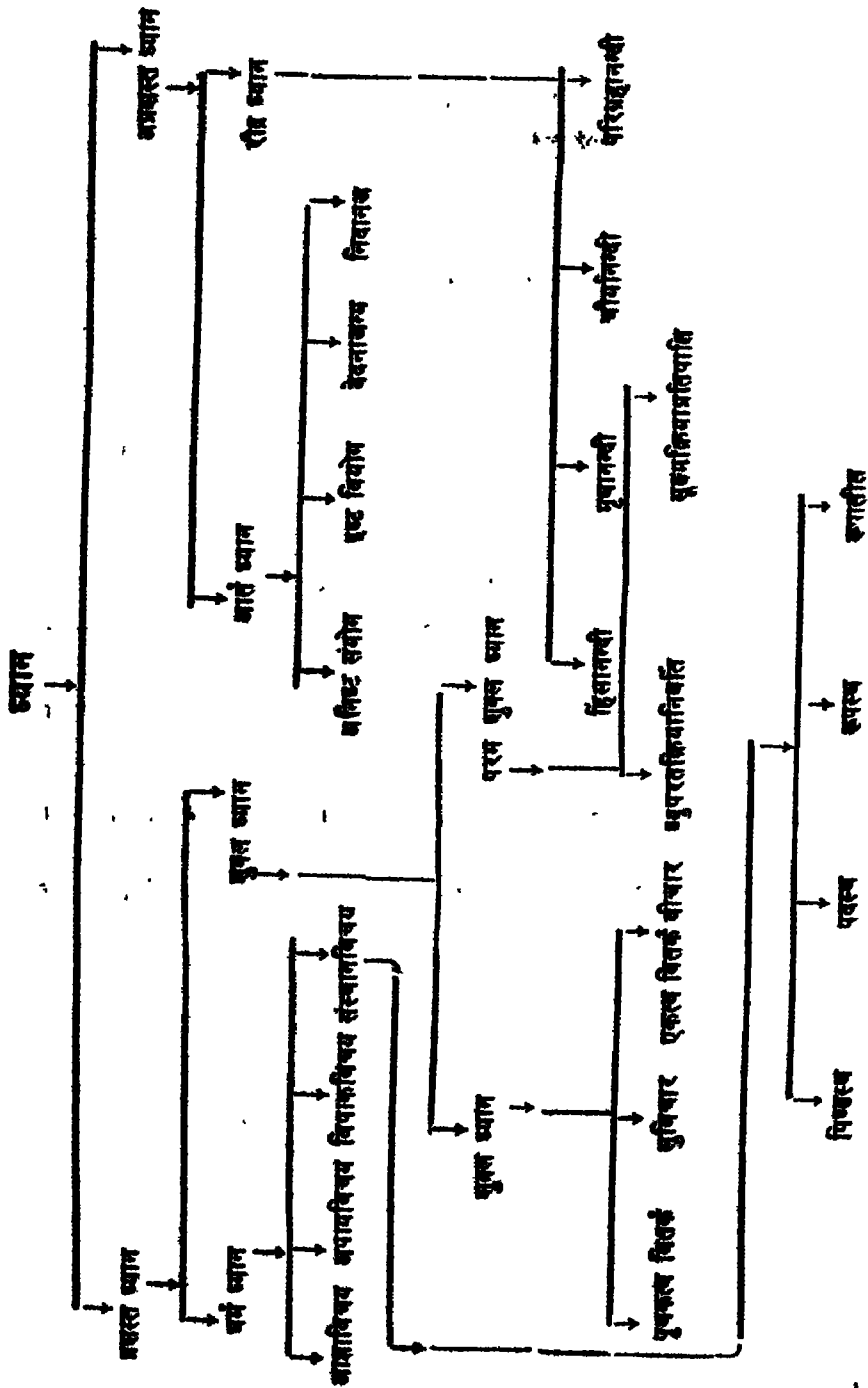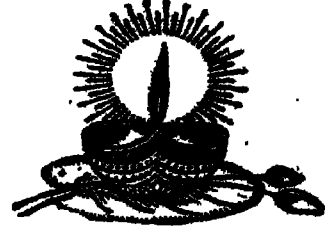
अखिल विश्व के समस्त प्राणियों में सुखी रहने की उत्कट अभिलाषा विद्यमान है। उनके सारे क्रिया कलाप सुख के अर्थ होते हैं। वर्तमान युग विज्ञान का युग है। नये-नये आविष्कारों ने मानव जगत को आश्चर्यचकित कर दिया है। उपभोग्य सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध होते हुये भी मन समस्याओं से भरा, अशान्त है। समाधान नहीं मिल पा रहा। भौतिक आकर्षणों में सुख के दर्शन दुर्लभ हैं। सभ्यता का दम्भ भरने वाले आधुनिक युग में हम ऐसे खो गये हैं कि ऐहिक सुख के अतिरिक्त भी कुछ है, ऐसी चिन्तना शक्ति भी मर गई है। जीवन का सदुपयोग करना है तो विषय भोगों से दृष्टि हटा-कर हमें कारणों पर विचार करना ही होगा।

प्रत्येक कार्य के दो पहलू होते हैं। दीपक की भांति ज्ञान भी स्वपर प्रकाशक है। किन्तु मोह, राग-द्वेष सहित ज्ञान स्व को भूल केवल बाह्योन्मुख हो कष्टकारक बन जाता है; जब कि अन्तरोन्मुखी ज्ञायक भाव परमार्थ की सिद्धि करता है। अपनी ही अज्ञानता से हमने अपना दृष्टिकोण भौतिकवाद में संकुचित कर लिया है। आध्यात्मिकता मन से कर्पूर की भांति उड़ गई है। लगता है जैसे अपना कोई अनिवार्य अङ्ग कट कर अवहेलित हो दूर जा पड़ा है। फल भी प्रत्यक्ष है। प्राणी, जीवन और मृत्यु की विभीषिका से संत्रस्त विनाश के द्वार पर सुख का आह्वान कर रहा है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्राणी का वर्तमान जीवन ही नहीं; अनेकानेक जीवन भी चाह की दाह में झुलस कर नष्ट हो गये हैं। स्थान-स्थान पर बात्याचक्र विद्यमान है। प्राणी स्वयं ही विनाशक कार्यों में लीन हो सुख के सुपने सजो रहा है। पर न बालू से तैल प्राप्त हुआ है, न रेत के महल कभी खड़े हुये हैं। हमारी अतृप्त लालसायें सृष्टि को अपने अनुकूल चलाना चाहती हैं पर प्रत्येक पदार्थ हमारी इच्छाओं से नहीं किन्तु अपने कारण कलापों से परिणमन करता है। तब हमें इच्छित अनुकूलतायें कैसे मिलेंगी? हम वस्तु स्वभाव से अनभिज्ञ अनुकूलताओं में गर्व का अनुभव करते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों में आशा के विपरीत हमें क्रोध, झुंझलाहट, दुःख की कड़ुआहट ही हाथ लगती है। इन्हीं झगड़ों में हमारे दुर्लभ मानव जीवन नष्ट हो रहे हैं। अभिलाषायें बढ़ रही हैं एवं हम लक्ष्य-हीन जन-तन भटक रहे हैं। आत्मा आत्म-सम्पत्ति से सदैव समृद्ध है। किन्तु अज्ञानवश वह बाह्य

सामग्री के सद्भाव या अभाव में सुख दुख का अनुभव करता है। यथार्थतः अभाव कहीं है नहीं, मान्यता में भ्रम है। इस भ्रम को दूर कर यथार्थ के दर्शन करना होंगे।

सत्य तो यह है कि हमने अपने सांसारिक स्वार्थ से तटस्थ हो वस्तु स्वभाव पर कभी दृष्टिपात नहीं किया। हम आध्यात्मिकता के चिरंतन सत्य से आँख मूंद बैठे हैं। इसीलिये हमें अपना जीवन अभावों से भरा दिखता है। स्व को छोड़ अन्य पदार्थों में सुख खोज रहे हैं। आकाश कुसुम की सुगन्ध के लिये व्याकुल हैं। जो वस्तु जहाँ असम्भव है; वहाँ उसे उपलब्ध करना चाहते हैं एवं उपलब्धि की ओर से पीठ कर ली है। निश्चित ही हम जीवन कला से अपरिचित हैं। जीवन जीना आ जाये तो जीवन सहज हो जाता है। किन्तु हम लक्ष्यहीन विपरीत दिशा में चलने के अभ्यस्त हैं। वस्तु स्वभाव के परिचित हुये बिना हमारे भावों में समता नहीं आ सकती। समता के अभाव में सुख भी नहीं है।

भौतिकवाद का प्रतिपक्षी अध्यात्मवाद है। जो आत्मा के शुद्ध स्वभाव को दर्शाता है। इसी का दूसरा नाम धर्म है। धर्म ही झंझटों से मुक्ति दिलाता है। किन्तु 'धर्म' नाम से ही हम ऐसे बिदकते हैं; जैसे लाल रंग देखकर बैल भड़क उठता है। 'धर्म' शब्द सुनते ही मन में एक ग्लानि का सा भाव आ जाता है क्योंकि धर्म के नाम पर मानवों ने जातिगत, समाजगत ऊँच-नीच, गोरे काले के भेद-भावों को फैला नृशंस क्रूर अत्याचार कर मंगलमय धर्म की पवित्रता को लांछित किया है। जैन धर्म का इतिहास ही एकमात्र है जो कभी ऐसा कलंकित नहीं हुआ। न ही तलवार की नोंक पर किसी से धर्म परिवर्तन कराया गया है। जन साधारण जिन क्रियाओं को धर्म की संज्ञा देता है, यथार्थतः वह धर्म नहीं है। धर्म की परिभाषा 'वत्थु सहावो धम्मो' मात्र इतनी ही है। वस्तु का अपने स्वभाव में स्थित रहना ही धर्म है। स्व में स्थित होने के लिये पर पदार्थों से ध्यान हटाकर अपने में केन्द्रित करने के निरन्तर अभ्यास से धर्म पाया जा सकता है।

धर्म और दर्शन में अन्तर है। धर्म वस्तु का स्वभाव है एवं दर्शन वह विचारधारा या विज्ञान है जो आत्मा को उसके नैसर्गिक स्वभाव का ज्ञान कराने में समर्थ है। लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारा है एवं आत्मानुभूति करने पर बल दिया है। जैन दर्शन एक शुद्ध वैज्ञानिक दर्शन है जिसको आचरण में उतारने से मानसिक तुष्टि के साथ पारमार्थिक लाभ होता है। लौकिक लाभ परछाईं की तरह साधक के साथ रहते हैं। साधक आचार निष्ठ होने के कारण आदर्श बन जाता है। संयम मानव जीवन की कसौटी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति संयम को अपनाये तो बिना प्रयत्न के ही समाजवाद आ सकता है। सामाजिक स्तर पर वितृष्णा घटते हुये पारस्परिक सौहार्द्र, सौजन्य वृद्धिगत होने लगेगा। संयमी व्यक्ति का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। यदि दैवात् आधि-व्याधि आती भी हैं तो संयमी जीवन में वे अधिक समय तक नहीं रुकतीं तथा साधक शरीर जन्य कष्ट से स्वयं को दुखी अनुभव नहीं करता।

जब तक प्राणी धर्म का मर्म समझकर दिशा परिवर्तित नहीं करेगा; तब तक उसे चैन नहीं मिलेगी। थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि धर्म पाखण्ड है, तब भी लोक व्यवहार के अर्थ जीवन जीने के लिये नैतिकता का आश्रय लेना ही पड़ता है; भले ही वह नकली-खोटा ही क्यों न हो

खोटा सिक्का खरे सिक्कों में मिलकर एवं असत्य भी सत्य की बैशाखी लेकर चल पाता है, अलग-२ रहकर नहीं। तात्पर्य यह कि यथार्थता की सर्वत्र आवश्यकता है। कृत्रिमता कागज के फूलों में यथार्थता की झलक दिखाकर ही भ्रमित कर सकती है। भले ही वह स्थायित्व ग्रहण न कर सके। परन्तु धर्म स्वपर कल्याण के लिये है। अतएव उसमे स्वाभाविकता अनिवार्य है। अनुशासनहीन जीवन, समाज के लिये भार तो है ही, स्वयं के लिए भी भार स्वरूप है, अशांतिकारक है। अस्तु, जीवन को स्वच्छ, सरल, गतिशील बनाने के लिय विवेक की आवश्यकता होती है। विवेक का सदाचरण से तादात्म्य सम्बन्ध है। सम्प्रदाय का व्यामोह हमें पथ भ्रष्ट कर सकता है, किन्तु स्वानुशासित नैतिकतापूर्ण आचरण कभी हमें पतन की ओर नही ले जा सकता। आत्मिक विकास, सामाजिक समन्वय, विश्व मैत्री के निर्वाह हेतु धर्माचरण का होना नितान्त आवश्यक है। नैतिकता के अभाव से सभी क्षेत्रों में मर्यादायें टूट रही है। भौतिकवादी प्रवृत्ति के कारण समाज; अनाचार, बेईमानी, भ्रष्टाचार का गढ़ बन कर रह गया है। परिष्कृत, आचारनिष्ठ, कर्तव्यपरायण मानव, समाज का ही नहीं, विश्व का भी नक्शा बदल सकता है। किन्तु हमारे मानस में अज्ञानता की ऐसी गहरी जड़े जमी हैं कि हम अपनी ही वितृष्णा से नित्य ही अराजकता की स्थिति निर्माण करते रहते हैं। स्पष्ट है कि हम धर्म से कोसों दूर हैं। स्वाभाविकता हमें छू भी नही सकी है और कृत्रिमता से स्वपर कल्याण असम्भव है। स्व कल्याण मे ही पर कल्याण निहित है। स्व कल्याण नही, तो पर कल्याण भी नही।

जैन दर्शन आध्यात्मिकता का प्रतिपादक है और जैन धर्म उसकी व्यावहारिकता का पोषक है। दर्शन एव धर्म का अद्‌भुत सामञ्जस्य हुये बिना लक्ष्य सिद्ध नही हो सकता। अत: आचार शास्त्र को जीवन मे उतारने के पूर्व दर्शन शास्त्र की महत्ता जान लेना अत्यावश्यक है। इसके अभाव में आचार, निर्गंध किंशुक की भांति व्यर्थ होगा। आचार क्यों धारण करना चाहिये ? दर्शन इस प्रश्न का समाधान सरलता से करता है। दर्शन ही व्यक्ति को सासारिक भिन्न-भिन्न अनेक अवस्थाओ के वैषम्य में स्वय के चिरतन अस्तित्व का बोध कराकर परम आनन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है एव पूर्णत: स्वतन्त्र, शुद्ध होने के चरम लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

यथार्थ ज्ञान न होने के कारण जीव, पुद्‌गल को अपना मानता है। उसके सयोग वियोग मे सुख-दुख का अनुभव करता है। दोनो द्रव्य भिन्न, उनका स्वभाव, परिणमन सब भिन्न है। फिर भी जीव वस्तु स्वभाव से अनभिज्ञ उससे तादात्म्य सम्बन्ध बनाये हुये है। अत उसकी पराश्रित वृत्ति ही दुख का मूल कारण है। आत्मा के अतिरिक्त समस्त द्रव्य अचेतन-जड़ हैं। आत्मा का अपने स्वभाव की श्रद्धा कर स्वोन्मुख होते हुये स्वभाव में लीन हो जाना ही यथार्थ सुख को पा लेना है।

अनादिकालीन कुसंस्कारो से हम परतन्त्र हैं। यह परतन्त्रता किसी के कारण नही; अपितु अपनी ही विकार वृत्ति से बनी हुई है। रेशम कीट स्वयं जाल बुनकर उसमें फंस जाता है। यदि वह पुरुषार्थ कर उस जाल को काट स्वयमेव बाहर निकल आता है तो बच जाता है; वरना वही जाल उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव से च्युत हो अपने ही विकारों से बन्धन निर्मित करता है और जब तक स्वय ही आत्मा अपने ही पौरुष से उसे काटकर नहीं फेंक देता,

तब तक वह बन्धन से मुक्त नहीं होता। बन्धनों की शृंखला चलती-रहती है। मुक्ति की अभिलाषा है तो युक्ति प्राप्त करना होगी।

पूर्वाचार्यों ने साधना से जो आत्मानुभूति प्राप्त की है, उसका निष्कर्ष, लिपिबद्ध कर शास्त्रों में हमारे लिये छोड़ रक्खा है। विचारपूर्वक उसके अनुसार चलने से ज्यों-ज्यों विकार हटते जाते हैं, त्यों-त्यों निर्मलता प्रकट होती जाती है। क्रमशः समस्त पाश काटकर आत्मा जीवन मृत्यु के चक्र से परम सुखी निरंजन हो जाता है। अज्ञान जनित मोह संसार वृद्धि में प्रमुख कारण है। जितने भी पदार्थ दृष्टिगत हो रहे हैं, वे जड़ हैं, रूप-रस-गन्ध-वर्णमय होने के कारण मूर्तिमान हैं। जब कि आत्मा में उपर्युक्त गुणों का अभाव होने से वह अमूर्तिक है। इसलिये अतीन्द्रिय आत्मा को इन्द्रिय या मन के द्वारा नहीं जाना जा सकता। उसे जानने के लिये किसी अन्य के आधार की आवश्यकता नहीं है। जब आत्मा स्व प्रेरित हो स्वयं को लक्ष्य बनाये, तभी वह स्व परिचय प्राप्त कर आत्म साक्षात्कार कर सकता है। स्वानुभूति में जो आनन्द आता है वह अकथनीय है। इस आनन्द के सम्मुख संसार के समस्त आनन्द हेय किंवा तुच्छातितुच्छ हैं। समस्त पर द्रव्यों से आत्मा को पृथक् समझकर उसकी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन, उसका यथावत ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान एवं तदनुरूप आचरण करना सम्यक्चारित्र है। ये रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। इन तीनों की प्राप्ति ही आत्मा का परम लक्ष्य है।

● प्रथम, द्वितीय व तृतीय खण्ड ●
● कल्पना प्रेस, कालकांग में मुद्रित ●

खण्ड
४
इतिहास के
झरोखे से

मध्यकाल में बिहार में जैनधर्म

डा० प्रो० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा

□

प्रास्ताविक

मध्यकाल ई० सन् छठी शती से बारहवीं शती तक माना जाता है। साहित्य में इस युग को टीका और भाष्य युग कहा गया है। इस काल खण्ड में बिहार की पुण्यभूमि मे जैनधर्म को राज्याश्रय नहीं प्राप्त हुआ न और कोई महान् प्रभावशाली उपासक ही हुआ। अतः यह निश्चित है कि मध्यकाल मे इस धर्म का प्रचार और प्रसार दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, केरल, आंध्र प्रभृति प्रदेशों मे होता रहा तथा इन्ही स्थानों में बड़े-बड़े विद्वान, आचार्य, चिन्तक एव लेखक भी उत्पन्न हुए। इतना होने पर भी बिहार की पुण्यमयी तीर्थभूमि का आकर्षण प्रत्येक जैनधर्मानुयायी के हृदय मे बना रहा। फलतः बुद्धिजीवी आचार्य और लेखकों के अतिरिक्त जनसाधारण ने भी राजगिर, चम्पा, वैशाली, सम्मेदशिखर एवं गया प्रभृति स्थानों की यात्राएं की। बुद्धिजीवी यात्री तो अपने ज्ञान और आचार को परिमार्जित करने के हेतु वर्षों बिहार की भूमि मे निवास करते थे। साधको ने अपनी अन्तिम साधनाएं भी इसी भूमि में सम्पन्न की है। साहित्य-प्रणेताओं को प्राचीन साहित्य से सामग्री उपलब्ध हुई, पर उन्होंने बिहार की वास्तविक स्थिति का अंकन करने के हेतु यहाँ के विभिन्न प्रदेशो के रहन-सहन, आचार-विचार, राजनैतिक-आर्थिक सम्बन्ध एवं श्रद्धा-विश्वासो का अध्ययन-अनुचिन्तन किया। जैनधर्म के कई उपासक यात्राएं करते हुए यहाँ आये और उन्होने यहां मन्दिर, चैत्य एवं चरणचिन्ह आदि पवित्र स्मारक स्थापित किये। तीर्थङ्करों की चरणरज से पवित्र मगध, मिथिला, अंग एवं सन्ताल प्रदेश की पावन भूमि विशेष रूप से आकर्षण का केन्द्र रही है।

अभिलेखीय एवं पुरातत्त्वावशेषीय प्रमाण:—

बिहार की मध्यकालीन जैनधर्म का स्थिति का परिज्ञान, अभिलेख, मूर्तिलेख एव पुरातत्त्वावशेषों से भी होता है। नालन्दा—बड़ागांव के जैन मन्दिर में पालवंशी राजा राज्यपाल के समय (ईस्वी दसवीं शती पूर्वार्द्ध) का एक अभिलेख उत्कीर्ण है इसमे बताया गया है कि मनोरथ का पुत्र वणिक् श्री वैद्यनाथ अपनी तीर्थवन्दना करता हुआ यहाँ पर आया।[1] भागलपुर (चम्पापुरी) एवं गया के जैन मन्दिरो मे स्थित जटाजूटवाली आदि तीर्थङ्कर की प्रतिमाएं छठी और सातवीं शती में बिहार की जैनधर्म विषयक उन्नति की सूचना देती है। इन प्रतिमाओं के दर्शन से ऐसा ज्ञात होता है कि इनकी

---

१. श्री चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ६५६

रूपाकृति का यथेष्ट अंकन रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई०) के आधार पर हुआ है। अथवा यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रविषेण ने इन प्रतिमाओं के पश्चात् ही इस प्रकार के चित्रण उपस्थित किये हैं।[2]

पुरातत्व सम्बन्धी एक अन्य प्रमाण आरा जिले के चौसा नामक स्थान से प्राप्त आदिनाथ तीर्थंकर की धातुमयी प्रतिमा भी है। यह मूर्ति खड्गासन मुद्रा में है। इसके अंगों की आकृति, केशविन्यास एवं प्रभावलय की शोभा के आधार पर इसे आठवीं-नवमीं शती का माना गया है। अन्य प्रतिमाएँ भी चौसा से प्राप्त हैं, ये सभी सातवीं-आठवीं शती की प्रतीत होती हैं। इस सामग्री के आधार पर इतना निश्चित है कि छठी शती से नवम शती तक जैन धर्म का प्रचार और प्रसार बिहार के विभिन्न भूखण्डों में वर्तमान था। राजगिर के वैभार पर्वत की तलहटी में स्थित सोनभण्डार नामक गुफा के अभिलेखों से प्रकट होता है कि ईस्वी सन् की चौथी शती मे ही राजगिर तीर्थ स्थान घोषित हो गया था। मुनि वैरदेव (वीरदेव) ने यहाँ पर साधना सिद्धि के हेतु दो गुफाएँ बनवायी थी। अभिलेख मे वीरदेव को—'श्रीमद्वीरदेवशासनाम्बरावभासनसहस्रकर'–भगवान् महावीर के शासन रूपी आकाश को प्रकाशित करने वाला सूर्य कहा है। वीरदेव का सम्बन्ध दक्षिण भारत के कन्नड़ प्रान्त से भी था। अतः स्पष्ट है कि वीरदेव ने दक्षिण भारत से आकर राजगिरि मे निवास किया था और पूर्वी भारत को अपने प्रभाव से प्रभावित किया था।

गया जिले के कोलुआ पहाड़ के चढ़ाव के अन्त मे पत्थरो द्वारा निर्मित एक विशाल प्राकार भग्नावस्था में वर्तमान है। इसके मध्य मे एक सरोवर है। इस सरोवर की खुदाई मे जो प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनसे बिहार में मध्यकालीन जैनधर्म के सम्बन्ध मे अनेक तथ्य ज्ञात होते हैं। सरोवर के उत्तर की ओर चढ़ने पर पार्श्वनाथ मन्दिर और पार्श्वनाथ चबूतरा है। इस चबूतरे से कुछ आगे बढ़ने पर एक कूट है, जिसके ऊपर एक रमणीय समतल भूमि है। इसके बीच मे एक गर्त है, जो यज्ञकुण्ड कहलाता है। इसके चारों ओर एक शिलालेख अंकित है। यह शिलालेख पढ़ने मे नही आता है पर इसके जो पद पढ़े जा चुके हैं उनमें 'जनसीन' पद विचारणीय है। इस पद से ऐसा अनुभव होता है कि यह स्थान महापुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य (ई० सन् ९वीं शती) की सभा भूमि रहा है। 'जनसीन' जिनसेन शब्द का अपभ्रंश रूप है। इस कथन की पुष्टि वहाँ पर स्थित ऊँचे रंगमंच से भी होती है तथा इसका दक्षिण पार्श्ववर्ती चबूतरा शिष्यमण्डल या साधु-वर्ग के बैठने का स्थान ज्ञात होता है।

कतिपय विद्वान महापुराण के रचयिता जिनसेन का जन्म स्थान पटना को मानते है।[3] अन्य-

---

२. वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः। धूमाल्य इव सद्ध्यान- वह्निसक्तस्य कर्मणः॥
—पद्मपुराण ३। २८९

स रेजे भगवान् दीर्घजटा[illegible]ांशुमान् ॥—वही ४। ५।

३. Sri Jinasenacharya, author of the Mahapurana which has Sixty thousand Slokas, was born in Patna and belonged to his line
---P. C, Roy Choudhary. Jainism in Bihar, Patna 1959 Page 86

स्थान के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, पर वज्रिलपुर (भोरिया) पार्श्वकूट और चम्पा में निवास करने के सम्बन्ध में अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं।

इस युग में मानभूम और सिंहभूम जिलों मे भी जैन यात्रियों और जैनाचार्यों ने अनेक जैन मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी थी। बलरामपुर (पुरुलिया से तीन मील कसायी नदी के तट पर) के बैजनाथ मन्दिर में मध्यकाल की कई दिगम्बर जैन प्रतिमाएं दिवालों पर अंकित हैं। अनुमान है कि यह मन्दिर किसी जैन मन्दिर की चौकी पर ही बनाया गया है। दारिका नामक (देवेलड़ के खण्डहरों से तीन मील दक्षिण) गांव के बाहर कृष्ण पाषाण की एक मूर्ति है, इस पर पद्मासन जैन का चिन्ह है। इस जिले के बलमा नामक पहाड़ की तलहटी में सुवर्ण रेखा नदी के तट पर बलमी या दमापुर बलमी नामक पुराने नगर के खण्डहर उपलब्ध हैं।[४] यहां ६-१०वीं शती में जैनधर्मानुयायियों की बहुत आबादी थी। बलमी से उत्तर-पश्चिम दस मील दोबली गांव के एक वृक्ष के आगे अरहनाथ की तीन फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। इस प्रतिमा के मस्तक के दोनों ओर ६-६ नग्न जैनमूर्तियां अंकित हैं। यह मन्दिर सातवीं-आठवीं शती में वर्तमान था।

मानभूम जिले का पाकबीर स्थान जैन इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहां पर एक सरोवर के तट पर कुछ ऊँचाई पर एक बड़े मैदान में चारों ओर चार मन्दिरों के पत्थर एवं ईंटों के ढेर हैं। मन्दिरों के शिखर आज भी अपना गौरव व्यक्त कर रहे हैं। यहां पाँच हाथ की एक खड्गासन मूर्ति है, जो बहुत शान्त और सुन्दर है। गांव वाले इस मूर्ति की पूजा भैरों क नाम से करते हैं। यहां पर सातवीं-आठवीं शती की महावीर और पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं अंकित हैं। पद्मावती की मूर्ति भी लगभग डेढ़ हाथ ऊँची उपलब्ध है। यह पद्मावती की प्रतिमा ग्यारहवीं-बारहवीं शती की होनी चाहिए। यहां से थोड़ी दूर पर एक छप्पर के नीचे आदिनाथ की खड्गासन चौबीसी मूर्तियों सहित प्राप्त है। आकृति और पाषाण के आधार पर इसका समय नवम् शती सम्भव है। पाकबीर से एक मील की दूरी पर एक पंखा गांव है, यहां नदी के तट पर एक टीला है, इस टीले पर एक वृक्ष के नीचे दो खण्डित और दो अखण्डित सी जैन प्रतिमाएं प्राप्त है, इस मूर्ति के दोनों ओर चौबीसी प्रतिमाएं अंकित है। यहां पर एक ऐतिहासिक पाषाण है, जिस पर दो हाथ का एक वृक्ष अंकित है, इसके ऊपर एक पद्मासन जैन मूर्ति है, उसके दोनो ओर दो इन्द्र हैं। वृक्ष के ऊपर एक बालक शाखा पर बैठा है, नीचे माता-पिता बने हैं। माता की गोद में बालक है, पिता यज्ञोपवीत पहने हुए हैं। नीचे आसन में सात गृहस्थों का अंकन किया गया है। इस मूर्ति के अवलोकन से स्पष्ट है कि जिनसेनाचार्य द्वारा प्रतिपादित यज्ञोपवीत की मान्यता का समर्थन इसमें किया है। अतएव स्पष्ट है कि मध्यकाल मे सिंहभूम और मानभूम जिलों में जैनधर्म की स्थिति बहुत अच्छी थी।

---

४. The influence of the Jainas in the district of Singhbhum is also borne out by many existing ancient relics at Benusagar and other areas. The ruins at the temples and the Pieces of ancient Sculpture................ to the 7th Century.

--A. D. Jainism in Bihar. Page 64

पुरातत्वावशेषों के अतिरिक्त मानभूम और सिंहभूम जिलों में अन्य भी कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे मध्यकाल में जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इस जिले में ब्राह्मण जाति के जो व्यक्ति निवास करते हैं, वे दो वर्गों में विभक्त हैं—पश्चिमी ब्राह्मण और पूर्वी ब्राह्मण। पश्चिमीय ब्राह्मण अपने को वर्धमान महावीर की जाति का या उनका अनुयायी बतलाते हैं। इससे स्पष्ट है पश्चिमी ब्राह्मण राजस्थान एवं गुजरात से यात्रा करते हुए यहाँ पहुँचे थे और मध्यकाल में यहीं बस गये थे। कहा जाता है कि ई० सन् १०२३ में राजेन्द्र[५] चोलदेव के सेनापतित्व में राज्य विस्तार के हेतु चोल सैनिकों ने बंगाल के राजा महीपाल पर आक्रमण किया था। सैनिकों ने मानभूम के जैनमन्दिरों को ध्वस किया था। यहाँ से प्राप्त अवशेष मध्यकालीन हैं, जिससे इस जिले की मध्यकालीन जैन धर्म की स्थिति का बोध प्राप्त होता है।

पुरुलिया के पास बलरामपुर और बोरम ग्राम में ११वीं शती के मूर्ति अवशेष प्राप्त हैं, इन कलाकृतियों के अवलोकन से मध्यकालीन जैन धर्म की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। सिंहभूम जिले में रहने वाली सराक—श्रावक जाति के व्यक्ति, जैनधर्मानुयायी थे। मध्यकाल में इस जिले में कई जैन मन्दिरों का निर्माण किया गया था। आज भी इस जिले के अनेक स्थानों में जैन पुरातत्वावशेष प्राप्त है सम्राट खारवेल के प्रयासों के फलस्वरूप छोटा नागपुर के आस-पास प्राचीन समय में ही जैनधर्म और जैन दर्शन का पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार हुआ था। फलतः ८-९वीं शती तक इस जिले में जैन धर्मानुयायियों की स्थिति बनी हुई थी। ग्यारहवीं शती से यहाँ जैनधर्म का ह्रास आरम्भ हुआ[६]। राजनैतिक स्थिति की उलट-फेर के कारण जैन मन्दिरों का ध्वंस किया गया। जैनधर्मानुयायियों पर अत्याचार हुए जिससे वे विघटित हो गये। जैन यात्रियों का आना-जाना भी कम हो गया तथा मानभूम और सिंहभूम दोनों ही जिलों से जैनधर्म सदा के लिए निर्वासित हो गया। जो लोग यहाँ रह गये, वे भी इधर-उधर छितरा गये तथा सराक नाम से प्रसिद्ध हुए।

भागलपुर जिले में मध्यकाल में जैनधर्म के समृद्ध होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। सुलतानगंज में गंगा के तट पर अजगबीनाथ के मन्दिर के ठीक सामने एक मस्जिद के अवशेष वर्तमान हैं। यह मस्जिद जैन मन्दिर के परिवर्तन से बनायी गयी है। इसकी दीवालों के पाषाण खण्डों पर उत्कीर्ण कई जैन मूर्त्तियां भी उपलब्ध हैं। पथार घाटी हिल पर ७-८ वीं शती की चित्रकारी है, इस पहाड़ी को

---

५. There is a theory that the Chola Soldiers on their way to the expedition *under Rajendra Choladeva and on the return back of the defeating Mahi* Pala of Bengal near about 1023 A. D. has destroyed *many of the* Jaina temples and images in Manbhum district.

---Jainism in Manbhum, आचार्य भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, तृतीय खण्ड, पृ० २५। सिंहभूम जिले के पुरातत्वावशेष उड़ीसा म्यूजियम में स्थित हैं और मानभूम के पटना म्यूजियम में।

६. विशेष जानने के लिए देखिए—आचार्य भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, तृतीय खण्ड, पृ० २४–२६।

चौरासी मुनि कहते हैं। ६-७ वीं शती में यहां की गुफाएं जैन मुनियों का आवास स्थान थीं। चम्पापुर से ३१ मील दक्षिण में एक छोटा सा पहाड़ है, जिसे मन्दारगिरि कहते हैं। उत्तर पुराण में इसी स्थान को वासुपूज्य तीर्थंकर का निर्वाण स्थान भी बताया है।[७] इस पहाड़ पर दो प्राचीन जैनमन्दिर हैं जिनका जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा है। बड़े मन्दिर की दीवाल की चौड़ाई सात फीट है, जो छठी-सातवीं शती की स्थापत्य कला का प्रमाण है। पहाड़ के बड़े मन्दिर में वासुपूज्य स्वामी के श्याम वर्ण के चरण चिन्ह हैं। ये चरण भी पर्याप्त प्राचीन हैं, पाषाण एवं शिल्प की दृष्टि से ई० सन् आठवीं-नौवीं शती के प्रतीत होते हैं। पहाड़ के छोटे मन्दिर में तीन चरण पादुकाएं भी मध्यकालीन हैं। चम्पापुर की प्राचीन सामग्री मध्यकाल की समृद्धि की सूचना देती है। इस स्थान से ही जटा-जूट वाली आदिनाथ की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं।

नवादा जिले का गुणावा स्थान गौतम गणधर की तपस्या भूमि होने के कारण पवित्र है। यहां के दिगम्बर जैनमन्दिर में वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, जिसकी प्रतिष्ठा वैशाख शुक्ला चतुर्थी शनिवार वि० सं० १२६८ (ई० सन्० १२११) में सारंगपुर निवासी दाताप्रसाद-भार्यासिंह भार्या अमरादिने करायी है।[८] वेदी नवीन है, पर उसमें विराजमान कई प्रतिमाएं प्राचीन हैं, जिनकी प्रतिष्ठा मध्यकाल में विभिन्न समयों पर पधारे हुए यात्रियों द्वारा सम्पन्न हुई है। यहाँ के जैन मन्दिर में वासुपूज्य और महावीर तीर्थंकरों की प्रतिमाएं श्वेताम्बर आम्नाय की हैं। चौबीस स्थानों पर पृथक-पृथक चौबीस भगवानों के चरण चिन्ह भी उक्त आम्नाय के अनुसार ही प्रतिष्ठित हैं। चरण चिन्ह प्राचीन नहीं है, पर मन्दिर के अन्य उपकरण मध्यकालीन प्रतीत होते हैं।

राजगिर से उपलब्ध पुरातत्व से भी मध्यकालीन जैनधर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। मनियार मठ के पास के पुराने कुंए की सफाई करते समय सप्तफण मण्डल की मूर्ति उपलब्ध हुई थी। इस मूर्ति के अभिलेख को काशीप्रसाद जायसवाल ने पढ़ा था और उन्होंने बतलाया था कि यह लेख पहली शताब्दी का है और उसमें सम्राट श्रेणिक तथा विपुलाचल का उल्लेख है।[९] एम० ए० स्टीन साहब ने लिखा है—'वैभारगिरि पर जो जैन मन्दिर बने हुए हैं उनके ऊपर का हिस्सा तो आधुनिक है, किन्तु उनकी चौकी जिन पर वे बने हुए हैं प्राचीन हैं।[१०]

आर्डी बनर्जी ने बताया है कि सातवीं शताब्दी तक वैभारगिरि पर जैन स्तूप विद्यमान था

---

७ अथ चम्पापुरीबाह्ये सानुस्थानविभूषिते । वने मनोहरोद्याने पल्यङ्कासन आस्थितः ॥
मासे भाद्रपदे ज्योत्स्ने चतुर्दश्यापराह्णके । विशाखायां ययौ मुक्तिं चतुर्नवतिसंयतैः ॥
—उत्तर पुराण । ५८ । ५२ । ५३ ।

८ ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० ६२५ ।

९. Journal of the Bihar and Orissa Rec. Soc. vol XXII (June 1936)

१०. Archaeological Survey of India Vol I (1871) PP. 25-26

तथा गुप्तकाल की कई जैन मूर्तियाँ भी वर्तमान थीं। सोनभद्र गुहा में यद्यपि गुप्तकालीन लेख हैं; पर इस गुहा का निर्माण गुप्तकाल के पहले ही हुआ होगा।[11]

विपुलाचल के तीन मन्दिरों में से मध्यवाले चन्द्रप्रभु स्वामी के मन्दिर में एक मूर्ति गुप्तकालीन है। तीसरे उदयगिरि पर तीर्थंकर महावीर की खड्गासन प्रतिमा निस्संदेह पांचवी शती की है। चौथे स्वर्णगिरि और पांचवे वैभारगिरि की कुछ मूर्तियाँ भी सातवीं-आठवीं शती की हैं। राजगृह की प्राचीन मूर्तियाँ नीचे के मन्दिर में विराजमान हैं। ऊपर पहाड़ पर अब प्राचीन प्रतिमाएं नहीं हैं। यह सुरक्षा की दृष्टि से किया गया है। राजगिर के पर्वतों पर कतिपय खण्डित मूर्तियां भी उपलब्ध है, जो छठी शती से दसवीं शती के मध्य की है। इस प्रकार राजगिर के पुरातत्व से बिहार में स्थित जैनधर्म के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। उत्तर, पश्चिम और दक्षिण के यात्रियों ने यहाँ आकर मन्दिरों का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी थी।

मिथिला दरभंगा और मुजफ्फरपुर स्थानों में भी मध्यकाल मे जैनमन्दिर और मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं। मिथिला नगरी में १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ और २१ वें तीर्थंकर नेमिनाथ को जन्म देकर जैनधर्म के प्रसार के लिए बीज वपन कर दिया था। उत्तराध्ययन के 'नमिप्रवृज्या' अध्याय में मिथिला के वैभव का सुन्दर चित्रण आया है, इससे इस नगरी की भौतिक समृद्धि अवगत की जा सकती है। मध्यकाल में यहा जैन धर्मानुयायियों की संख्या अवश्य थी, हां दसवीं शती के उपरान्त उत्तर बिहार में जैनधर्म केवल इतिहास की वस्तु रह गया है। दक्षिण बिहार में मध्यकाल की अन्तिम शताब्दियां भी महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं, किन्तु उत्तर बिहार जैनधर्म के अनुयायियों से शून्य हो गया था।

पटना जिला मध्यकाल में जैनधर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहां के कमलदहक्षेत्र (सुदर्शन स्वामी का निर्वाण स्थल) को सातवीं सदी के आस-पास मान्यता प्राप्त हुई है। सुदर्शन आख्यान भी सातवीं शती के पश्चात् ही प्रचार में आया है। जैनागमों के संकलन के हेतु सम्पादित हुई प्रथम संगीति के अनन्तर ही जैनों ने पाटलिपुत्र का महत्व समझा है। स्थाविरावली में पाटलिपुत्र के निर्माण की जो कथा आई है,[12] उससे भी यही निष्कर्ष निकलता कि छठी-सातवीं शती में पाटलिपुत्र को विशेष महत्व प्राप्त हुआ।

---

११. Indian Historical quarterly XXII PP. 205-210

१२. बताया गया है कि मथुरा में पुष्पकेतु राजा रहता था, इसकी पत्नी का नाम पुष्पवती, पुत्र का पुष्पचूल और कन्या का नाम चूला था। रानी गंगातटवर्ती प्रदेश में निवास करने लगी। वहां पर एक जल जन्तु के मस्तक पर पाटल बीज के गिरजाने से वृक्ष उत्पन्न हो गया। ज्योतिषियों ने इस वृक्ष को देख कर इस स्थान के महत्व का वर्णन किया। राजा उदायी को जब यह सूचना मिली तो उसने पाटलवृक्ष के पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर की सीमा पर एक नगर बसाया जो पाटल वृक्ष से वेष्टित होने के कारण पाटलिपुत्र कहलाया। राजा ने इस नगर में जैनमन्दिर, गज-अश्वशाला युक्त राजमहल निर्मित कराया।

भोजपुर जिले का पुरातत्व भी जैनधर्म के इतिहास पर प्रकाश डालता है। इस जिले के मसाढ़ नामक स्थान के मूर्तिलेखों से ज्ञात होता है कि कुछ राठौरवंशी जैन यात्रा करते हुए ई० सन् १३८६ में यहां आये और उन्होंने आदिनाथ, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी। यह प्रतिष्ठा मसाढ़ (महासार) के राजनाथदेव के राज्यकाल में काष्ठासंघ के गुरु कमलकीर्ति ने कराई थी[13]। इस स्थान की प्राचीनता के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियां प्रचलित हैं। मध्यकाल में यात्रियों का आवागमन रहने से भोजपुर भी जैनधर्म के अनुयायियों के लिए आकर्षण का केन्द्र था।

इस प्रकार अभिलेखों एवं पुरातत्त्वावशेषों से मध्यकालीन जैनधर्म की स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है। जैनों की आबादी उत्तरोत्तर क्षीण होती गई। पर बाहर से आनेवाले यात्रियों ने बिहार भूमि को प्राचीनकाल के समान ही तीर्थ बनाये रखने का उपक्रम किया।

वाङ्मय में वर्णित बिहार

मध्यकालीन जैनवाङ्मय में बिहार का सजीव चित्रण पाया जाता है जिससे इस प्रदेश की मध्यकालीन स्थिति का सहज में परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैन लेखकों ने बिहार के बाहर जन्म ग्रहण कर भी बिहार की भूमि का आँखों देखा सुन्दर चित्रण किया है। अतः इस युग के इतिवृत्त को अवगत करने के लिए साहित्यिक वर्णनों पर विचार करना परम आवश्यक है।

वसुदेवहिंडी में मगध जनपद की समृद्धि के वर्णन के साथ जैनधर्म के अभ्युदय पर भी प्रकाश डाला गया है। बताया है कि इस जनपद में घने छायादार वृक्ष हैं, जो पुष्प और फलों की समृद्धि से युक्त हैं। तालाब एवं पुष्करणियां कमल, कुमुद, कुवलय आदि नाना प्रकार के पुष्पों से मण्डित हैं। इस जनपद में पथिकों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। यहां की राजधानी राजगिर नगरी है, जो खात और परकोटा से सुशोभित है। नगरी में चौड़े और विशाल राजमार्ग हैं। यहां के बाजार

---

13. (i) सं १४४३ ज्येष्ठ सुदी ५, गुरो महसारस्य च।
(ii) राजनाथ देवराज्यके काष्ठसंघे आचा—
(iii) र्य कमलकीर्तिजयसरङ्कराचार्य।
(iv) .... मथुरान्वये।
(i) सं० १४४३ समये ज्येष्ठ सुदी ५, गुरो
(ii) राजनाथदेव प्रवर्द्धमाने महासारस्य काष्ठसंघे मथुरान्वये
(iii) पुष्करगणे प्रतिष्ठ च कमलकीर्तिदेव
(iv) जैसवाल जैसल समचर्च.... ... .
(v) पुत्र लखम देवचन्द ....
(vi) जैन प्रतिष्ठ ....

—जैनशिलालेख संग्रह, तृतीयभाग लेख संख्या ५८६

और अट्टालिकाएं अपनी समृद्धि से अमरपुरी को भी तिरस्कृत करती है। श्रमण और ब्राह्मण बड़े सौहार्द और प्रेम के साथ निवास करते हैं। नगरवासी दया, दान, शील और संयम से युक्त हैं। जैनमन्दिर अपनी पवित्रता और भव्यता से जनसमूह को आकृष्ट करते हैं। रथ, तुरंग, गज, धन धान्य की प्रचुरता के कारण प्रजा सुखी और शान्त है, सभी धर्म का सेवन करते हैं। यहाँ 'गुणसिलय' नामक चैत्य है, जहाँ धर्मगुरु आकर ठहरते है। इस चैत्य के प्रांगण में जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप सात तत्वों का उपदेश दिया गया है। अनेक भव्य प्राणी इस उपदेश को सुनकर संसार के विषय कषायों से विरक्त हो आत्म साधना में प्रवृत्त हुए हैं। इस नगरी के ऋषभदत्त सेठ ने यहीं पर गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। प्रजा जिज्ञासु के रूप में प्रश्न करती है।

'तं एवं ताव तित्थयरदंसणं दुल्लभं संसारम्मि दुल्लभं वयणं तं पि सोऊण कम्म कम्मलमययाए कोइ न सद्दहइ, जो य कम्मविसुद्धीय सद्दहेज्जा सो संजमवयणे निरुच्छाहो भवेज्जा'[14]

अर्थात् प्रथम तो तीर्थङ्करों का दर्शन दुर्लभ है, दर्शन हो भी जाय तो उनका प्रवचन सुनना और दुर्लभ है। प्रवचन सुनने पर भी धर्मक्लिष्टता के कारण धर्म का श्रद्धान होना कठिन है। कर्मशुद्धि होने पर श्रद्धान प्राप्त होजाने से भी संयम धारण के प्रति कम ही व्यक्तियो का उत्साह देखा जाता है। जो संयमी बनकर आत्मशुद्धि करते हैं, वे धन्य हैं। जीवन का चरम लक्ष्य तप, त्याग और संयम रूप साधना ही है।

संघदास का उक्त कथन बिहार की छठी शती की जैन धर्म की स्थिति पर पूरा प्रकाश डालता है। यद्यपि संघदास ने पूर्ववर्ती आख्यानों को सूत्ररूप में ग्रहण किया है, पर लेखक के अपने समय की यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है। हिण्डी वसुदेव के उक्त वर्णन को यदि प्रतीकात्मक मान लें तो बिहार में अपचीयमान जैनधर्म की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। छठीं शती मे राजगिर में जैनमन्दिर और चैत्यसमूह रूप में अवस्थित थे। हमारे इस कथन की पुष्टि 'चेइयपादवं च कप्पवक्खं पिवमणं-मणहरं'[15] वाक्यांश से होती है।

हिण्डी वसुदेव में कथा का आरम्भ भी मगध की भूमि से ही होता है। लेखक को मगध, अंग, कलिंग, और विदेह जनपद बहुत ही प्रिय है। इन प्रदेशों के विभिन्न पात्रों की मनःस्थितियों पर भी प्रकाश डाला गया है। चम्पा में सार्थवाह-व्यापारी अधिक निवास करते थे। व्यापार के हेतु ये ताम्रलिप्त और वैजन्ती के बन्दरगाहों में अपने यान से चम्पा में आते थे। बिहार के अरण्य प्रदेश मे

१४· वसुदेवहिण्डी, प्रथमांश, पृ० ५।

१५· अत्थि मगहाजणवओ धणधन्नसयिद्ध इयवस कुलबहुलगामसतसन्निमहिओ, छायापुप्फफल-भोजतरुगणसमग्गवणसंड मंडियो कमलकुमुदकुवलयसोहितलागपुक्खरिणिविप्पवाहीण कमला-लिलयो ....

रायगिहं नाम नयरं दरावयादीवत्थय सलिलयतोयमूहक तरतुङ्ग पराणीयमदमाजरपरिगयं, बहुविहनयणाभिरामजण आरयसय ....रायमम्मं। —वसुदेवहिंडी, प्रथमांश पृ० २।

चोर और लुटेरे निवास करते थे, जो यात्रियों को लूट लेते थे। धार्मिक स्थिति आज की अपेक्षा सरल थी। कोई भी व्यक्ति किसी भी गुरु का उपदेश सुन सकता था। कट्टरता और धार्मिक विद्वेष आरम्भ हो चुका था। कतिपय जैन व्यापारी बौद्ध या अन्य धर्मावलम्बियों को अपनी कन्या नहीं देते थे। जाति बन्धन कड़ा नहीं था, व्यवसाय और जन्म दोनों ही आधार पर जाति-व्यवस्था व्यवहार मे लायी जाती थी। ब्राह्मण अश्वमेध यज्ञ छोड़ श्रमण के कर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे और जनता का झुकाव भी इस कर्म की ओर आरम्भ हो गया था।[१६]

जैन धर्मानुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर घटने लगी थी। धर्म गुरुओं का आगमन राजगिर, चम्पा, मिथिला, कुसुमपुर प्रभृति स्थानों मे होता रहता था। वे धर्मगुरु जनसाधारण को नैतिक सदाचार की शिक्षा देते थे।

छठी शती मे बिहार में जैनधर्म एवं उसके अनुयायियों की स्थिति पर विमलसूरि द्वारा विरचित प्राकृत-ग्रन्थ "पउमचरियं" से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है[१७]। 'वसुदेव-हिण्डी' और पउमचरियं के उद्धरणों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा अवगत होता है कि 'पउमचरियं' के समय में मगध जनपद की स्थिति बहुत ही सुदृढ़ थी, पर मगध से जैन धर्मानुयायी इधर-उधर छितराने लगे थे। आचार्यों और गुरुओं का आगमन मगध में होता रहता था। बताया गया है—'मगध जनपद गाय, भैंस, अश्व, गज आदि की समृद्धि से युक्त था। इसके बड़े-बड़े कोष्ठागार मणि, सुवर्ण, रत्न, मोती तथा प्रचुर धान्य से भरे-पूरे थे। यहाँ के लोग विभिन्न विज्ञानों में विचक्षण थे, निवासी धर्मात्मा तथा कर्तव्यपरायण थे। यह जनपद नृत्य और संगीत से सर्वदा मुखरित रहता था। नट, नर्त्तक, छत्रधारी एवं बाँस पर नाचने वाले नर—अपने कला कौशल का परिचय दिया करते थे। नाना प्रकार के भोज्य-पदार्थों से अतिथियों का सत्कार किया जाता था। इत्र और पुष्प यहाँ के निवासियों को अधिक प्रिय थे। विवाह वार्धापन आदि उत्सव सर्वदा सम्पन्न होते रहते थे। ये प्रदेश चारों ओर सरोवरों, झीलों और उद्यानों से व्याप्त रहने के कारण बहुत ही रमणीय दिखलाई पड़ते थे, पर राज्य के आक्रमण, संक्रामक रोग, चोर, दुर्भिक्ष आदि से रहित होने के कारण यह जनपद सभी प्रकार से सुख का आगार था। पूजन, अर्चन, स्तवन आदि कार्यों में जनता संलग्न रहती थी।

इस काव्य ग्रन्थ में वर्णित अर्द्ध बर्बरों[१८] के अत्याचारों से ऐसा अनुमान होता है कि मिथिला में श्रमण धर्म और जिनायतनों का विध्वंस आरम्भ हो चुका था। विमलसूरि ने पौराणिक आख्यान में भी अपने समय की स्थिति का चित्रण किया है। यही कारण है कि एक ओर मगध और तिरहुत की समृद्धि का चित्रण है तो दूसरी ओर वहां होने वाले उपद्रवों का भी।

---

१६. पउमचरियम्—प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी २/१-२० पृ० ८-९

१७. वही २७/१—४२ पृष्ठ २२५—२२७।

१८. सार्थवाह, राष्ट्रभाषा परिषद पटना प्रथम संस्करण १९५३ पृ० १६४।

डॉ० मोतीचन्द्र ने लिखा [19] है—'छठी शती में जैन साधु केवल धर्म-प्रचार के लिए ही विहार-यात्रा नहीं करते थे। वे जहाँ जाते थे, उन स्थानों की भली-भाँति जाँच पड़ताल भी करते थे। इसे जनपद-परीक्षा कहते थे। जनपद दर्शन से साधु पवित्रता का बोध करते थे। इस प्रकार की विहार यात्राओं से वे अनेक भाषायें सीख लेते थे। उन्हें जनपदों को अच्छी प्रकार से देखने-भालने का भी अवसर मिलता था। इस ज्ञान लाभ का फल उनके शिष्य वर्ग को भी मिलता था। अपनी यात्राओं में जैनभिक्षु तीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण एवं केवली होने के स्थानों पर भी जाते थे।

जैन मुनियों की इस सञ्चरणशील प्रवृत्ति का दर्शन, भाष्य और चूर्णियों में भी प्राप्त होता है। चूर्णियों की रचना गुप्तकाल के पश्चात ही हुई है। इन ग्रन्थों में संकलित सामग्री से राजगिर के 'गुणशील' चम्पा के 'पूर्ण भद्र' आमलकप्पा क 'अम्बसाल' एवं वणिय ग्राम के 'दुइपलास' चैत्यो के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। ये चैत्य व्यन्तरायतन थे। उनमें व्यंतरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित रहती थी। जैन श्रावक भी लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिए इन यक्ष आयतनो की उपासना करते हुए दिखलाई पड़ते है। धन्य सार्थवाह की पत्नी भद्रा ने राजगिर नगर के बाहर स्थित यक्ष आयतनो की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, और पूर्णिमा के दिन विपुल अशन, पान आदि के द्वारा पूजा अर्चना की। भद्रा की इच्छा पूर्ण हुई और उसने अपने पुत्र का नाम 'देवदिन्न' रखा।

पूर्णभद्र चैत्य के सम्बन्ध मे बताया गया है कि यह प्राचीन दिव्य और सुप्रसिद्ध था। यह वेदिका सहित, सच्छत्र, सध्वज, लोममय प्रमार्जन युक्त, गोबर आदि से लिपा हुआ, चन्दन, कलश, तोरण और मालाओं सहित तथा अगुरु आदि धूप से सुगन्धित रहता था। यह चैत्य नट, नर्तक, स्तोत्रपाठक, मल्ल मौष्टिक, विदूषक, ज्योतिषी और चित्रादि दिखलाकर आजीविका सम्पादन करने वालो का आश्रय-भूत था। यहां कर्मकाण्ड आदि कार्य भी सम्पन्न होते थे। इस प्रकार के चैत्यों में ही जैन साधु आकर ठहरते थे। [20]

उपर्युक्त यक्ष आयतनो के वर्णन से ज्ञात होता है कि मध्य काल मे तीर्थङ्करों की उपासना के साथ लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिए यक्षों की पूजा अर्चा भी किसी प्रकार मान्य थी। जैन साधु उपदेश देने के लिए इन आयतनों को ही सार्वजनिक स्थान के रूप में चुनते थे, क्योंकि इन आयतनो में साधारण जनता अधिक संख्या में एकत्र होती थी, फलत: उन धर्म गुरुओं को धर्मदीक्षा देने के लिए अधिक अवसर प्राप्त होते थे। जिन लोगों की श्रद्धा विचलित हो जाती थी, उन्हें भी वे साधु धर्म मार्ग में स्थिर करते थे। छठीं और सातवीं शती में यक्ष आयतनों का अधिक प्रचार था। वैदिक धर्म

---

19. जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा भाग ८ किरण २ पृष्ठ ९७ १०४ (जैनागम साहित्य में यक्ष शीर्षक निबन्ध, तथा Yakshas -- by A K kumarswami Page 12, 22 तिथा निशीथचूर्णि—उद्देश ११; बृहत्कल्पभाष्यसूत्रवृत्ति—भाग ४ पृष्ठ ९६७।
20. पद्मचरित—रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, खण्ड १ कथा उत्थानिका।

में मान्य इन्द्र, कुबेर, वरुण, आदि इन आयतनों के अधिपति थे। श्रमण धर्म के साथ संघर्ष और विद्रोह आरम्भ हो चुका था। इस विद्रोह की गन्ध हमें उत्सव और त्यौहारों के अवसर पर सम्पादित किये जाने वाले इन्द्रमह, स्कन्धमह, यक्षमह और भूतमह विधानों मे मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि छठी शती में बिहार की भूमि में श्रमण और वैदिक परम्परा एक साथ पल्लवित होती दिखलाई पड़ती है। इन दोनों परम्पराओं का मिलन-स्थान यक्षायतन थे।

सातवीं शती के संस्कृत पद्मचरित से भी बिहार प्रदेश के जैन इतिवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[२१] हर्ष के शासन काल में वैशाली, मगध, मुंगेर भागलपुर (चम्पापुर) एवं गया प्रभृति स्थानों में जैनधर्म की अच्छी स्थिति थी। तीर्थङ्करो के मन्दिर बनाये जा रहे थे। अष्टम् शती के तथा आचार्य पुण्य--भूमियों में विहार कर धर्म का प्रचार कर रहे थे। आचार्य जिनसेन प्रथम ने अपने हरिवंशपुराण में मगध, अङ्ग और मिथिला का सजीव चित्रण किया है। इस चित्रण से प्रादेशिक समृद्धि के साथ धर्मानुयायियों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। इसी शताब्दी के आचार्य हरिभद्र ने भी अपने 'समराइच्च कहा'[२२] नामक ग्रन्थ मे कुसुमपुर (पटना), कोल्लायसण्णिवेश, चम्पा, मिथिला, क्षिति प्रतिष्ठित (राजगिर) आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। धनाढ्य एवं सेठ साहूकार जैनायतनों का निर्माण कराते थे और देवस्थानो की सेवा पूजा में जो धन व्यय किया जाता था, उस धन को सार्थक समझते थे। अंग, कलिङ्ग और मगध इन तीनों प्रदेशों मे श्रमण धर्म की अच्छी स्थिति थी। धर्म गुरुओं का प्रवचन निरन्तर होता रहता था, जिससे साधारण जनता श्रमण धर्म को समझकर आत्मोत्थान की प्रेरणा ग्रहण करती थी। दशम शती में हरिषेणाचार्य द्वारा लिखित बृहत्कथाकोष से अवगत होता है कि राजगिर मे जैन और बौद्ध मतावलम्बियों के बीच विवाद आरम्भ हो चुका था। जिनदत्त और मित्रश्री के आख्यान से यह संकेत प्राप्त होता है कि जैनधर्म की मान्यता मध्यम वर्ग के बीच ही थी। सार्थवाह, शिल्पी, कृषक एवं सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्ति श्रमण धर्मानुयायी थे। इनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होते हुए भी ये धर्मोत्थान के हेतु उत्सव आदि मे विशेष व्यय करते हुए दिखलायी नहीं देते थे। बुद्ध संघ और पद्मश्री के आख्यान से धार्मिक विद्वेष की भावना भी प्रकट होती है। मगध, जो कि, जैन धर्मानुयायियों का गढ़ था, शनैः - शनैः अपने प्रभुत्व को खो रहा था। ग्यारहवीं शताब्दि मे उत्तर बिहार से जैनधर्मानुयायी समाप्त हो रहे थे। यही कारण है कि ग्यारहवीं शती के पश्चात् रचे गये साहित्य में मिथिला एवं वैशाली का वर्णन बहुत कम आया है। मिथिला और चम्पा का सांस्कृतिक महत्व तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दि के साहित्य मे पाया भी जाता है, पर वैशाली का कहीं भी नहीं। मगध और राजगृह के उल्लेख उत्तर--कालीन साहित्य में भी प्राप्त होतें हैं। इससे यह अनुमान होता है कि राजगिर में जैनधर्म के उपासक न

---

[२१] समराइच्च कहा---भावनगर संस्करण पृष्ठ १३०, २६३, २७६, ६०५, ७२७, ७८१, ९७१।

[२२] मुनिसुव्रत काव्य, जैन सिद्धान्त भवन, आरा संस्करण, सर्ग १ ---श्लोक २३ - ५४

रहे, तो भी बाहर से पहुँचने वाले यात्रियों के कारण राजगिर का महत्त्व बना ही रहा। हाँ उत्तर-बिहार के सम्बन्ध में बारहवीं शताब्दि के पश्चात् रचे गये साहित्य में प्रायः वर्णन नहीं आते।

कवि [२३] अर्हद्दासने (बारहवीं शती का अन्त और तेरहवीं का प्रारम्भ) अपने मुनिसुव्रत काव्य में राजगिर की जिस समृद्धि का चित्रण किया है, वह समृद्धि सातवीं, आठवीं शताब्दि के रूप का चित्रण करती है। यद्यपि कवि अर्हद्दास बिहार के रहने वाले नहीं है, पर उनके द्वारा किया गया नगर, ग्रामादि का वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कवि के इस वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ की राजनैतिक स्थिति अशांत थी तथा विभिन्न धर्मानुयायियों के बीच सौहार्द समाप्त हो रहा था। श्रमण धर्मानुयायी मगध से भी इधर-उधर बिखरने लगे थे। पर धर्मगुरुओं का आना जाना अभी भी चालू था।

विविध तीर्थकल्प अनुमानतः तेरहवीं शती का प्रथम पाद) में वैभारगिरि (राजगिर), मिथिला, चम्पापुर और पाटलिपुत्र को विशिष्ट रूप में जैन तीर्थभूमि की श्रेणी में मान्यता प्रदान की गयी है। इस ग्रन्थ के संकलयिता जिनप्रभसूरि ने मिथिला का बहुत ही ज्वलन्त चित्रण किया है। यहां के केलों के वन, दही, चूड़ा, बन बगीचे आदि यथार्थ रूप में वर्णित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने स्वयं मिथिला का दर्शन करने के पश्चात् ही मिथिला का चित्रण किया है—

सिरिमल्लि-नमिजिणाणं पयउमं पणमिऊ सुरपणयं।
मिहिलामहापुरीए कप्पं जंपेमि लेसेण॥

इहेव भारहेवासे पुव्वदेसे विदेहानाम जणवओ, संपइकाले तीरहुत्तिदेसोत्तिभणइ। जत्थ पइगेहं महुरमंजुल-फलभारोणयाणि कयलीवणाणि दीसन्ति। पहिया य चिविडयाणि दुद्धसिद्धाणि पायसं च भुंजति,पए पए वावीकूवतलाय नईओ अ महुरोदगा, पागयजणा वि सक्कयभासविसारया अणेगसत्थपसत्थ अइ निउणाय जणा। [२३]

उपर्युक्त साहित्यिक प्रकाश में बिहार की पुण्यभूमि का सम्बन्ध जैनधर्म और जैन दर्शन के साथ मध्यकाल मे घनिष्ठ प्रतीत होता है। यहाँ मन्दिर और मूर्त्तियों की प्रतिष्ठाओं के साथ मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग आदि दर्शनों की विस्तृत समीक्षायें अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि में जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। वीर कवि ने जम्बूस्वामिचरित (अपभ्रंश) में मगध देश को स्थिति का विवेचन करते हुए धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति का भी निर्देश किया है। निःसन्देह मध्यकाल में बिहार की भूमि ने जैन लेखकों को साहित्य प्रणयन के लिए प्रेरणा प्रदान की है:—

अत्थि एत्थु धण-कणय-समिद्धउ, मगहदेसु महियलि सुपसिद्धउ।
धम्माचार कुन्तु निवसणु, पंकयनाहु व भारहभूसणु।
विसयसारु वरिणज्जइ हुंतु व कि न सवणिमणमंडल पंतु व।

—संधि १, कडवक ६, १८ तथा द्वितीय संधि

---

[२३] विविधतीर्थकल्प, प्रथम संस्करण, सिंघी सीरिज पृष्ठ ३२।

इस प्रकार मध्यकाल में जैनधर्म और जैन दर्शन की स्थिति हीयमान होती हुई भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पी० सी० रायचौधरी ने अपनी 'Jainism In Bihar' पुस्तक में लिखा है—

'Older Shrines of lhe middleages with numerous Jain images, are also found but they are no longer used for worship. "---Page 94

बिहार की महत्ता के सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ की भूमिका में श्री प्रकाशजी ने लिखा है—

Bihar has been the centre of our ancient history for centuries. It has been the birth Place and has served as a stage for the activities of great heroes in every department of human endeavour-Art, Science literature. Philoshophy, Religion Stetesmanship and war:---Introduction, Paga 11

अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मध्यकाल में जैन उपासकों का विघटन आरम्भ होने पर भी सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से इस प्रदेश का मूल्य-अतुलनीय बना रहा है।

उत्तर कन्नड़ में जैनधर्म

ले०—सिद्धान्ताचार्य पं० के० भुजबली शास्त्री

☐

कर्नाटक राज्य के १६ जिलों में दक्षिण कन्नड़ और उत्तर कन्नड़ के नाम से दो जिले हैं। अंग्रेजों के शासनकाल में इन दो जिलों में से दक्षिण कन्नड़ जिला मद्रास प्रांत में और उत्तर कन्नड़ जिला बम्बई प्रांत में शामिल था। अब भाषा की प्रधानता से राज्यों के विभाजन के उपरान्त दक्षिण कन्नड़ तथा उत्तर कन्नड़, दोनों जिले मैसूर अथवा कर्नाटक राज्य में सम्मिलित हो गये है, क्योंकि इन दोनों जिलों की प्रधान भाषा कन्नड़ है।

अब प्रस्तुत विषय पर आइये। दक्षिण कन्नड जिले की ही तरह उत्तर कन्नड़ जिला भी, एक जमाने में, जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। विद्वानों की राय है कि ई० सन् प्रथम शताब्दी से ही उत्तर कन्नड़ में जैनधर्म समुन्नत दशा में विद्यमान था। उस जमाने में जैनधर्म के साथ बौद्ध धर्म भी अवश्य मौजूद था, पर बौद्ध धर्म की अपेक्षा यहां पर जैनधर्म का विशेष प्रभाव रहा। वस्तुतः जिले की समस्त जनता पर जैनधर्म का प्रभाव पूर्ण रूप से व्याप्त हो, समूचे समुद्र तीर पर जैनधर्म की नींव सुदृढ़ हो गई थी।

खासकर इस जिले मे दशवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक जैनधर्म का ही प्राबल्य रहा। इस जिले का भंकोला ताल्लूक आज जैनअवशेषों से हो भरा पड़ा है। एक निष्पक्ष जैनेतर की राय से गोकर्ण का सुप्रसिद्ध महाबलेश्वर मंदिर मूल में जैन मंदिर ही था। अनेक जैन मंदिर, मठ आदि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के पर्वकाल मे शंकराचार्य एवं मध्वाचार्य के प्रभाव से कर्नाटक के अन्य प्रान्तों की तरह वैदिक धर्म की संस्थायें बन गये। यह मेरा ही विचार नहीं, निष्पक्ष कई जैनेतर विद्वान भी अपने लेखों मे इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर चुके हैं। एक विदेशी विद्वान ने लिखा है, कि इस जिले के बड़े-बड़े जमींदार जैनधर्मावलम्बी ही रहे।

दिवंगत सिलवा महाराय के अनुसार ई० सन् चौथी शताब्दी में हैग लोग इस जिले में आकर बसे। वे शैव थे। उस समय भंकोला, कुमटा आदि ताल्लूकों मे जैनों का विशेष प्राबल्य था, परन्तु ये हैग लोग जैनों के प्रबल विरोधी बन गये। फलतः इन लोगों ने यहाँ पर वैदिक धर्म के केन्द्र एवं विद्यापीठों की स्थापना की। बाद इस जिले में महम्मदीय संस्कृति दृष्टिगोचर होने लगी। यद्यपि

मुसलमानों के शासनकाल के पूर्व ही यहाँ पर अरब के मुसलमान व्यापारिक के रूप में आकर बस गये थे, हाँ, इनकी अपेक्षा मुसलमान धर्म को स्वीकार करने वाले हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक रही। बाहर से आने वाले लोगों में भटकल के नवायत प्रमुख हैं।

कतिपय व्यक्तियों का मत है, कि ये नवायत मूल में जैनधर्मानुयायी ही थे, किन्तु इसके प्रतिकूल अन्य कुछ व्यक्तियों की राय है कि अरब से आये हुए ये मुसलमान यहाँ की जैन स्त्रियों से शादी करके यहीं पर बस गये। जो भी हो, नवायतों में आज भी जैन संस्कार स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। आज भी बहुत से नवायत रात में भोजन नहीं करते और पानी छानकर ही पीते हैं। इन सब बातों पर अनुसंधान की आवश्यकता है, पर जैनों को इन सब बातों से क्या प्रयोजन है?

इस समय उत्तर कन्नड़ जिले में जैन मंदिर निम्न प्रकार विद्यमान हैं—कोकिणि (तालूक भटकल) में पार्श्वनाथ मन्दिर, बैन्दूर (तालूक कुंदापुर) में वर्द्धमान मन्दिर, मंकि (तालूक होन्नावर) में चन्द्रनाथ मन्दिर, हल्दीपुर (तालूक होन्नावर) में वर्द्धमान मन्दिर, कुमटा में पार्श्वनाथ मन्दिर (यह इस समय श्वेताम्बर भाइयों के अधीन है), वालगलि (तालूक कुमटा) में चन्द्रनाथ मन्दिर (यह भी श्वेताम्बरों के अधिकार में है), दुग्गुर (तालूक होन्नावर) में आदिनाथ मन्दिर (श्वेताम्बरों द्वारा अधिकृत), गेरुसोप्पे (तालूक होन्नावर) नेमिनाथ मन्दिर आदि। पूर्व में यहां पर पांच हजार घर थे। पच्चीस हजार की जनसंख्या थी। एक खंडुग सत्तर सेर धान मन्दिर के लिए मिलता रहा।

भटकल में पार्श्वनाथ मंदिर (बड़ा) जो है, यह ई० सन् १५५२ में भैरादेवी सुपुत्री चेन्नभैरादेवी द्वारा प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार यहां का रत्नत्रय मन्दिर जट्टप्प नामक द्वारा प्रतिष्ठित है। भटकल में पूर्व में?७ मन्दिर विराजमान थे। सुना है कि इन सबों को नवायतों ने नष्ट किया है। हाडुहल्लि में इस समय चन्द्रनाथ मन्दिर, पार्श्वनाथ मन्दिर, नेमिनाथ मन्दिर, चतुर्विंशति तीर्थंकर मन्दिर और पद्मावती मन्दिर इस प्रकार पाँच मंदिर विद्यमान हैं। सुना है कि यहां के ६ मन्दिर नष्ट हो गये हैं। सुना है कि पूर्व में यहाँ पर दस हजार की जनसंख्या थी। यह एक बड़ा नगर था। उपर्युक्त मन्दिरों के लिए ८०५ रु० मालगुजारी देने वाली जमीन थी। ई० सन् १६२४ और १६२८ के बीच में सभी जमीन नीलाम हो गयी। खेद की बात है कि जैनों की दृष्टि इस ओर बिल्कुल नहीं गई। पूर्व में यहाँ पर १३ मन्दिर विराजमान थे। यहां के चन्द्रगिरी में चन्द्रनाथ और इन्द्रगिरी में आदिनाथ मन्दिर मौजूद रहे।

विद्वानों का मत है कि ई० सन् चौथी शताब्दी के मध्य भाग में कर्णाटक का प्रथम साम्राज्य कदंबवंशी मयूर वर्मा के द्वारा स्थापित हुआ। यही कर्णाटक का सर्वप्राचीन राजवंश है। आज तक उपलब्ध कन्नड़ शासकों में प्राचीनतम हलभिडि (हासन जिला) के शिला शासन से ज्ञात होता है, कि ई० सन् पाँचवीं शताब्दी के मध्य भाग में उत्तर कन्नड़ कंदबों के हाथों में आ गया था। कदंब शासक जैन धर्म के आश्रयदाता थे, साथ ही साथ उत्तर कन्नड़ जिलान्तर्गत होन्नावर में उपलब्ध सातवीं शताब्दी के एक ताम्र शासन में जैन नाम से साम्य रखने वाले दो नाम भी प्राप्त हुए हैं।

नगिरे के शासक जैनधर्मावलम्बी थे। ई० सन् १४०८ के भटकल के प्राचीनतम एक शासन

में भैरादेवी का पुत्र एवं हाडुहल्लि का शासक महामण्डलेश्वर संगिराय का नाम मिलता है। नगिरे का भैरादेव इसी संगिराय का दामाद था। संगिराय ने श्रवणबेलगोल, चन्द्रगुप्ति और होन्नावर में वैभव पूर्वक जिनपूजोत्सव कराया था। साथ ही साथ मूडबिदिरे के त्रिभुवन तिलक चूडामणि जिनालय के तृतीय निलय को ताम्र-पत्रों से आच्छादित कराया था। इतना ही नहीं उन्होंने उपर्युक्त जिनालय संबन्धी पूजादि निमित्त लगभग एक हजार मन धान का दान भी किया था। संगिराय का काल ई० सन् १४३० रहा।

नगिरे के मल्लिराय का गुणातिशय मूडबिदिरे के एक शासन में विशेषत: प्रशंसित है। उस समय मूडबिदिरे उसी के शासन में था। मल्लिराय जैनधर्म का पक्का श्रद्धालु था। इस वंश के शासक सालुव घराने के थें। भैरादेवी की सुयोग्य सुपुत्री महामण्डलेश्वरी चेन्नादेवी या चेन्न भैरादेवी हाडुहल्लि की प्रथम रानी रही। यह देवरस-ओडेय की सगी बहिन थी। देवरस-ओडेय गुरुराय ओडेय का (ई० सन् १५४०) सर्वाधिकारी था। हाडुहल्लि के सिंहासन पर एक महिला को देखकर धैर्य को प्राप्त पोर्चुगीसों ने इसके राज्य में घुसकर रानी के महल को घेरा। उस समय मृत गुरुराय ओडेय के सेवक वेंकप्प नायक ने पोर्चुगीसों के सैनिकों को महल के दरवाजे पर ही रोककर सबको मार भगाया। भटकल के शासन में चेन्न भैरादेवी की बड़ी प्रशंसा है। इसका काल ई० सन् १५४०-७० है।

श्रमण संस्कृति की वैदिक संस्कृति को देन

डा० दरबारीलाल कोठिया

(रीडर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

□

जिस वर्ग, समाज या राष्ट्र की कला, साहित्य, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, पहनाव ओढ़ाव, धर्म-नीति, व्रत-पर्व आदि प्रवृत्तियाँ जिस विचार और आचार से अनुप्राणित होती हैं या की जाती है, वे उस वर्ग, समाज या राष्ट्र के उस विचार और आचारमूलक मानी जाती हैं। ऐसी प्रवृत्तियाँ ही संस्कृति कही जाती हैं।

भारत एक विशाल देश है। इसके भिन्न-भिन्न भागों में सदा से ही भिन्न-भिन्न विचार और आचार रहे है तथा आज भी ऐसा ही है। इस लिए यहां कभी एक व्यापक और सर्वग्राह्य संस्कृति रही हो, यह संभव नहीं और न ज्ञात ही है। हां, इतना आवश्यक जान पड़ता है कि दूर अतीत में दो संस्कृतियों का प्राधान्य अवश्य रहा है। ये दो संस्कृतियाँ हैं—१ वैदिक और २ श्रमण। वैदिक संस्कृति का आधार वेदानुसारी आचार-विचार है और श्रमण संस्कृति का मूल है पुरुष विशेष का अनुभवाश्रित आचार-विचार। ये दोनों संस्कृतियां जहाँ परस्पर में संघर्षशील रही हैं, वहाँ वे परस्पर में प्रभावित भी होती रहीं एवं अदान-प्रदान करती रही है।

वैदिक संस्कृति

(१) वैदिक संस्कृति वेद को ही सर्वोपरि मानकर उस के अनुयायिओं की सारी प्रवृत्तियाँ तदनुसारी रही हैं। इस संस्कृति में वेद प्रतिपादित यज्ञों का प्राधान्य रहा है और उनमें अनेक प्रकार की हिंसा को विधेय स्वीकार किया गया है। 'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर हिंसा का विधान करके उसे खुल्लम-खुल्ला छूट दे दी गयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर काल में माँस-भक्षण, मद्य-पान और मैथुन-सेवन जैसी निन्द्य प्रवृत्तियाँ भी आ घुसीं और उनमें दोषाभाव का भी प्रतिपादन किया गया। यथा—

'न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥'

इतना ही नहीं, उन्हें जीवों की प्रवृत्ति (स्वभाव) बतला कर उन्हें स्वच्छन्द कर दिया गया है—उन पर कोई नियंत्रण नहीं रखा गया। फलतः उनसे निवृत्ति होना दुःसाध्य है। सोमयज्ञ में एक वर्ष की लाल गाय के हवन का विधान, एक दूसरे यज्ञ में श्वेत बकरे की बलि का निर्देश जैसे सैकड़ों हिंसा प्रतिपादक अनुष्ठानादेश वेदविहित हैं। 'एक हायन्या अरुणागवा सोमं क्रीणाति', 'श्वेतमजमालभेत' आदि।

(२) वैदिक संस्कृति मीमांसक विचार और अनुष्ठान-प्रधान है। अतएव आरम्भ मे इसमे ईश्वर का कोई स्थान न था। क्रिया ही अनुष्ठेय एवं उपास्य है। किसी पुरुष विशेष को उपास्य या ईश्वर मानना इस संस्कृति के लिए इष्ट नहीं है। क्योंकि उसे मानने पर वेद की अपौरुषेयता और प्रामाण्य पर आंच आती है तथा वे खतरे मे पड़ते हैं। इसलिए वैदिक मंत्रों मे केवल, इन्द्र, वरुण जैसे देवताओं का ही आह्वान है। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु जैसे पुरुषावतारी ईश्वर की उपासना इस संस्कृति में आरम्भ मे नहीं रही। वह तो उत्तरकाल मे आयी और उनके उपासना गृहों (मन्दिरों) तथा तीर्थों की सृष्टि हुई।

(३) जहाँ तक समीक्षक मनीषियों का विचार है, यह संस्कृति क्रिया प्रधान है, अध्यात्म प्रधान नहीं। वेदों मे आत्मा का विवेचन अनुपलब्ध है। वह उपनिषदों के माध्यम से इस संस्कृति मे पीछे से आया है। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा है कि विद्या दो प्रकार की है—१. परा और २. अपरा। परा विद्या आत्मविद्या है और अपरा विद्या कर्मकांड है। छान्दोग्योपनिषद् मे आत्मविद्या की प्राप्ति क्षत्रियों से और क्रियाकाण्ड का ज्ञान ब्राह्मणों से बतलाया है। इससे प्रतीत होता है कि उस सुदूर काल में आत्म-विद्या इस संस्कृति में नहीं थी।

(४) वेदों में यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्ति का प्रतिपादन है, मोक्ष या निःश्रेयस का कोई निर्देश या चर्चा नहीं है। उसका प्रतिपादन इस संस्कृति मे पीछे समाविष्ट हुआ है।

(५) वेदों में तप, त्याग, ध्यान, संयम और शम जैसे आध्यात्मिक साधनों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। तत्त्व-ज्ञान का भी प्रतिपादन नहीं है। उनमें केवल 'यजेत् स्वर्गकामः' जैसे निर्देशों द्वारा स्वर्गकामी के लिए यज्ञ का ही विधान है। लौकिकों के लिए खेती आदि का भी प्रतिपादन है। पर मोक्ष का नहीं।

श्रमण-संस्कृति

इसके विपरीत श्रमणसंस्कृति में, जो पुरुष विशेष के अनुभव पर आधृत है और जो आर्हत् संस्कृति या तीर्थंकर संस्कृति के नाम से जानी-पहचानी जाती है, वे सभी बातें पायी जाती हैं, जो वैदिक संस्कृति में आरम्भ में नहीं थीं। यद्यपि जैन और बौद्ध दोनों की संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाता है। पर यथार्थ में आर्हत् संस्कृति ही श्रमण संस्कृति है, क्योंकि उसे समण—सम+उपदेशक

अर्हत् के अनुभव – केवल ज्ञानमूलक माना गया है। दूसरे, महात्मा बुद्ध आरम्भ में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में हुए निर्ग्रन्थ मुनि पिहितास्रव से दीक्षित हुए थे और वर्षों तक तदनुसार दया, समाधि, केशलुंचन, अनशनादि तप इत्यादि प्रवृत्तियों का आचरण करते रहे थे। बाद में निर्ग्रन्थ-तप की कठोरता को सहन न कर सकने के कारण उन्होंने निर्ग्रन्थ मार्ग को छोड़ दिया, समाधि आदि कुशल कर्मों को नहीं त्यागा और बोधि प्राप्त हो जाने के बाद भी उन्होंने निर्ग्रन्थ-संस्कृति के दया, समाधि, आदि का उपदेश दिया तथा वैदिक क्रियाकाण्ड को बिना आत्मज्ञान (तत्त्वज्ञान) के थोथा बतलाया। इसलिए उनकी विचारधारा और आचरण वैदिक संस्कृति के अनुकूल न होने और मात्र ज्ञानमूलक श्रमण संस्कृति के कुछ अनुकूल होने से उसे श्रमण संस्कृति में समाहित कर लिया गया।

१. विदित है कि श्रमणसंस्कृति में हिंसा को कहीं स्थान नहीं है। अहिंसा की ही सर्वत्र प्रतिष्ठा है। न केवल क्रिया में, अपितु वाणी और मानस में भी अहिंसा की अनिवार्यता प्रतिपादित है। आचार्य समन्तभद्र ने इसी से अहिंसा को जगतविदित "परम ब्रह्म" निरूपित किया है—"अहिंसा भूतानां जगति विदितं-ब्रह्मपरमम्", इस अहिंसा का सर्वप्रथम विचार और आचार युग के आदि में भ० ऋषभदेव के द्वारा प्रगट हुआ। वही अहिंसा का विचार और आचार परम्परया मध्यवर्ती तीर्थंकरों द्वारा भ० नेमिनाथ को प्राप्त हुआ। उससे भ० पार्श्वनाथ को और भ० पार्श्वनाथ से तीर्थंकर महावीर को मिला। इसी से उनके शासन को स्वामी समन्तभद्र ने दया, समाधि, दम, त्याग से ओतप्रोत बतलाया है —"दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठं"। इससे यह सहज में समझा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति को अहिंसा की उपलब्धि श्रमण संस्कृति की देन है। युगादि से लेकर अहिंसा का आमूलचूल आचार-विचार उसी का है।

२. श्रमणसंस्कृति की दूसरी देन यह है कि उसने वेद के स्थान में पुरुषविशेष का प्रामाण्य स्थापित किया और उसके अनुभव पर बल दिया। उसने बतलाया कि पुरुषविशेष अकलंक अर्थात् ईश्वर हो सकता है—

> दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
> क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ आ० मी०

अतएव इस संस्कृति में पुरुषविशेष का महत्व आरम्भ से रहा और उन पुरुषविशेषों-तीर्थंकरों की पूजा-उपासना प्रचलित हुई तथा उनकी उपासनार्थ उपासनामन्दिरों एवं तीर्थों का निर्माण हुआ। इसका इतना प्रभाव पड़ा कि अपौरुषेय वेद के अनुयायियों द्वारा भी राम, कृष्ण, शिव, विष्णु जैसे पुरुषावतारी ईश्वर की कल्पना की गयी और उनकी उपासना के लिए सुन्दर मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा तीर्थ भी माने गये।

३. वैदिक संस्कृति जहाँ क्रियाप्रधान है, तत्त्वज्ञान उसमें गौण है, वहाँ श्रमणसंस्कृति तत्त्वज्ञानप्रधान है और क्रिया उसमें गौण है। यह भी इतिहास से प्रकट है कि यह संस्कृति क्षत्रियों की

संस्कृति है, जो उनकी आत्मविद्या से निःसृत हुई। इस संस्कृति के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। अतः वैदिक संस्कृति में जो आत्मविद्या का विचार उपनिषदों के माध्यम से आया और जिसने वेदान्त (वेदों के अन्त) का प्रचार एवं प्रसार किया, वह श्रमण (तीर्थंकर) संस्कृति का ही प्रभाव ज्ञात होता है और इसलिए भारतीय संस्कृति को आत्मविद्या की देन भी श्रमण संस्कृति की विशिस्ट एवं अनुपम देन है।

४. वेदों में स्वर्ग से उत्तम अन्य स्थान नही है। अतः वैदिक संस्कृति मे यज्ञादि करने वाले को स्वर्ग-प्राप्ति का निर्देश है। इसके विपरीत श्रमणसंस्कृति में स्वर्ग को सुख का सर्वोच्च और शाश्वत स्थान न मानकर मोक्ष को माना है। स्वर्ग तो एक प्रकार का ससार ही है, जहाँ से मनुष्य को वापस आना पड़ता है। परन्तु मोक्ष शाश्वत और स्वाभाविक सुख का स्थान है। उसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य परमात्मा हो जाता है और वहाँ से उसे लौटकर आना नही पड़ता। इस तरह मोक्ष या निःश्रेयस की मान्यता श्रमण संस्कृति की है, जिसे उत्तरकाल में वैदिक संस्कृति मे भी अपना लिया गया है।

५. श्रमण संस्कृति मे आत्मा को उपादेय और शरीर, इन्द्रिय तथा भोगों को हेय बतलाया गया है। संसार-बन्धन से मुक्ति पाने के लिए दया (अहिंसा), दम—(इन्द्रिय-निग्रह), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (ध्यान, योग) का निरूपण इस संस्कृति मे किया गया है। ये सब आत्म गुण ही हैं। प्रमाण और नय से तत्व (आत्मा) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का प्रतिपादन भी इसी सस्कृति में है—"**दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय प्रमाण प्रकृताञ्जसार्थम्।**" (युक्त्यनुशासनं)। इससे प्रकट है कि अहिंसा, इन्द्रिय-निग्रह, अपरिग्रह, समाधि और तत्वज्ञान जो वैदिक संस्कृति में आरम्भ में नहीं थे और वेदों में प्रतिपादित हैं, बाद में वे उसमें समाहित हुए हैं। यह श्रमण संस्कृति की भारतीय संस्कृति को अन्यतम देन है।

यदि दोनों संस्कृतियों के मूल का सूक्ष्म अन्वेषण किया जाए तो ऐसे तथ्य उपलब्ध होंगे जो यह सिद्ध करने करने में सक्षम होंगे कि उनमें परस्पर में कितना और क्या आदान-प्रदान हुआ है।

महाकवि असग का वर्धमान चरित

डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य, पी-एच० डी०
सागर (म० प्र०)

□

इस अवसर्पिणीयुग के अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी का पावन चरित लिखकर महाकवि असग ने अपना नाम अजर-अमर कर लिया है। महाकवि के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं १ वर्धमान चरित और २ शान्तिनाथ चरित। वैसे इन्होने ग्रन्थान्त मे दी हुई प्रशस्ति में अपने द्वारा रचित आठ ग्रन्थों की सूचना दी है परन्तु वर्धमान चरित और शान्तिनाथ चरित को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। वर्धमान चरित और शान्तिनाथ चरित सोलापुर से प्रकाशित हो चुके हैं।

शान्तिनाथ चरित की प्रशस्ति के अनुसार महाकवि असग के पिता का नाम पटुमति और माता का नाम वैरेति था। इसी दम्पति के यहाँ असग की उत्पत्ति हुई थी। असग के एक मित्र का नाम जिनाप था जो जैनधर्म में अनुरक्त तथा जैनधर्म के पुराणों में श्रद्धा रखने वाला था। उसी जिनाप की इच्छा पूर्ति के लिये असग ने वर्धमान चरित तथा शान्तिनाथ चरित की रचना की थी। असग ने अपने विद्या गुरू का नाम नागनन्दि आचार्य लिखा है। यह नागनन्दि व्याकरण तथा काव्य के अद्वितीय विद्वान् थे। श्रवणबेलगोल के १०८ वें शिला-लेख से ज्ञात होता है कि नागनन्दि नन्दिसंघ के आचार्य थे। असग ने अपने ग्रन्थों की रचना श्रीनाथ के राज्यकाल में की। इनका भ्रमण क्षेत्र चोल देश रहा है। यह कर्णाटक भाषा के महान् विद्वान थे। संस्कृत भाषा के ऊपर भी आपका अच्छा आधिपत्य था। वर्धमान चरित की प्रशस्ति के अनुसार इनका काल ९१० संवत् है।[1] श्री डॉ० ज्योतिप्रसादजी की सम्मत्यानुसार यह विक्रमसंवत् प्रतीत होता है। यहां महाकवि के वर्धमान चरित पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

वर्धमान चरित में अठारह सर्ग है जिनमें १–१६ सर्ग वर्धमान तीर्थंकर के पूर्वभवों से सम्बद्ध हैं और अन्तिम दो सर्ग वर्तमानभव की वस्तुवर्णनों से सम्बद्ध हैं। पूर्वभवों के वर्णन में कवि ने वर्धमान

---

१ संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते भावादिकीर्तिमुनिनायकपादमूले।
मौद्गल्य पर्वत निवासवनस्थ सम्पत्सच्छ्राविका प्रजनिते सति वा ममत्वे ॥ १०४ ॥ सर्ग १८

स्वामी की अनेक घटनाओं का वर्णन किया है। उन्होने लिखा है कि श्वेतातपत्रा नगरी में राजा नन्दिवर्धन राज्य करते थे। उनकी प्रिया का नाम वीरवती और पुत्र का नाम नन्दन था। एक दिन नन्दन अपने समवयस्क सखाओं के साथ वनक्रीडा के लिये वन में गया। वहाँ मुनिराज के दर्शन कर राजकुमार नन्दन ने अपने आपको कृतार्थ माना। राजा नन्दिवर्धन ने प्रियंकरा कन्या के साथ नन्दन का विवाह किया। युवराज नन्दन राज्य का शासन करता था। एक दिन राजा नन्दिवर्धन आकाश में विलीन होते हुए मेघखण्डको देखकर संसार से विरक्त हो गये। फलस्वरूप वे युवराज नन्दन को राज्यभार सौंप कर दीक्षित हो गये। इधर नन्दन के नन्द नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन वनपाल के द्वारा वन में मुनिराज के पधारने की सूचना पाकर राजा नन्दन सपरिवार मुनिराज के दर्शन करने के लिये वन में गया। कुमार नन्द भी साथ में गया था। कुमार नन्द की सुन्दरता देख नगर की स्त्रियां काम से विह्वल हो गयीं।

वन्दना के उपरान्त राजा नन्दन ने मुनिराज से अपनी भवावली पूछी। मुनिराज ने कहा कि राजन्! इस भव से पूर्व तू नवम भव में सिंह था। एक बार अनेक जीवों का विघात कर जब तू विश्राम करने के लिये गिरि गुहा में शयन कर रहा था, तब चारणऋद्धिधारी एक मुनिराज आकाश मार्ग से नीचे आये तथा तुझे भावी तीर्थंकर जान तेरा कल्याण करने की भावना से प्रज्ञप्ति का पाठ करने लगे। मुनिराज के पुण्यवचन सुनकर सिंह के परिणाम शान्त हो गये और वह विनम्रभाव से मुनिराज के सन्मुख आ बैठा। उसे संबोधित करते हुये मुनिराज ने कहा कि मृगराज! तू किसी समय पुरुरवा नाम का भील था। एक बार एक मुनिराज पुण्डरीक नगर के धनी व्यापारी के साथ तीर्थयात्रार्थ जा रहे थे। डाकुओं ने धनी व्यापारी पर आक्रमण कर उसके संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस संकट के समय मुनिराज मार्ग भूलकर जंगल में फंस गये। परन्तु तूने उन्हें मार्ग बतला कर इष्ट स्थान पर पहुँचा दिया। मुनिराज ने भी तुझे भव्य जान हितकर उपदेश दिया। उसके प्रभाव से पुरुरवा मरकर भरत क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती भरत के मारीच नाम का पुत्र हुआ। मारीच अपने पुण्यकार्यों के प्रभाव से स्वर्ग मे दश सागर की आयु वाला देव हुआ।

मगध देश की राजगृही नगरी में राजा विश्वभूति राज्य करता था। एक बार वह द्वारपाल के जराजर्जरित शरीर को देखकर संसार से विरक्त हो अपने भाई विशाखभूति को राज्य देकर तथा अपने पुत्र विश्वनन्दी को युवराज बनाकर दीक्षित हो गया। युवराज विश्वनन्दी ने एक सुन्दर उपवन का निर्माण कराया। उसे देख विशाखभूति के पुत्र विशाख नन्दी का मन ललचा गया। उसने अपनी माता के माध्यम से पिता के सामने माँग की कि यह उद्यान मुझे मिलना चाहिये। विशाख भूति स्त्री के वाग्जाल में आ गया परन्तु मन्त्रियों के बहुत समझाने पर वह चुप रह गया। उसी समय कामरूप के राजा का प्रतिरोध करने के लिये युवराज विश्वनन्दी बाहर गया। अवसर देख विशाख नन्दी ने उस उद्यान पर अपना अधिकार कर लिया। वापिस आने पर मार्ग में विश्वासपात्र सेवक से जब विश्वनन्दी को यह समाचार अवगत हुआ, तब उसने विशाखनन्दी को युद्ध में परास्त कर अपना उद्यान वापिस छीन लिया। युद्ध की बेला में विशाखनन्दी एक कपित्थ तरु पर चढ़ गया परन्तु

विश्वनन्दी ने अपने बाहुबल से उस कपित्थ तरु को उखाड़ डाला। विश्वनन्दी को जब विशाखनन्दी की अमातुर मुद्रा का स्मरण होता था तब वह हृदय में बहुत दुःख का अनुभव करता था। अन्त में उसने विरक्त हो मुनि-दीक्षा लेली। साथ ही उसके चाचा विशाखभूति भी मुनि बन गये। विशाखनन्दी अपने दुर्गुणों के कारण राजभ्रष्ट हो गया। एक बार वह मथुरा में किसी वेश्या के घर छत पर बैठा था। उसी समय मुनिमुद्राधारी विश्वनन्दी ने नगर में प्रवेश किया। एक गाय के उत्पात से मुनि विश्वनन्दी गिर गये। तब विशाखनन्दी ने उनका उपहास करते हुए कहा—अहो ! तुम्हारा वह बल कहां गया जिसके द्वारा तुमने कपित्थतरु को उखाड़ा था। मुनिराज विश्वनन्दी ने निदानबन्ध कर शरीर का त्याग किया और महाशुक्र स्वर्ग में देव पर्याय प्राप्त की।

इधर विशाखनन्दी मरकर अलकापुरी के राजा नीलकण्ठ की रानी कनकमाला के गर्भ से अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ। अश्वग्रीव प्रतिनारायण था। उसने अनेक विद्याएँ सिद्ध कर अपने राज्य का विस्तार कर लिया। सुरमा देश के पोदनपुर नगर में राजा प्रजापति राज्य करते थे। उनकी दो स्त्रियां थीं—जयावती और मृगावती। विशाखभूति का जीव जयावती के गर्भ से विजय नाम का पुत्र हुआ और विश्वनन्दी का जीव मृगावती के गर्भ से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। ये दोनों ही पुत्र महाबलवान थे तथा परस्पर एक-दूसरे से अत्यन्त स्नेह रखते थे। एक बार त्रिपृष्ठ ने उस समय के एक भयंकर सिंह को अपने बाहुबल से नष्ट कर प्रजा को उसके आतङ्क से बचाया था। जिससे उसकी बहुत ख्याति हुई। इसी प्रसंग में उसने कोटि शिला उठाकर अपने बलवैभव को प्रख्यात किया। त्रिपृष्ठ नारायण और विजय बलभद्र पद के धारक हुए।

विजयार्ध की दक्षिणश्रेणी पर स्थित रथनूपुर नगर का राजा ज्वलनजटी विद्याधर अपनी कन्या स्वयंप्रभा का विवाह त्रिपृष्ठ से करना चाहता था पर अश्वग्रीव यह सहन नहीं कर सकता था, इसलिये ज्वलनजटी अपनी कन्या लेकर पोदनपुर पहुँचा और उसके उद्यान में त्रिपृष्ठ के साथ उसका विवाह कर दिया। जब अश्वग्रीव को इस बात का अवगम हुआ तब उसने अपने विद्याधर सामन्तों को एकत्रित कर उकसाया कि ज्वलनजटी ने अपनी कन्या भूमिगोचरी को देकर विद्याधरों का अपमान किया है। उत्तेजित विद्याधरों को साथ लेकर अश्वग्रीव ने राजा प्रजापति पर आक्रमण कर दिया। जब प्रजापति को यह समाचार मिला तब उसने अपने पुत्रों के साथ मन्त्रशाला में बैठकर बहुत मन्त्रणा की और निश्चय किया कि अश्वग्रीव के इस आक्रमण का सामना किया जाय। दोनों भाई युद्ध की तैयारी में जुट पड़े। अश्वग्रीव के दूत ने राजा प्रजापति की सभा में आकर कहा कि स्वयंप्रभा अश्वग्रीव को सौंप कर आनन्द से जीवन व्यतीत करो। त्रिपृष्ठ ने दूत को करारा उत्तर दिया। अन्त में दोनों ओर से घोर युद्ध हुआ। अश्वग्रीव ने उत्तेजित होकर अपना चक्ररत्न त्रिपृष्ठ पर चलाया पर वह प्रदक्षिणा देकर त्रिपृष्ठ के हाथ में आ गया। त्रिपृष्ठ ने उसी चक्ररत्न से अश्वग्रीव को यमराज का अतिथि बनाया।

तदनन्तर त्रिपृष्ठ, चक्ररत्न को लेकर दिग्विजय के लिये निकला और उसने बड़ी सरलता से

से भरतक्षेत्र की त्रिखण्डवसुधा को अपने अधीन कर लिया। स्वयंप्रभा से त्रिपृष्ठ को दो पुत्र और ज्योति:प्रभा नामक एक पुत्री की प्राप्ति हुई। ज्वलनजटी ने संसार से विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। त्रिपृष्ठ ने स्वयंवर की योजना की जिसमें ज्योति:प्रभा ने अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज के गले में वरमाला डाली। बड़े उल्लासपूर्ण वातावरण में अमिततेज और ज्योति:प्रभा का विवाह हुआ। पुत्री के विदाई के समय त्रिपृष्ठ को मर्मान्तिक व्यथा हुई। आयु के अन्त में त्रिपृष्ठ रौद्रध्यानपूर्वक मरकर सप्तम नरक का नारकी हुआ। वहाँ ३३ सागर तक उसने भयंकर दु:ख भोगे।

त्रिपृष्ठ का जीव नरक से निकल कर विपुल नामक पर्वत पर सिंह हुआ। एक मुनिराज के धर्मोपदेश से प्रभावित होकर सिंह के परिणामों में परिवर्तन हुआ जिससे वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में हरिध्वज देव हुआ। कच्छ देश का विजयार्ध पर्वत अपनी सुन्दरता से अन्य पर्वतों को तिरस्कृत करता है। उसकी दक्षिण दिशा में स्थित एक हेमपुर नाम का नगर है। इसके राजा कनकप्रभ और रानी कनकमाला के वह हरिध्वज देव कनकध्वज नाम पुत्र हुआ। वयस्क होने पर उसका कनकप्रभा के साथ विवाह हुआ। एक दिन कनकप्रभ, कनकध्वज को राज्य देकर मुनि हो गया। कनकध्वज राज्य का पालन करने लगा। एक बार वह सुदर्शन वन में विहार के लिये गया। वहाँ सुव्रत मुनिराज के दर्शन कर उसका हृदय भवभोगों से विरक्त हो गया। उसने दीक्षा धारण कर घोर तप किया, जिसके फलस्वरूप वह कापिष्ठ नामक स्वर्ग में देव हुआ।

अवन्तिदेश की उज्जयिनी नगरी में राजा वज्रसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम सुशीला था। त्रिपृष्ठ का जीव कापिष्ठ स्वर्ग से च्युत होकर इसी राज दम्पति के हरिषेण नाम का पुत्र हुआ। समय पाकर इसने मुनिदीक्षा धारण की और महाशुक्र स्वर्ग में देव पर्याय प्राप्त की।

पूर्व विदेह के कच्छ देश मे राजा धनंजय राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम प्रभावती था। पूर्वोक्त देव महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर इसी राजदम्पति के प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ। धनंजय मुनि दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे। इधर प्रियमित्र की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई जिससे यह चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त हुआ। एक बार चक्रवर्ती प्रियमित्र दर्पण में अपना श्वेत केश देख संसार से विरक्त हो गये। विरक्तचित्त प्रियमित्र ने तात्कालिक तीर्थंकर के समवसरण में जाकर उनकी वन्दना की तथा उनका उपदेश सुना, जिससे प्रभावित होकर उसने प्रिय पुत्र अरिंजय को राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली। अन्त में समाधिमरण कर वह सहस्रार स्वर्ग में सूर्यप्रभ नाम का देव हुआ।

वहाँ से च्युत होकर श्वेतातपत्रा नगरी में नन्दन नाम का राजपुत्र हुआ। एक मुनिराज के मुख से उसने अपने सिंह जन्म से लेकर अब तक की भवावली सुनी जिससे उसका मन भवभ्रमण से भयभीत हो गया। फलस्वरूप उसने धर्मबहुर पुत्र को राज्य देकर तपश्चरण किया और उसके प्रभाव से पुष्पोत्तर विमान में बीससागर की आयु वाला देव हुआ। देव होने के पूर्व उसने मुनि अवस्था में दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था।

इस प्रकार सोलह सर्गों में महाकवि असग ने तीर्थंकर महावीर के पूर्व भवों का विस्तृत वर्णन किया है। इस वर्णन में उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। प्रियमित्र चक्रवर्ती के लिये धर्मोपदेश के रूप में जैन सिद्धान्त का भी अच्छा निरूपण किया है। यह निरूपण तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धि नामक टीका के आधार पर हुआ है।

वर्द्धमान भव का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि पूर्वदेश के कुण्डपुर नामक नगर में राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम प्रियकारिणी था। प्रियकारिणी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे। रानी ने अपने प्राणनाथ राजा सिद्धार्थ से स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर में राजा सिद्धार्थ ने कहा कि तुम्हारी कुक्षि से तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न होगा। स्वप्नों का फल सुनकर प्रियकारिणी का हृदय प्रसन्नता से भर गया। देवाङ्गनायें माता की सेवा करने लगीं। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी की मङ्गल वेला में तीर्थंकर वर्द्धमान का जन्म हुआ। चतुर्णिकाय के देवों ने जन्माभिषेक का उत्सव किया। बालक वर्द्धमान अपनी बाल क्रीड़ाओं से माता-पिता को हर्षविभोर करते हुए बढ़ने लगे।

संजय-विजय नामक चारण ऋद्धिधारी मुनियों की शङ्काओं का समाधान बालक वर्द्धमान के देखने मात्र से हो गया था, इसलिये उन्होंने इनका सन्मति नाम रक्खा। संगम देव ने सर्प का रूप धरकर बालक वर्द्धमान के शक्ति और साहस की परीक्षा की तथा उनका महावीर नाम रक्खा। उन्होंने विवाह नहीं किया और तीस वर्ष की भरी जवानी मे गृह त्याग कर दीक्षा धारण कर ली। उज्जयिनी के अतिमुक्तक नामक वन मे भव नामक रुद्र ने उन पर घोर उपसर्ग किये परन्तु वे ध्यान से विचलित नहीं हुए। फलस्वरूप रुद्र ने उनके वीर और अतिवीर नाम रक्खे।

बारह वर्ष के सघोर तपश्चरण के बाद उन्हें वैसाख शुक्ल दशमी के दिन ऋजुकूला नदी के तट पर जृम्भक गांव के निकट साल-वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। गौतमगोत्री इन्द्रभूति को गणधर पद प्राप्त हुआ और ६६ दिन के अनन्तर विपुलाचल पर्वत पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रथम दिव्यध्वनि हुई। ३० वर्ष तक आर्य देशों मे विहार कर उन्होंने सर्वोदयी धर्म का उपदेश दिया। अन्त में कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के अन्तिम मुहूर्त में पावापुर में निर्वाण को प्राप्त किया।

यह वर्द्धमान चरित की कथावस्तु है। पौराणिक होने पर भी कवि ने इसे काव्य के सांचे में ढालकर इतना सरस बना दिया है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय हर्ष से विभोर हो उठता है। संध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, वन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, पर्वत, समुद्र तथा बसन्त आदि ऋतु चक्र का वर्णन कवि ने इतनी सरस वाणी मे किया है कि वर्णनीय वस्तु का दृश्य दृष्टि के सामने प्रकट हो जाता है। पात्रों का चरित्र चित्रण भी इतनी सावधानी से किया गया है कि उसमें कहीं भी अप्रासङ्गिकता दृष्टिगोचर

नहीं होती। स्त्री पात्र के वर्णन में कवि जहां उसकी शारीरिक सुकुमारता का वर्णन करता है वहां उसके हृदय की कोमलता को भी प्रकट करता चलता है।

रस, काव्य का प्राण है। महाकवि ने प्रधान रूप से शान्त रस का और अङ्ग रूप से प्रायः सभी रसो का वर्णन किया है। त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव के युद्ध मे वीररस का चरम परिपाक दृष्टिगोचर होता है तो पद-पद पर शान्तरस की सरस धारा प्रवाहित होती दिखती है। काव्य की विच्छित्ति को बढ़ाने के लिये अलंकार की पुट महाकाव्य मे आवश्यक रहती है। महाकवि असग ने भी वर्द्धमान चरित के प्रत्येक सर्ग मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रान्तिमान्, परिसंख्या, श्लेष, अतिशयोक्ति तथा अपन्हुति आदि का उपयोग किया है। प्रायः सभी प्रसिद्ध अलकारों का चमत्कार इस काव्य में पाया जाता है।

छन्दों की रसानुगुणता इस काव्य मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। अनुष्टुप, वसन्ततिलका, वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, वियोगिनी तथा मालभारिणी आदि प्रायः सभी प्रसिद्ध छन्दों का इसमे आश्रय लिया गया है।

रस के अनुकूल रीतियो का आश्रय भी यथास्थान सुशोभित हो रहा है। भाषा का प्रवाह इतना सुन्दर है कि उसे देखकर लगता है कि कवि को रसानुकूल शब्दो के चयन मे रञ्चमात्र भी कठिनाई नही हुई है। उसके हृदय मे शब्दो का अगाध भण्डार भरा हुआ है और उन्हे वह स्वेच्छा से प्रकट करता जा रहा है।

इस महाकाव्य मे सुभाषितो का संग्रह इतना अधिक है कि यदि उन्हें अलग से संगृहीत किया जाय तो 'सुभाषित संग्रह' नाम की एक छोटी-मोटी पुस्तक ही बन जाय। राजनीति का विस्तार भी काव्य में पर्याप्त मात्रा मे हुआ है और उसे देखकर लगता है कि कवि, भारवि के किरातार्जुनीय से अत्यधिक प्रभावित है।

इस काव्य का हिन्दी टीका सहित एक सुन्दर संस्करण ब्र० जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से मेरे संपादकत्व मे प्रकाशित हो रहा है। उसकी प्रस्तावना में मैंने सन्दर्भ विषयों के उद्धरण तथा तुलनात्मक टिप्पणी देकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में उसका प्रकाशन हो रहा है। जिज्ञासुजन उससे अपनी आशङ्का की पूर्ति करेंगे ऐसी आशा है।

 श्री भा० महावीरकीर्ति

जैन संस्कृति के प्रतीक मौर्यकालीन कतिपय अभिलेख

स्व० डा० पुष्यमित्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०,

(उप निदेशक, जैन साहित्य शोध संस्थान, आगरा ३/२७४, रोशन मोहल्ला, आगरा)

□

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य भारत के सर्वप्रथम सम्राट थे। वह जैनधर्म के अनुयायी थे—यह बात ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी प्रमाणित हो चुकी है। इनके पश्चात् इस वंश में बिन्दुसार, अशोक, सम्प्रति आदि प्रतापशाली सम्राट हुए। इनमें से बिन्दुसार और सम्प्रति तो आरम्भ से अन्त तक जैनधर्म के अनुयायी रहे। परन्तु कलिंग युद्ध[1] तक जैनधर्म में आस्था रखने के पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। राजतरंगिणी में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अशोक जैनधर्म का अनुयायी था। उसने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया तथा वितस्तात्रपुर के धर्मारण्य विहार में एक बहुत ऊँचा जिन-मंदिर बनवाया[2]। मौर्य सम्राटों ने शिला-खण्डों पर अनेक अभिलेख उत्कीर्ण कराये। इनका ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्व है।

सारनाथ स्तम्भ:-

इस स्तम्भ के शीर्ष भाग में सिंह चतुष्टय पर धर्म-चक्र स्थापित था। ये दोनों सारनाथ के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके सम्बन्ध में इतिहासकारों का अभिमत है कि यहाँ (सारनाथ) पर भगवान बुद्ध ने अपना सर्वप्रथम धर्मोपदेश देकर पाँच व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया और इस प्रकार धर्म-चक्र प्रवर्तन का कार्य आरम्भ किया[3]। अतः सिंह चतुष्टय पर स्थापित धर्म-चक्र उसी स्मृति का प्रतीक है। परन्तु यह तर्क युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि गिरनार त्रयोदश अभिलेख में भगवान

---

१. कलिंग युद्ध राज्याभिषेक के आठवें वर्ष हुआ था।

२. राजतरंगिणी पृष्ठ ८

३. डा० राजबलि पाण्डे कृत अशोक-अभिलेख पृष्ठ १३

बुद्ध को हस्ति के रूप में स्मरण किया गया है[४]। यदि सारनाथ स्तम्भ का धर्म-चक्र[५] भगवान बुद्ध के धर्म-चक्र प्रवर्तन की स्मृति में निर्मित कराया गया होता, तो इसे सिंह चतुष्टय के बजाय हस्ति अथवा हस्ति चतुष्टय पर स्थापित किया जाता। अतः प्रतीत होता है कि इसका निर्माण धर्म-चक्र प्रवर्तन की स्मृति में नहीं कराया गया।

वास्तविकता यह है कि जैन मान्यताओं के अनुसार भगवान महावीर का चिन्ह 'सिंह' है और केवलज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर चतुर्मुखी प्रतीत होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त जब वे विहार करते हैं तो धर्म-चक्र उनके आगे-आगे चलता है। प्राचीन और मध्यकालीन युग में जैनियों में धर्म-चक्र निर्माण की भी परम्परा थी। अतः सारनाथ का सिंह चतुष्टय और धर्म-चक्र भगवान महावीर के धर्म प्रचारार्थ विहार का स्मरण दिलाते हैं। साँची के सिंह चतुष्टय पर धर्म चक्र नहीं है। वह उनके (महावीर) समवशरण में विराजमान होने का प्रतीक है। पाटलिपुत्र के खनन कार्य में वृषभ चतुष्टय प्राप्त हुआ है। यह मानस्तम्भ का शीर्ष भाग है जो कि भगवान ऋषभदेव की स्मृति में निर्मित प्रतीत होता है। गिरनार चतुर्दश अभिलेख में भगवान बुद्ध का स्मरण हस्ति के रूप में हुआ है। इसी आधार पर वृषभ चतुष्टय और सिंह चतुष्टय क्रमशः भगवान ऋषभदेव, और भगवान महावीर के द्योतक हैं। अतः महावीर से सम्बन्धित होने के कारण यह स्तम्भ जैन संस्कृति का प्रतीक है। जहाँ तक इसके अभिलेख का प्रश्न है, वह जैन और बौद्ध दोनों पर समान रूप से लागू होता है:—

ग्यारह लघु-अभिलेख:—

गुर्जरा, मास्की, रूपनाथ, सहसराम, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, एर्रगुडि, गोविमठ, अहरौरा, बैराट तथा जटिंग रामेश्वर— इन ग्यारह अभिलेखों का प्रमुख विषय यह है, "ढाई वर्ष और कुछ अधिक समय हुआ, मैं प्रकाश रूप में उपासक था। परन्तु मैंने अधिक पराक्रम नहीं किया। एक वर्ष और कुछ

---

[४] डा० राजबलि पाण्डे कृत अशोक-अभिलेख पृष्ठ २१-तक श्वेत हस्ति-शिला का कल्याण करें। श्वेत हस्ति बुद्ध का प्रतीक है।

[५] सारनाथ के धर्म-चक्र में २४ आरे २४ तीर्थंकरों के प्रतीक हैं, क्योंकि गौतम बुद्ध के अतिरिक्त बुद्ध वंश की अट्ठ कथा में २७ बुद्धों का उल्लेख है जो इस प्रकार है—(१) तण्हंकरो (२) मेधंकरो (३) सरणंकरो (४) दीपंकरो (५) कोण्डञ्ञ (६) मंगलो (७) सुमनो (८) रेवतो (९) सोभितो (१० अनोमदस्सी (११) पदुमो (१२) नारदो (१३) पदुमुत्तरो (१४) सुमेधो (१५) सुजातो (१६) पियदस्सी (१७) अत्थदस्सी (१८) धम्मदस्सी (१९) सिद्धत्थ (२०) तिस्स (२१) फुस्स (२२) विपस्सी (२३) सिखी (२४) वेस्सभू (२५) ककुसंध (२६) कोणागमन (२७) [illegible] पृष्ठ १६) यदि धर्म-चक्र बौद्ध-धर्म का प्रतीक होता, तो इस पर बुद्धों की संख्या के अनुसार २८ आरे होते।

धर्माचरण से जम्बूद्वीप को ऐसा पवित्र बना दिया कि यह देवलोक सदृश हो गया और देव तथा मानव का अन्तर मिट गया।"[10] परन्तु यह भी युक्ति संगत नही है क्योंकि डेढ़ वर्ष के पराक्रम से अशोक ने जम्बूद्वीप को देवलोक सदृश बनाकर देव और मानव का अन्तर समाप्त कर दिया—यह बात हृदयग्राही नही है।

अब प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त वाक्य का वास्तविक तात्पर्य क्या है ? 'अमिश्र' को आमिष पढ़ने पर अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है अर्थात् जम्बूद्वीप में जिन देवताओं पर पशु-बलि दी जाती थी, अशोक द्वारा अहिंसा प्रचार से वह बन्द हो गई और उसके स्थान पर देवताओं की मिष्ठान्न, घृत, नारियल, फल, फूल आदि की बलि दी जाने लगी। वास्तव मे धर्म के नाम पर पशु बलि[11] ही उस युग की सबसे बड़ी समस्या थी जिसका अशोक ने अहिंसा प्रचार से समाधान किया। इसी तथ्य की ओर इन अभिलेखो मे संकेत किया गया है। इस कार्य मे अशोक को जो सफलता मिली, वह कोई आश्चर्यजनक अथवा अनहोनी बात नही थी। भारतीय वाङ्मय मे इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते है। काश्मीर के राजा मेघवाहन ने भी अहिंसा धर्म का प्रचार किया था और परिणामस्वरूप पशु-बलि के स्थान पर पिष्ठ-पशु (आटे के पशु) और घृत-पशु से काम लिया जाने लगा[12]। दसवी शताब्दी मे विरचित यशस्तिलक चम्पू से भी विदित होता है कि महाराजा यशोधर ने अपनी माता के आग्रह पर आटे के मुर्गे की बलि दी थी।

इन अभिलेखों के सम्बन्ध मे विद्वानों का मत है कि अशोक ने इन्हें राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष अर्थात् २७२—१२=२६० ई० पू० मे उत्कीर्ण कराया था। ये ढाई वर्ष और डेढ वर्ष की गणना कलिंग विजय से करते है। परन्तु ऐसा करना न्यायसंगत नही है क्योकि अभिलेखो में १२ वें, १३ वें, १९ वें, २० वें, २६ वें वर्ष आदि का भी उल्लेख है। इनकी गणना राज्याभिषेक से की जाती है। इसी आधार पर ढाई और डेढ वर्ष की गणना भी की जानी चाहिए। कलिंग विजय से गणना का कोई औचित्य नही है। राज्याभिषेक से गणना करते पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने इन अभिलेखो को उस समय उत्कीर्ण कराया था जब वह जैनधर्म का अनुयायी था। अतः ये अभिलेख जैन संस्कृति के प्रतीक है।

देवानां प्रिय

शंका:—इन सभी अभिलेखों में 'देवानां प्रिय' का उल्लेख है। और यह बौद्ध साहित्य

---

[10] डा० राजबलि पाण्डे कृत अशोक-अभिलेख पृष्ठ ११२

[11] बलि का अर्थ भेंट है।

[12] राजतरंगिणी पृष्ठ ३८

अथवा संस्कृति की देन है, क्योंकि वैदिक साहित्य मे तो इसका अर्थ मूर्ख है। अतः यह बात समझ में नही आती कि जैन होते हुए अशोक ने इस शब्द का प्रयोग अभिलेखों में क्यो किया।

समाधान:—'देवानांप्रिय'—यह शब्द केवल बौद्ध साहित्य की ही देन नही है, जैन साहित्य मे भी इस आदरसूचक शब्द का प्रयोग साधारण जनता से लेकर राजा-महाराजाओं तक के लिये मिलता है। उदाहरणार्थ महाराज सिद्धार्थ अपनी रानी त्रिशला को 'देवाणुप्पिया' और सभासदों को 'देवाणुप्पिए' कहकर सम्बोधित करते हैं। ऋषभ ब्राह्मण भी अपनी पत्नी देवानन्दा के लिए 'देवाणुप्पिया' का प्रयोग करता है। वीर निर्वाण सम्वत १२०६ मे विरचित पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने गौतमगणधर द्वारा महाराजा श्रेणिक को 'देवानांप्रिय'—इस आदर सूचक शब्द से सम्बोधित कराया है। इस प्रकार अति प्राचीन काल मे विक्रम की आठवी शताब्दी तक जैन साहित्य में इस आदर सूचक शब्द का प्रयोग मिलता है[13]। अतः इसे केवल बौद्ध साहित्य की ही देन कहना भ्रम है। अशोक द्वारा अभिलेखों मे इसका प्रयोग जैन संस्कृति के अनुकूल ही है।

चतुर्दश अभिलेखः—

गिरनार, कालसी, शहबाजगढी, मानसेहरा, धौली तथा जौगाड़ा मे से प्रत्येक जगह एक-एक शिला खण्ड पर चतुर्दश अभिलेख उत्कीर्ण है। धौली और जौगाडा के शिला-खण्डो पर एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश अभिलेख नही है। इनके स्थान पर दो पृथक-पृथक अभिलेख है। परन्तु इन समस्त शिलाखण्डो के अभिलेखो मे विषय की दृष्टि से एकरूपता है। अर्थात् गिरनार के प्रथम अभिलेख का जो विषय है वही शेष पाचो शिला खण्डों का भी है। यही बात अन्य अभिलेखो पर भी चरितार्थ होती है।

इनमें से प्रथम चार अभिलेख राज्याभिषेक के बारहवे वर्ष उत्कीर्ण कराये गये थे। कलिंग विजय से सम्बन्धित अभिलेख १३ वां है। यदि इन समस्त अभिलेखो का निर्माता अशोक होता, तो महत्व तथा काल—चक्र की दृष्टि से कलिंग विजय अभिलेख को प्रथम स्थान मिलता। परन्तु इस अभिलेख का १३ वां स्थान होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम बारह अभिलेखो के निर्माता अशोक के पूर्वज है। इनमे से कुछ अभिलेखो का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनका अशोक की अपेक्षा उसके पूर्वजों से कहीं अधिक सम्बन्ध है।

प्रथम अभिलेख में यज्ञो में पशु-बलि, हिंसात्मक उत्सवों तथा राजकीय पाकशाला हेतु पशु-वध का निषेध है। पशु-बलि तथा हिंसात्मक उत्सवों की तो जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मों मे समान रूप से निन्दा की गई है। परन्तु बौद्ध धर्म में मांस भक्षण का निषेध नहीं है[14]। स्वयं भगवान बुद्ध का

---

[13] कल्प सूत्र पृष्ठ १३५ व १३६

[14] एक समय देवदत्त ने भगवान बुद्ध से पांच बातें—(१) सभी भिक्षुक आजीवन आरण्य

शरीरान्त भी मांस-भक्षण के कारण ही हुआ था। इसके विपरीत जैनधर्म में मांस-भक्षण की घोर निन्दा करते हुए मांस-भक्षी को नरकगामी की संज्ञा दी गई है। अशोक के पूर्वज चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैनधर्म के अनुयायी होने से मांस-भक्षण के विरोधी थे। इसकी पुष्टि 'अरेमाई' अभिलेख से होती है। इसमें लिखा है "राजा जीवधारियों को मारकर खाने में परहेज करता है। विद्वान पुरालिपि शास्त्र के आधार पर इस अभिलेख को तृतीय शताब्दी ई० पू० पूर्वार्द्ध के अर्थात् चन्द्रगुप्त अथवा बिन्दुसार के समय का मानते हैं"[१५]।

चाणक्य, साम्राज्य का महामंत्री तथा चन्द्रगुप्त का गुरु भी था। वह भी अहिंसा धर्म में आस्था रखता था[१६] तथा मृगया[१७] और मांस-भक्षण[१८] का विरोधी था। अतः सम्राट तथा महामंत्री द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय के पश्चात् हिंसात्मक उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा राजकीय पाकशाला निमित्त पशुओं के वध को रोक देना कोई अस्वाभाविक अथवा असाधारण बात नहीं थी। इसके विपरीत बौद्ध धर्मानुयायी अशोक द्वारा मांस-भक्षण निषेध आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, क्योंकि बौद्ध-धर्म में मांस-भक्षण का निषेध नहीं है। स्वयं भगवान बुद्ध भी मांस भक्षी थे। यही कारण है कि विश्व के समस्त बौद्ध धर्मानुयायी मांस-भक्षण करते हैं। अतः यह अभिलेख अशोक के पूर्वजों से ही सम्बन्धित है।

चतुर्थ अभिलेख का प्रमुख विषय हस्ति-दर्शन, विमान दर्शन, अग्नि स्कन्ध दर्शन तथा अन्य दिव्य प्रदर्शनों द्वारा जनता में धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करना है। परन्तु इसकी भी बौद्ध धर्म के साथ संगति ठीक नहीं बैठती, क्योंकि भगवान बुद्ध का प्रतीक होने से हस्ति दर्शन के अतिरिक्त अन्य प्रदर्शनों का बौद्ध धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत इन समस्त दिव्य प्रदर्शनों का जैनधर्म से सीधा सम्बन्ध है। धर्म के अन्तिम तीर्थंकर की माता को १६ स्वप्न आते हैं। इनमें हस्ति, विमान तथा अग्नि स्कन्ध भी हैं। श्वेताम्बर जैन मंदिरों में धातु के बने हुए इन स्वप्नों का पर्यूषण पर्व तथा अन्य धार्मिक उत्सवों में प्रदर्शन भी किया जाता है। अतः इस अभिलेख का निर्माता जैन धर्मानुयायी ही होना चाहिए क्योंकि इन दिव्य प्रदर्शनों का बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैनधर्म से सीधा सम्बन्ध है।

वाली हों। (२) घर में न रहें (३) पंसुकूलिक (गुदड़ीधारी) (४) पिण्डपातिक (भिक्षा पर ही जीवित रहना) तथा (५) शाकाहारी (अमांस भोजी) स्वीकार करने की प्रार्थना की। परन्तु बुद्ध ने इन्हें स्वीकार नहीं किया (भारतीय प्राचीन...... पृष्ठ १८६)। इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध-संघ मांस-भक्षी था और बौद्ध धर्म में मांस भक्षण का निषेध नहीं है।

१५ डा० राजबलि पाण्डे कृत अशोक के अभिलेख पृष्ठ १६२
१६ चाणक्य प्रणीत सूत्र ५९१ कौटिल्य अर्थशास्त्र पृष्ठ ६८२
१७ वही " ७२ " ६५३
१८ वही " ५७१ " ६८२

इस अभिलेख में इस बात का भी उल्लेख है, "सैकड़ों वर्षों से कहीं अधिक समय से श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार हो रहा था। देवानां प्रियदर्शी के धर्मानुशासन में उनके प्रति उचित व्यवहार में वृध्दि हुई है।" इसका भी अशोक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अशोक के पूर्वज चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैन धर्मानुयायी थे और चाणक्य ब्राह्मण चन्द्रगुप्त का महामंत्री था। अतः इनके राज्य में श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त से पूर्व मगध में १५० वर्ष तक नन्दों का राज्य रहा। नन्द राजा शूद्र और अत्याचारी थे। महापद्मनन्द ने तो चाणक्य का अपमान भी किया था। अतः इनके राज्य में श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार होना कोई अनहोनी बात नहीं थी। चन्द्रगुप्त के सम्राट होते ही स्थिति में परिवर्तन हुआ और परिणाम स्वरूप श्रमणों और ब्राह्मणो के प्रति उचित व्यवहार में वृध्दि हुई। इस प्रकार यह अभिलेख अशोक के पूर्वजों से ही सम्बन्धित है।

पंचम अभिलेख मे धर्म-वृद्धि हेतु भाई-बहिनो तथा सम्बन्धियों के अन्तःपुर जादू-टोना करने वाली स्त्रियों, दुखीजनो, राज्यकर्मचारियों आदि के बीच धर्ममहामात्र नियुक्त करने का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार राज्याभिषेक से पूर्व ही अशोक ने अपने समस्त भाई-बहिनों का वध करा डाला था। अतः भाई-बहिनों के यहाँ धर्ममहामात्र नियुक्त करने वाला अभिलेख अशोक का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अशोक ने लंका में अपने पुत्र और पुत्री को भिक्षुक और भिक्षुणी बनाकर तथा अन्य भिक्षुकों को तिब्बत आदि देशों में धर्म-प्रचारार्थ भेजा था। यह बात समझ में नहीं आती कि भारत में ही यह कार्य भिक्षुकों से न कराकर धर्ममहामात्रों से क्यों कराया गया? जबकि यह बात सर्वविदित है कि गृहत्यागी और निर्लिप्त भिक्षुकों का धर्म के मामलों में जनता पर जितना अधिक प्रभाव पड़ता है, उसका शतांश भी वेतनभोगी धर्ममहामात्रों का नहीं पड़ सकता। वास्तविकता यह है कि ये धर्ममहामात्र और कोई नहीं, वरन गुप्तचर थे जिन्हें चाणक्य के परामर्श से नियुक्त किया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस प्रकार की चर व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख है[११]।

द्वितीय, तृतीय तथा छठवें से बारहवें अभिलेखों का विषय लोकोपकारी कार्य, प्रतिवेदन, दान तथा धर्ममहिमा आदि से सम्बन्धित है। इनका सम्बन्ध किसी के साथ भी जोड़ा जा सकता है। परन्तु त्रयोदश अभिलेख अशोक का है। और महत्व तथा काल-चक्र की दृष्टि से यह उसका प्रथम अभिलेख ही हो सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इससे पहले के बारह अभिलेख अशोक के पूर्वजों के ही हैं।

प्रियदर्शी

शंका:—रूपनाथ आदि ग्यारह अभिलेखों के आधार पर प्रियदर्शी अशोक का उपनाम है।

---

[११] कौटिल्य अर्थशास्त्र पृष्ठ ३६-४०

उपर्युक्त बारह अभिलेखों में भी प्रियदर्शी का उल्लेख है। अतः समस्त चतुर्दश अभिलेख अशोक के ही होने चाहिए ?

समाधान:—प्रियदर्शी अशोक का उपनाम नहीं था। यदि ऐसा होता, तो गुर्जरा और मास्की अभिलेखों में अशोक के साथ प्रियदर्शी का भी उल्लेख होता। सुदर्शनझील (गिरनार) के अभिलेख से विदित होता है कि अशोक के समय में इसका जीर्णोद्धार तुष्य नामक राजकर्मचारी ने कराया था। अशोक के पश्चात् यह कार्य प्रियदर्शी द्वारा कराया गया। इससे स्पष्ट है कि अशोक के उत्तराधिकारी भी प्रियदर्शी कहलाते थे। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है अरेमाई अभिलेख चन्द्रगुप्त अथवा बिन्दुसार के समय का है। इनमें भी प्रियदर्शी का उल्लेख है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि अशोक के पूर्वज भी प्रियदर्शी कहलाते थे। दूसरे शब्दों में सभी मौर्य सम्राटों के लिए प्रियदर्शी का प्रयोग होता था।

भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जिन व्यक्तियों के दर्शन से सुखानुभूति होती थी, उनके लिये प्रियदर्शी का प्रयोग होता था। उदाहरणार्थ अशोकवाटिका मे रावण सीता को 'प्रियदर्शने' कहकर सम्बोधित करता है। मथुरा में माली श्रीकृष्ण और बलदेव के के लिए 'प्रियदर्शी' का प्रयोग करता है। निमित्तज्ञानी भी महाराजा सिद्धार्थ से कहते हैं "तुम्हारा पुत्र "प्रियदर्शी" होगा। भारतीय परम्परा के अनुसार राजाओं-महाराजाओ का दर्शन कल्याणकारी तथा सुखदायक समझा जाता था। सम्भव है इसी आधार पर जनता द्वारा मौर्य सम्राटो के लिए 'प्रियदर्शी' का प्रयोग होता हो, क्योंकि भारत मे सर्वप्रथम साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय इसी वंश को था। अतः प्रियदर्शी के कारण सभी अभिलेखों को अशोक का मान लेना न्यायसंगत नही है।

नोट:—राजतरंगिणी के अध्ययन से विदित होता है कि जितने महात्मा अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों से मुक्त हो चुके हैं ये सभी बौद्ध कहलाते थे। "ये जन्तवो गतक्लेशा बौद्ध सत्वानवेहि तान्" ॥ (१३८११ पृष्ठ १०) परन्तु अब 'बोधिसत्व' शब्द भगवान बुद्ध के लिए ही रूढ़ हो गया है। इस आधार पर बहुत सी जैन कलाकृतियों को बौद्ध की संज्ञा दे दी गई। भक्तामर स्तोत्र में लिखा है "बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धि बोधात्" अर्थात् हे भगवान आप बुद्ध अर्थात् ज्ञानी हैं। यहाँ पर 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग ज्ञानी के लिए हुआ है। गौतम भी ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही बुद्ध कहलाये थे। इससे भी विदित होता है कि बुद्ध का अर्थ ज्ञानी है। अहरौरा अभिलेख में लिखा है कि रात्रि के समय बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया।" यहाँ बुद्ध का प्रयोग भगवान महावीर के लिए हुआ है, क्योंकि उन्होंने ही कार्तिक की अमावस्या कीरात्रि को मोक्ष प्राप्त किया था जबकि भगवान बुद्ध का निर्वाण दिन में हुआ था। देवताओं और मनुष्यों द्वारा भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव दीपकों के प्रकाश द्वारा मनाने का भी यही अभिप्राय था कि जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर दीपक से काम लिया जाता है, उसी प्रकार वास्तविक ज्ञानरूपी सूर्य (भगवान महावीर) के अभाव की पूर्ति उनके दीपक रूपी गणधरों अथवा अन्य शिष्यों से की जाय। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि बुद्ध शब्द का प्रयोग भगवान महावीर के लिए भी होता था।

आगरा का हिन्दी जैन साहित्य

(१६ वीं से १८ वीं शताब्दी)

नरेन्द्रप्रकाश जैन एम० ए०

□

"साहित्यकारों का साम्प्रदायिक आधार पर वर्गीकरण करना शायद जाति-विशेष के लिए गौरव की बात हो, साहित्यकार के लिए नहीं। जो साहित्यकार है, चाहे जहां का भी हो, उसकी तो जाति एक ही है और वह है—मानव-जाति"—इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत लेख लिखा गया है। आशा है कि पाठकवृन्द इसे इसी रूप में स्वीकार करेंगे।

— लेखक

आगरा उत्तरप्रदेश का एक प्रमुख नगर है। हिन्दी साहित्य के निर्माण मे इसका बहुत-कुछ हाथ रहा है। यहाँ साहित्यकारों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। रहीम, गंग, सूर, सूरति मिश्र, बोधा प्रभृत्ति अनेक जैनेतर कवियो की रचनायें यहाँ के हिन्दी साहित्य को पवित्र करती रही है। अनेक जैन कवियों की क्रीडा-भूमि रहने का सौभाग्य भी इसे प्राप्त है। भैया भगवतीदास, भूधर, द्यानत, बनारसी आदि अनेक जैन कवियों की लेखनी से लिखा गया साहित्य काव्य-कौशल, उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार-छटा आदि सभी दृष्टियों से पूर्णतया समृद्ध है। अध्यात्मवाद का जैसा सुन्दर पुट जैन साहित्य मे है, वैसा अन्यत्र नही मिलता किन्तु इतना सब कुछ होते हुये भी, खेद है कि उसकी सर्वथा उपेक्षा की गई है व की जाती है।

कविवर द्यानतराय ने सं० १७८० मे 'धर्मविलास' नाम की पुस्तक मे लिखा था कि :—

"इधे कोट उधें बाग जमना बहै है बीच,
पच्छिम सों पूरब लौं असीम प्रवाह सौं।
अरमनी कसमीरी गुजराती मारवारी,
नरों सेती जामें बहु देस बसें चाह सौं॥
रूपचन्द, बानारसी, चन्दजी, भगौतीदास,
जहां भले-भले कवि 'द्यानत' उछाह सौं।
ऐसे आगरा की हम कौन भाँति सोभा कहैं,
बड़ी धर्मथानक है देखिए निगाह सौं॥"

वास्तव में आगरा में अनेक जैन कवि हुए हैं, जिन्होंने अपने जन्म से इस भूमि को पवित्र किया है। उनकी कलित पदावलियां व काव्य-संग्रह आज भी हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियां हैं।

पाण्डेय रूपचन्दजी

आप आगरा के रहने वाले थे और हिन्दी साहित्य के प्रथम आत्मकथा-लेखक महाकवि बनारसीदासजी के गुरु थे। आप अपने समय के एक जाने-माने हुए कवि और विद्वान थे। आपने 'परमार्थी दोहा शतक', 'गीत-परमार्थी' एवं 'मंगल गीत प्रबन्ध' नामक ग्रन्थ बनाये हैं। रचित ग्रन्थों की प्रत्येक पंक्ति में आपका आध्यात्मिक पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। 'परमार्थी दोहा शतक' आपकी उच्च श्रेणी की रचना है। शैली में मिठास और भाषा में प्रवाह है। एक उदाहरण देखिए —

"चेतन चित् परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछू न हत्थ॥
चेतन सौं परिचय नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि बिहूनें खेत की, वृथा बनावत वारि॥
बिना तत्त्व-परिचय लगत, अपर भाव अभिराम।
ताम और रस रुचत हैं, अमृत न चाख्यौ जाम॥
भ्रम तैं भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट मांहि।
विसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखे घर मांहि॥"

'गीत–परमार्थी' आजकल अप्राप्य है। हां, श्री नाथूराम 'प्रेमी' को आपके कुछ फुटकर गीत मिले हैं, जो पूर्णतः आध्यात्मिक हैं। 'मंगल गीत प्रबन्ध' पंच मंगलों के नाम से जैन समाज में सर्वप्रिय हैं। जिनेन्द्रोपासना के समय वह प्रतिदिन प्रत्येक मन्दिर में पढ़े जाते हैं। 'समयसार' पर आपने टीका भी लिखी है।

कवि–शिरोमणि बनारसीदासजी

महाकवि बनारसीदास कवि-कुल-शिरोमणि सन्त तुलसीदासजी के समकालीन थे। आप सम्पूर्ण हिन्दी जैन–साहित्य के एक अद्वितीय कवि थे। आपका जन्म यद्यपि एक धनी परिवार में हुआ था किन्तु धन के लिए आप जीवनभर दौड़-धूप करते रहे, फिर भी कष्टों से मुक्त नहीं हुए। डा० सत्येन्द्र लिखते हैं—"इस कवि ने कई वर्ष आगरा में बिताये और यहां उन्होंने कई ग्रन्थ रचे। वे अपनी रचना के द्वारा मोतीकटरा और आगरा के एक कचौड़ीवाले को अमर कर गये हैं। यह कचौड़ीवाला महीनों इन्हें पेटभर कचौड़ी खिलाता रहा था। बनारसीदास को इस धनाभाव में इस प्रकार सहायता पहुँचाने वाला यह कचौड़ीवाला साहित्यिकों की श्रद्धाञ्जलि का पात्र है।"

आपने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु उन सबकी अपेक्षा आपका नाम उस ऐतिहासिक कृति के कारण अमर है, जो आत्मकथा-साहित्य में सबसे पहली रचना है। इसका नाम है—'अर्धकथानक'। इसमें कवि ने अपने जन्म से लेकर अपने जीवन की एक दीर्घ कहानी लिखी है, जो रोचक, उपदेशप्रद और ऐतिहासिक महत्व की है। श्रद्धेय डा० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसे कवि की अपूर्व रचना बताया है। आपके कुल ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार है—

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	विषय	रचना-काल	स्थान
१	नाम-माला	शब्द-कोष	सं० १६७०	जौनपुर
२	नाटक समयसार	अध्यात्म	सं० १६९३	आगरा
३	अर्धकथानक	आत्मकथा	सं० १६९८	आगरा
४	बनारसी-विलास	पद व कवित्त संग्रह	सं० १७००	आगरा
५	बनारसी-पद्धति	आत्मकथा	सं० १७०० के बाद	आगरा

आपके पदों में लालित्य है और साथ ही अध्यात्म का सुन्दर पुट भी। राष्ट्रीय भावनायें आपकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती हैं। शब्द-शक्ति पर आपका असाधारण अधिकार था। उदाहरण देखिए:—

"एक रूप हिन्दू तुरक, दूजी दशा न कोइ।
मन की दुविधा मानकर, भये एक सों दोइ॥
दोऊ भूले भरम में, करें वचन की टेक।
'राम-राम' हिन्दू कहैं, तुरक 'सलामालेक'॥
इनके पुस्तक बांचिये, वे हू पढ़ें कितेब।
एक वस्तु के नाम द्वय, जैसे 'शोभा' 'जेब'॥
तिनको दुविधा जे लखें, रंग विरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिये, घट-घट अन्तर राम॥
यहै गुप्त यह है प्रकट, यह बाहर यह माँहि।
जब लग यह कछु है रहा, तब लगि यह कछु नाँहि॥"

जगजीवन और हीरानन्द

जहाँगीर के शासन-काल में अभयराज अग्रवाल आगरा के एक सुप्रसिद्ध धनी थे। उनके पुत्र जगजीवन हिन्दी के एक अच्छे कवि और विद्वान हुए हैं। बड़े होने पर वे जाफरखां नामक किसी उमराव के मन्त्री हो गये थे, जैसाकि पंचास्तिकाय में लिखा है—

"ताकौ पूत भयो जगनामी,
जगजीवन जिन-मारग-गामी।
जाफर खाँ के काज संभारे,
भया दिवान उजागर सारे॥"

जगजीवन ने बनारसीदासजी के नाटक समयसार की टीका लिखी थी, जो अब अप्राप्य है। आपने ही उनके काव्य का संग्रह 'बनारसी-विलास' के नाम से किया था। आपके काव्य-कौशल के बारे में निम्न पंक्ति ही पर्याप्त है—

"समय जोग पाय जगजीवन विख्यात भयौ,
ज्ञानिन की मण्डली में जिसको विकास है।"

हीरानन्द शाहजहानाबाद में रहते थे और जगजीवन के मित्र थे। आपने समयसार का पद्यानुवाद केवल दो महीनों के अल्प समय में ही किया था। यह एक तात्विक ग्रन्थ है। इसकी भाषा अधिक सधी हुई तो नहीं, किन्तु बुरी भी नहीं है—

"सुख-दुख दीसैं भोगता, सुख-दुख-रूप न जीव।
सुख-दुख आसमहार है, ज्ञान सुधारस पीव॥"

चतुर्भुज वैरागी और कुँवरपाल

श्री खरगसेन के 'त्रिलोक-दर्पण' के अनुसार एवं श्री बनारसीदासजी के 'अर्धकथानक' के आधार पर उस समय आगरा मे चतुर्भुज वैरागी एक उल्लेखनीय विद्वान थे। वे अध्यात्म-रस के रसिक थे, जैसाकि उनके 'वैरागी' पदक से प्रतीत होता है। वह प्रायः लाहौर जाया करते थे और वहां के जिज्ञासुओं को अध्यात्म-रस का पान कराते थे। वे कवि भी अच्छी कोटि के थे।

कुँवरपाल कविवर बनारसीदासजी के अनन्य विद्वान मित्र थे। उनकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है, किन्तु 'सूक्ति-मुक्तावली' में इनके कुछ छन्द मिल जाते हैं। आपकी नीतियां व उपदेश चोखे हैं और सीधे हृदय पर चोट करते हैं। लोभ की निन्दा का एक उदाहरण देखिए—

"परम धरम वन दहै, दुरित अम्बर गति धारहि।
कुयश धूम उदगरै, भूरि भय भस्म विथारहि॥
दुख फुलिंग फुंकरै, तरल तृष्णा कल काढ़हि।
धन ईंधन आगम संजोग, दिन-दिन अति बाढ़हि॥
लहलहै लोभ-पावक प्रबल, पवन मोह उद्धत बहै।
दज्झहि उदारता आदि बहु, गुण पतंग 'कँवरा' कहै॥"

कवि नन्द

आप आगरा-निवासी और गोयलगोत्रीय अग्रवाल थे। आपने सं० १६७० में 'यशोधर चरित्र भाषा' की रचना की थी। इससे पूर्व 'सुदर्शन चरित्र' नामक ग्रन्थ भी आपने लिखा था। आपके समय में आगरा में साहित्य और धर्म की पुण्य धारा बह रही थी। आपने शाह नूरदी (आगरा) के सुराज्य का अत्यन्त आकर्षक वर्णन किया है—

"सहर आगरौ भौ सुरवास,
जिहि पुर नाना भोग-विलास।
नृपति नूरदी शाह सुजान,
अरि तम तेज हरन सो भान।
दुष्टनि पोषै दुष्टनि हनै,
कोपहि मति कुसाह गुन भनै।"

आपके उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां दिल्ली के सरस्वती-भण्डार में (नं० अ ३६ ल) मौजूद हैं।

भैया भगवतीदासजी

ओसवाल जाति और कटारिया गोत्र को अपने जन्म से पवित्र करने वाले भैया भगवतीदास इस शताब्दी के प्रमुख कवियों में गिने जाने योग्य हैं। आपका रचना-काल वि० सं० १७३१ से १७५५ तक माना जाता है। आपकी रचनाओं की संख्या ६७ है, जो 'ब्रह्मविलास' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। आपकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अनुमानतः आपका जन्म सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध या अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ होगा। आपकी रचनाओं में अध्यात्मवाद की गहरी छाप है। आपने चित्रबद्ध काव्य भी लिखे हैं। काव्य-रीतियों, अलंकारादि से आप अच्छी तरह परिचित थे। आपकी रचनाओं में अनुप्रास और यमक की छटा देखिए—

"सुन रे सयाने नर कहा करै घर-घर,
तेरो जो शरीर घर घरी ज्यों तरतु है।...
छिन-छिन छीजै आय जल जैसे घरी जाय,
ताहू को इलाज कछु उर हू धरतु है।।
आदि जे सहे हैं तै तो यादि कछु नाहिं तोहि,
आगैं कहौ कहा गति काहे उछरतु है।
घरी एक देखौ ख्याल घरी की कहां है चाल,
घरी-घरी घरियाल शोर यों करतु है।।"

आपके पदों में माधुर्य का सुन्दर पुट है। ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो पद लिखते समय कवि स्वयं खो गया है। एक उदाहरण देखिए—

"कहा परदेसी को पतियारो,
मनमानै तब चलै पंथ कौं, सांझ गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छाँड़ि इतही पुनि, त्याग चलै तन प्यारो॥ कहा०॥
दूर दिसावर चलत आपही, कोउ न राखनहारो।
कोउ प्रीति करो किन कोटिक, अन्त होइगो न्यारो॥ कहा०॥
धन सौं राचि धरम सौं भूलत, झूलत मोह मझारो।
इह विधि काल अनन्त गमायो, पायो नहिं भव पारो॥ कहा०॥
साँचे सुख सौं विमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया', आपहि आप सँभारो॥ कहा०॥

आपको शृंगार से तीव्र घृणा थी, इसीलिए आपने एक पद में कविवर केशवदास की 'रसिकप्रिया' को एक उलाहना दिया है।

कविवर केशवदास भैया भगवतीदास के समकालीन थे। आपस में घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी दोनों के स्वभाव और विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था। केशवदास विलासप्रिय और रसिक व्यक्ति थे किन्तु भैया साहब अध्यात्मप्रेमी और धर्मात्मा। यही कारण है कि एक बार जब केशवदासजी ने अपनी सुन्दर कृति 'रसिकप्रिया' सम्मत्यर्थ भैया भगवतीदास के पास भेजी, तो उन्होंने उस पर निम्नलिखित सम्मति लिखकर उस कृति को वापिस कर दिया—

"बड़ी नीति लघु नीति करत है, वाय-सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुनगुनी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी॥
शोणित हाड़-मांसमय मूरति, तापर रीझत घरी-घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' यह कहा करी॥"

'भैया' आपका उपनाम था, जिसकी छाप आपने 'सूर' और 'तुलसी' की तरह अपने हर पद के अन्त में लगा दी है। आप निःसन्देह एक महान् कवि थे।

महाकवि भूधरदासजी

आप जाति के खण्डेलवाल थे। आपका जन्मकाल अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। आपके द्वारा लिखे हुये ग्रन्थों का परिचय निम्न प्रकार है—

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	विषय	विशेष
१	जैन शतक	नीतियाँ, सुभाषित-संग्रह	१५० कवित्त, सवैया, छप्पय आदि
२	पार्श्वपुराण	चरित्र-ग्रन्थ (मौलिक)	सर्वोत्तम रचना
३	पद-संग्रह	स्फुट गेय काव्य-सकलन	८० पद व विनतियाँ

कवि की वर्णन-शैली अपूर्व है। सम्पूर्ण रचनायें प्रसाद और सौन्दर्य गुण से ओतप्रोत हैं। कथा-प्रवाह मे तुलसी की भाँति अनेक नीति-वाक्य भी आ गये हैं, जो अपने में पूर्ण हैं। दो-एक उदाहरण देखिए—

"उपजे एकहि गर्भ सौं, सज्जन दुर्जन येह।
लोह कवच रक्षा करै, खांडो खंडै देह।।
यथा हंस के वंश को, चाल न सिखवैं कोय।
त्यौं कुलीन नर-नारि के, सहज नम्र गुण होय।।"

आपके पद धार्मिकता के आधार हैं। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। देखिए—

"चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना।। टेक।।
पग खूँटे द्वय हालन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पाँखड़ी पसली, फिरै नहीं मनमाना।। १।।
रसना तकली ने बल खाया सो अब कैसे खूँटे।
सबद-सूत सुधा नहिं निकसै, घड़ी-घड़ी पल टूटै।। २।।
आयु-माल का नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे।
रोग इलाज मरम्मत चाहै, वैद बाढ़ई हारे।। ३।।
नया चरखला रंगा-चंगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा बरन गये गुण अगले, अब देखें नहिं भावै।। ४।।
मोटा महीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अन्त आग में ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सवेरा।। ५।।"

शरीर-चक्र का कैसा सरस और हृदयग्राही वर्णन है। एक और उदाहरण देखिए—

"अब मेरे समकित सावन आयो।
बीति कुरीति मिथ्यामत ग्रीषम, पावस सहज सुहायो।।
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोले विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो।।
गुरु ध्वनि गरज सुनत सुख उपजे, मोर सुमन विहसायो।
साधक भाव अंकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो।।
भूल धूल-नहिं सूझ परत है, समरस जल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो।।

इन पदों में कबीर के पदों की सी गम्भीरता स्पष्ट झलकती है। महाकवि भूधर के ये पद आगरा के हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। गढ़े हुए शब्द, अक्षरों की मितव्ययता और आशय की स्पष्टता इस महाकवि की विशेषता है।

कविवर द्यानतरायजी

अग्रवाल जाति और गोयल गोत्र में आपका जन्म हुआ। मानसिंह और बिहारीदास नामक व्यक्तियों को आपने अपना गुरु माना है। आप कुछ समय बाद आगरा छोड़कर दिल्ली चले गये थे और वहाँ आपने 'धर्म-विलास' नाम के ग्रन्थ की रचना की थी। कोई-कोई इसे 'द्यानत-विलास' भी कहते हैं। कठिन विषय को सरल ढंग से समझाना ही आपकी विशेषता है। ग्रन्थ के अन्त में आपने अपने ग्रन्थ–कर्तृत्व को कितने अच्छे ढंग से छिपाया है—

"अच्छर सेती तुक भई, तुक से हुए छन्द।
छन्दन से आगम भयो, आगम अरथ सुछन्द॥
आगम अरथ सुछन्द, हमों ने यह नहिं कीना।
गंगा को जल लेइ, अरघ गंगा को दीना॥
सबद अनादि अनन्त, ज्ञान कारण बिन मच्छर।
मैं सब सेती भिन्न, ज्ञानमय चेतन अच्छर॥"

आपके हृदय में सांसारिक दुखों के चित्र वेदना बनकर प्रकट होते थे और उनसे छुटकारा पाने के लिए आपमें एक अजीब-सी छटपटाहट थी। 'ज्ञान के प्रकाशन कौं, सिद्धयान वासन कौं, जी में ऐसी आवै है कि जोगी ह्वै जाइए'—यही आपकी उत्कट अभिलाषा थी, जिसकी झलक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आपके काव्य में दृष्टिगत होती है। आध्यात्म का सुन्दर विवेचन आपने किया है।

बुलाकीदास कवि

आपके पूर्व पुरुष बयाना (भरतपुर) में रहते थे। यहीं उनके वंश मे नन्दलालजी के घर आपका जन्म हुआ था। आप पर आपकी माता का बड़ा प्रभाव था। आपने अपने काव्य में अपनी माता की अतिशय प्रशंसा की है। आपने शुभचन्द्र भट्टारक के पांडव पुराण का 'भारत–भाषा' नाम से अनुवाद किया है। अनुवाद की प्रेरणा इन्हें अपनी माँ से प्राप्त हुई थी। ग्रन्थ में ५५०० पद्य हैं।

श्री भूधर मिश्र

आप ब्राह्मण थे और आगरा के समीप शाहगंज के रहने वाले थे। आप 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' नामक जैन ग्रन्थ में अहिंसा तत्त्व की मीमांसा पढ़कर जैनधर्म के परम भक्त बन गये थे। आपने उक्त ग्रन्थ पर एक विशद् टीका लिखी है। 'चर्चा–समाधान' ग्रन्थ भी आपने लिखा है। आपकी शैली का एक उदाहरण देखिए—

"नमों आदि करता पुरुष, आदिनाथ अरहंत।
द्विविध धर्मदातार धुर, महिमा अतुल अनन्त।।
स्वर्गभूमि पाताल पति, जपत निरन्तर जाम।
जा प्रभु के जस हंस को, जग पिंजर विश्राम।।
जाकौं सुमरत सुरत सौं, दुरत दुरत अघ जाय।
तेज फुरत ज्यौं तुरत ही, तिमिर दूर दुर जाय।।"

अन्य कवि और उनकी रचनायें

संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

क्रम सं०	नाम कवि	नाम ग्रन्थ	विषय	समय	रचना-क्षेत्र
१	ब्रह्मगुलाल	कृष्ण भगवान चरित	कथा-साहित्य	सं० १७७१	टापा (फीरोजाबाद
२	पं० अचलकीर्ति	विषापहार स्तोत्र भाषा	अनुवाद	१८ वीं सदी	फीरोजाबाद के पास कोई गाँव
३	पाण्डे जिनदास	१. जम्बू चरित्र २. ज्ञान-सूर्योदय	कथा-साहित्य अध्यात्म	सं० १६४२	आगरा
४	पाण्डे हेमराज	१. प्रवचनसार टीका २. पंचास्तिकाय टीका ३. गोम्मटसार वचनिका ४. नयचन्द्र वचनिका	आलोचना (टीका)	सं० १७२४ के लगभग	आगरा

विक्रम की सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक का समय हिन्दी का स्वर्णकाल माना जाता है। जैन कवियों ने भी इस अवधि में उच्च कोटि की अनेक रचनाओं को जन्म दिया। इस दिशा में आगरा का योगदान उल्लेखनीय है। यहां हिन्दी में जैन साहित्य का सृजन प्रचुर मात्रा में हुआ। भक्तिपरक, आध्यात्मिक एवं शान्त रस की जैन कविताओं का स्तर सूर या तुलसी के काव्य से किसी तरह भी न्यून नहीं है। हिन्दी के कर्णधारों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए।

अभी तो न जाने कितने ऐसे कवि और होंगे, जिनकी साहित्यिक रचनायें हिन्दी साहित्यकारों की उपेक्षा और विस्मृति के आवरण मे सिमटी पड़ी हों। आज आवश्यकता है उन्हें जन-जन के सामने लाने को। आशा है कि हिन्दी के विद्वान इस कार्य को आगे बढायेंगे। जनपदीय आधार पर उन्हें हिन्दी के जैन साहित्यकारों की एक विवरण-तालिका एवं अनुक्रमणी तैयार करनी चाहिए।

आगरा में लिखित जैन साहित्य पर किस हिन्दी-प्रेमी को गर्व और गौरव का अनुभव नहीं होगा! शब्द और भाव के धनी आगरा के महान् कवियों को मैं अपनी विनयाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

भारतीय संस्कृति में जैन साहित्य एवं वास्तु कला

विमलकुमार जैन सौंरया एम० ए० शास्त्री

(मंडावरा, झांसी)

□

भारतीय विचारधारा की समुन्नति मे और उसके विकास मे जैनाचार्यों एवं विद्वानो का महत्वपूर्ण योग रहा है। उन्होंने भारतीय विभिन्न भाषाओ मे जैन साहित्य की जो समृद्धि की है उसके कारण ही भारतीय संस्कृति को जीवनदान मिला है। जैनाचार्यों ने अनेक प्रान्तीय क्षेत्रीय भाषाओ के अलावा प्राकृत एवं संस्कृत भाषा मे अध्यात्म, सिद्धान्त, आगम, न्याय, ज्योतिष, राजनीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, काव्य, नाटक, चम्पू, छन्दशास्त्र, अलंकार, गणित, सुभाषित, आयुर्वेद आदि विविध विषयो पर विपुल एवं महत्वपूर्ण साहित्य की रचना की है। साहित्य ही मानव जीवन की उपलब्धि है। मानवीय जीवन को भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं आत्मिक समुन्नति मे साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। प्रत्येक समाज की समुन्नति उसके साहित्य पर आधारित है। जैनाचार का अस्तित्व उसकी दार्शनिकता एवं मौलिकता मे है। साथ ही उच्चादर्शों का परिशीलन जिस महत्ता के साथ आज अपना पूर्ववत् अस्तित्व बनाये है, उसका प्रधान हेतु जैन साहित्य की विपुलता ही है। पूर्वाचार्यों एवं विद्वानो ने अपनी विवेकमय प्रवृत्ति से व्यक्ति समाज एवं विश्व शान्ति के हित मे जिस साहित्य का निर्माण किया अथवा वास्तुकला के माध्यम से साहित्य मे स्थायित्व तथा प्रमाणिकता प्रदान की वह युगों-युगों तक गौरवान्वित रहेगी।

धर्म मानवीय जीवन की सर्वोत्कृष्ट समुन्नति का खुला हुआ द्वार है। सद्भावनाओ सहित क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन एवं ब्रह्मचर्य रूपी गुणो को जीवन मे उतार लेना ही धर्म की प्राप्ति है। अतएव धर्ममय जीवन की उज्वलता उसके साहित्य पर आधारित है।

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। और भारतीय संस्कृति में श्रमण (जैन) संस्कृति का सर्वोपरि स्थान है। इसका महत्वपूर्ण कारण विविध प्रकार के

*

विविध भाषाओं में लिखा हुआ विपुल जैन वाङ्मय ही है। पूर्वाचार्यों द्वारा लिखा गया विपुल साहित्य भारतीय संस्कृति में सदैव गौरवान्वित रहेगा।

यद्यपि हजारों वर्ष भारती वर्षों की पराधीनता के परिणामस्वरूप पूर्वाचार्यों के अधिकांशत: मूल ग्रन्थ विदेशियों द्वारा ले जाये गए हैं, जिससे हमारे देश में उनका अभाव है और वे ग्रन्थ जर्मन जैसे देशों में आज भी विद्यमान हैं किन्तु फिर भी भारत के कोने-कोने में आज भी जैन साहित्य अपने विविध विषयों के रूप में अपरिमित मात्रा में विद्यमान है। पर विधिवतरूपेण उसका सूचीकरण न होने के कारण वह अज्ञात सा है। राजस्थान जैन भण्डागारों में स्थित ग्रन्थों के सूचीकरण में डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, यदि देश के सभी प्रान्तों व प्रखण्डों के भण्डागारों में ऐसी ही सूचीकरण का कार्य साकार किया जाये तो जैन साहित्य की विपुलता एवं उसकी विविधता को आसानी से आंका जा सकेगा।

आज से ७० वर्ष पूर्व सन् १९०६ ई० में पेरिस में जैन ग्रन्थावली के विषय में एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ श्री डा० गुरिनो की साधना का सुफल परिणाम है। इसमें प्रायः अधिकांश जैन साहित्य का परिचयात्मक दिग्दर्शन दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान जैन साहित्य के प्रति अत्यन्त प्रभावित हैं। यह ग्रन्थ फ्रेन्च भाषा में है। यद्यपि वर्तमान में जीवराज ग्रन्थमाला, श्री शान्तिसागर सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, भारतीय ज्ञानपीठ, जैन मित्र मण्डल दिल्ली जैसी ग्रन्थमालाओं ने पूर्वाचार्यों के अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन कर देश में जैन साहित्य के गौरव को उठाया है, जो (जैन) श्रमण संस्कृति के विकास-प्रकाश का महत्वपूर्ण कदम है।

भारतीय संस्कृति की समुन्नति में जो योगदान जैन साहित्य का है उसके बाद प्राचीन जैन स्मारकों, मूर्तियों और शिलालेखों का भी महत्वपूर्ण प्रामाणिक योगदान है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में जैनों के प्राचीन स्मारकों को खोजकर जो तथ्य वर्णित किये है, उनके अध्ययन से ही जैन भग्नावशेषों के विपुल महत्व का पता लगता है। मि० ई० हुलश, जे० एफ० फ्लीट एवं लूइसराईस जैसे विदेशी विद्वानों ने साऊथ इण्डिया इन्स्क्रिप्सन, इन्डियन एन्टीक्वेरी, एपीग्राफियाकर्णाटिका जैसे ग्रन्थों में हजारों जैन शिलालेखों का संग्रह किया है। यह शिलालेख शिलाओं तथा ताम्रपात्रों पर संस्कृत एवं पुरानी कन्नड़ भाषाओं में खुदे हुए हैं। सबसे अधिक शिलालेख दक्षिण भारत के हैं। उत्तर भारत में संस्कृत और प्राकृत भाषा के लेख हैं। ये लेख प्राचीनता और उपयोगिता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। सन् १९०८ में श्री डा० ए० गेरीनोट ने "जैन शिलालेखों की रिपोर्ट" नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रदर्शन किया है। इसमें ईसा पूर्व सन् २४२ से लेकर १८६६ तक लगभग २२ सौ वर्ष के बीच के शिलालेखों को लिया है। जैन इतिहास के लिए यह बहुत ही उपयोगी साधन सामग्री है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में जो भी पुरातन प्रामाणिक वास्तु कला के नमूने उपलब्ध हैं, वे मात्र जैन स्मारकों, शिलापट्टों एवं मूर्तियों के रूप में ही विद्यमान है। इन जैन पुरातत्व निधियों की गरिमा से आज भारतीय संस्कृति गौरवान्वित हुई है।

वर्तमान में भूमि के ऊपर स्थित जैन खण्डहरों के रूप को सावधानी के साथ अनुशीलन करने एवं लिखने में बहुत सी बातों का पता लगता है। यदि हम पुरातन स्मारकों, शिलालेखों, मूर्तियों का अध्ययन जैन ग्रन्थों एवं चीनी प्रवासियों व विद्वानों द्वारा लिखे गए सन्दर्भ परिचय ग्रन्थों के साथ किए जायें तो उनसे अनेक प्रमाणित तथ्य प्राप्त होंगे। जैन साहित्य एवं जैन पुरातत्व-निधियों ने श्रमण संस्कृति की समृद्धि में ऐसा महत्वपूर्ण योग दिया जिससे श्रमण संस्कृति तो समुन्नत हुई ही, भारतीय संस्कृति भी पुनरुज्जीवित होकर विश्व संस्कृति में गौरव का स्थान प्राप्त करने में सक्षम हुई।

"शरीर जीर्ण होता जा रहा है किन्तु आशा नहीं। आयु घटती जा रही है पर पाप-बुद्धि नहीं। मोह बढ़ता जा रहा है किन्तु आत्मकल्याण में रुचि नहीं। प्राणियों की वृत्ति तो देखो!"

—आचार्य गुणभद्र

"पुनाति आत्मानं इति पुण्यं।"

अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं।

—आचार्य पूज्यपाद

"मोक्षेऽपि यस्य नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति" —स्वरूप सम्बोधन

अर्थात्—जिसकी मोक्ष प्राप्ति के लिये भी आकांक्षा नहीं है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

"अनियमित, असीम परिग्रह की भावना भ्रष्टाचार को जन्म देती है और भ्रष्ट आचरण मनुष्य को सबसे नीचे गिराकर ही दम लेते हैं।"

—मुनि विद्यानन्द

"मोक्ष मार्ग प्रकाशक में पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी ने 'गुरु' विषयक एक महत्वपूर्ण सूक्ति कही है कि यदि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि से अतिरिक्त किसी को गुरु मानें तो क्या हानि है? पंडितजी कहते हैं कि 'हंस' पक्षी को ही हंस कहा जाता है, यदि हंस किसी सरोवर पर दिखाई न दे तो 'बगुले' को हंस मान सकेंगे क्या? इसलिये बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि को ही गुरु मानना।"

—गुरु संस्था का महत्व

"किसी भी मत में किसी जीव को दुःख देना, मारना तथा मांस खाना धर्म नहीं बतलाया। मांसलोलुपी, स्वार्थी लोगों ने अपनी दुर्वासना सिद्ध करने के लिये धर्मग्रन्थों में हिंसा करने की बातें मिला दी हैं।"

—विश्वधर्म की रूपरेखा

जैनधर्म में उपासना और उसका महत्व

श्री विजयकुमारजी जैन साहित्य-प्राकृताचार्य

(प्रवक्ता—जैन इण्टर कालिज, सरधना)

□

प्रत्येक धर्म में उपासना को धर्म पालन का एक महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया गया है। धार्मिकवृत्ति के आचारपक्ष का यह प्रमुख अंग है। बिना उपासना के धर्म, आकार ही ग्रहण नहीं करता, यदि यह बात कही जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। उपासना आत्म संस्कार का एक प्रमुख साधन है। धर्म के बीज उपासना में संस्कारित आत्मभूमि में उगते हैं। सांसारिक दुखों की निवृत्ति एवं पूर्णतः आत्मशक्तियों का उद्घाटन कर आत्मानन्द की प्राप्ति जैनधर्म का मूल उद्देश्य है। ज्ञान-आनन्द स्वभावी आत्मा अपनी शक्तियों के आवरण में हीन बना हुआ, बद्ध एवं दुखी है। उसकी इस हीनता, बन्धन एवं दुख का कारण उसका विकारी स्वभाव है। निज स्वभाव की सिद्धि में वह पूर्ण आनन्दघन है। आनन्दघन आत्मस्वभाव का लक्ष्य करना, उस ओर बढ़ना तथा उस ओर बढ़े हुये आदर्श व्यक्तियों का बहुमान करना, पुण्य गुणों का उत्कीर्तन करना उपासना है। इस उपासना से गुणी के इष्टगुणों तक पहुँचने का मार्ग मिलता है। आत्म संस्कार से निज गुणों का पुण्य परिचय मिलता है।

शाब्दिक दृष्टि से भी उपासना का यही अर्थ भाषित होता है। उप आसना—पास में स्थित करना। निजस्वभाव की ओर क्रियाशील सम्मुखता ही उपासना है। इसे ही शास्त्रीय दृष्टि में सम्यग्दर्शन कहते हैं। अगर स्वभाव सम्मुखता न हुई तो वह उपासना नहीं दुरासना है।

आत्मा का सदाकाल रहने वाला सर्वाधिक निकटता का सम्बन्ध अपने अविकारी गुणों से ही है। वे ही आत्मा को इष्ट साध्य और उपास्य हैं। जब तक उन्हें नहीं प्राप्त किया, तब तक उनकी प्राप्ति में निमित्तभूत सिद्ध (अरहन्त, सिद्ध) और साधक (आचार्य, उपाध्याय, साधु) भी इष्ट हैं। अतएव वे भी साध्य और उपास्य हैं।

आत्मार्थी पुरुष पण्डितप्रवर दौलतरामजी तो वीतराग विज्ञान-युक्त निज आत्मतत्व को ही नमस्कार करते हैं—

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमूं त्रियोग सम्हारिके॥

पूज्य उमास्वामी ने जो हितोपदेशी, वीतराग, सर्वज्ञ देव को नमस्कार किया है, उसका प्रयोजन उन्होंने 'तद्गुणलब्धये' लिखा है, जिसका अर्थ है—अपनी आत्मा में शक्ति रूप में वर्तमान उन मोक्षमार्गनेतृत्व, कर्मभूभृत्भेतृत्व, विश्वतत्वज्ञातृत्व गुणों की लब्धि के लिये। इस प्रकार जैनधर्म मे निजगुण लक्ष्मी उपासना को महत्व दिया गया हैं। जैनधर्म की उपासना गुणों की उपासना पर जोर देती है। गुणी वहां गुणों का उपलक्षण है। इसीलिए जैन तत्वदर्शियों ने उपासना को चार प्रकार का बताया है। उनके उपास्य हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप। इनमें मिथ्या भाव के परिहार के लिये 'सु' या 'सम्यक्' विशेषण और लगा दिया जाता है और तब ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप कहलाते हैं परन्तु गुणों की उपासना का माध्यम गुणी है। अतएव इन गुणों की प्राप्ति मे निमित्तभूत पंचपरमेष्ठी अथवा देव शास्त्र गुरु एवं धर्म के अन्य आयतन भी इष्ट अतएव उपास्य हैं, आराध्य हैं।

अरहंतसिद्धसाधुत्रितयं जिनधर्मबिम्बवचनानि।
जिननिलयान् नवदेवान्, समुपास्ये भावतो नित्यं॥

एक जैन श्रावक कहता है कि मैं अरहन्त, सिद्ध, साधु इन तीनों की तथा जिनधर्म (वीतरागता रूप अहिंसा धर्म), जिनप्रतिमा, जिनवाणी एवं जिनभवन इन नव देवों की नित्य ही भावपूर्वक वन्दना करता हूं। ये ही नव देव वीतरागता के प्रेरक जैन दृष्टि में उपास्य हैं।

अब प्रश्न उठता है उपासक कौन है? उत्तर है—वह भव्य जीव ही अरहन्तादिक का उपासक है, जिसके हृदय में सांसारिक दुःख निवृत्ति की उत्कट कामना जाग उठी है, जिसके हृदय में निवृत्ति या वीतरागता की महत्ता सम्यक् प्रकार अंकित हो गई है, जिसके हृदय मे आत्मबोध जाग चुका है, जिसकी मिथ्या धारणायें या तो टूट-टूट कर गल रही हैं या गल चुकी हैं, जिसे आत्मिक अनुभूति का रसास्वाद अंशतः ही सही मिलने लगा है, जो सदा प्रसन्न रहता है, प्रशम-संवेग-अनुकम्पा और आस्तिक्य जैसे मानवीय गुणों का उत्कट विकास जिसमें हो चुका है, विश्वात्माओं का जिसने आत्मवत् साक्षात्कार किया है ऐसा परममुमुक्षु पुरुष ही सच्चा उपासक है। 'योहि यद्गुणलब्ध्यर्थी स तं वन्दमानो दृष्टः' जो जिसके गुणों का इच्छुक है वह उसकी वन्दना करता है। वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों का समभिलाषी ही अरहन्तादिक पूर्णवीतरागी जिनों का उपासक हो सकता है।

किन्तु इस उपासना का फल? उपासना का फल तो पूर्ण आत्म-स्वातंत्र्य है। चरम और परमसिद्धि है। परिपूर्ण आत्मानन्द के गभीर ह्रद में सर्वतः सर्वदा अवगाह है। इसके साथ ही सांसारिक सुखों और विभूतियों की भी आपाततः उपलब्धि है क्योंकि मंगलमयो आराधना-उपासना का फल सर्वविधि मंगल ही हो सकता है। आदिनाथ स्तोत्र में श्री मानतुंग आचार्य ने १८ वें काव्य से

४८ वें काव्य तक उपासना के लौकिक फलों का ही साधारण जनों को उपासना के मार्ग भक्ति के मार्ग में लगाने हेतु सुन्दर विवरण किया है। वे कहते हैं—

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तम्
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

झरते हुये मद से चंचल कपोल मूल पर मदोन्मत्त भ्रमण करते हुये भ्रमरों के कारण जिसका क्रोध बढ़ रहा है ऐसे ऐरावत की भाँति गर्वोन्मत्त आते हुये हाथी को देखकर भी भगवान की शरण लेने वालों को भय नहीं होता। इसी प्रकार सिंह, अग्नि, सर्प आदि के भय भी भगवद् भक्तों को नहीं सताते। भगवद् भक्ति से भीषण रोगों से आक्रान्त देह मकरध्वज तुल्य रमणीय हो जाती है।

यह तो रही लौकिक सुख-सिद्धियों की बात। कल्याणमन्दिर स्तोत्र में स्तवनकार कहता है—

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

जैसे अग्नि के संयोग से कनकोपल पाषाणभाव को छोड़कर शीघ्र ही स्वर्णभाव को प्राप्त होता है वैसे ही भगवान जिनेन्द्र की उपासना भक्ति से—उनके ध्यान से भव्य जीव देह छोड़कर परमात्मा बन जाते है।

एकीभाव स्तोत्र मे बताया है कि शुद्ध ज्ञान और चारित्र रहने पर भी भगवद् भक्ति कुञ्चिका न हो तो मोह के कपाट जो कि अत्यन्त दृढ़ हैं कैसे खुल सकते है!

इस प्रकार जैन दृष्टि में उपासना को सम्यग्दर्शन (जो कि धर्म का मूल है) का कारण बताकर परमसिद्धि का भी कारण बताया है। समस्त लौकिक, पारलौकिक एवं आध्यात्मिक सुखों का मूल यह उपासना ही है। सहस्रनाम स्तवन मे बताया है—

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः ।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः, फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥

पुण्य गुणों का उत्कीर्तन करना ही स्तुति है। जो भव्य और प्रसन्न बुद्धि वाला है वही स्तुतिकर्ता है। जिसने अपने परम पुरुषार्थ, अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है वही स्तुत्य है और निःश्रेयस सुख की प्राप्ति स्तुति का फल है।

कोई कहे कि जिनेन्द्र भगवान जो कि वीतराग हैं किसी को कुछ देते नहीं, किसी से कोई प्रयोजन नहीं रखते, फिर उनकी उपासना से क्या लाभ है ? इसका उत्तर स्वयंभू स्तोत्र में समन्तभद्र-स्वामी देते हैं। वे कहते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

वीतराग होने के कारण तुम्हें किसी की उपासना से प्रयोजन नही। वीतदोष होने से किसी के द्वारा की गई निन्दा से प्रयोजन नहीं तो भी तुम्हारे पुण्य गुणों की स्मृति हम लोगों के चित्तों को पाप से बचाती है, पवित्र करती है। कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा गया है—

त्वं नाथ ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् ।
युक्तं हि पार्थिवनृपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥ २४ ॥

हे नाथ ! आप संसार रूप समुद्र से विमुख होकर भी अपने अनुगामी जनों को तारते हो यह तो ठीक है आपमें उपयुक्त है पर कर्मों के विपाक से शून्य होकर भी ऐसा करते हो यही विचित्रता है। तो वह वीतराग देव राग-द्वेष से रहित होने के कारण यद्यपि किसी के कार्यों को करता नही, किसी का उद्धार भी नही करता तब भी उस उपासना की भक्ति या उपासना से होने वाली आत्म-शुद्धि मे उपासकों का कल्याण होता ही है। वह उपासना आत्म शोधन के लिये प्रयत्नवान भव्य जनों को शुद्धि का निमित्त बनती है। देव, आगम और गुरु भी ऐसे भव्य के कल्याण मे निमित्त ही हैं। पं० प्रवर दौलतरामजी कहते हैं—

'यह लखि निज दुख गद हरण काज,
तुमही निमित्त कारण इलाज।

वे जिनेन्द्र भगवान भक्त-उपासक के दुख रूप रोगों के दूर करने मे निमित्त कारण रूप हैं। यद्यपि जिनेन्द्र भगवान रागद्वेष-विमुक्त अतएव परम उपेक्षक हैं तो भी उपासक उनकी उपासना का फल प्राप्त कर ही लेता है। समन्तभद्र स्वामी अनन्तनाथ भगवान की स्तुति करते हुये क्या ही सुन्दर उक्ति प्रस्तुत करते हैं—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि, प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥

हे भगवन् ! जो हृदय से आपकी भक्ति करते हैं वे श्री—सुभगता को प्राप्त करते हैं। जो आपके प्रति प्रतिकूल हैं वे व्याकरण के प्रत्ययों की भांति प्रलीन हो जाते हैं। पर भगवन् आप दोनों के प्रति अत्यन्त निरपेक्ष हो। हे भगवन् ! आपकी यह निरपेक्षता भी कितनी अद्भुत है !

अपने आराध्य के गुणों पर आकृष्ट आराधक, आराध्य की स्तुति में अपनी वाणी का प्रयोग तो शक्ति भर करता है पर उसका श्रद्धाभाव अनन्त गुणात्मक भगवान के प्रति वाणी से आगे है। समन्तभद्र स्वामी की वाणी मे भक्त के उद्‌गार हैं—हे महामुनि ! तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो यह तो प्रलाप मात्र है। आपके अशेष माहात्म्य को प्रकट कर सकने में अत्यन्त असमर्थ भी हम गुणानुराग मात्र से कल्याणमय अमृत सुधा के सरोवर में अवगाहन पा जाते हैं।

इस प्रकार जैनधर्म में उपासना का बड़ा महत्व है। उपासना से उपलब्ध आत्मविशुद्धि क्षण भर में चिर संचित पाप कर्मों को नष्ट कर देती है। उपासना-स्तुति क्या है, उपासक कैसा हो, उपास्य कौन है एवं उपासना का फल क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर श्री जिनसेन स्वामी ने एक ही श्लोक में कितने सुन्दर ढंग से दिया है-

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवां स्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥

पुण्य-पवित्र आत्म गुणों का उत्कीर्तन ही स्तुति या उपासना है। भव्य और निर्मल बुद्धि वाला ही उपासक है। परम अर्थ को प्राप्त भगवान परमात्मा पूर्णज्ञानी वीतराग देव ही उपास्य हैं एवं निःश्रेयस सुख परमात्म पद में सम्भावित परिपूर्ण आत्मानन्द ही उपासना का फल है। इस प्रकार जैनधर्म मे यद्यपि परमात्मा या देव को पूर्ण वीतरागी बनाया गया है फिर भी उपासना के महत्व को भी बड़े गौरवपूर्ण ढंग से स्वीकारा गया है।

●●

भजन—उपकारी गुरु

सोहनलाल पहाड़िया, सुजानगढ (राज०)

गुरु सम कौन बड़ो उपकारी !
जा सेवें सपनेहु दुख नाहीं, केवल सुख अति भारी ॥ टेक ॥
पिता तिहारो धीरज कहिये, क्षमा तोर महतारी।
शांति शीलता कुशल गेहिनी, दोनों कुल उजियारी ॥ १ ॥
सरल सत्य प्रिय पुत्र तिहारो, बहन दया अघहारी।
संयम अनुरागी मन भ्राता, रत्नत्रय निधि धारी ॥ २ ॥
शय्या भूमि तले लेटन को, वसन दिशा दश धारी।
ज्ञानामृत भोजन अति रुचिकर, श्री गुरु की बलिहारी ॥ ३ ॥
या सम कुटुम होय योगी के, वे गुरु भव भय हारी।
तारण तरण शरण प्रतिपालक, निःस्वारथ हितकारी ॥ ४ ॥
मात पिता भर्ता "सेवक" के, गुरु जिन मुद्रा धारी।
तिन पद रज शिर धरूँ भक्ति सों, भुक्ति-मुक्ति दातारी ॥ ५ ॥

दिगम्बर जैन मुनि

सुमेरचन्द जैन शास्त्री एम० ए० साहित्यरत्न, दिल्ली

□

पाणिः पात्रं पवित्रं, भ्रमणपरियतं, भैक्षमक्षय्यमन्नं,
विस्तीर्णं वस्त्रमाशा, सुदश कममलं, तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसङ्गतांगी, करणपरिणतिः, स्वात्मसंतोषिणस्ते,
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः, कर्मनिर्मूलयन्ति ॥

जिनका हाथ ही पवित्र बर्तन है। भिक्षाशुद्धि से प्राप्त अन्न ही जिनका भोजन है। दशों दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं। सारी पृथ्वी ही जिनकी शय्या है। एकान्त में निःसंग रहना ही जो पसन्द करते है। दीनता को जिन्होंने छोड़ दिया है तथा कर्मों को निर्मूल करते हैं। जो अपने ही में सन्तुष्ट रहते हैं उन पुरुषों को धन्य है।

महान् अध्यात्मवेत्ता और कुशल तार्किक आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में बताया है—'जो यति धर्म को छोड़कर प्रथम गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है वह जिन शासन में निग्रह स्थान के योग्य है।'

किसी भी धर्म का प्रभाव और प्रचार जितना साधुओं द्वारा हुआ है उतना अन्य गृहस्थों द्वारा नहीं। जब हमारा साधु समाज वक्ता, तपोनिष्ठ, प्रभावशाली और लोक कल्याण करने में अग्रसर रहा तभी जिन शासन की विजय पताका गूंजती रही। आचार्य समन्तभद्र, अकलंक-देव, स्याद्वाद विद्यापति विद्यानंदि, वादीभसिंह जैसे यति-पुंगव रहे, तभी अहिंसा और अनेकान्त की दुन्दुभि बजी। लगभग चालीस वर्ष पूर्व जब आचार्य शान्तिसागरजी महाराज का दिल्ली में पदार्पण हुआ तब दिल्ली और नई दिल्ली दोनों स्थानों के प्रमुख बाजारों, सरकारी भवनों, और गलियों में आचार्य महाराज के संघ सहित फोटो खींचे गये। किसी ने यह चर्चा की कि आचार्य महाराज को फोटो खिचवाने का बड़ा शौक है। यह चर्चा आचार्य महाराज के कानों में पड़ी, उन्होंने कहा भाई मेरे कोई घर भी नहीं है। मैं इन फोटुओं को कहाँ लगाऊंगा। मेरा आशय इतना ही है कि साधु समाज पर किसी प्रकार विहार में रुकावट न पड़े। ये चित्र उसके प्रमाण स्वरूप समझे जायें।

मनोज्ञ साधु प्रभावशाली वक्ता मुनि श्री कुन्थुसागरजी महाराज को सुदासना स्टेट के महाराज

ने राजभवन में प्रवचन करने के लिये आमंत्रित किया तो मुनि श्री ने यह कहकर टाल दिया कि हम लोग आम जनता में प्रवचन करते हैं। यदि स्टेट के महाराजा उपदेश सुनने के इच्छुक हों तो यहीं पधारें। महाराजा बुद्धिमान थे, उन्होंने कहा मुनि श्री ! मैं तो उपदेश सुनने के लिये आ सकता हूँ पर मेरे रनवास में जो रानियाँ हैं, राज्य कर्मचारी हैं, वे सभी नहीं आ सकते। आपके यहाँ पधारने से धर्म की प्रभावना और अहिंसात्मक विचार धारा का प्रचार होगा। आचार्य महाराज विवेकी और दूरदर्शी थे। उन्होंने निःसंकोच राजदरबार में जाना स्वीकार किया। परिणाम यह निकला कि गुजरात की अनेक स्टेटों के राजे, राजकुंवर आदि उनके कट्टर भक्त बन गये और उनके जन्म दिवस पर अहिंसा के नाम से अवकाश करने लगे।

भ० महावीर स्वामी के पश्चात् अढ़ाई हजार वर्षों के काल में दि० जैन मुनि समाज का सिंहावलोकन करें तो विदित होगा कि जब जब हमारा साधु समाज प्रभावशाली हुआ तभी जनता को चारित्र ज्ञान के समुज्वल प्रकाश और रत्नत्रय के प्रति श्रद्धा बढ़ती गई। भ० महावीर के पश्चात् ६८३ वर्षों तक अंग पूर्व के ज्ञाता होते रहे। उनके पश्चात् ११० वर्ष तक व्यवधान आ गया। तदनन्तर अर्हनंदि जैसे युग प्रवर्तक कुशल यतीश्वर हुये जिन्होंने मुनि संघ में साहित्य रचना के सम्बन्ध में ऐसी स्पर्धा जगाई कि जिसके फलस्वरूप एक से बढ़कर महान् महान् आचार्य हुये, जो नैयायिक, वाग्मी, कवि, तपस्वी होते हुये सिद्धान्त विषयों के पारंगत थे।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की प्रतिभा का क्या कहना ! अध्यात्म विषयों के ऊपर उन्होंने अपूर्व वाङ्मय की रचना की। दि० जैनधर्म का नये रूप से उत्थान किया। आचार्य उमास्वामी, समन्तभद्र, यतिवृषभ, वीरसेन, जिनसेन, अकलंक, विद्यानंदि, प्रभाचन्द्र जैसे ऋषि पुंगव हुये जिन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य सरस्वती की सेवा का बनाया।

ऐतिहासिक काल से ही दि० मुनि परम्परा लगातार चलती रही। जब भारत में नंदों का राज्य था वे जैनधर्म को धारण करते थे। उन्हीं नन्दों में एक नन्द राजा दि० जैन मुनि हो गये। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त, जीवन के अन्तिम समय में अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा के लिये दक्षिण चले गये और वहां जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके स्वर्ग को प्राप्त हुये। जब सिकन्दर ससैन्य यूनान को वापिस लौटा तो मुनि कल्याण को भी अपने साथ ले गया। सुंग और आन्ध्र वंशो राजाओं मे हाल और पुलुमादि जैसे जैन राजा हुये जिनके समय ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में एक दि० जैनाचार्य भृगु कच्छ से यूनान देश को गये। यवन क्षत्रप विदेशी राजाओं में मनेन्द्र (MENADER) नामक एक प्रसिद्ध राजा हुआ, जिसने निर्ग्रन्थ मुनियों से धर्मतत्व सुना और जैनधर्म मे दीक्षित हो गये। मथुरा में कंकाली टीले से प्राप्त अनेक दि० जैन मूर्तियां ऐसी मिली हैं जिनके निर्माणकर्ता विदेशी शक राजा हुये, जिन्होंने जैनधर्म को अंगीकार कर लिया था।

कलिंगराज खारवेल ने पुष्यमित्र को परास्त करके जब कुमारी पर्वत पर ऋषियों का

महासम्मेलन किया तो उस सम्मेलन में समस्त देश के विभिन्न भागों से हजारों मुनिराज एकत्रित हुए। उस काल में मथुरा, उज्जैन, श्रावस्ती, राजगृह, जैनधर्म के केन्द्र थे जहां साधुओं के संघ विद्यमान थे। जब सम्राट् हर्ष भारत में राज्य शासन करते थे उस समय दि० मुनियों का सद्भाव था।

राजकवि बाण ने अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है कि राजा जब गहन जंगल में जा पहुँचा तो वहां उसने अनेक तरह के तपस्वी देखे। उनमें नग्न दिगम्बर आर्हत जैन साधु भी थे। हर्ष ने अपने महासम्मेलन में उन्हें शास्त्रार्थ के लिए बुलाया था और वे बड़ी संख्या में उपस्थित हुए। मध्यकालीन हिन्दू राज्य में दि० मुनियों का सद्भाव रहा। जैनाचार्य बप्पसूरि ने कन्नौज नरेश द्वारा सम्मान पाया। श्रावस्ती का सुहृदध्वज जैन नरेश था जिनके समय में दि० मुनियों का लोक कल्याण में निरत रहना स्वाभाविक है। शौरीपुर का राजा जितशत्रु जीवन के अन्तिम समय में मुनि धर्म को अंगीकार करके शान्तिकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परमारवंशीय राजाओं में मुंज और भोज अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। वे दोनों ही विद्या-रसिक थे। कवि धनपाल और उनके छोटे भाई जैनधर्म में दीक्षित हुये। ख्यातिप्राप्त आचार्य शुभचन्द्र ने भी राज्यपाट त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा स्वीकार की। दि० जैनाचार्य अमितगति भी इसी काल में हुये।

नीति वाक्यामृत और यशोधर चरित्र जैसे विशिष्ट ग्रन्थों का निर्माण करने वाले उद्भट् विद्वान् श्री सोमदेव सूरि इसी काल में हुए। भ० ऋषभदेव की भक्ति से ओतप्रोत प्रखर तपस्वी मानतुंग आचार्य इसी काल के ज्योतिर्मय नक्षत्र थे। मुनि मदनकीर्ति राजा अर्जुनदेव के गुरु थे। कविवर आशाधर जी ने अनेक साधुओं को जैन सिद्धान्त में निपुण बनाया। विशालकीर्ति महाराज के शिष्य मदनकीर्ति मुनिराज ने शास्त्रार्थ करके महा प्रमाणीक की पदवी पाई। गुजरात के प्रसिद्ध नगर अंकलेश्वर में भूतिवलि और पुष्पदन्ताचार्य ने आगम ग्रन्थो की उस समय रचना की थी। पटना में सोलंकी सिद्धराज की सभा में दि० जैनाचार्य कुमुदचन्द्र का देवसूरि श्वेताम्बराचार्य से शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। दि० जैनाचार्य ज्ञानभूषणजी ने दक्षिण भारत के प्रान्तों में जैनधर्म प्रचारार्थ अनेक उपदेशकों को नियुक्त कराया। इनके शिष्य श्री शुभचन्द्राचार्य हुए जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। वे अद्वितीयवादी और कुशल तार्किक थे। इनका सम्बन्ध दिल्ली से विशेष रहा। चन्देले राजा मदनवर्मदेव के समय में दि० मुनि धर्म उन्नत रूप मे था। तेरहवी शताब्दी में अनन्तवीर्य नाम के आचार्य हुए। इनने उपदेश से पद्मनाभ धर्म कायस्थ कवि ने यशोधर चरित्र की रचना की।

राजपूताना, मध्यप्रान्त, बंगाल आदि प्रान्तों में दि० मुनि निर्द्वन्द विचरण करते थे। अजमेर के चौहान राजाओ में दि० जैनधर्म का आदर था। मुनि पद्मनंदि और शुभचन्द्र के उपदेश से पृथ्वीराज और महाराजा सोमेश्वर ने बिजोलिया के पार्श्वनाथ मन्दिर के लिये दो गाँव अर्पित किये। दि० जैनाचार्य श्रीधर्मचन्दजी का महाराणा हमीर सम्मान किया करते थे। जब आठवीं शताब्दी के उपरान्त दक्षिण भारत मे दि० जैनो के साथ अत्याचार होने लगे तो उन्होंने अपना केन्द्र उत्तर भारत बनाया।

राजर्षि भर्तृहरि के वैराग्यशतक, मुद्राराक्षस, प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक, गीताध्याय आदि वैदिक ग्रन्थों में दि० धर्म की प्रशंसा और उल्लेख मिलता है।

दक्षिण भारत सदैव दि० जैनधर्म का केन्द्र रहा है। भ० बाहुबलि की मनोज्ञमूर्ति श्रमण-बेलगोला, कारकल, वेणूर इसका उज्वल उदाहरण है। दक्षिण मदुरा का मुनिसंघ प्रसिद्ध है जिसकी उच्चकोटि की आस्था, साहित्य निर्माण की प्रबल प्रेरणा के कारण तामिल साहित्य विश्व का देदीप्यमान प्रेरणास्पद साहित्य है। तिरुवल्लुवर, मणिमेखला, तामिलवेद इसके उदाहरण हैं। आचार्य सिंहनंदि जैसे प्रतापी मुनिराजों के आशीर्वाद से होय्यसल और गंगवंश की नींव पड़ी। विष्णुवर्धन से पराक्रमी महाराजा, चामुण्डराय जैसे प्रबल सेनापति इसके दीप्तमान उदाहरण हैं। राजा अमोघवर्ष को जैनशासनमय बनाने का श्रेय वीरसेन और जिनसेन जैसे दिग्गज महारथियों को है जिनके उपदेश के कारण महाराजा स्वयं जीवन के अन्तिम समय मुनिदीक्षा अंगीकार करते हैं। रत्न, पम्प, पोन्न जैसे कर्नाटक साहित्य की विभूति कविरत्नों को जन्म देने का श्रेय इसी मैसूर की स्वर्णमयी भूमि को है जहां खानों से सोना और नगरों से अहिंसात्मक रत्नों की निधि प्रकट होती है।

भ० महावीर स्वामी का समवशरण दक्षिण भारत पहुँचा। वहां का राजा जीवन्धर जैनधर्म में दीक्षित होकर मुनि हो गया। दक्षिण में मुनियों की अविच्छिन्न परम्परा सदा से चली आई है। यतीन्द्र कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, जैनाचार्य सिंहनंदि, जिन्होंने गंगवाड़ी का राज्य स्थापित किया। श्रीवादीभसिंह, श्रीनेमीचन्द्राचार्य, अकलंकदेव, जिनसेनाचार्य, विद्यानंदि, वादिराज, देवकीर्ति, श्रुतकीर्ति, शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र, दामनंदि, जिनचन्द्र, यशःकीर्ति, दिवाकर नन्दि, कल्याणकीर्ति आदि दिग्गज आचार्य हुये, जो अत्यन्त प्रतिभाशाली और दि० जैन संघ के चूड़ामणि थे। तामिल साहित्य का निर्माण करने वालों में वज्रनंदि, ऋषभाचार्य आदि प्रसिद्ध है।

राज्यवंशों में कदम्ब, चावामी, राष्ट्रकूट, होय्यसल, चालुक्य, गंग आदि जो राजा हुये उनके द्वारा अनेक दि० ऋषि पुंगव सदैव सम्मानित होते रहे। जब वर्धा के महाजन बन्धु दक्षिण भारत के पुडुकोत्तम स्टेट के दौरे पर गये तो उन्होंने पाया कि इस छोटी रियासत मे मुनियों के ऐसे केन्द्र थे जहां साधु रहकर आसपास प्रचारार्थ जाते थे।

मुसलमानी काल में साधुओं का सद्भाव जुगनू के प्रकाश की तरह यत्र-तत्र क्वचित् ही रहा। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज से ४५ वर्ष पूर्व संघभक्तशिरोमणि सेठ पूनमचन्द घासीलालजी एवं उनके सुपुत्रों ने उत्तर भारत में पदार्पण करने तथा तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा करने की प्रार्थना की तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार करके एक नये स्वर्णयुग का सूत्रपात किया। कविरत्न पं० भूधरदासजी जैसे मुनि भक्तों ने मुनिराजों के कभी दर्शन नहीं किये थे तभी तो भक्ति से तन्मय होकर कहते थे—'ते गुरु मेरे उर बसो; जे भव जलधि जहाज।'

हम लोगों का तीव्र पुण्योदय है कि हमने आचार्य महाराज और उनकी तेजस्वी शिष्य परम्परा के साक्षात् दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल किया है। वर्तमानकालीन मुनिराजों में मोरेना में मुनि अनंतकीर्ति महाराज, आरा में शुभचन्द्र और शिवभूतिजी, अग्नि की तीव्र ज्वाला से संतप्त होने पर भी समभाव से कष्ट सह घोरोपसर्ग-विजयी हुए। हैदराबाद आदि मुसलिम रियासतों में मुनियों के विहार में प्रतिबन्ध लगा। समाज के नेताओं ने मुनि धर्म का सही स्वरूप समझाकर उन अधिकारियों को उनका भक्त बना दिया। प्रतिभाशाली साधु कुन्थुसागरजी महाराज ने सुदासना, लसुड़ा, मोथिकपुरा, सिरोही आदि रियासतों में भ्रमण करके अहिंसात्मक भावनाओं को जाग्रत करने में अत्यन्त गौरवशाली कार्य किया। आचार्य सुधर्मसागरजी ने सभी मुनिराजों को शिक्षण देकर सुयोग्य ज्ञानी बनाया। आचार्य महावीरसागरजी नेमिसागरजी, नमिसागरजी, आचार्य महावीरकीर्तिजी, आचार्य शिवसागरजी एवं वर्तमान साधु आ० धर्मसागरजी, आ० कल्प श्रुतसागरजी, आचार्य देश-भूषणजी, आचार्य विमलसागरजी, परम प्रभावक मुनि विद्यानन्दजी आधुनिक मुनिमंडल के ऐसे प्रतिनिधि हैं जिन पर सारे देश को गर्व है। ये सभी अपने प्रभाव से जन साधारण में वीर शासन को लोकप्रिय बनाने में अग्रसर हैं। अनेक आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आज देश के विभिन्न भागों में विहार कर रहे हैं। इन सबके द्वारा ज्ञान और चारित्र की अपूर्व उन्नति हो रही है।

आचार्य देशभूषण जी महाराज भ० महावीर स्वामी की २५०० वीं निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय कमेटी की प्रथम बैठक में पार्लियामेन्ट भवन में पधारे। उनके वक्तव्य का अच्छा प्रभाव पड़ा। अब देश के किसी भी भाग में मुनिविहार पर पाबन्दी नहीं लग सकती। आज दि० जैन साधुओं की संख्या डेढ़ सौ के लगभग होगी। कुछ लोग उनकी आलोचना करते हैं। सुधार की भावना से आलोचना करना बुरा नहीं है परन्तु छिद्रान्वेषण करना बुरा है। हमारे साधु समाज में कमी हो सकती है। गृहस्थ और साधु दोनों मिलकर उसका निराकरण कर सकते हैं। आवश्यकता है साधु समाज में धार्मिक शिक्षण की। न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त और अध्यात्म विषयों की उन्हें पूरी जानकारी हो। ज्ञानाराधन में उनकी रुचि जगाना हमारा प्रथम कर्तव्य है। इसके बिना साधु समाज में जीवन शक्ति जाग्रत नहीं हो सकती।

संघ छोटे छोटे हों क्योंकि बड़े संघ सभी स्थानों पर रहने में कठिनाई का कारण बन जाते हैं। छोटे संघों द्वारा विभिन्न स्थानों को अधिक लाभ हो सकता है। संघ में एक कुशल व्युत्पन्न विद्वान अवश्य हो। नगरों की अपेक्षा देहातों में प्रचारकर्ता विशेष हो। अब सभी धर्मों के अनुयायी अध्यात्म और शान्तिवर्धक तत्वों के अभिलाषी हैं। आवश्यकता है किसी की आलोचना न करके अपने अहिंसात्मक सिद्धान्तों का सरल रूप में वर्णन किया जाय। जनता पर साधु समाज का प्रभाव पड़ता है। साधु मंगलस्वरूप हैं। आवश्यकता है वर्तमान मुनि समाज अपने सम्मुख समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानंदि जैसे मुनि पुंगवों का आदर्श रक्खें। ऐसे मुनिराज जहाँ पहुँचते हैं वहाँ सुभिक्ष रहता है। मुनियों का यह माहात्म्य है—

कलिकाले जगत्पूज्यं, निर्ग्रन्थस्य तपोधनाः ।
यं सेवामुपसर्पन्ति, दुर्भिक्षं तत्र नो भवेत् ॥

आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है—

काले कलौ चले चित्ते, देहे चान्नादिकीटके ।
एतच्चित्रं यदद्यापि, जिनरूपधरा नराः ॥

इस समय कलिकाल है। सभी के चित्त चलायमान रहते हैं। शरीर अन्न का कीड़ा बन गया है। ऐसे विकट समय में नग्न दिगम्बर जिन—रूप को धारण करने वाले पुरुष हैं यही आश्चर्य है।

अतः जैसे बने मुनि धर्म की रक्षा करना चाहिये।

"णमो लोए सव्व साहूणं"

मुनि—माहात्म्य

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दर रूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥

—आचार्य समन्तभद्र

अर्थ—तपोनिधि मुनियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र मिलता है, उन्हें यथाविधि दान देने से भोग, उनकी उपासना द्वारा पूजा, उनकी भक्ति करने से सुन्दर रूप तथा स्तवन करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

तीर्थंकर महावीर का निर्वाण-स्थल : मध्यमा पावा

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री

तीर्थंकर महावीर का निर्वाण मध्यमा पावा अथवा पावापुरी मे हुआ। इस पावापुरी की स्थिति कहाँ पर है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वर्तमान मे कुछ व्यक्ति अनुसंधान के नाम पर नये-नये स्थानों पर पुराने क्षेत्रों की कल्पना करने का प्रयास कर रहे हैं। तथ्य कहाँ तक इतिहास-सम्मत है, यह शोध का विषय है। जैन साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थो मे महावीर का निर्वाण-स्थान पावापुरी बताया गया है। कल्पसूत्र' (सूत्र १२३, पृष्ठ १६८ श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान सिवाना, राजस्थान) मे तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के विषय मे कहा गया है—'महावीर अन्तिम वर्षावास करने हेतु मध्यमा पावा के राजा हस्तिपाल के रज्जुकसभा-धर्मगृह मे ठहरे हुए थे। चातुर्मास का चतुर्थ मास और वर्षाऋतु का सप्तम पक्ष चल रहा था। अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या की तिथि थी। रात्रि का अन्तिम प्रहर था। श्रमण, भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए—ससार त्यागकर चले गये.....।'

दिगम्बर ग्रन्थों मे भी तीर्थंकर महावीर का निर्वाण मध्यमा पावा मे बताया गया है। 'प्राकृत प्रतिक्रमण' (पृष्ठ ४६) मे उल्लेख है—पावाए मज्झिमाए हत्थवालि सहाएनमसामि, अर्थात् मध्यमा पावा मे हस्तिपाल की सभा मे स्थित महावीर को नमस्कार करता हूँ। इसी तरह आशाधरजी ने भी 'क्रियाकलाप' मे लिखा हैं—'पावायां मध्यमायां हस्तिपालिका मण्डपे नमस्यामि'।

उक्त उल्लेखो से स्पष्ट है कि महावीर का निर्वाण मध्यमा पावा म राजा हस्तिपाल की रज्जुकशाला मे हुआ था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह रज्जुकशाला धर्मायतन के रूप मे होती थी। यहाँ विशिष्ट धर्मोपदेशक का धर्मोपदेश या प्रवचन होने के लिए पर्याप्त स्थान रहता था। सहस्रो व्यक्ति इस स्थान पर बैठ सकते थे। रज्जुकशाला मे चौरस मैदान के साथ एक किनारे पर भवन स्थित रहता था।

हस्तिपाल कोई बड़ा राजा नही था। सामन्त या जमीदार-जैसा था। उस युग मे नगराधिपति का भी राजा के नाम से उल्लेख किया जाता था, अतएव यह आशका की नही जा सकती कि मगध-नृपति श्रेणिक के रहते हुए निकट मे ही हस्तिपाल राजा का अस्तित्व क्यों कर सभव है। महावीर के समय मे प्राय: प्रत्येक नगर का अधिपति राजा कहा जाता था।

इस से अवगत होता है कि हस्तिपाल राजा मध्यमा पावा का स्वामी था और उसकी रज्जुकशाला मे महावीर का अन्तिम समवशरण लगा था तथा वही उनका निर्वाण हुआ था।

उक्त 'कल्पसूत्र' (सूत्र १२४ और १२७, संस्करण उपर्युक्त) मे यह भी बताया गया है कि जिस रात्रि मे श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, सम्पूर्ण दु:खों से मुक्त हुए उस रात्रि मे नौ मल्लसंघ के, नौ लिच्छवि सघ के अर्थात् काशी कोशल के १८ गणराजा अमावस्या के दिन आठ प्रहर का प्रोषधोपवास कर वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने यह विचार किया कि भावोद्योत ज्ञानरूप प्रकाश चला गया है, अत: अब हम द्रव्योद्योत-दीपावली प्रज्वलित करेंगे। 'कल्पसूत्र' उपर्युक्त उद्धरण से निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं :

(१) तीर्थंकर महावीर का निर्वाण राजा हस्तिपाल की नगरी पावापुरी मे हुआ,

(२) निर्वाण के समय नौ मल्लगण, नौ लिच्छविगण इस प्रकार काशी-कोशल के १८ गणराजा उपस्थित थे,

(३) अन्धकार के कारण दीपावली प्रज्वलित की गयी थी,

(४) उनका निर्वाण स्थल मध्यमा पावा था ।

अब विचारणीय है कि यह मध्यमा पावा कहाँ है । प्राचीन भारत में पावा नाम की तीन नगरियाँ थीं । श्वे० जैन सूत्रों के अनुसार एक पावा बंगदेश की राजधानी थी । यह देश पारसनाथ पर्वत के आसपास के भूमिभाग में अवस्थित था । वर्तमान हजारीबाग और मानभूम के जिले इसी में शामिल हैं । श्वे० जैन आगम ग्रन्थों मे भगी जनपद २५।। आर्यदेशों मे की गयी है । बौद्ध साहित्य में इसे मलय देश की राजधानी बताया गया है । मल्ल और मलय को एक मान लेने से ही पावा की गणना भ्रान्तिवश मलय देश मे की गयी है ।

दूसरी पावा कोशल से उत्तर पूर्व में कुशीनारा की ओर मल्लराजा की राजधानी था । मल्ल-जाति के राज्य की दो राजधानियाँ थी—एक कुशीनारा, दूसरी, पावा । सठिआँव-फाजिलनगर वाली पावा संभवत: यही है ।

तीसरी पावा मगध मे थी, जो राजगृही के निकट इसी नाम से आज भी विश्रुत है । यह उक्त दोनो पावाओ के मध्य मे थी । पहली पावा इसके आग्नेय कोण मे दूसरी इसके वायव्य कोण मे लगभग समान्तर पर थी । इसी कारण यह पावा के नाम से प्रसिद्ध थी ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस पावा का सम्बन्ध राजा हस्तिपाल की सभा से है । इस पावा मे श्वे० जैन सूत्रों के अनुसार महावीर का दो बार आगमन हुआ था । उनकी दो महत्वपूर्ण घटनाएँ इस नगरी के साथ संबद्ध है ।

प्रथम बार-केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर अगले ही दिन—भगवान् महावीर यहाँ पधारे । उन दिनो मध्यमा पावा मे, जो जृम्भक ग्राम से, जहाँ भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ था, लगभग १२ योजन दूर थी, आर्यसोमिल बड़ा भारी यज्ञ कर रहा था। इस यज्ञ मे देश देशान्तर के अनेक विद्वान् सम्मिलित हुए थे । महावीर इस अवसर से लाभ उठाने की दृष्टि से मध्यमा पावा आये । मध्यमा पावा के महासेन उद्यान मे वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन उनका दूसरा समवशरण लगा । उनका उपदेश एक प्रहर तक हुआ उपदेश की चर्चा समस्त नगर मे फैल गयी । आर्यसोमिल के यज्ञ मे सम्मिलित हुए इन्द्रभूति आदि ११ विद्वान् ज्ञानमद से उन्मत्त हो अपने विद्वान् शिष्यो के साथ महावीर से शास्त्रार्थ करने पहुँचे । उनका उद्देश्य महावीर से विवाद करके उन्हें पराजित कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना था, पर वहाँ पहुँचते ही उनका ज्ञानमद विगलित हो गया और उन्होने भगवान् महावीर से श्रमण-दीक्षा ले ली । इसी दिन महावीर ने मध्यमा पावा के महासेन उद्यान मे चतुर्विध-संघ की स्थापना की ।

द्वितीय घटना महावीर के निर्वाण की है । महावीर चम्पा से विहार कर मध्यमा पावा, या अपापा पधारे । इस वर्ष का वर्षावास हस्तिपाल की रज्जुक-सभा मे व्यतीत हुआ । चातुर्मास मे दर्शनों के लिए आये हुए राजा पुण्यपाल ने भगवान से दीक्षा ली । कार्तिकी अमावस्या के प्रातःकाल अपने जीवन की समाप्ति निकट समझकर अन्तिम उपदेशों की अखण्डधारा चालू रखी ।

श्वेताम्बर वाङ्मय के आधार पर प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त विवेचन से मध्यमा पावा की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है ।

मध्यमा पावा और जृम्भक ग्राम में इतना अन्तर होना चाहिये कि जिससे एक दिन में जृम्भक ग्राम से मध्यमा पावा पहुँचा जा सके। यह अन्तर अधिक से अधिक १२ योजन दूरी का हो सकता है। उल्लेख है कि तीर्थंकर महावीर का केवलज्ञान-स्थान जृम्भीक ग्राम, अर्थात् जम्भीय ग्राम है। यह ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जमुई गाँव है, जो वर्तमान मुंगेर से ५० मील दक्षिण में स्थित है। यहाँ से राजगृह की दूरी ३० मील, या १५ कोस है। पावापुर और राजगृह की दूरी भी अधिक-से-अधिक २५ मील है। इस प्रकार जमुई से पावापुर की दूरी १० योजन अधिक नहीं है। यदि सठिआँववाली पावा को मध्यमा पावा माना जाए तो जम्भीय ग्राम से यह पावा कम-से-कम १००-१५० मील की दूरी पर स्थित है। इतनी दूरी को वैशाख शुक्ला दशमी के अपराह्न काल से वैशाख शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न काल तक तय करना सम्भव नहीं है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्वेताम्बर सूत्र-ग्रन्थों में बताया गया है कि तीर्थंकर महावीर चम्पानगरी में चातुर्मास पूर्ण कर जम्भीय गाँव में पहुँचे। वहाँ से मेढीय होते हुए छम्माणि गये। छम्माणि से वे मध्यमा पावा आये। महावीर के इस बिहार-क्रम का भौगोलिक अध्ययन करने पर दो तथ्य प्रस्तुत होते हैं—

(१) छम्माणि ग्राम की स्थिति चम्पा और मध्यमा पावा के मध्यमार्ग पर होना चाहिये। मेढीय ग्रामकी दो स्थितियाँ मानी जाती हैं। एक स्थिति तो राजगृह और चम्पा के मध्य की औरदूसरी श्रावस्ती और कौशाम्बी के मध्य की। यदि महावीर ने चम्पा से चलकर श्रावस्ती और कौशाम्बी के मध्य वाले मेढीय ग्राम में धर्मसभा की हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। कहा जाता है कि गोशालक की तेजोलेश्या के प्रयोग के पश्चात् महावीर श्रावस्ती और कौशाम्बी के मध्यवर्ती मेढीय ग्राम के शालिकोष्ठक चैत्य में पधारे थे। महावीर के बिहार-वर्णन में आता है कि मध्यमा पावा से वे जम्भीय ग्राम गये और वहाँ उन्हें केवलज्ञान हुआ और वहाँ से राजगृह आये।

(२) बिहार-वर्णन से पावा की स्थिति चम्पा और राजगृह के मध्य होनी चाहिये, अतः चम्पा से मध्यमा पावा होते हुए राजगृह गये और वहाँ से वैशाली। अतएव तीर्थंकर महावीर की निर्वाण-स्थली पावा, चम्पा—राजगृह के मध्य होनी चाहिये।

गणराजाओं के वर्णन से पावापुरी की वास्तविक स्थिति के संबंध में निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(१) महावीर के निर्वाण में नौ मल्ल और नौ लिच्छवि ये १८ गणराजा पावापुरी में सम्मिलित थे। यदि सठिआँववाली पावा में वे सम्मिलित होते तो दूरी इतनी अधिक हो जाती कि उनका वह निर्वाणोत्सव में सम्मिलित होना असंभव हो जाता।

(२) हस्तिपाल पावापुर का शासक था और यह राजा सिंह का पुत्र था। यदि इसे हम मल्लगण के अन्तर्गत मान लें तो भी अनुचित नहीं है। अतः चेटक की सहायता भी मल्लों ने की थी और यह भी उसी मल्लगण के अन्तर्गत था।

(३) बौद्धों ने जिस पावा में भोजनग्रहण किया था और जो कुशीनगर के पास सठिआँव के रूप में मान्य है उसका नृपति हस्तिमल्ल नहीं है। हस्तिमल्ल का किसी भी बौद्ध ग्रन्थ में उल्लेख नहीं आता। जैन ग्रन्थों में हस्तिमल्ल महावीर के प्रथम समवशरण में भी उपस्थित होता है, जिसका संयोजन पावापुरी (नालंदा के निकटवर्ती) में हुआ था। निर्वाण लाभ करने के समय महावीर ने अपना अन्तिम चातुर्मास हस्तिमल्ल की मध्यमा पावा की रज्जुकशाल में किया था। अतः जैन साहित्यों के प्रचुर प्रमाणों के आधार पर वर्तमान पावापुरी ही तीर्थंकर महावीर की निर्वाण-भूमि है।

●●
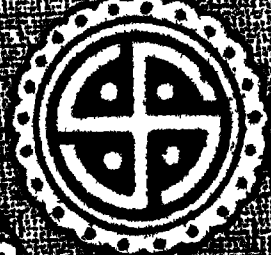
खण्ड
५
परिशिष्ट

मृत्यु–एक मंगल महोत्सव

निहालचन्द जैन एम० एस–सी०

(व्याख्याता–नौगांव, म० प्र०)

□

मृत्यु—जन्म की अपर संज्ञा

जीवन एक सेतु है, जिस पर रुकना नही, जिस पर से गुजरना होता है। जन्म और मृत्यु इस सेतु के दो छोर है। वस्तुतः जीवन ही मृत्यु का क्रमिक विकास है। जन्म और मृत्यु दो विरोधी तथा उल्टे नही है। लेकिन यह झूठा भ्रम न जाने कब से पलता आ रहा है कि मृत्यु, जीवन और जन्म का उल्टा है। प्रकाश का अस्तित्व अन्धकार से है। जिसने अन्धकार में जीना नही सीखा वह प्रकाश की महत्ता को कैसे स्वीकार करेगा ? नये सृजन के लिए पुराने का विसर्जन अनिवार्य है। जब भी नया जीवन पाया गया, मृत्यु के आंचल से पाया गया। जीवन मे जन्म और मृत्यु इस द्वैत को मानने वालों ने इसे खण्ड-खण्ड करके देखा है और खण्ड-खण्ड करके जाना और जिया गया जीवन—अपने मे अपूर्ण तथा अधूरा होता है।

मृत्यु—एक शाश्वत तथ्य

संघर्षमय जीवन ही सुख की सेज चढ़ा करते है। जिसने दुख नही जाना वह सुख का अनुभव कैसे कर सकेगा ? संसार मे कोई वस्तु निरपेक्ष नही है। सभी सापेक्ष अस्तित्वगत हैं। मृत्यु से भयभीत जीवन कभी जीत नही पाये और पराजित जीवन एक टूटा हुआ जीवन होता है। टूटा हुआ जीवन क्या शान्ति और आनन्द पा सका ? मृत्यु के मूल्य पर ही अमृत मिलता है। बूंद जब अपने को सागर मे मिटा देती है तो सागर बन जाती है।

मित्र ! मृत्यु की कला सीखें। मृत्यु को जानने वाला जीवन को भलीभांति जान गया होता है। जब कोई मृत्यु को गले लगा लेता है तो मृत्यु हार जाती है क्योकि मृत्यु को गले लगाने वाला मृत्युञ्जय हो जाता है। जीवन मे यदि कोई निश्चित तथ्य है तो वह मृत्यु है। जीना तो मात्र एक अवसर है। मृत्यु की अनिवार्यता जन्म की गोद मे पलती है।

मृत्यु में भय की पीड़ा क्यों ?

कुछ प्रश्न हैं कि व्यक्ति इस शाश्वत सत्य से इतना अपरिचित क्यों रहता है ? क्यों वह मृत्यु के स्मरणमात्र से सिहर उठता है ? जो आने वाला है उसे आमन्त्रणपूर्वक क्यों नहीं बुलाता ?

मरणोपरान्त जीवात्मा कहां जायेगी—सुख के अनन्त सागर में या दुख के पीड़ान्तक नरक में, यह कोई स्वयं नहीं जानता । यह दोनों सम्भावनायें उसके लिए अज्ञात हैं । यह भविष्य की भवितव्यतायें हैं । फिर इस अज्ञात सम्भावना के लिए इतना भय क्यों ? वस्तुतः भय उसे अज्ञात का नहीं है, भय तो ज्ञात के छूट जाने का है । जो भी वर्तमान जीवन में पाया गया, उससे अलग हो जाने की मर्मान्तिक पीड़ा बेधती है मन को । आसक्ति की डोर जीवन को पदार्थों से ऐसे बांधे हुए है कि अज्ञानी जीव उससे उपरत नहीं हो पाता । मोह की विडम्बनायें उसे ऐसे भ्रमपूर्ण ऐन्द्रियक–जाल मे लपेटे हुए हैं कि वह उनसे छूट नहीं पाता । इतना साहस नहीं जुटा पाता कि अपने को इनसे अलग अनुभव करने लगे । उसे अनुरागी स्वजन और आंख के झूठे रिस्ते मिले हुए हैं । मृत्यु इन सभी ज्ञात से अलग कर देती है । इस अलग होने की पूर्ण सम्भावना में वह भयभीत है । स्वयं जीर्ण हो जाता है परन्तु तृष्णायें कहां जीर्ण हो पाती हैं ? आसक्ति और मोह की जड़ें जीवन में जितनी गहरी पैठीं होती हैं, मृत्यु उसे उतनी ही भयावह दिखती है । यही कारण है कि धनपति जब मरने लगता है तो उसका थका परितप्त शरीर, आंखों से आंसू बहाने लगता है । जिनका जीवन जड़ता मे जितना डूबा रहता है वे मृत्यु से उतना ही दूर भागना चाहते हैं परन्तु हँसी यह है कि वे मृत्यु के उतने ही निकट होते हैं ।

मृत्यु से–अमृत की प्राप्ति

जिन जीवों का चित्त संसार मे अनुरंजित है और अपने रूप की सच्ची गति नहीं जानते, मृत्यु उन्हें दुखकर मालूम देती है । किन्तु जो महान् आत्मायें आत्म-स्वरूप को अपने भेद–विज्ञान के द्वारा जानतीं है और जो वैराग्यधर हैं उनके लिए मृत्यु—आनन्दप्रद होती है ।

अज्ञानी के लिए जो मृत्यु तापकारी और अतिशय दुख का हेतु है, ज्ञानी के लिए वही मृत्यु अमृत (मोक्ष) की संगति का कारण हो जाया करती है । जैसे कच्चा घड़ा अग्निसंस्कार करने पर पक्व हो जाता है और तभी वह अमृत (जल) की संगति के योग्य बन पाता हैं । ऐसा ज्ञानी और निस्पृही जिसने संसार को नाटक के रंगमंच की भाँति जाना है और जिसने मात्र दृष्टा रहकर जीवन में जीना सीखा है वह मृत्यु को जीवन का मंगल त्यौहार मानता है । ऐसे लोग मृत्यु के वरण के लिए पहिले से तैयार बैठे होते हैं । उन्हें मृत्यु अमृत और आनन्द बनकर आती है । वे मुस्कराते हैं क्योंकि अज्ञानी जिस देह के नष्ट हो जाने के लिए कांपता है, वह तो गलने और नष्ट होने के लिए ही है । पुद्गल इसीलिए इसे कहते हैं । इस कारण के पीछे इतनी दुश्चिन्ता क्यों ?

२ क्षु० श्री आ० महावीरकीर्ति

समाधिमरण—एक आदर्श मरण

इस शरीर के कारागृह से मुक्त हुए बिना परम स्वातंत्र्य की अनुभूति कैसे पायी जा सकती है ? शरीर मे आबद्ध हमारी चेतना, मृत्यु के मंगल सोपान से गुजरकर ही निर्बन्ध और ऊर्ध्वगामी बन सकती है । इसलिए श्रमण साधु या योगी की सम्पूर्ण जीवन-साधना, समाधिमरणपूर्वक शरीर को त्यागने में हुआ करती है ।

समाधिमरण—मृत्यु को जीतेजी देखने की कला है । जो मृत्यु को वरदान मानकर उसे पुकारते हैं उनके लिए मृत्यु कल्पद्रुम बनकर आती है । जो उन्हें पाना है, उस प्राप्ति का हेतु बनकर आती है । ज्ञानी पुरुष अपने कल्याण की सिद्धि के लिए मृत्यु का अभिनन्दन करता है । अन्यथा येही जीव संसार मे डूब कर क्या कर पाता है ? वही पंचपरावर्तन का कुचक्र, वही दुख की नियतियां और संतापो की शृंखलायें । हर बार पश्चाताप में मरण को प्राप्त होकर नई दुखमूलक संततियों को लेकर जन्म लेता है । ऐसे अज्ञानी के लिए मृत्यु अभिशाप बनकर आती है । उन्होंने जीवन के दूसरे पक्ष को बिलकुल उपेक्षित कर दिया होता है । वे जीवन को सम्हालने मे ही जीवन को खो देते हैं ।

किसी को जीतना है तो मित्र बनाना होता है । शत्रु बनाकर किसी पर विजय नहीं पायी गयी । मृत्यु को जीतना है तो उसे जीवन का मित्र मानना होगा । उसके साथ एकात्मकता करनी होगी । जिस दिन जीवन मृत्यु के साथ रहने को राजी होता है उस दिन जीवन परम जीवन बन जाता है ।

समाधिमरण या सल्लेखना : इस मृत्यु पर विजय पाने की कला है, एक प्रयोग है । यह प्रयोग शब्दो मे लिखने का नही, वहां तो स्वयं के अर्घ्य और अनुष्ठान की अपेक्षा है । यह वह वज्र के चने हैं जिन्हें दृढ़ संकल्पो के सुमेरुओं से दला जा सकता है । जीवन मे जो भी सत है जो भी सत्व है, उसकी सुरक्षा के लिए अपने परिणामों में परम विशुद्धि धारण करते हुए काय और कषायों को छोड़ना ही सल्लेखना है । बहुधा काय तो छूट जाता है परन्तु कषाये उसके सूक्ष्म शरीर के साथ वैभाविक भावों के रूप मे छायावत् पीछा करती चली जाती है । लेकिन योगी और वीतरागी पुरुष सल्लेखना से जीवन को और शुद्ध करता है । जैसे स्वर्ण अग्निसंस्कार के सोलह तापों से गुजरकर निखर जाता है, ठीक इसी प्रकार जीवन मे समाधिमरण का अवतरण उसे उस विशुद्धता की ओर ले जाता है, जहां जीवन की सम्पूर्णता है । जैसे सांप कांचुली उतार देता है, ऐसे ही ज्ञानी और वीतरागी आत्मा, समाधिमरण धारण कर व्याधिजनित शरीर को छोड़ देता है । वह फिर उससे राग नहीं करता है । वह यम को चुनौती देकर आंखों से हंसते मृत्यु को देखता है । वह मृत्यु को साक्षीभाव से ग्रहण करता है ।

मृत्यु में जीना—एक अपराजेयता

मृत्यु को जीतेजी देखना—परम साहसी और पराक्रमी पुरुष को ही कहानी हो सकती है। जिन्होंने जीवन को ही नहीं पहिचाना, वे मृत्यु को कैसे देख सकते हैं। क्योंकि मृत्यु, जीवन से अलग वस्तु नहीं है। कायर पुरुषों के पास मृत्यु आती है कि इसके पहिले ही वे आँख मूँद लेते हैं। मृत्यु आने के पहिले ही वे मर जाते हैं।

मृत्यु को देखने वाले मृत्युञ्जयी के लिए मृत्यु चिरनिद्रा बनकर नहीं बल्कि चिर जागरण बनकर आती है। उन्हें वह त्राण बनकर नहीं बल्कि परित्राण बनकर उद्बोधती है। अज्ञानी को ही मृत्यु मूर्च्छा हुआ करती है। जिसने सम्यक्दृष्टि प्राप्त कर ली ऐसे सम्यक्त्वी के लिए मृत्यु, प्रज्ञा बन जाती है।

जिन्होंने मृत्यु को जीत लिया होता है, उनका जीवन प्रकाश बन जाता है। भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव पर लोग दीपक जलाकर क्यों प्रकाश करते है ? वस्तुतः वे प्रज्वलित दीप उनके जीवन के द्योतक हैं जिन्होंने मृत्यु को जीत लिया है और जो समर्पण के मूल्य पर प्रकाश बन गये हैं। किसी भी महापुरुष के आगे 'स्वर्गीय' शब्द क्यों नहीं आता ? वे मरते तो हैं परन्तु अजन्मा हो जाते हैं। वह मृत्यु जिसमें जन्म की शृंखला नहीं जुड़ी होती है, अमृत बन जाती है। हमारी मृत्यु—नये-नये जन्मों की दायिनी बनकर आती है, इसलिए ऐसी मृत्यु एक मंगल महोत्सव नहीं बन पाती है। जहां मृत्यु—अजन्मा बनकर आती है वह मृत्यु एक मंगल महोत्सव ही हुआ करती है। हम ऐसी मृत्यु के लिए क्यों न प्रतीक्षारत रहें ?

मृत्यु से भय क्यों ?

संसारासक्त चित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सापि ज्ञान-वैराग्य-वासिनाम् ॥

अर्थात्–जिन पुरुषों का चित्त संसार में आसक्त है, वे मृत्यु से भयभीत रहते हैं किन्तु जिनका चित्त ज्ञान और वैराग्य में लवलीन है, वे मृत्यु को सामने देखकर भी प्रसन्न होते हैं।

जैनधर्म ही राष्ट्रधर्म हो सकता है

राजकुमार शास्त्री, निवाई (राजस्थान)

□

जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसे हम 'विश्वधर्म', 'राष्ट्रधर्म' या 'आत्मधर्म' के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इसके तीन महान सिद्धान्त, अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह, आज सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप में मान्य हो सकते हैं, और ये ही सिद्धान्त अगर स्वीकार कर लिये जावें, तो सारे विश्व के सभी विवाद और उलझी हुई सारी समस्याएँ स्वयं ही सुलझ सकती हैं। विवाद और संघर्ष, दुष्प्रवृत्तियों का उद्गम, स्वार्थ, एकांत आग्रह और स्वयं को ही सुखी रखने हेतु दूसरों के अधिकारों का हनन तथा अपनी आकांक्षाओं की निरंतर पूर्ति हेतु संग्रह करना, यदि मानव इन बातों पर संयम कर ले तो फिर विवाद, संघर्ष और गरीबी (अभाव-अभियोग) स्वयं समाप्त होकर विश्व शांति हो सकती है।

आज विश्व युद्धों की लिप्सा और उससे होने वाली वीभत्सता, विनाश-लीला से इतना तंग आ गया है, कि उसका झुकाव आज स्वयं ही अहिंसा-सिद्धांत की महत्ता की ओर होने लगा है और यह महसूस करने लगा है, कि युद्ध और भौतिक प्रसाधन, सुख शांति नहीं ला सकते हैं। मानव की इच्छाएं असीमित होती जा रही हैं और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह किस कदर दानव बनता जा रहा है, जो निरंतर अधःपतन का सूचक है। जैनधर्म का यह नारा कितना सुखावह है—'जियो और जीने दो,' 'रहो और रहने दो,' सब को सुखी बनाओ और 'सबसे प्रेम करो'। आज के राष्ट्र इन नारों पर चलने लगें, तो कल ही युद्ध, ईर्ष्या, धोखेबाजी, कलह समाप्त हो सकती है। हिंसा शरीर पर, भूमि पर अधिकार जमा सकती है, किंतु हृदय नहीं जीत सकती। फलतः हिंसा पुनः-पुनः उभरती है और विनाश-लीला चहकती रहती है तथा अशांति बढ़ती रहती है। अतः अहिंसा का महत्व बड़ा है।

अनेकांती, दुराग्रही नहीं रहता। वह दूसरों के सही पक्ष को समझता है। अतः उस अपेक्षा से उसे भी मान्यता देता है, जो दुराग्रही नहीं है, वह संकीर्ण या अनुदार तथा सम्प्रदायवादी भी नहीं होता। असहिष्णुता तो उसमें लेश-मात्र भी नहीं होती। अतः वह समन्वयात्मक दृष्टि अपनाता है। इसे ही हम 'सेक्यूलर स्टेट' सम्प्रदायातीत राष्ट्र कह सकते हैं। इसमें सभी धार्मिक विवाद समाप्त हो सकते हैं। अतः अनेकांत सिद्धांत कितना सुखावह, कितना शांतिकर और सापेक्षतावादी रूप है।

अपरिग्रह का सिद्धांत तृष्णाओं, लालसाओं और भोगवाद पर क्रूर प्रहार करता है। यह

आवश्यकताओं को सीमित करता है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की मुमानियत करता है। विश्व में अशांति का मुख्य कारण संग्रहवृत्ति है और इसी अभिवृद्धि की पूर्ति के लिए, दूसरों के अधिकार की वस्तु को यह छीनने का प्रयत्न करता है। दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि वस्तुएं तो सीमित हैं, और हर व्यक्ति को उसकी जरूरत है। जब एक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संग्रहीत कर लेगा, तो दूसरा उनसे वञ्चित रहेगा। यही भाव डाकू प्रवृत्ति को जन्म देता है, संघर्ष होते हैं और अशांति पैदा हो जाती है। सुख, संग्रह में नहीं, त्याग मे है। यह प्रवृत्ति अपरिग्रह को जन्म देती है। अतः हम चाहें दार्शनिक दृष्टि से देखें, चाहे तर्कणा और चाहे विचार-व्यवहार की दृष्टि से देखे तो जैनधर्म के सिद्धांत ही विश्वधर्म होने की क्षमता रखते हैं।

काश ! इनकी उपयोगिता और महत्व पर विवेचन देकर इन सिद्धांतों को हम विश्व के सभी राष्ट्र निर्माताओं, प्रशासकों एवं सर्वविज्ञ मानवों तक पहुँचा सकें और साथ ही स्वयं अपने जीवन मे उतार सकें तो जैनधर्म की बड़ी प्रभावना कर सकेंगे।

●●

धीर, वीर और सहिष्णु

प्रेमचन्द्र जैन (हकीम)

सुखदेव सदन, फीरोजाबाद

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज फीरोजाबाद की अप्रतिम विभूति थे। अपने प्रखर पाण्डित्य, उग्र तपश्चरण एवं तीव्र क्षयोपशम से सम्पूर्ण साधु-समाज में उन्होंने गौरवपूर्ण स्थान बना लिया था, जीवन के अवसानोन्मुख प्रहर में वे प्रायः एकान्त पर्वतीय स्थानों (विशेषतः सिद्ध क्षेत्रों पर ठहरना पसन्द करने लगे थे। चारों अनुयोगों का उनका अध्ययन बहुत गहरा था। धार्मिक विषयों पर जब भी कोई विवाद होता था, उनका निर्णय अन्तिम माना जाता था। वे जैन सिद्धान्त के अधिकारी विद्वान् और प्रवक्ता थे।

तंत्र-मंत्र एवं निमित्त विज्ञान के भी वे पारखी एवं विशिष्ट विद्वान् थे। कभी-कभी अनायास उनके श्रीमुख से ऐसी बातें निकल जाती थीं, जिन्होंने बाद में सफल भविष्यवाणी की संज्ञा प्राप्त की। उनके आशीर्वाद में बड़ा बल था। भारत का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ उनके भक्त नहीं हों। उनका प्रभाव बहुत व्यापक था।

उपसर्गजयी साधु के रूप में उनकी ख्याति उत्कर्ष पर थी। उन सरीखा धीर, वीर और सहिष्णु सन्यासी दुर्लभ ही है। साधु-संस्था की मर्यादा का पालन करने में वे बहुत कट्टर थे। नियमों का अतिक्रमण न तो वे स्वयं करते थे और न दूसरों के द्वारा किया जाना सहन करते थे। उनका अनुशासन कठोर था।

जब-जब उनका स्मरण हो आता है, तब-तब उनकी सौम्य आकृति मन-आँखों में तैर उठती है। शिष्यों और भक्तों पर उनका वात्सल्य अद्भुत था। उनके पुनीत चरणों में मैं अपनी विनम्र श्रध्दांजलि अर्पित करता हूँ।

आचार्यश्री से उपदिष्ट मंत्र-संग्रह

□

जिन ध्वनियों का मन के साथ घर्षण होने से दिव्य ज्योति प्रकट होती है उन ध्वनियों के समुदाय को मंत्र कहते हैं। प्रभावशाली, रहस्यमय, शब्दात्मक वाक्य को भी मंत्र कहते हैं।

'मंत्र' यह शब्द 'मन्' धातु (दिवादि ज्ञाने) से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय लगकर बनता है। इसका व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ होता है—'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश-निजानुभव जाना जावे, वह मंत्र है। तनादिगणीय 'मन्' धातु से (तनादि अवबोधे) ष्ट्रन् प्रत्यय लगकर भी मंत्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ—मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जावे, वह मंत्र है। इसीप्रकार सम्मानार्थक 'मन्' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगकर भी मंत्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्ति अर्थ है—'मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिताः -आत्मानः वा यक्षादिशासनदेवता अनेन इति मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा परमपद में स्थित पंच महान् आत्माओं का अथवा यक्षादि शासनदेवों का सत्कार किया जावे, वह मंत्र है।

मंत्र शास्त्रों में मंत्रों के अनेक भेद बताये गये हैं उनमें से मुख्य ६ हैं।

१. स्तम्भन—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा सर्प, व्याघ्र, सिंह आदि भयंकर जन्तुओं को, भूत, प्रेत, पिशाच आदि दैविक बाधाओं को, शत्रुसेना के आक्रमण तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले कष्टों को दूर कर इनको जहाँ के तहां निष्क्रिय कर स्तम्भित कर दिया जावे उन ध्वनियों के सन्निवेश को स्तम्भन मंत्र कहते हैं।

२. मोहन—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा किसी को मोहित कर दिया जावे उन ध्वनियों के सन्निवेश को मोहन मंत्र कहते हैं।

३. उच्चाटन—जिन ध्वनियों के सन्निवेश के घर्षण द्वारा किसी का मन अस्थिर उल्लासरहित एवं निरुत्साहित होकर पदभ्रष्ट एवं स्थानभ्रष्ट हो जावे, उन ध्वनियों के सन्निवेश को उच्चाटन मंत्र कहते हैं।

४. वश्याकर्षण—जिन ध्वनियों के सन्निवेश के घर्षण द्वारा इच्छित वस्तु या व्यक्ति, साधक के पास आ जावे, किसी का विपरीत मन भी साधक की अनुकूलता स्वीकार करले, उन ध्वनियों के सन्निवेश को वश्याकर्षण मंत्र कहते हैं।

५. जृम्भण—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा शत्रु, भूत, प्रेत, व्यन्तर, साधक की साधना से भयत्रस्त हो जावें, कांपने लगें, उन ध्वनियों के सन्निवेश को जृम्भण मंत्र कहते हैं।

६. विद्वेषण—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा कुटुम्ब, जाति, देश, समाज, राष्ट्र आदि में परस्पर कलह और और वैमनस्य की क्रान्ति मच जावे, उन ध्वनियों के सन्निवेश को विद्वेषण मंत्र कहते हैं।

७. मारण—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा साधक, आततायियों को प्राणदण्ड दे सके, उन ध्वनियों के सन्निवेश को मारण मन्त्र कहते हैं।

८. शान्तिक—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा भयंकर से भयंकर व्याधि, व्यन्तर-भूत-पिशाचों की पीड़ा, क्रूरग्रह-जंगम स्थावर विष बाधा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्षादि ईतियों और चौर आदि का भय प्रशांत हो जावे, उन ध्वनियों के सन्निवेश को शांति मंत्र कहते हैं।

९. पौष्टिक—जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण द्वारा सुख-सामग्रियों की प्राप्ति तथा सन्तान आदि की प्राप्ति हो, उन ध्वनियों के सन्निवेश को पौष्टिक मंत्र कहते हैं।

मंत्र सिद्धि के लिये चार पीठों का विवेचन जैन शास्त्रों में मिलता है।

१. श्मशानपीठ—भयानक श्मशान भूमि में जाकर मंत्र की आराधना करना श्मशान पीठ है। भीरु साधक इस पीठ का उपयोग नहीं कर सकता। इस पीठ में सभी प्रकार के मंत्रों की साधना की जा सकती है।

२. शवपीठ—मृतक कलेवर पर आसन लगाकर जो कर्णपिशाचिनी, कर्णेश्वरी आदि विद्याओं की सिद्धि के लिये मंत्र साधना की जाती है उसे शवपीठ कहते हैं। आत्मसाधना करने वाला इस घृणित पीठ से दूर रहता है।

३. अरण्यपीठ—हिंसक जंतुओं से समाकीर्ण एकान्त निर्जन स्थान में जाकर निर्भय एकाग्रचित्त से मंत्र की आराधना करना अरण्यपीठ है। णमोकार मंत्र की आराधना के लिये सबसे उत्तम यही पीठ माना गया है।

४. श्यामापीठ—एकान्त निर्जन स्थान में षोड़शी नवयौवना सुन्दरी को निर्वस्त्र कर सामने बैठाकर मंत्र सिद्ध करना एवं अपने मन को तिलतुष मात्र भी चलायमान न करना तथा ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ रहना श्यामापीठ है।

इन चारों पीठों का उपयोग मंत्र-सिद्ध के लिये किया जाता है लेकिन मुमुक्षु को णमोकारादि मंत्र की साधना के लिये इस प्रकार के पीठों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

वश्य, आकर्षण और उच्चाटन मंत्रों में 'हुं' का प्रयोग, मारण में 'फट्' का प्रयोग, स्तम्भन, विद्वेषण और मोहन मंत्रों में 'नमः' का प्रयोग एवं शान्ति और पौष्टिक के लिये 'वषट्' शब्द का प्रयोग

किया जाता है। मंत्र के अन्त में 'स्वाहा' शब्द रहता है। यह शब्द पापनाशक, मंगलकारक, तथा आत्मा की आन्तरिक शान्ति को उद्‌बुद्ध करने वाला है।

मंत्रों में बीजाक्षर रहते हैं। वे मन्त्रों के प्राण हैं। बीजकोष में बताया है कि ॐ बीज समस्त णमोकार मन्त्र से, ह्रीं की उत्पत्ति णमोकार मन्त्र के प्रथम पद से, श्रीं की उत्पत्ति णमोकार मन्त्र के द्वितीय पद से, क्षीं और क्ष्वीं की उत्पत्ति णमोकार मन्त्र के प्रथम, द्वितीय और तृतीय पदों से, क्लीं की उत्पत्ति प्रथम पद में प्रतिपादित तीर्थंकरों की यक्षिणियों से, अत्यन्त शक्तिशाली सकल मन्त्रों में व्याप्त 'हूँ' की उत्पत्ति णमोकार मन्त्र के प्रथम पद से, द्रां द्रीं की उत्पत्ति उक्त मन्त्र के चतुर्थ और पंचमपद से हुई है। ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः ये बीजाक्षर प्रथम पद से, क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षौं क्षः बीजाक्षर प्रथम द्वितीय और पंचमपद से निष्पन्न हैं। णमोकार मन्त्रकल्प, भक्तामर यन्त्रमन्त्र, कल्याणमन्दिर यंत्र मंत्र, यंत्र मंत्र संग्रह, पद्मावती मन्त्रकल्प आदि मांत्रिक ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि समस्त मन्त्रों के रूप बीजपल्लव णमोकार महामन्त्र से निकले हैं।

मन्त्र निर्माण के लिए बीजाक्षरों की आवश्यकता होती है। बीजाक्षर निम्न हैं—

ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः हा ह सः क्लीं क्लूं द्रां द्रीं द्रूं द्रः श्रीं क्षीं क्ष्वीं हूँ षं फट्, वषट्, संवौषट्, घे घैः यः ठः खः हल्व्यूँ पं वं यं झं तं थं दं आदि। साधारण व्यक्ति को उक्त बीजाक्षर निरर्थक प्रतीत होते हैं किन्तु हैं ये सार्थक। इनमें ऐसी शक्ति अन्तर्निहित है जिससे आत्मशक्ति या देवताओं को उत्तेजित किया जा सकता है। ये बीजाक्षर अन्तःकरण और वृत्ति की शुद्ध प्रेरणा के व्यक्त शब्द हैं। इनसे आत्मिक शक्ति का विकास किया जा सकता है।

उक्त बीजाक्षरों की उत्पत्ति प्रधानतः णमोकार मन्त्र से ही हुई है क्योंकि मातृका ध्वनियाँ इसी मन्त्र से उद्‌भूत हैं। इन सबमें मुख्य 'ओं' बीज है, यह आत्मवाचक मूलभूत है। इसे ही तेजोबीज, कामबीज और भवबीज माना गया है। पंचपरमेष्ठी वाचक होने से 'ओं' को समस्त मन्त्रों का सारतत्व बताया गया है। इसे प्रणववाचक भी कहा जाता है। श्रीं को कीर्तिवाचक, ह्रीं को कल्याणवाचक, क्षीं को शांतिवाचक, हूँ को मंगलवाचक, ॐ को सुखवाचक, क्ष्वीं को योगवाचक, ह्रूं को विद्वेषवाचक और रोषवाचक, श्रीं को स्तम्भनवाचक तथा क्लीं को लक्ष्मीप्राप्तिवाचक माना गया है। सभी तीर्थंकरों के नामाक्षरों को मंगलवाचक एवं यक्ष-यक्षिणियों के नामों को कीर्ति और प्रीतिवाचक बताया गया है।

मन्त्र के तीन अंग होते हैं:—१. रूप (मन्त्र की ध्वनियों का सन्निवेश) २. बीज (मन्त्र की ध्वनियों में निहित शक्ति) और ३. फल (मन्त्र के द्वारा होने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति)।

उपरोक्त जानकारी के साथ जब तक मंत्र साधना की विधि मालूम न होगी, मंत्र सिद्ध नहीं होगा। अतः संक्षेप में मन्त्र साधना की विधि बताई जा रही है।

सबसे पहले जिस मंत्र की साधना करना है उस मंत्र के अक्षरों को तिगुना करके अपने नाम के अक्षरों को उसमें जोड़ देवें। फिर उसमें १२ का भाग देवें। फल निम्न प्रकार समझें—

५ या ९ बचें तो मन्त्र सिद्ध होगा। ६ या १० बचें तो देर से सिद्ध होगा। ७ या ११ बचें तो भी ठीक है। ८ या शून्य (०) बचे तो मन्त्र सिद्ध नहीं होगा। यदि मन्त्र सिद्ध करना ही है तो 'ह्रीं श्रीं क्लीं' इन तीन बीजाक्षरों में से किसी को भी मन्त्र में यथास्थान सम्मिलित करने से सब दोष दूर हो जाते है तथा नियम से मन्त्र सिद्ध हो जाता है।

शास्त्र में मन्त्र लिखा है, फिर भी मन्त्र विधि जानने वाले से उसके विषय में अवश्य पूछना चाहिये। मन्त्र साधना के समय शुद्ध घृत का दीपक रहे। साथ ही अगरबत्ती भी जलती रहे। मन्त्र साधन के प्रारम्भ में सकलीकरण करने का विधान है। निर्विघ्न इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए अपनी रक्षा हेतु जो विविध मन्त्रों के रूप में सम्यग्दृष्टि देवों का स्मरण कर दिशा बन्धन आदि किया जाता है उसे सकलीकरण कहते हैं। मन्त्र सिद्धि के प्रथम दिन पंचोपचारी पूजा भी करनी चाहिये। आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन की विधिपूर्वक की गई पूजन पंचोपचारी कहलाती है। पूरक से आह्वानन, रेचक से विसर्जन और शेष के कर्म कुम्भक प्राणायाम से करने चाहिए। जप की संख्या एकबार मे कम से कम १०८ होनी चाहिए। फिर प्रतिदिन संकल्पानुसार ४, ३, २ या एकबार (प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि) अवश्य करे। संकल्पानुसार जाप्य पूर्ण होने पर हवन व पूजन किया जावे। हवन में अन्य विधि के साथ इस बात का विशेष ध्यान रखा जावे कि जिस मन्त्र की आराधना की गई है उसी मन्त्र की दशांश आहुति दी जावे।

मन्त्र की साधना के लिए जाप तीन प्रकार से किया जाता है :—(१) वाचक–जाप मे शब्दो का उच्चारण किया जाता है अर्थात् मन्त्र को बोल-बोल कर जाप किया जाता है। (२) उपांशु–में भीतर से शब्दोच्चारण की क्रिया होती है, पर कण्ठ स्थान पर मन्त्र के शब्द गूंजते रहते हैं। मुख से नहीं निकल पाते। इस विधि में शब्दोच्चारण की क्रिया के लिए बाहरी और भीतरी प्रयत्न किया जाता है। (३) मानस–जाप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है। हृदय में मात्र मन्त्र का ही चिन्तन होता रहता है।

उक्त तीन प्रकार के जाप क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्तम है। साधक जिससे भी चाहे जाप कर सकता है। जो विशेषकर स्वात्मा के कल्याण के लिए णमोकारादि मन्त्रों का जाप करना चाहता है उसे निम्न आठ प्रकार की शुद्धियों का ध्यान रखना आवश्यक है।

१. **द्रव्यशुद्धि**—पांचों इन्द्रियों तथा मन को वश कर, कषाय और परिग्रह का यथाशक्ति त्याग करके दयालुचित्त हो जाप करना। जाप करने वाले को यथाशक्ति अपने अन्तरंग के काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मान, माया आदि विकारों को दूर कर ही जाप करना आवश्यक है। यहाँ द्रव्य शुद्धि का अभिप्राय साधक की अन्तरंग शुद्धि से है।

२. क्षेत्रशुद्धि—निराकुल स्थान-जहां शोरगुल न हो तथा डांस मच्छर आदि बाधक जन्तु न हों। मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले उपद्रव एवं अधिक शीत-उष्ण की बाधा न हो, ऐसा एकान्त निर्जन स्थान जाप करने के लिए श्रेष्ठ है। घर के किसी एकान्त स्थान में, जहाँ पूर्णशान्ति रह सके वहां पर भी जाप किया जा सकता है।

३. समयशुद्धि—प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या और अर्द्धरात्रि के समय २, ४ या ६ घड़ी तक जाप करना चाहिए। एक घड़ी २४ मिनट की मानी गई है।

४. आसनशुद्धि—मौन पूर्वक काष्ठ, शिला, भूमि, चटाई या शीतलपट्टी पर पूर्वदिशा या उत्तरदिशा की ओर मुख करके पद्मासन, खड्गासन या अर्धपद्मासन से क्षेत्र तथा काल का प्रमाण करके जाप करना।

५. विनयशुद्धि—जाप करने के लिए नम्रतापूर्वक भीतर का अनुराग व उत्साह रखना तथा जिस आसन पर जाप करना हो उस आसन को सावधानीपूर्वक साफ करना।

६. मनःशुद्धि—मन की चंचलता व विचारों की गन्दगी का त्याग कर जाप करना।

७. वचनशुद्धि—मन्त्र के उच्चारण में अशुद्धि न होना एवं यथासम्भव उच्चारण मन में ही करना तथा धीरे-धीरे साम्यभावपूर्वक मन्त्र का जाप करना।

८. कायशुद्धि—शौचादि शंकाओ से निवृत्त होकर सावधानीपूर्वक स्नानादि द्वारा शरीर शुद्ध करके हलन चलन क्रिया रहित हो जाप करना।

शास्त्रों मे जाप करने की तीन विधियां बताई गई है। साधक को उनका ज्ञान होना आवश्यक है। वे विधियाँ निम्न प्रकार है—

१. कमलजाप—अपने हृदय मे आठ पाँखुड़ी के एक श्वेत कमल का विचार करें। फिर उसकी प्रत्येक पाँखुड़ी पर पीतवर्ण १२/१२ बिन्दुओं की कल्पना करे तथा मध्य के गोलवृत्त (कर्णिका) मे बारह बिन्दुओं का चिन्तवन करे। इन १०८ बिन्दुओं पर क्रमशः मन्त्र का जाप करना चाहिए।

२. हस्तांगुलिजाप—दाहिने हाथ की मध्यमा (बीच की) अँगुली के पोरुये पर मन्त्र को पूरा पढ़े, फिर उसी अँगुली के ऊपरी पोरुये पर, फिर तर्जनी (अँगूठे के पास वाली) अँगुली के ऊपरी पोरुये पर मन्त्र पढ़े। फिर उसी अँगुली के बीच पोरुये पर, फिर नीचे के पोरुये पर मन्त्र पढ़े। तत्पश्चात् बीच की अँगुली के निचले पोरुये पर मन्त्र पढ़े। फिर अनामिका (सबसे छोटी अँगुली के पास वाली) अँगुली के निचले, बीच के तथा ऊपर के पोरुये पर क्रमशः मन्त्र पढ़े।

इस प्रकार एक बार में ९ बार मन्त्र पढ़ा जाता है। इस विधि से १२ बार पूरा मन्त्र पढ़ने पर १०८ जाप की एक माला हो जाती है।

३. मालाजाप—सोने, चांदी, स्फटिक, मूंगे या कन्या के हाथ से कते सूत के १०८ दानों की माला से प्रत्येक दाने पर पूरा मन्त्र पढ़ना।

उपरोक्त तीनों विधियों में कमलजाप की विधि उत्तम है क्योंकि इसमें उपयोग अधिक स्थिर रहता है। साधक यथाशक्ति किसी भी विधि से मन्त्र साधना कर सकता है।

जप व ध्यान करने योग्य मन्त्र

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने लिखा है—

पणतीस सोल छप्पण, चदुदुगमेगं च झवह झाएह।
परमेठ्ठिवाचयाणं, अण्णं च गुरुवएसेण॥

अर्थात्-परमेष्ठीवाचक, पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर वाले मन्त्रों का जप व ध्यान करना चाहिए। साथ ही गुरुओं के उपदेश से अन्य मन्त्रों का भी जप व ध्यान करना चाहिए।

पैंतीस अक्षर का मन्त्र—

[1]णमो अरहन्ताणं, णमो सिध्दाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं॥

सोलह अक्षर का मन्त्र—[2]अरहन्त सिध्द आइरिय उवज्झाय साहू।

छह अक्षरों का मन्त्र—अरहन्त सिध्द।

पांच अक्षरों का मंत्र—अ सि आ उ सा।

---

[1] इस णमोकार महामन्त्र से २१ बार कुछ लौंग (एक से पांच तक) मन्त्रित कर मात्रानुसार रोगी को खिलाने से शिर दर्द, एक दिन बीच देकर आने वाले बुखार में पीपल के पत्ते पर केसर द्वारा इसे लिखकर रोगी के हाथ में बांध देने से बुखार, कुछ कपूर को इस मन्त्र द्वारा २७ बार मन्त्रित कर मात्रानुसार खिलाने से पेट दर्द दूर हो जाता है।

[2] स्मरण रहे, जैन मन्त्रों को मोक्ष प्राप्ति का मूल लक्ष्य रखते हुए ही सांसारिक कार्यों के लिए जपा जावे। ऐसा न हो कि मूल लक्ष्य को भुला दिया जाय। सांसारिक कार्यों के लिये भी वास्तव में वे ही व्यक्ति जपें जो सचमुच में कर्मों से विशेष दुखी हैं या अचानक कोई कष्ट आ गया है।

चार अक्षर का मंत्र—अरहन्त ।

दो अक्षर का मंत्र—सिद्ध ।

एक अक्षर का मंत्र —ओऽम् ।

इस 'ओऽम्' मंत्र की उत्पत्ति और अर्थ के विषयों में जैनाचार्यों ने लिखा है—

अरहन्ता असरीरा, आइरिया तह उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमेट्ठी ॥

अर्थात्—अरहन्त शब्द के आदि का अक्षर 'अ', अशरीर (सिद्ध) का 'अ', आचार्य का 'अ', उपाध्याय का 'उ' और मुनि का 'म्' इस प्रकार पंच परमेष्ठियों के पहले अक्षर (अ+अ+आ+उ+म्) को लेकर फिर व्याकरण शास्त्र के अनुसार सन्धि करने पर 'ओम्' मंत्र सिद्ध होता है । यह पंच परमेष्ठी वाचक है ।

मंत्र साधना के पहले रक्षामंत्रों को पढ़ लेने से कार्य में विघ्न आने की संभावना नहीं रहती । अतः साधना के पूर्व निम्न रक्षा मंत्रों का जप आवश्यक है :—

१. ओम् णमो अरहन्ताणं ह्रां हृदयं रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

२. ओम् णमो सिद्धाणं ह्रीं शिरो रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

३. ओम् णमो आइरियाणं ह्रूं शिखां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

४. ओम् णमो उवज्झायाणं ह्रौं एहि एहि भगवति वज्रकवचे वज्रिणी रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

५. ओम् णमो लोए सव्व साहूण ह्रः क्षिप्रं साधय साधय वज्रहस्ते शूलिनि दुष्टान् रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

अक्षरपंक्ति विद्या—ओम् नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिने अनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरु-शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानंतचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा । इस मंत्र जपने से कामनायें पूर्ण होती हैं ।

पापभक्षिणी विद्यारूप मंत्र—ओम् अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतिज्ञानज्वाला-सहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा । इस मंत्र के प्रभाव से साधक का मन प्रसन्न रहता है तथा सर्वपाप नष्ट हो जाते हैं एवं आत्मा में पवित्र भावना का संचार होता है ।

अचिन्त्यफलप्रदायक मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो अरहन्ताणं ह्रीं नमः । इस मंत्र की साधना से साधक को कभी कभी ऐसा फल प्राप्त होता है जिसकी उसे जीवन में आशा न हो ।

महामृत्युंजय मंत्र—ओम् ह्रां णमो अरहन्ताणं ओम ह्रीं णमो सिद्धाणं ओम् ह्रूं णमो

आइरियाणं ओम् ह्रौं णमो उवज्झायाणं ओम् ह्रः णमो लोए सव्व साहूणं मम सर्वग्रहारिष्टान् निवारय निवारय अपमृत्यु घातय घातय सर्वशान्ति कुरु कुरु स्वाहा ।

विधि—इस मंत्र का नैष्ठिक रहकर शुद्ध घृत के दीपक साथ धूप लेते हुये स्वयं कम से कम ३१ हजार जाप करे। अन्य से भी जप कराया जा सकता है। यदि अन्य व्यक्ति जाप करे जो 'मम' के स्थान पर जिसके लिये जाप कराया जावे उसका नाम जोड़कर जाप करे। इस मंत्रका सवा लक्ष जाप करते कराने से ग्रहबाधा दूर हो जाती है। संकल्प के अनुसार जाप पूर्ण होने पर दशांश आहुति देकर हवन भी करना या कराना चाहिये।

विवेक प्राप्ति मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो कोट्ठबुद्धीणं बीजबुद्धीणं ममात्मनि विवेकज्ञानं भवतु ।

विद्या और कवित्व प्राप्ति के मंत्र—

(अ) ओम् ह्रीं अर्हं णमो सयंबुद्धाणं कवित्व पाण्डित्यं च भवतु ।

(आ) ओम् ह्रीं दिवसरात्रिभेदविवर्जितपरमज्ञानार्कचन्द्रातिशयाय श्री प्रथम जिनेन्द्राय नमः ।

व्यन्तरबाधा विनाशक मंत्र—

(क) ओम् ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं असिआउसा अनावृतविद्यायै णमो अरहन्ताणं ह्रौं सर्वशान्तिर्भवतु स्वाहा ।

(ख) ओम् नमोऽर्हते सर्वं रक्षरक्ष हुं फट् स्वाहा ।

किसी अधिकारी, राजा या मंत्री को वश करने का मंत्र—ओम् ह्रीं णमो अरहन्ताणं ओम् ह्रीं णमो सिद्धाणं ओम् ह्रीं णमो आइरियाणं ओम् ह्रीं णमो उवज्झायाणं ओम् ह्रीं णमो लोए सव्व साहूणं अमुकं मम वश्यं कुरु कुरु स्वाहा ।

विधि—इस मंत्र की पहले ११ हजार बार जाप कर सिद्ध करना चाहिये। फिर जब मंत्री, राजा या किसी अन्य अधिकारी के पास जावे तो शिर के वस्त्र को २१ बार मंत्रित कर धारण करे। इस प्रक्रिया से वह व्यक्ति वश में हो जाता है। मंत्र में जो अमुक शब्द दिया है उसकी जगह जिसको वश करना हो उसका नाम बोलकर जप करना चाहिये।

शिररोग विनाशक मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो ओहिजिणाणं परमोहिजिणाणं शिरोरोगविनाशनं भवतु ।

अक्षिरोग विनाशक मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहिजिणाणं अक्षिरोगविनाशनं भवतु ।

कर्णरोगविनाशक मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो अणंतोहिजिणाणं कर्णरोगविनाशनं भवतु ।

श्वासरोग विनाशक मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो संभिण्णसोदराणं श्वासरोग विनाशनं भवतु ।

पादादिरोग विनाशक मंत्र — ओम् ह्रीं अर्हं णमो सव्वविणाणं पादादिसर्वरोग विनाशनं भवतु।

प्रतिवादी की शक्ति को स्तम्भन करने का मंत्र—ओम् ह्रीं अर्हं णमो पत्तेयबुद्धाणं प्रतिवादि विद्याविनाशनं भवतु।

विरोध विनाशक मंत्र—ओम् ह्री अर्हं णमो पादानुसारीणं परस्परविरोधविनाशनं भवतु।

सर्वशान्तिदायक मंत्र—ओम् ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं अर्हं नमः।

सर्वकार्य साधक मंत्र—ओम् ह्रीं श्रीं क्ली नमः स्वाहा।

(इस मंत्र को प्रातः मध्याह्न और सांयकाल में मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक जप करना)

त्रिभुवन स्वामिनी विद्या—ओम् ह्रां णमो सिद्धाणं ओम् ह्रीं णमो आइरियाणं ओम् ह्रूं णमो अरहंताणं ओम् ह्रौं णमो उवज्झायाणं ओम् ह्रः णमो लोए सव्व साहूणं श्री क्लीं नमः क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षौं क्षः स्वाहा।

विधि—चौबीस हजार श्वेत पुष्पो से इस मंत्र को सिद्ध करना चाहिये। एक पुष्प पर एक ही बार मंत्र पढ़ें। दीप धूप का प्रयोग किया जावे।

सम्पदा एवं पुत्र प्राप्ति मंत्र—ओं ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं अ सि आ उ सा चलु चलु हुलु हुलु मुलु मुलु इच्छयं मे कुरु कुरु स्वाहा।

(विधि पूर्वक इस मंत्र का कम से कम ८१ हजार जाप किया जावे।)

नवग्रह दोष निवारक मंत्र—

१. ओं ह्री क्लीं श्रीं सूर्यग्रहारिष्ट निवारक श्री पार्श्वनाथजिनेन्द्राय नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

२. ओं ह्रीं क्रौं श्रीं क्लीं चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

३ ओं आं क्रों ह्रीं श्रीं भौमारिष्ट निवारक श्री पद्मप्रभजिनेन्द्राय नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

४. ओं ह्रीं क्रौं आं बुधग्रहारिष्ट निवारक श्री विमलानंतधर्मशान्तिकुन्थुअरहनमिवर्द्धमान अष्ट जिनेन्द्रेभ्यो नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

५. ओं ह्रीं क्रौं श्रीं क्लीं ऐं गुरु अरिष्टनिवारक श्री ऋषभजितसंभवाभिनंदनसुमतिसुपार्श्वशीतल-श्रेयान्स अष्ट जिनेन्द्रेभ्यो नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

६. ओं ह्रीं श्रीं क्लीं क्रां शुक्रारिष्ट निवारक श्री पुष्पदन्तजिनेन्द्राय नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

७. ओ ह्रीं क्रौं श्रीं शनिगृहारिष्ट निवारक श्री मुनिसुव्रतनाथजिनेन्द्राय नमः शांति कुरु कुरु स्वाहा।

८. ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रूं राहु अरिष्ट निवारक श्री नेमिनाथजिनेन्द्राय नमः शान्तिं कुरु कुरु स्वाहा।

९. ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं केतु अरिष्ट निवारक श्री मल्लिनाथजिनेन्द्राय नमः शान्ति कुरु कुरु स्वाहा ।

ऋषिमंडल मंत्र—ओं ह्रां ह्रिं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रेभ्यो ह्रीं नमः ।

कलिकुण्डपार्श्वनाथ मंत्र—

१. ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं कलिकुण्डदण्ड श्रीपार्श्वनाथधरणेन्द्रपद्मावतिसेवित अतुलबलवीर्यपराक्रम ममात्मविद्यां रक्ष रक्ष परविद्यां छिन्धि छिन्धि भिन्धि भिन्धि स्फ्रां स्फ्रीं स्फ्रूं स्फ्रौं स्फ्रः ह्रूं फट् स्वाहा ।

२. ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं श्रीपार्श्वनाथ धरणेन्द्रपद्मावतिसेवित ममेप्सितं कार्यं कुरु कुरु स्वाहा ।

३. ओं ह्रीं श्री क्लीं ऐं अर्हं कलिकुण्डदण्डस्वामिन्नतुलबलवीर्यपराक्रम ममात्मविद्यां रक्ष रक्ष परविद्यां छिन्धि छिन्धि भिन्धि भिन्धि स्फ्रां स्फ्रीं स्फ्रूं स्फ्रौं स्फ्रः ह्रूं फट् स्वाहा ।

लक्ष्मी प्राप्ति मंत्र—ओं णमो अरहन्ताणं ओं णमो सिद्धाणं ओं णमो आइरियाणं ओं णमो उवज्झायाणं ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः स्वाहा ।

विधि—*पुष्य नक्षत्र के दिन एकान्त में, कन्या के हाथ से कते पीले सूत की माला, पीला आसन* और पीले वस्त्र पहिनकर उक्त मंत्र को सिद्ध करने के लिये जप करना प्रारम्भ किया जावे । सवा लक्ष जाप करने पर मंत्र सिद्ध होता है । प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न सायंकाल और अर्द्धरात्रि को कम से कम एक एक माला का जाप करना आवश्यक है । मंत्र सिद्धि के बाद प्रतिदिन एक माला का जाप अवश्य किया जावे । साधना काल में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन, एक बार भोजन, सप्तव्यसन का त्याग, तख्त या चटाई पर शयन तथा पंच पाप का त्याग होना चाहिये ।

एकतरा, तिजारी एवं बुखार दूर करने का मंत्र—ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ओं णमो उवज्झायाणं ओं णमो आइरियाणं ओं णमो सिद्धाणं ओं णमो अरहन्ताणं ।

विधि—स्वच्छ सफेद चादर के एक कोने को एक बार उक्त मंत्र बोलकर मोड़ दें । इस प्रकार चादर को थोड़ी थोड़ी दूर मंत्र पढ़कर मोड़ता जावे । चारों ओर १०८ बार मंत्र पढ़कर मोड़े । इस मंत्रित चादर को रोगी को उढ़ा देने से अवश्य लाभ होता है ।

सिर पीड़ा विनाशक मंत्र—ओं अरहन्ताणं ओं णमो सिद्धाणं ओं णमो आइरियाणं ओं णमो उवज्झायाणं ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ओं णमो णाणाय ओं णमो दंसणाय ओं णमो चारित्ताय ओं ह्रीं त्रैलोक्यवश्यंकरी ह्रीं स्वाहा ।

अग्निभयनिवारक मंत्र—ओं णमो ओं अर्हं अ सि आ उ सा णमो अरहन्ताणं नमः ।

विधि—सर्वप्रथम एक लोटे में पवित्र जल लेकर उसमें से थोड़ा जल चुल्लू में अलग निकालकर चुल्लू के जल को उक्त मंत्र से २१ बार मंत्रित कर इस जल से एक रेखा खींचे तो अग्नि उस रेखा से

आगे नहीं बढ़ती। चारों दिशाओं में इस प्रकार मंत्रित जल से रेखा खींचकर अग्नि का स्तम्भन करे। तत्पश्चात् बचे हुये लोटे के जल को १०८ बार मंत्रित कर अग्नि पर छींटे तो अग्नि शान्त हो जाती है। आत्मकल्याण के लिये इस मंत्र का १०८ बार जप करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है।

सर्वसिद्धिदायक मंत्र—ओं अ सि आ उ सा नमः।

(इस मंत्र का ब्रह्मचर्य एवं शुद्धतापूर्वक सवालक्ष जप करने से सर्व कार्य सिद्ध होते हैं।)

लक्ष्मी प्राप्ति मंत्र—ओं श्रीं क्लीं णमो अरहन्ताणं ओं श्रीं क्लीं णमो सिद्धाणं ओं श्रीं क्लीं णमो आइरियाणं ओं श्रीं श्रीं क्लीं णमो उवज्झायाणं ओं श्रीं क्लीं णमो लोए सव्वसाहूणं।

विधि—प्रतिदिन प्रातःकाल स्नानादि कार्यों से पवित्र होकर इस मंत्र का स्थिर चित्त से १०८ बार शुद्ध धूप खेते हुये जाप करने से निश्चय से सम्पदा प्राप्त होती है।

श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र यात्रा मंत्र—ओं ह्रीं श्री अनन्तानन्तपरमसिद्धेभ्यो नमः।

श्री भक्तामरस्तोत्र सम्बन्धी कुछ जाप्य मन्त्र—

१. ओं ह्रीं क्लीं अर्हं श्रीवृषभनाथतीर्थंकराय नमः।
२. ओं ह्रीं श्रीं ह्लां ह्लां ह्लूः अग्नि उपशमं कुरु कुरु स्वाहा।
३. ओं नमो श्रां श्रीं श्रं श्रः जलदेवि कमले पद्महृदनिवासिनी पद्मोपरिसंस्थिते सिद्धिं देहि मनोवांछितं कुरु कुरु स्वाहा।
४. ओं नमो चक्रेश्वरीदेवि चक्रधारिणी जिनशासनसेवाकारिणी क्षुद्रोपद्रवविनाशिनी धर्मशान्तिकारिणीं नमः कुरु कुरु स्वाहा।
५. ओं नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः क्षयः श्रीं ह्रीं फट् स्वाहा।
६. ओं ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा श्रौं श्रौं स्वाहा।
७. ओं नमो अट्टे मट्टे क्षुद्रविघट्टे क्षुद्रान् स्तम्भय स्तम्भय रक्षां कुरु कुरु स्वाहा।
८. ओं ह्रीं क्लीं ब्लूं ध्यानसिद्धिपरमयोगीश्वराय नमोनमः स्वाहा।
९. ओं नमो ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं क्ष्रौं पद्मात्वयै नमोनमः स्वाहा।
१०. ओं नमो जयविजयापराजितमहालक्ष्मी अमृतवर्षिणी अमृतस्राविणी अमृतं भवभवट् सुधायै स्वाहा।
११. ओं ह्रीं कलिकुण्डदण्डस्वामिन् आगच्छ आगच्छ आत्ममंत्रान् आकर्षय आकर्षय रक्ष रक्ष परमंत्रान् छिन्धि छिन्धि मम समीहितं कुरु कुरु स्वाहा।
१२. ओं नमो भगवते अप्रतिचक्रे ऐं क्लीं ब्लूं ओं ह्रीं मनोवांछितसिद्ध्यै नमोनमः ह्रीं ठः ठः स्वाहा।
१३. ओं श्रा श्रीं श्रं श्रः शत्रुभयनिवारणाय ठः ठः स्वाहा।
१४. ओं नमः श्रीमणिभद्रजयविजय अपराजित सर्वसौभाग्यं सौख्यं च कुरु कुरु स्वाहा।
१५. ओं नमो ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रूं ह्रूं परिजनशान्तिव्यवहारे जयं कुरु कुरु स्वाहा।
१६. ओं आं आं अं अः सर्वराजाप्रजामोहिनी सर्वजनं वश्यं कुरु कुरु स्वाहा।

आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित यन्त्र-संग्रह

यंत्रों के विषय में कुछ आवश्यक बातें—

१. सर्वज्ञदेव की द्वादशांग वाणी में मंत्रों की तरह यंत्रों का भी प्रतिपादन हुआ है, इसी कारण यंत्रों का बहुमान करके उनसे लाभ प्राप्त करने की प्रथा अनादिकाल से है ।

२. आकार या रचना विशेष को यंत्र कहते है । ये कई प्रकार के होते है । जैसे—चौकोर, षट्कोण, त्रिकोण, कमलाकार, गोलाकार आदि ।

३. यंत्र को यथासंभव भोजपत्र पर अनार या चमेली की ११ या १३ अंगुल लम्बी कलम से अष्टगंध आदि से लिखना चाहिये । सुवर्ण का नया निब बनवाकर उससे भी यंत्र लिखना उत्तम है । होल्डर में लोहे का कोई भी अंश नहीं होना चाहिए ।

४. जिस भोजपत्र पर यन्त्र लिखना हो वह स्वच्छ, दागरहित होना चाहिए तथा वह फटा हुआ न हो । साथ ही जितना बड़ा यन्त्र लिखना हो उससे लम्बाई-चौड़ाई मे कम मे कम एक-एक अंगुल बड़ा हो । भोजपत्र के अभाव में बढ़िया कागज भी काम मे लिया जा सकता है ।

५. अष्टगन्ध में आठ वस्तुयें होती है । यह तीन प्रकार से बनाया जाता है । प्रत्येक मे अगर, कस्तूरी, चन्दन और शुद्ध केशर ये चार वस्तुयें तो होती ही है, इनके अलावा पहले में—गोरोचन, तगर, सिन्दूर और लालचन्दन, दूसरे में—कपूर, गोरोचन, सिंदरफ और गेंहुआ तथा तीसरे में—कपूर, हिंगुल, लालचन्दन और तगर, इन सबको खरल में शुद्ध छने जल मे घोकर यंत्र लिखने की स्याही तैयार करनी चाहिये । तीनों प्रकार के अष्टगंध में जिसकी भी सामग्री संचित हो सके उसी के रस से यंत्र लिख लिया जाय । गुलाबजल का प्रयोग भी उत्तम है ।

६. पंचगन्ध (केशर, कस्तूरी, कपूर, चन्दन और गोरोचन) और यक्षकर्दम (चन्दन, केशर, कपूर, अगर, कस्तूरी, गोरोचन, हिंगुल, रतांजली, अम्बर, सोने का वर्क, मिर्च, रसौत, कंकोल) से भी यंत्र लिखे जाते है । समय पाकर केशर, चन्दन, कपूर इन तीनों के रस से या मात्र केशर से भी यंत्र लिखा जा सकता है ।

७. यंत्र को सबसे छोटी संख्या से लिखना प्रारंभ कर क्रमश: बढ़ती हुई संख्या लिखते हुये पूरा करना चाहिये । यदि लिखने में कोई प्रकार की गलती हो जावे तो दूसरे भोजपत्र पर यन्त्र

लिखना चाहिये। यंत्रों को कुशासन पर बैठकर सामने रखी गई लकड़ी की चौकी पर लिखना चाहिए। घुटनों पर लिखना हानिकारक है। लिखते समय घृत दीप का होना आवश्यक है। धूप का खेते रहना भी श्रेष्ठ है।

८. यंत्र लेखक का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होना चाहिये। लेखन काल में अधोभाग से वायु निःसरित हो जावे तो यंत्र अशुद्ध हो जावेगा। पूर्ण शुद्ध और स्वस्थ अवस्था में ही यंत्र लिखना लाभदायक है। लिखने वाला व्यक्ति शुद्ध आचार विचार वाला होना चाहिये।

९. यंत्र को देने वाला महामंत्र का स्मरण करते हुये देवे और लेने वाला भी यथासम्भव महामन्त्र का स्मरण करते हुए ही लेवे। सुवर्ण, चांदी, तांबे आदि के ताबीज में रख कर बाँधने आदि की जो भी विधि बताई जावे उसका पूर्ण पालन होना चाहिये।

१०. यंत्रों को स्वर्ण, चांदी, तांबे आदि के पत्रों मे खुदवाने का भी विधान है तथा उन्हें मंदिरों की भांति घर पर भी तिजोरी आदि मे प्राण-प्रतिष्ठा कराके रक्खा जा सकता है। विशेष संकटग्रस्त गृहस्थों को तो घर पर यंत्र रखना ही चाहिये।

११. 'णमो अरहन्ताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ओं परमहंसाय हंसः हंसः हं हं ह्रें ह्रैं ह्रौ ह्रः असिआउसा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः।' इस मंत्र को क्रमशः पानी, दूध, चंदन और पुष्प हाथ मे लेकर नौ नौ बार बोलकर यंत्र पर इनके छींटे देने से यंत्र की प्राण प्रतिष्ठा हो जाती है। पंच कल्याण प्रतिष्ठाओं में प्रतिष्ठित की जाने वाली मूर्तियों के पास अथवा हवन के समय हवनकुंड के पास रखने से भी यंत्रों की प्राण प्रतिष्ठा या शुद्धि हो जाती है।

१२. दृढ़ श्रद्धा से पारमार्थिक सुख की सिद्धि का लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति को ही जैन यंत्रों से विशेष लाभ होता है क्योंकि जैन यन्त्रों मे सम्यग्दृष्टि देवों का प्रभाव रहता है।

१३. सूतक आदि कारणों से यन्त्र अशुद्ध माना जाता है। अतः धूप खेते हुये नव बार णमोकार मन्त्र पढ़कर यन्त्र को शुद्ध कर लेना चाहिये।

१४. किसी विशेषज्ञ से समझकर निम्न तिरासी यन्त्रों में से आवश्यकतानुसार किसी यन्त्र का उपयोग किया जा सकता है।

आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित यन्त्र

यन्त्र—१

यन्त्र—२

यन्त्र—३

यन्त्र—४

ॐ ह्रीं श्री क्लीं

नमोनम

७	२	९
८	६	४
३	१०	५

यन्त्र—५

८	३	३	३	३	३	३	३

यन्त्र—६

२२	३	९	१५	१६
१४	२०	२१	२	८
१	७	१३	१९	२५
१८	२४	५	६	१२
१०	११	१७	२३	४

यन्त्र—७

९	२	४	५
३	६	८	३
६	५	१	८
२	७	७	४

यन्त्र—८

४४	५१	२	८
७	३	४८	४७
५०	४५	९	१
४	६	४६	४९

यन्त्र—९

२	९	२	७
६	३	६	५
८	३	८	१
४	५	४	७

यन्त्र—१०

२५	३२	२	८
७	३	२९	२८
३१	२६	९	१
४	६	२७	३०

यन्त्र—११

२५	५	३१	३६
३५	३२	८	२५
७	३८	३४	३५
३०	३७	२७	६

यन्त्र—१२

४	७	२	७
६	३	८	३
६	५	८	१
४	५	२	९

यन्त्र—१३

८	१५	२	७
६	३	१२	११
१४	९	८	१
४	५	१०	१३

यन्त्र—१४

४०	५०	२	७
६	३	४७	४८
४९	४४	८	१
४	५	४५	४७

यन्त्र—१५

७०	७७	२	७
६	३	७४	७३
७६	७१	७	१
४	५	७२	७५

यन्त्र—१६

५६	६२	२	८
७३	३	६०	५९
६२	५७	९	१
४	६	५८	६१

यन्त्र—१७

॥	७	२	७॥
४	५॥	२॥	५
६॥	१	८	१॥
६	३॥	४॥	३

यन्त्र—१८

१	१४	४	१५
८	११	५	१०
१३	२	१६	३
१२	७	९	६

यन्त्र—१९

२	४	२	७
६	३	६	५
८	३	८	१
४	५	४	२

यन्त्र—२०

८	१५	२	७
६	३	१२	११
१४	९	८	१
४	५	१०	१३

यन्त्र—२१

८	११	१४	१
१३	२	७	१२
३	१६	९	६
१०	५	४	१५

यन्त्र—२२

३८	४६	२६	७१
३	८	४	७
२	८	२	३
११	७	२०	९

यन्त्र—२३

२८	३५	२	७
६	३	३२	३१
३४	२९	८	१
४	५	३०	३३

यन्त्र—२४

४	११	२	७
६	३	८	७
१०	५	८	१
४	५	६	९

यन्त्र—२५

६७८	६८५	२	७
६	३	६८२	६८१
६८४	६७९	८	१
४	५	६८०	६८३

यन्त्र—२६

१३२	३	१२	१६
८	१५	११	६
४१८	२	१०	१९
१	१३	४	४

यन्त्र—२७

३०	३७	२	७
६	३	३४	३३
३६	३१	८	१
४	५	३२	३५

यन्त्र—२८

४०	४४	४३	४५
४६	४५	४०	४३
४५	४०	४६	४६
४३	४३	४५	४०

यन्त्र—२९

२	७	२४	४१
२२	२७	६	३
८	१	४०	२५
३६	३४	४	५

यन्त्र—३०

२३	१	२१	८
२	२६	८	२७
५	१८	२	२५
२१	६	२४	७

यन्त्र—३१

८	११	१४	१
१३	२	७	१२
३	१६	९	६
१०	५	४	१५

यन्त्र—३२

४	३२	७	३७
३८	६	३५	१
३३	३	३७	१
५	३८	२	३६

यन्त्र—३३

११	३४	२	३
३	७	५	१०
३	८	४	५
४	५	९	५

यन्त्र—३४

२	९	२	७
६	३	६	५
८	३	८	१
४	५	४	७

यन्त्र—३५

८	१५	२	७
६	३	१२	११
१४	९	८	१
४	५	१०	१३

यन्त्र—३६

१२६	४१	६०	२७
२९	९१२	१६	३५
१४४	१२	४३	४५
१२	१५१३	२१	४१

यन्त्र—३७

३०	७	२६	८
३	८	४	७
१	८	२	३
११	७	२	७

यन्त्र—३८

८	१	४७	४२
४३	४६	४	५
२	७	४	४८
४५	९	६	३

यन्त्र—३९

३१	३५	३५	३८
३६	२७	३२	३५
४	२०	३४	२९
३३	३०	३६	२८

यन्त्र—४०

५७	५७	२२	७
६	३	५४	५३
६४	५७	८	५१
४	५	५५	१

यन्त्र—४१

२३	१	२१	८
२	२६	८	२७
५	६	२	२५
२२	६	२४	७

यन्त्र—४२

५५	६६	६२
६६	३	६६
अ:	३३	ग:

यन्त्र—४३

६१	५	६१
९६	७०	६०
२१	९०	७१

यन्त्र—४४

१६	६	८
२	१०	१८
१२	१४	४

यन्त्र—४५

७७	७७	७७
७७	७७	७७
७७	७७	७७

यन्त्र—४६

८	१	६
३	५	७
४	९	

यन्त्र—४७

१६	२	१२
६	१०	१४
८	१८	४

यन्त्र—४८

२	७	६
९	६	१
४	३	८

यन्त्र—४९

८	३	४
१	५	९
६	७	२

यन्त्र—५०

९	४	७
५	७	८
६	९	५

यन्त्र—५१

१०	३	८
५	७	९
६	११	४

यन्त्र—५२

३८	३१	२६
३१	३१	३७
३४	३७	३२

यन्त्र—५३

४	३	८
९	५	१
२	७	६

यन्त्र—५४

१६	२	१२
६	१०	१४
८	१८	४

यन्त्र—५५

८	१	६
३	५	७
४	९	२

यन्त्र—५६

१०	२	८
४	७	९
६	११	३

यन्त्र—५७

७	६	११
१२	८	४
५	१०	९

यन्त्र—५८

६	७	२
१	५	९
८	३	४

यन्त्र—५९

६	१	८
७	५	३
२	९	४

यन्त्र—६०

श्री	श्री	श्री
ह्रीं	श्री	ॐ
ह्रीं	ह्रीं	ॐ

यन्त्र—६१

८	७	५९	६	६१	६२	२	१
१६	६५	५१	५२	५३	५४	१०	९
४१	४२	२२	२१	२०	१९	४७	४८
३३	३४	३०	२९	२८	२७	३९	४०
२५	२६	३८	३७	३६	३५	३१	३२
१७	१८	४६	४५	४४	४३	२३	२४
५६	५५	११	१२	१३	१४	५०	४९
६४	६३	३	४	५	६	५८	५७

यन्त्र—६२

२५	२२	१२	५६	१५	८७	८७
३७	४५	५६	३६	३७	८१	५६
८१	१७	५७	४३	५६	२५	४५
७७	८५	८७	८७	३४	३७	२५
५६	४७	२५	२५	५६	२५	३७
२५	२५	४२	१७	९७	२५	४५

यन्त्र—६३

ओं	ह्रीं	श्रीं	क्लीं
९	२	७	अर्हं
४	६	८	सर्वकार्यं
५	१०	३	कुरु २ स्वाहा

यन्त्र—६४

ओं	ह्रीं	ह्लः	सः
व	अ	ह	व
व	ह	अ	व
अ	व	व	ह
ह	व	व	ह

यन्त्र—६५

ओं	२५	२५	ह्रीं
ह्रीं	२५	ह्रीं	२५२
२५२	२५२	२५२	२५२
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

यन्त्र—६६

यन्त्र—६७

यंत्र-६८

यन्त्र—६९

यंत्र-७०

यन्त्र—७१

११	१	८
४	७	६
५	१२	३

यंत्र - ७२
८
३
१
४
६
९
७
२
यंत्र - ७३
ह्रीं ह्रीं ह्रीं
ह्रीं
आकर्षय स्वाहा
ह्रीं
यंत्र - ७४
ह्रीं पं
ह्रीं पं
यंत्र - ७५
स्वाहा
ॐ आकर्षय
ह्रीं
यंत्र - ७६
मन्त्र—७७
ॐ ह्रीं श्रीं ह्रीं
ह्रीं

यन्त्र—७८

७	१४	२	७
६	३	११	१०
१३	८	८	१
४	५	९	१२

यन्त्र—७९

५९२	५९९	२	७
६	३	५९६	५९५
५९८	५९३	८	१
४	५	५९४	५९७

यन्त्र—८०

यन्त्र—८१

यन्त्र—८२

यन्त्र—८३

३			८
	७	२	
	९	४	
१			६
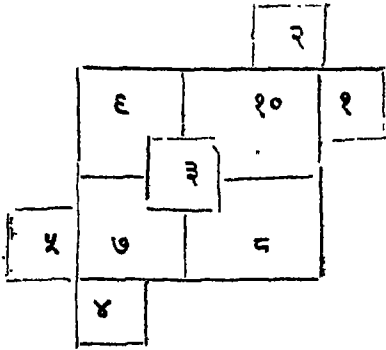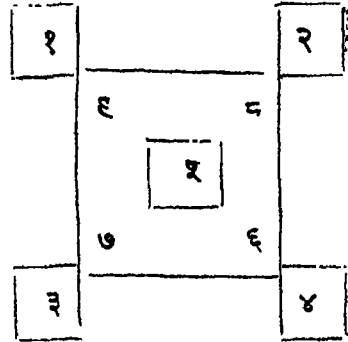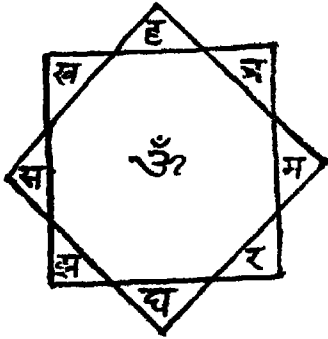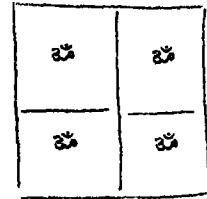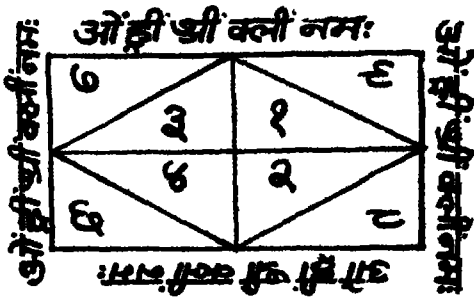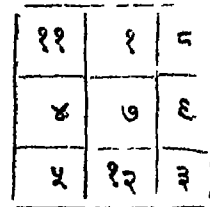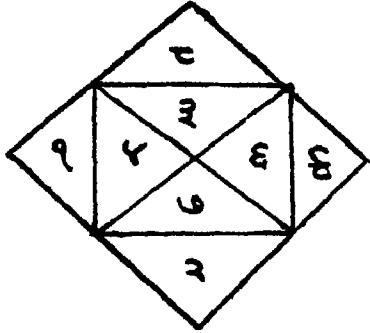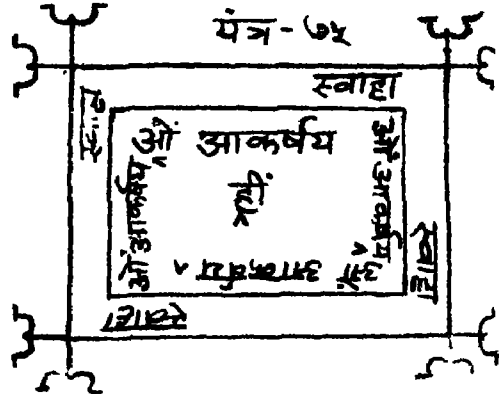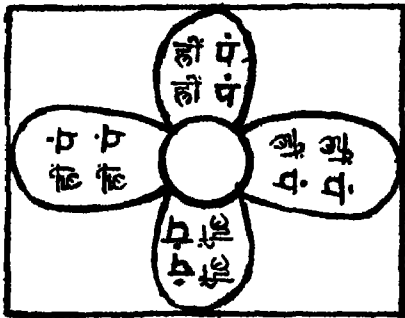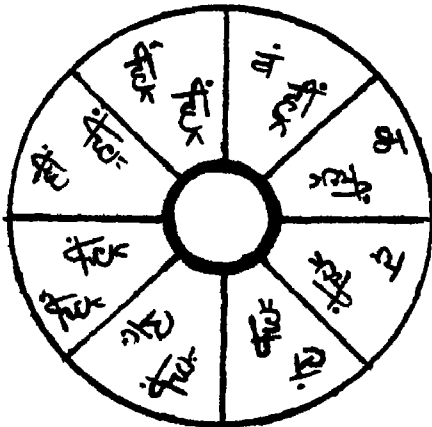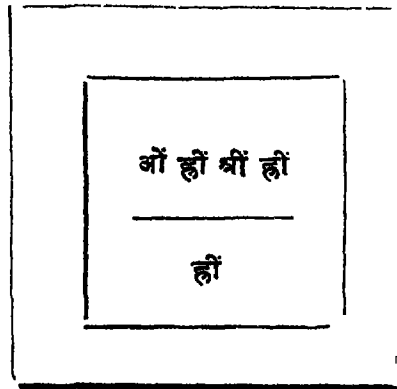
यंत्रों का क्रमशः विवेचन

१ इस यन्त्र को विधि पूर्वक लिखकर इसके सामने 'ओं ह्रीं लक्ष्मीसुखविधायकाय श्रीमहावीराय नमः' इस मन्त्र का दीप धूप के साथ सवा लक्ष जाप्य करना चाहिये। मन्त्र को प्रातः मध्याह्न और सांयकाल तीन बार तक जपा जा सकता है। यह यन्त्र भय निवारण, गर्भरक्षा और लक्ष्मी सुख प्राप्ति हेतु है।

२. यह आराधनाओं की निर्विघ्न सिद्ध हेतु गुरु प्रसन्न यन्त्र है। यन्त्र के मध्य में जो खाली जगह है उसमें गुरु का नाम लिखा जावे।

३. इस यन्त्र में लिखे दोनों मन्त्रों की एक-एक माला सुबह शाम यंत्र के समक्ष ८१ दिन तक फेरने से शांति प्राप्ति होती है। उपद्रवों का विनाश होता है साथ ही धन धान्य की वृद्धि होती है। यह श्री पार्श्वनाथ यन्त्र है।

४. यह चन्द्रग्रह अरिष्ट निवारक यन्त्र है। यंत्र सम्बन्धी मंत्र का जाप्य अवश्य किया जावे।

५. यह गर्भ धारण यन्त्र है। इसे ताबीज में रखकर गले या भुजा में बांधना।

६. यह भूत प्रेत सम्बन्धी बाधा और दरिद्रता विनाशक यंत्र है।

७. इस यंत्र कों कार्य सिद्धि के लिये साथ में ले जाना चाहिये।

८. यह दुग्धवृद्धि के लिये है। गाय भैंस आदि का दुग्ध बहुत कम हो उसके गले मे ताबीज में रखकर बांधना।

९. जिसको वायुगोला की बीमारी रहती है उसके निवारण हेतु यह यंत्र है।

१०. इस यंत्र को सरसों के पत्ते पर केशर से लिखकर चोर व्यक्ति चबावे तो नाक चले।

११. जिसको अपने अनुकूल करना हो उसके पास इसे रखकर ले जाना चाहिये।

१२. इस यंत्र के गले मे बांधने से गले के कागलिया रोग का विनाश होता है।

१३. इस यंत्र को दूकान की गोलक आदि मे सुरक्षा से रखना। व्यापार बहुत चलेगा।

१४. इस यंत्र को भुजा पर बांधकर राजा आदि से मिलने पर सम्मान होता है।

१५. यदि यह यंत्र रविवार के दिन पुष्य नक्षत्र में अथवा रविवार या पुष्य नक्षत्र में लिखकर रोगी के बांधा जावे तो उसके सभी रोग दूर हों। यंत्र को गुग्गुल की धूप देना आवश्यक है।

१६. भयग्रस्त व्यक्ति इसे अपने पास रक्खे। विशेष भय लगे तो कुछ काल के लिये शिर पर रख लेवे।

१७. यह सत्तरिया यंत्र अमावस्या या रविवार या मूल नक्षत्र में उत्तर या दक्षिण दिशा की ओर मुख करके लाल या श्याम वर्ण के आसन पर बैठकर यक्षकर्दम से लिखा जावे। लोहबान और धूप का धुवां चलता रहे। लिख जाने पर यंत्र को पांच या सात रंग के रेशम के धागे

से लपेट कर ताबीज या कागज मे रख कर जिसको पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत आदि की बाधा हो उसे दिया जाये। जिसको बाधा हो उसका नाम लिखकर यथा—'देवदत्तस्य' फिर जो बाधा हो उसके निवारण के लिये यथा—'भूतप्रेत बाधा निवारणार्थं' इस प्रकार यंत्र के नीचे लिखना न भूलें। पूरा वाक्य एक पंक्ति में लिखा जावे। जैसे—'देवदत्तस्य भूतप्रेतबाधानिवारणार्थं।' किसी को यदि कोई शत्रु या दुष्ट बुद्धि सताता हो तो उसमे भी यह यंत्र विशेष लाभप्रद सिद्ध होगा। हां ! यंत्र में भूत प्रेत आदि की जगह शत्रु का नाम अवश्य लिखा जावे।

१८. यह व्यवसाय वृद्धि करने वाला भयहर चौंतीसा यंत्र है। व्यवसाय वृद्धि हेतु इसे दीपावली के दिन विधि पूर्वक लिखकर जहाँ रोकड़ बही या धन सम्पत्ति रहती हो लाभ के चौघड़िया मे पुष्प चढ़ाकर रखना चाहिये। ताम्रपत्र पर खुदवाकर तिजोरी या गल्ले मे रखना भी उत्तम है।

१९. यह शिशुओं के लिये नजर आदि न लगने हेतु है।

२०. यह यंत्र गर्भ पुष्टिदायक है। जिन महिलाओं के गर्भ रहकर गिर जाता हो या गिरने का सशय हो उन्हें निःसंकोच इस यंत्र को किसी विशेषज्ञ से प्राप्त कर लेना चाहिये। हां, प्रसवकाल तक खानपान की सावधानी एवं ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है।

२१. यह यंत्र पशु और बालकों के रोग निवारणार्थ गले में बांधा जावे।

२२. इस यंत्र को आधाशिर दर्द दूर करने हेतु रविवार को गले में बाँधा जावे।

२३. यदि इस यंत्र को ऐसी गाय, भैंस, बकरी के गले में बांधा जावे जिसके वास्तव में दुग्ध कम हो तो अवश्य दुग्ध वृद्धि होगी।

२४. इस यंत्र का वही फल है जो उक्त बीसवें यंत्र का।

२५. यदि यह भ्रम हो कि भूतादि बाधा सता सकती है तो इसका प्रयोग किया जावे।

२६. चेचक (शीतला) रोग की शान्ति हेतु यह यंत्र है।

२७. घर मे सर्प आते हों तो उनके निष्काशन हेतु इसे घर में रक्खा जावे।

२८. इस यंत्र को मृगी रोग वाले के गले या भुजा में बँधे रहना लाभप्रद है।

२९. यंत्र संख्या सतहर की जगह इसका भी प्रयोग किया जा सकता है।

३०. यह सर्व प्रकार के विषों का शमन करने वाला यंत्र है।

३१. इसे हृदय की विशेष धड़कन शमनार्थ गले मे बांधा जावे।

३२. यह पेट दर्द एवं वायगोला के लिये लाभप्रद है।

३३. मूठ (एक कुविद्या) का भय होवे तो इस यंत्र को पास मे रक्खा जावे। रविवार को लिखे।

३४. इकतीसवें यन्त्र की जगह इसका प्रयोग भी किया जावे।

३५. यह बत्तीसा यंत्र प्रसवकाल में दिखाया जाने से आराम रहता है।

३६. चौंतीसवें यंत्र की जगह इसका भी उपयोग किया जा सकता है।

३७. बाईसवें यंत्र के स्थान के इसका प्रयोग भी लाभप्रद है।

३८. गले की गाँठ निवारणार्थ यह उपयोगी यंत्र है।

३९. दरिद्र व्यक्ति इस यंत्र को सदैव साथ मे रक्खे।

४०. यंत्र सख्या अट्ठारह की जगह इसका भी अनुभव किया जावे।

४१. यह यंत्र ज्वर के शमनार्थ है।

४२. बीसवें यंत्र की जगह इसका उपयोग भी लाभप्रद है।

४३. गेहूँ, चना आदि को घुन से बचाने हेतु इसे कोठे की तिखाल में रखना। 1

४४. यंत्र संख्या छत्तीस की जगह इसका भी प्रयोग कर सकते हैं।

४५. दो दिन छोड़कर आने वाले तिजारी ज्वर के लिये यह यंत्र लाभदायक है।

४६. यंत्र संख्या छत्तीस के स्थान पर इसका भी प्रयोग किया जाय।

४७. बड़े अंकों मे लिखकर यन्त्र संख्या ३६ की जगह उपयोग करे।

४८. यह उच्चाटन निवारक पंदरिया यन्त्र है। इसे दीपावली के दिन दूकान पर सुख सम्पदा प्राप्ति हेतु दीवाल पर सिन्दूर से लिखना चाहिए। चमेली की कलम से लिखा जावे। लिखते समय दीप धूप रखना। यदि दूकान के द्वार पर कोई मांगलिक स्थापना हो तो द्वार के दोनों ओर लिखना श्रेष्ठ है। नहीं तो बाईं ओर ऊपर के हिस्से में लिखना। यदि कोई भयभीत हो या उपद्रव की आशंका हो तो इस यन्त्र को भोजपत्र पर लिखकर पास रखने से शान्ति प्राप्त होती है।

४९. यदि प्रसूतिकाल मे स्त्री को विशेष पीड़ा हो तो सिन्दूर या चन्दन से मिट्टी की कोरी ठीकरी पर लिखकर इस यन्त्र को दिखाने से विशेष लाभ होता है। लगातार कुछ काल तक दिखाया जावे। प्रसूति की दृष्टि यन्त्र की ओर होना आवश्यक है।

५०. यह सिद्ध बीसा यन्त्र है। वैसे बीसा यन्त्र कई प्रकार के होते हैं। इसे उक्त विधि से पूर्व दिशा की ओर मुख करके पूर्णा (५, १०, १५) तिथि को गुरुवार या रविवार के दिन पुष्य नक्षत्र में तैयार करके कार्य सिद्धि हेतु मस्तक पर चढ़ाकर धारण करना चाहिये।

५१. यह बालकों की भय पीड़ा को दूर करने वाला यन्त्र है। महामन्त्र सुनाना आवश्यक है।

५२. इसे शत्रु को शान्त करने हेतु पास में रखना।

५३. पंदरियां यन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं। यह सिद्ध पंदरिया यन्त्र है। इसे कागज या तांबे पर लिखकर आम्र की लकड़ी से बनी चौकी पर विराजमान कर फिर शकुन हेतु नौ बार

णमोकार मन्त्र पढ़कर तीन अखंड गेहूँ या चावल आंख बन्द कर यन्त्र के ऊपर डालना। यन्त्र के जिस अंक पर कम दाने गिरें उसका निम्न प्रकार फल जानना। एक पांच नव पर गिरे तो सर्व सिद्धि। आठ सात और तीन पर गिरे तो देर से कार्य सिद्धि। चार छह दो पर गिरे तो कार्य नाश।

५४. इसे गर्भिणी स्त्री पास में रक्खे तो शान्तिदायक है।

५५. यह मृत्यु कष्ट निवारक पंदरिया यन्त्र है। विशेष भ्रमण करने वालों के लिये लाभप्रद है। दीपावली के दिन मध्यरात्रि में लिखना सर्वश्रेष्ठ है।

५६. यह बालरक्षा यन्त्र बालकों के गले में बांधना उत्तम है।

५७. यह दृष्टि (नजर) हर चौबीसा यन्त्र बालकोपयोगी है। सब उपद्रव शांत होंगे।

५८. इसे कार्य सिद्धि हेतु शुक्लपक्ष की पूर्णातिथि को शुभवार नक्षत्र में लिखकर पास रखना।

५९. बुधवार या रविवार को लिखकर ज्वर रोगी के गले में बांधना।

६०. इसे चेचक रोगी के गले में बांधना लाभप्रद है।

६१. इस यन्त्र को अष्टमी, नवमी या चतुर्दशी को अथवा नवरात्रि या संक्रान्ति के दिन लिखकर गले में बांधना। अनेक प्रकार के संकट दूर होंगे।

६२. यह भूत आदि की बाधा निवारक यंत्र हैं।

६३. इसे विवाद, जादू टोना और कुविद्या की रक्षा हेतु रविवार को तैयार कराके रखना।

६४. इसे दुकान पर विशेष बिक्री हेतु गल्ले में रखना।

६५. इसे घर पर शुक्रवार के दिन लिखना। बालक का श्मशानादि भय दूर होगा।

६६. इस यंत्र को विधिपूर्वक लिखकर व्यापार वृद्धि हेतु घर दुकान या पास में रक्खे।

६७. यह मुकदमा जीतने सम्बन्धी यन्त्र है। इसे विधिपूर्वक लिखकर फिर १०८ बार प्रतिपक्षी का नाम लेकर 'वह हारे मैं जीतूं' ऐसा कहते हुये यन्त्र को आंच दिखावे। पश्चात् यन्त्र को साथ में ले जावे। निश्चय जीत हो।

६८. यह कार्य सिद्धि यन्त्र है। इस यंत्र को विधिपूर्वक लिखकर पास में रखना श्रेष्ठ है।

६९. यन्त्र संख्या अड़सठ की जगह इसका भी उपयोग लाभकारी है।

७०. यह शत्रु नाशक बीसा यंत्र है। इसे विधिपूर्वक मध्यरात्रि में शत्रु का चिन्तवन करते हुये लिखकर पूजा की जाय। पश्चात् किसी नदी, सरोवर या कुयें आदि मे डाल दिया जाय। इस प्रकार २१ दिन तक लिखकर डाला जाय। इस यंत्र के प्रभाव से शत्रु शत्रुता छोड़कर मित्र या उदासीन हो जाता है।

७१. यह शत्रु उच्चाटन यंत्र है। इसे श्मशान के कोयले से कागज पर लिखकर पूजा की जाय।

फिर शत्रु का नाम बोलकर उसके घर में, घर के द्वार में या जहाँ होकर वह आता जाता हो ऐसे स्थान गाड़ना। इससे शत्रु भाग जायेगा।

७२. इस सर्व कार्य सिद्धि यन्त्र को सिन्दूर से लिखकर मंगल कलश व दीपक धूप के साथ चौकी पर रखकर पूजा करे। पास में पद्मावती देवी का फोटू भी विराजमान करे। पूजन के बाद कम से कम २१ दिन तक णमोकार मंत्र की ५-५ माला फेरे।

७३. इस यंत्र को विधिपूर्वक लिखकर घर में या पास में रक्खें। मध्य में जिसे वश में करना है उसका नाम लिखना।

७४. इस यन्त्र को मुकदमे आदि मे विजय हेतु विधिपूर्वक लिखकर पास मे रखे। मध्य में झगड़ालू का नाम लिखा जावे।

७५. इसे विधिपूर्वक लिखकर शत्रु के घर, द्वार या मार्ग मे डालने से शत्रु वश में होगा। मध्य में ह्रीं के नीचे शत्रु का नाम लिखा जावे।

७६. यह भी शत्रुवश्य यन्त्र है। इसे भुजा या कंठ मे धारण किया जाता है। मध्य में शत्रु का नाम।

७७. यन्त्र ७६ के स्थान मे काम ले सकते है। मध्य मे रिपु का नाम।

७८. इस यन्त्र को दीवाली के दिन या रवि या गुरुवार के दिन पुष्य या हस्त या मूल नक्षत्र मे दाहिना स्वर चलते समय लिखा जावे। पास मे रखने से विजय होती है।

७९. यह वशीकरण यन्त्र है।

८०, ८१, ८२, ८३—इन चार यन्त्रो मे से किसी भी एक को विधिपूर्वक लिखकर तावीज मे रखकर दाहिने हाथ की भुजा पर बाँधना चाहिये। इनसे इष्ट कार्य की सिद्धि, अर्थसिद्धि, रोगों का समूल विनाश होता है। वात रोगों के लिये ताम्र के तावीज में, पित्त रोगों के लिये रजत तावीज में और कफज रोगों में स्वर्ण के तावीज में रखकर बाँधना चाहिये।

पूज्यश्री द्वारा प्रतिपादित

ज्योतिष विद्या सम्बन्धी कुछ उपयोगी बातें

□

ज्योतिष विद्या को कर्मफलद्योतक विद्या भी कहते हैं। मानव का भौतिक शरीर मुख्यत: ज्योति:, मानसिक और पौद्गलिक इन तीन उपशरीरों में विभक्त है। यह ज्योति:उपशरीर द्वारा नक्षत्रजगत से, मानसिकउपशरीर द्वारा मानसिकजगत से और पौद्गलिकउपशरीर द्वारा भौतिकजगत से सम्बद्ध है। अत: मनुष्य प्रत्येक जगत से प्रभावित होता है। तथा अपने भाव, विचार एवं क्रिया द्वारा प्रत्येक जगत को प्रभावित करता है इसीलिये कर्म संस्कारों के कारण घटित होने वाली घटनाओं एवं अन्य सम्भावनाओं द्वारा होने वाले शुभाशुभत्व को जानना आवश्यक है। इस जानकारी का मूल ध्येय स्व-पर को आपत्ति से दूर कर आत्मकल्याण का होना चाहिये, न कि ख्याति-लाभ का। यहाँ इस प्रकरण में स्वर्गीय आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज द्वारा जैन शास्त्रों के आधार से प्रतिपादित ज्योतिष विद्या सम्बन्धी कुछ उपयोगी बातें बताई जा रही हैं—

रोग सम्बन्धी उत्पात— यदि चन्द्रमा कृष्ण वर्ण का दिखाई दे तथा तारायें विभिन्न वर्ण की टूटती हुई मालूम पड़े एवं उदयकाल में सूर्य कई दिनों तक लगातार काला और रोता हुआ दिखाई पड़े तो दो महीने पश्चात् महामारी का प्रकोप होता है। उल्कापात हरे वर्ण का हो और चन्द्र भी हरे रंग का दिखाई दे तो सामुदायिक रूप में ज्वर का प्रकोप होता है। बिल्ली तीन बार रो कर चुप हो जाय तथा नगर या गांव के भीतर आकर शृंगाल (सियार) तीन बार रोकर चुप हो जाय तो वहां भयंकर हैजा फैलता है। पीपल वृक्ष और वट वृक्ष में असमय में फल पुष्प आवें तो गाँव या नगर में पाँच माह के भीतर संक्रामक रोग फैलता है, जिससे सभी प्राणियों को पीड़ा होती है। काक-मैथुन देखने से छह माह में मृत्यु होती है। गोधा, मेंढक और मयूर रात्रि में भ्रमण करे तथा श्वेत काक एवं गृद्ध घरों में घुस आवें तो उस गाँव या नगर में तीन मास के भीतर बीमारी फैलती है। यदि सूखे पेड़ अचानक हरे हो जायें तो उस नगर में सात माह में महामारी फैलती है।

अग्निभय सम्बन्धी उत्पात—घोड़ों का जल में हिनहिनाना, गायों का अग्नि चाटना अथवा खाना, सूखे पेड़ों का स्वयं जल उठना, एकत्रित घास या लकड़ी में से स्वयं धुंआ निकलना, लड़कों का आग से क्रीड़ा करना या खेलते-खेलते बालक घर से आग ले आवें, पक्षी आकाश में उड़ते हुये एकाएक गिर जावें तो उस नगर या गांव में पांच दिन से लेकर तीन माह तक अग्नि का प्रकोप होता है।

यदि सूखे काठ, तिनके, घास आदि का भक्षण कर घोड़े सूर्य की ओर मुख करके हिनहिनाने लगें तो तीन माह में नगर में अग्नि प्रकोप होता है।

व्यक्तिगत हानि-लाभ सम्बन्धी उत्पात—यदि कोई अपनी नासिका के अग्रभाग पर मक्खी के न रहने पर भी मक्खी बैठी हुई देखता है तो उसे व्यापार में चार माह तक हानि होती है। जो व्यक्ति बाजों के न बजाने पर भी लगातार सात दिन तक बाजों की ध्वनि सुनता है तो चार माह में उसकी धन-हानि तथा मृत्यु होती है। प्रातःकाल यदि आकाश काला दिखाई दे और सूर्य में अनेक प्रकार के धब्बे दिखाई दें तो उस व्यक्ति को तीन माह के भीतर रोग होता है। कहीं गन्ध के साधन न रहने पर भी सुगन्ध मालूम पड़े तो मित्रों से मिलाप, शान्ति एवं व्यापार में लाभ तथा सुख की प्राप्ति होती है। यदि व्यक्ति स्थिर वस्तु को चलायमान और चंचल वस्तु को स्थिर देखता है तो उसे व्याधि, मरणभय एवं धनक्षय के कारण पीड़ा होती है। यदि प्रातःकाल जागने पर हाथों की हथेलियों पर दृष्टि पड़ जाय तथा हाथ में ध्वजा, कलश और छत्र यों ही दिखाई पड़े तो ऐसे व्यक्ति को सात माह में धन की विशेष प्राप्ति होती है।

यात्रा में मयूर का विचार—यदि मधुर शब्द करते हुये एवं नृत्य करते हुये यात्रा में मयूर दिखाई पड़े तो यह शकुन अत्यन्त उत्तम है। इसके द्वारा धन-धान्य की प्राप्ति, विजय, सुख एवं सभी प्रकार के मनोरथो की सिद्धि समझना चाहिये। मयूर का एक ही झटके में उड़कर सूखे पेड़ पर बैठ जाना यात्रा मे विपत्ति का सूचक है। यात्रा में मयूर को मात्र नृत्य करते हुये देखना अत्यन्त शुभ है।

यात्रा में गाय का विचार—यदि रम्भाती हुई गाय सामने आवे और बच्चे को दूध पिला रही हो तो यात्राकाल मे अत्यधिक शुभ है। गर्भिणी गाय, गर्भिणी भैंस और गर्भिणी बकरी का यात्रा समय सम्मुख या दाहिनी ओर आना शुभ है। रम्भाती हुई, बच्चे को देखने के लिए उत्सुक, हर्ष युक्त गाय का प्रस्थान समय में दिखाई पड़ना शुभ है। जिस गाय का दूध निकाला जा रहा हो वह भी यात्रा के लिये शुभ होती है।

यात्रा में हाथी का विचार—यदि गर्जना करता हुआ मदोन्मत्त हाथी सामने आता हुआ दिखाई पड़े तो यात्रा सफल होती है। प्रस्थान काल में यदि हाथी सूंड़ को ऊपर किये हुये दिखाई पड़े तो यात्रा में इच्छाओं की पूर्ति होती है। जो हाथी महावत (पीलवान) को गिराकर आगे दौड़ता हुआ आवे तो यात्रा में कष्ट, पराजय, आर्थिक क्षति आदि फलों की प्राप्ति होती है। यदि यात्रा करते समय हाथी का दांत ही टूटा हुआ दिखाई पड़े तो भय, कष्ट और मृत्यु होती है।

यात्रा में तोते का विचार—यदि गमन समय तोता मुख में फल दबाये और बायें पैर से अपनी गर्दन खुजला रहा हो तो यात्रा में धन्य-धान्य की प्राप्ति होती है। दाहिनी ओर या सम्मुख तोता दिखाई पड़े तथा मधुर शब्द कर रहा हो, बन्धन मुक्त हो तो यात्रा में सभी प्रकार से सफलता होती है।

किसी विशेष व्यक्ति से मिलने के लिए यात्रा की जाय और उस यात्रा के आरम्भ में तोता अवनाद करता हुआ दिखाई पड़े तो यात्रा पूर्ण सफल होती है। यदि गमन काल में तोता बाईं और से दाहिनी ओर चला आवे और प्रदक्षिणा करता हुआ जैसा प्रतीत हो तो यात्रा में सभी प्रकार की सफलता समझना। मुक्त विचरण करने वाला तोता यदि सामने फल या पुष्प को कुरेदता हुआ दिखाई पड़े तो धन प्राप्ति का योग समझना। हरे फल, पुष्प और पत्तों से युक्त वृक्ष के ऊपर तोता स्थित हो तो यात्रा में विजय, सफलता, धन और यश की प्राप्ति समझना। यदि तोता रुदन करता हुआ या किसी भी प्रकार के शोक शब्द को करता हुआ सामने आवे तो यात्रा अत्यन्त अशुभ होती है। इस प्रकार के शकुन से यात्रा करने पर प्राणघात का भी भय रहता है। यदि शरीर को कंपाता हुआ तोता इधर से उधर घूमता जाय या निन्दित, दूषित और घृणित स्थलों पर आकर बैठ जाय तो यात्रा की सिद्धि में कठिनाई समझना चाहिये।

यात्रा में छींक का विचार—छींक दो प्रकार की होती है अपनी और दूसरे की। अपनी छींक हमेशा अशुभ कारक होती है। दूसरे की छींक दिशा के भेद से दस प्रकार की है। यात्रा में पूर्व दिशा मे छींक होने से मृत्यु. अग्निकोण में शोक, दक्षिण में हानि, नैऋत्य में प्रिय संगम, पश्चिम में मीठा भोजन, वायव्य में श्री सम्पदा, उत्तर मे कलह, ईशान में धनागम, ऊपर की छीक में संहार और नीचे की छींक में सम्पत्ति की प्राप्ति समझना। सम्मुख और दाहिने नेत्र के पास छीक हो तो कार्य का नाश, दाहिने और बायें कान के पास छींक हो तो क्रमश: धन का क्षय और विजय, दक्षिण और बायें कान के पृष्ठ भाग में छींक हो तो क्रमश: शत्रुओं की वृद्धि और भोगों की प्राप्ति, दाहिनी छींक धन नाशक एवं नेत्र के आगे होने वाली छींक धनप्राप्तिसूचक समझना। यदि पीठ पीछे छीक हो तो वह भी शुभ समझना।

छिपकली गिरने व गिरगिट आरोहण का फल—जिस भी दिन जिस प्रहर मे छिपकली गिरी हो उस दिन की तिथि, नक्षत्र, प्रहर संख्या को जोड़ना। इस जोड़ में नौ का भाग देना। एक शेष में घात, दो में नाश, तीन में लाभ, चार में कल्याण, पाँच में जय, छ: में मंगल, सात में उत्साह, आठ में हानि और शून्य शेष रहने पर मृत्यु फल समझना। तिथि, नक्षत्र और प्रहर संख्या क्रमश :शुक्ल प्रतिपदा, अश्विनी और प्रात:काल से गिनकर लेना। जैसे–उमरावमल के ऊपर चैत्र कृष्ण द्वादशी को अनुराधा नक्षत्र में दिन में ग्यारह बजे छिपकली गिरी तो तिथि संख्या सत्ताईस, नक्षत्र संख्या सत्तरह और प्रहर संख्या दो हुई। इनका योग २७+१७+२=४६ हुआ। नौ का भाग देने पर एक शेष रहता है। इसका फल घात हुआ। किसी दुर्घटना का शिकार यह व्यक्ति होगा। छिपकली गिरने का फलादेश निम्न प्रकार भी है :—

प्रात:काल से मध्याह्न काल तक गिरने से विशेष अनिष्ट, मध्याह्न से सायंकाल तक गिरने पर साधारण अनिष्ट और सन्ध्याकाल के बाद गिरने से फलाभाव समझना। दिन में क्रमश: सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार और रविवार को गिरने से साधारण, विशेष, शुभफल

की वृद्धि तथा अशुभ की हानि, शुभफल का अधिक प्रभाव तथा अशुभफल साधारण, सामान्य, अशुभ फल की वृद्धि तथा शुभ फल का हानि और शुभ फल का अशुभ रूप में परिणत होना फल है। छिपकली गिरने का विशेष अनिष्ट फल तभी होता है जब शनिवार या रविवार को भरणी अथवा अश्लेषा नक्षत्र में चतुर्थी या नवमी तिथि को सन्ध्याकाल में गिरी हो। इसका फल किसी मुकदमे की हार या मृत्यु की सूचना या किसी सम्बन्धी की मृत्यु सूचना समझनी चाहिये। यदि दाहिने अंग पर गिरे तो कुटुम्ब वालों में विरोध, बायें अंग पर गिरे तो लाभ और पेट, सिर, कण्ठ, पीठ पर गिरे तो मृत्यु तथा हाथ, पैर और छाती पर गिरे तो सर्वसुखों की प्राप्ति समझना। पुरुषों के जो बायें अंग का फल बताया है उसे स्त्रियों के दाहिने भाग का तथा दाहिने भाग के पुरुषों के फल को स्त्रियों के बायें भाग का फल समझना। छिपकली के किसी व्यक्ति के ऊपर गिरने और गिरगिट के चढ़ने का एक ही फल समझना।

अंगों के फड़कने का फल—स्थूल रूप में स्त्री की बाईं आंख का फड़कना और पुरुष की दाहिनी आंख का फड़कना शुभ समझना चाहिये। कटि, कण्ठ, कपोल, कुक्षि और कन्धे के फड़कने से क्रमशः प्रमोद, ऐश्वर्य लाभ, वरांगना प्राप्ति, प्रीतिलाभ और भोगसमृद्धि समझना। मस्तक और मुख के फड़कने से क्रमशः पृथ्वीलाभ और मित्र प्राप्ति समझना। ललाट, भ्रूमध्य, भ्रूयुग्म और जंघा के फड़कने से क्रमशः स्थानलाभ, साधारण सुख, महान् सुख और स्वामी प्राप्ति फल समझना। पैर, हाथ, नासिका, छाती, हृदय, नाभि, भग, उदर, गुदा, लिंग के फड़कने से क्रमशः अलाभ, सद्द्रव्य लाभ, प्रीतिसुख, विजय, वांछित सिद्धि, स्त्रीनाश, पति प्राप्ति, कोश प्राप्ति, वाहन प्राप्ति, स्त्री प्राप्ति फल जानना। पादतल, वृषण, ओष्ठ जानु, बाहु, बाहुमध्य, हनु, ग्रीवा, पृष्ठ के फड़कने से क्रमशः नृपत्व, पुत्र प्राप्ति, प्रिय वस्तु प्राप्ति, शत्रुवृद्धि, मधुर भोजन, धनागम, भय, रिपु भय एवं युद्ध व पराजय फल जानना चाहिये।

यात्रा में दिशाशूल विचार—यथासंभव सोमवार और शनिवार को पूर्व दिशा में, गुरुवार को दक्षिण दिशा में, और रविवार और शुक्रवार को पश्चिम दिशा में मंगलवार और बुधवार उत्तर दिशा में यात्रा करना निषेध है।

यात्रादि में श्रेष्ठ योग विचार— जैन ज्योतिष शास्त्रों में तिथियों के ५ भेद किये हैं। १. नन्दा २. भद्रा ३. जया ४. रिक्ता और ५. पूर्णा। इनमें से रिक्ता तिथियां शुभ कार्यों में अशुभ मानी गई है। शेष सब ठीक हैं। शुक्रवार को नन्दा तिथि (१, ६, ११), बुधवार को भद्रा तिथि (२, ७, १२), मंगलवार को जया तिथि (३, ८, १३), शनिवार को रिक्ता तिथि (४, ९, १४) और गुरुवार को पूर्णा तिथि (५, १०, १५) होने पर श्रेष्ठ योग अर्थात् सिद्धि योग होता है। इस योग में किये गये सर्व अच्छे कार्य फलप्रद होते है। रवि-मंगल को नंदा, सोम-गुरु को भद्रा, बुध को जया, शुक्र को रिक्ता और शनि को पूर्णा तिथि होने पर मृत्यु योग अर्थात् अशुभ योग होता है। अतः कोई भी श्रेष्ठ कार्य इस योग में प्रारम्भ नहीं करना चाहिये।

यात्रादि में चौघड़िये का विचार—सूर्य के उदयकाल से अस्तकाल तक दिन और शेष काल को रात्रि कहा गया है । दिन रात्रि दोनों मिलाकर चौबीस घंटे या आठ प्रहर (तीन घंटे का एक प्रहर होता है) या साठ घड़ी (एक घड़ी २४ मिनट की और एक घंटा ६० मिनट का होता है) के होते हैं । दिन में सात और रात्रि मे भी सात ही चौघड़िये होते है । ये निम्न है—१. उद्वेग २. चल ३. लाभ ४. अमृत ५. काल ६. शुभ ७. रोग । इसमें लाभ, अमृत और शुभ ये तीन शुभ रूप है, शेष चार अशुभ रूप है । एक चौघड़िया अपना प्रभाव डेढ़ घंटे तक उत्तम मध्यम व जघन्य रूप में रखता है । दिन और रात्रि के चौघड़िये प्रतिदिन निम्न चक्रानुसार होते है—

दिन का चौघड़िया

र	चं	मं	बु	गु	शु	श
उ	अ	रो	ला	शु	च	का
च	का	उ	अ	रो	ला	शु
ला	शु	च	का	उ	अ	रो
अ	रो	ला	शु	च	का	उ
का	उ	अ	रो	ला	शु	च
शु	च	का	उ	अ	रो	ला
रो	ला	शु	च	का	उ	अ
उ	अ	रो	ला	शु	च	का

रात्रि का चौघडिया

र	चं	मं	बु	गु	शु	श
शु	च	का	उ	अ	रो	ला
अ	रो	ला	शु	च	का	उ
च	का	उ	अ	रो	ला	शु
रो	ला	शु	च	का	उ	अ
का	उ	अ	रो	ला	शु	च
ला	शु	च	का	उ	अ	रो
उ	अ	रो	ला	शु	च	का
शु	च	का	उ	अ	रो	ला

पूज्यश्री द्वारा प्रतिपादित-
रिष्ट लक्षणों का निरूपण

□

स्वस्थ मनुष्यों में पाये जाने वाले एवं पूर्वाचार्यों द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित मरण सूचक चिह्नों को रिष्ट[1] कहते हैं। यह रहस्य परमार्थ के ज्ञाता गणधर आदि तपोधनों के द्वारा रचित परमागम की परम्परा से प्रतिपादित है। रिष्टों का विवेचन सदा शुभ भावना में लगे हुये सज्जनों के लिये किया गया है, न कि मोही प्राणियों के लिये। मोही प्राणियों को रिष्टों का दर्शन नहीं हो सकता। आयु के पूर्ण होने पर शरीर से आत्मा की जो गत्यन्तर की प्राप्ति होती है उसे मरण कहते हैं। मोही पुरुषों को इसका अत्यधिक भय रहता है। जो अत्यधिक वृद्ध हो जाते हैं उनको भी सदा मरण का भय रहता है। जो लोग बुढ़ापा, रोग और मरण के भय से भयभीत हैं तथा संसार के अनित्यादि स्वरूप को नहीं समझते उन्हें कभी भी मरण-वार्ता नहीं कहनी चाहिये, भले ही उनमें व्यक्त मरण चिह्नों से यह निश्चय मालूम हो जाय कि इसका अमुक समय में मरण हो जायेगा क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपने मरण विषय को सुनकर अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं जिससे अनेक रोग उत्पन्न होकर मरण-काल के पहले ही मरने का भय रहता है। इतना ही नहीं यदि वह अत्यधिक डरपोक हो तो तत्काल भी प्राण त्याग देता है। जो व्यक्ति चतुर्गति भ्रमण रूप संसार के दुखों से भयभीत होकर सारभूत और समस्त सौख्य के स्थान मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं उनको मरण वार्ता अवश्य कहनी चाहिये। उनका भी कर्तव्य है कि वे अपने मरण चिन्हों को सहर्ष सुनें। अब उन्हीं रिष्टों का प्रतिपादन किया जा रहा है—

१. मानव की दृष्टि में भ्रान्ति होना, आँखों में अंधेरी आना, नेत्रों में स्फुरण व अश्रु का प्रवाह होना, मुख में विशेष पसीना आना, नाव शिराओं अर्थात् जीवन धारक रक्त वाहिनी आदि नाड़ियों में स्थिरता होना, पाद व हाथ पर अत्यधिक रूप से रोम उत्पन्न होना, मल की विशेष प्रवृत्ति होना, तीव्र ज्वर से पीड़ित होना (१०६ डिग्री से ऊपर का ज्वर होना), श्वास का रुक जाना, ये लक्षण एकाएक प्रकट हो जावें तो समझना चाहिये कि उस व्यक्ति का मरण जल्दी होगा।

२. जिस व्यक्ति को समुद्रघोष (दोनों कान के छिद्रों में एक साथ अंगुलियां डालकर सुनने से जो सांय सांय जैसी आवाज आती है) सुनाई नहीं दे, बहुत कोशिश करने पर भी आँख के कोये की ज्योति व नाक का अग्रभाग नहीं दिखता हो वह एक दिन से अधिक नहीं जीवित रहता।

---

[1] शरीर के वास्तविक प्रकृति व स्वभाव से बिलकुल विपरीत जो भी लक्षण प्रकट होते हैं उन्हें भी जिनेन्द्रदेव ने रिष्ट बताया है।

३. बर्फ के समान अति ठंडे जल से सेचन करने पर भी जिसे रोमांच नहीं होता हो और जो अपने शरीर की सर्व क्रिया का अनुभव नहीं करता हो वह दो दिन से अधिक जीवित नहीं रहता।

४. जब बात के प्रकोप से शरीर में सुई के चुभने जैसी भयंकर पीड़ा हो, मर्म स्थानों में भी पीड़ा हो, भयकर व दुष्ट बिच्छू से काटे हुये व्यक्ति के समान अत्यधिक वेदना से प्रतिक्षण व्याकुलित हो तो समझना कि वह तीन दिन से अधिक नहीं जीवेगा।

५. जिसका शरीर एकाएक निर्वन व काला हो जावे, एकाएक मुखमंडल कमल के समान गौर व मनोहर हो जावे, कपोल में इन्द्रगोप के समान चिन्ह दिखाई दे तो ऐसा व्यक्ति सात दिन से अधिक नहीं जीता।

६. जो व्यक्ति अपने शरीर में मृतक जैसी गंध का अनुभव करता हो, कारण के बिना शरीर में पीड़ा बताता हो, जागते हुये भी सोये हुये के समान दिखाई देता हो तो वह १२ दिन से अधिक नहीं जीवेगा।

७. जिस व्यक्ति का रूप दूसरों को अच्छी तरह नहीं दिखता हो, जिसे तेज गंध का भी अनुभव न होता हो, वह १५ दिन से अधिक नहीं जीता।

८. जिस मनुष्य को घुंघराले काले केश व चन्द्र सूर्य का तेज प्रकाश नहीं दीखता हो एवं समक्ष में उनके प्रतिबिंब को अन्यथा रूप से देखता हो तो वह एक माह से अधिक नहीं जीता।

९. जिस मानव को जल में साक्षात् इन्द्रधनुष दीखकर क्षण भर में विलय हो गया है ऐसा मालूम हो तो वह दो माह से अधिक जीवित नहीं रहता।

१०. जिस व्यक्ति को देखने पर अपना शरीर भी नही दिखता हो, स्वप्न में सवारी करने की इच्छा से भैंस, ऊँट, गधा इन पर चढ़कर सवारी करते हुये दिखाई दे तथा दिन में कौवों के साथ मरा हुआ मालूम हो तो वह तीन माह से अधिक नहीं जीता।

११. दक्षिण दिशा के आकाश में मेघ का अस्तित्व न होने पर भी जो व्यक्ति सदा बिजली की चमक के साथ प्रचण्ड व चंचल आकाश को देखता है वह चार महीने के अधिक नहीं जीता।

१२. जो व्यक्ति धूल से मिले हुये पानी या केवल धूल से अप्रत्यक्ष रूप में अपने मस्तक का मर्दन करता है अथवा उसे मालूम हुये बिना ही धूल पानी लगा हुआ मिलता है या अपना मस्तक धुयें व कोहरे से व्याप्त हुआ सा मालुम पड़ता है तो वह पाँच माह से अधिक नहीं जीवेगा।

१३. जिसके सिर को उल्लू, कौवा, उद्दण्ड गृद्ध, कौशिक, कंगु, उग्र, पिंगला आदि पक्षी उलांघकर गये हों, या बार बार उड़कर सिर पर बैठना चाहते हों तो वह व्यक्ति छह माह तक ही जीवित रह सकता है।

१४. कीचड़ में पैर रखने पर उसका चिन्ह आगे से पीछे से आधा कटा हुआ सा हो जावे अर्थात् पूर्ण पैर का चिन्ह न आवे और पैर में लगा हुआ कीचड़ अपने आप गीला ही रहे तो ऐसा व्यक्ति सात माह तक जीवित रह सकता है।

१५. कारण के बिना ही जो व्यक्ति अतिशीघ्र अधिक स्थूल या अत्यन्त कृश हो जावे और जिसकी प्रकृति कारण बिना ही एक दम विकृत हो जावे तो वह आठ माह पर्यन्त ही जीता है।

१६. स्वर्ग से आये हुये सुवर्ण वृक्ष को देखने वाला, भयंकर रूप में लटकते हुये शरीर वाले अत्यधिक झुके हुये मनुष्यों को देखने वाला एवं आकाश में मृत मनुष्यों को या पिशाचों को देखने वाला व्यक्ति नौ महीने से अधिक नहीं जीवित रहता।

१७. जागृत या निद्रा अवस्था में जो अपना वमन, कफ, मूत्र, मल और वीर्य को इन्द्रधनुष, सुवर्ण अथवा नक्षत्र के वर्ण मे देखता हो तो वह दस माह तक ही जीता है।

१८ जो चन्द्रमंडल को अधिक तीव्र प्रकाश वाला और सूर्य मण्डल को तेज रहित देखता या अनुभव करता है वह ग्यारह माह से अधिक नहीं जीता।

१९. जो अर्ध चन्द्र में मण्डलाकार को देखता हो और जिसको ध्रुवतारा, अरुन्धती तारा, आकाश, चन्द्रकिरण तथा दिन में धूप नहीं दीखते हो वह एक वर्ष से अधिक नहीं जाता।

२०. व्यक्ति को जब चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, पृथ्वी के तीनों खण्ड ये तीनों इन्द्रधनुष की प्रभा के समान पाँच रंग मे युक्त दीखते हों या ये छिद्र सहित दीखतें हों तो समझना चाहिये कि ऐसा व्यक्ति दो वर्ष से अधिक जीवित नही रहेगा।

२१. यदि किसी व्यक्ति को अपना पैर नही दीखे तो वह तीन वर्ष, जंघा नही दीखे तो दो वर्ष, जानु (घुटना) नहीं दीखे तो एक वर्ष, उरू (साथल) नहीं दिखाई दे तो दस माह, कटिप्रदेश नही दीखे तो सात माह, कुक्षि कूख) नही दीखे तो चार माह और गर्दन नहीं दीखे तो एक माह तक ही जीवित रहता है। इसी प्रकार हाथ नही दीखे तो पन्द्रह दिन, बाहु (भुजा) न दीखे तो आठ दिन, कधे (भुजा के जोड़) नही दीखे तो तीन दिन, वक्षस्थल (छाती), शिर और अपनी छाया नही दीखे तो दो दिन तक ही जीवित रह सकता है।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित मरण सूचक चिन्हों को भलीभांति समझ कर, यदि ये चिन्ह अपने-२ शरीर मे प्रकट हो तो साधु लोग मन मे धैर्य स्थैर्य आदि को धारण करते हुये तथा संसार शरीर भोगों का स्वरूप चितवन करते हुये मोक्षदायक तपश्चर्या में लवलीन हो जावें।

आचार्यश्री से उपदिष्ट अनुभूत औषधियां

□

सर्वज्ञ भगवान के मुख से जो दिव्यध्वनि निकलती है उसे श्रुतज्ञान के धारी गणधर परमेष्ठी आचारांग आदि बारह भेदों में विभाग करके निरूपण करते हैं। उनमें बारहवें अंग के चौदह उत्तर भेद हैं। चौदह भेदों में प्राणावायपूर्व नामक भी एक भेद है। इसके विषय में लिखा है—"कायचिकित्सा-घष्टांग आयुर्वेद: भूतकर्मजांगुलिप्रक्रम: प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्" अर्थात् जिस शास्त्र में, काय, तद्गतदोष व चिकित्सा आदि अष्टांग* आयुर्वेद का वर्णन विस्तार से किया गया हो, पृथ्वी आदि भूतों की क्रिया, जहरीले जानवर व उनकी चिकित्सा आदि एवं प्राणापान का विभाग किया हो उसे प्राणावायपूर्व शास्त्र कहते हैं। इस पूर्व का विवेचन वृषभसेन गणधर एवं भरतचक्रवर्ती आदि महापुरुषों के पूछने पर प्रथमतीर्थंकर श्री आदिनाथस्वामी द्वारा समवशरण में दिव्यध्वनि से भी प्रकटित हुआ था।

आचार्यों ने पारमार्थिक और व्यावहारिक के भेद से स्वास्थ्य दो प्रकार का बतलाया है। सम्पूर्ण कर्मों के विनाश से उत्पन्न अविनश्वर, अतीन्द्रिय आत्मिक सुख यह परमार्थिक स्वास्थ्य है और देहस्थित सप्तधातु, अग्नि व वातपित्तादि दोषों में समता रहना, इन्द्रियों से प्रसन्नता व मन में आनन्द रहना तथा शरीर नीरोग रहना यह व्यावहारिक स्वास्थ्य है। व्यावहारिक स्वास्थ्य को जैनाचार्यों ने परमार्थिक स्वास्थ्य में सहायक माना है। जो व्यावहारिक स्वास्थ्य को मात्र इन्द्रिय भोगों के लिये मानते हैं उचित नहीं है। पारमार्थिक स्वास्थ्य को लक्ष्य में रखकर ही जैनाचार्यों ने भक्ष्य-अभक्ष्य और सेव्य असेव्य आदि पदार्थों का सेवन करते समय ध्यान रखने का आदेश दिया है। योग्य आहार, विहार और ब्रह्मचर्य का पालन न होने से स्वास्थ्य विगड़ जाया करता है और तभी ठीक होने के लिये योग्य औषधियों का उपचार करना-कराना पड़ता है।

आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज अन्य शास्त्रों के साथ आयुर्वेद के भी महान् ज्ञाता थे। वे कभी-कभी शुद्ध औषधियों के द्वारा व्यावहारिक स्वास्थ्य को ठीक कर पारमार्थिक स्वास्थ्य सिद्धि का उपदेश दिया करते थे। यहाँ इस प्रकरण में उन्हीं के द्वारा संग्रहीत एवं बताई हुई अनुभूत औषधियाँ दी जा रही है।

---

* कायचिकित्सा, बालचिकित्सा, ग्रहचिकित्सा, उर्ध्वांगचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, दंष्ट्राचिकित्सा, जराचिकित्सा और वृषचिकित्सा ये आयुर्वेद शास्त्र के अष्टांग हैं।

इस प्रसंग में महान् आयुर्वेद ग्रन्थ कल्याणकारक में जो उग्रादित्य आचार्य ने लिखा है वह चिरस्मरणीय है। उन्होंने लिखा है—

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।
अन्यः स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो
बध्नातिकर्मनिजदुष्परिणामभेदात्॥

अर्थात्—जो बुद्धिमान मुनि आरोग्यशास्त्र का अध्ययन कर उसके रहस्य को समझता है, वह मोक्षसुख के कारणभूत स्वास्थ्य को साध्य कर लेता है तथा जो इसका अध्ययन नहीं करता, वह अपने दोषों के द्वारा उत्पन्न रोगों से पीड़ित शरीर वाला होने पर चित्त में उत्पन्न होने वाले अनेक दुष्ट परिणामों के विकल्प से कर्मों को बांधता है।

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं, चिकित्सितं धर्मविवृध्दये च।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं, चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च॥

अर्थात्—रोगियों की चिकित्सा करना पापनाश का कारण है। इससे धर्म की वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, चिकित्सा इहलोक और परलोक में सुखदायी है। चिकित्सा से उत्कृष्ट कोई तप नही।

चिकित्सा का उद्देश्य बताते हुये लिखा है—

कारुण्यबुध्दया परलोकहेतो।
कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान्॥

अर्थात्—रोगी के प्रति दयाभाव से, परलोक साधन के लिये तथा कर्मों का विनाश करने हेतु बुद्धिमान व्यक्ति चिकित्सा करे।

एलादि चूर्ण—इलाइची, दालचीनी, नागकेशर, पीपल, कालीमिर्च, सोंठ इनको क्रमशः एक-एक भाग अधिक लेकर चूर्ण बनाया जाय। फिर उसमें बराबर शक्कर मिलाई जावे। मात्रानुसार सेवन करने मे कफ, पित्तरक्त, पांडु, मद, क्षय, अरुचि, अजीर्ण, खांसी और हृदय रोग दूर होता है।

सितोपलादि चूर्ण—दालचीनी, इलाइची, पीपल, वंशलोचन इनको क्रमशः १, २, ४, ८ भाग लेकर चूर्ण बनावे। फिर १६ भाग शक्कर मिलावे। वैद्यों की सलाह से मात्रानुसार लेने पर रक्तपित्त, क्षय, श्वास, हिचकी, ज्वर, खांसी, अरुचि एवं अत्यन्त दाह आदि रोगों पर लाभप्रद है।

किंपुरुषग्रहगृहीत की पहिचान व औषधि—जो बालक नाना प्रकार की वेदनाओं से बेहोश हो जाता है, कभी होश में भी आता है, हाथ पैरों को इस प्रकार हिलाता है जिससे वह नाचता हो जैसा मालूम होता है। झुकते व जंभाई लेते हुये अधिक मल मूत्र को त्याग करता है, फेन (झाग) को वमन करता है तो समझना चाहिये कि वह भयंकर किंपुरुष अपस्मार नामक ग्रह से पीड़ित है। ऐसे को शिरीष, तुलसी व बेल से पकाये हुये जल से स्नान कराना चाहिये।

तीव्र ज्वर में—यदि तीव्र ज्वर होवे तो सोंठ, कायफल का चूर्ण कर समस्त शरीर मे मालिश किया जाय तो बुखार पसीना आकर उतर जाता है।

शक्तिदायक - दालचीनी, सोंठ, इलाइची, कालीमिर्च, धनिया इन पांचों के बराबर वजन के क्वाथ को पीने से शक्तिवर्द्धक तथा सर्दी, खांसी, बुखार की अवस्था मे हितकर है।

मस्तक शूल—सोंठ एक तोला और घी दो तोला लेकर शिर में मालिश करे तो इस प्रयोग से मस्तक शूल मे आराम होता है।

खांसी—इसके लिये बच और मिश्री चूसना चाहिये।

आंव के दस्त—अदरख को पीसकर नाभि के चारों ओर बाढ़ बनावे फिर उसके बीच मे आंवले का रस भर देवे तो आंव के दस्त बन्द हो जाते हैं।

पाचन शक्ति के लिये—गीले अकुआ के फूल के अन्दर की बीजी आधी छटांक, संधा नमक चौथाई छटांक, कालीमिर्च चौथाई छटांक इन तीनों को घोंटकर २/२ माशे की गोलियां बनाई जावें। इनके प्रयोग से पाचन शक्ति बढ़ जाती है।

खांसी के लिये—इसी योग में आधा तोला सफेद कत्था मिलाकर गोली बनाकर खाने से खांसी के लिये लाभप्रद है।

अतिसारण चूर्ण—कूठ, दारुहलदी, लज्जावंती, पाठा, कुटकी, मंजीठ, हलदी, नागरमोथा, लोध इनका चूर्ण बना प्रतिमारण करे अर्थात् अगुली के अग्रभाग में चूर्ण लगाकर जीभ तथा सम्पूर्ण मुख में रगड़े ऐसे यह प्रतिसारण होता है अर्थात् मुख का मंजन। इससे दातों के मसूढ़ों मे से रक्त का गिरना, दन्त पीड़ा, दाह इनका नाश होता है।

दाद खाज की दवा—सरसों का तेल १ तोला, कालीमिर्च ८|१० और कपूर इन तीनों को मिलाकर लगाने से दाद खाज मे आराम होता है।

चक्कर आना—कालीमिर्च १।। माशा, आंवला १ तोला, मिश्री १ तोला। इनका कपड़छन चूर्ण ७/८ दिन फंकी लेने से चक्कर आना मिट जाता है।

स्वप्नदोष नाशक—आंवला, हलदी और चन्दन का चूर्ण बराबर मिश्री मिलाकर सुबह शाम दूध से सेवन करना। मिरचीमसाले का त्याग किया जाय।

पुरुषों की दुर्बलता नाशक—सालम, सफेदमूसली, स्याहमूसली, कौंच के बीज, गोखरू, चोपचीनी, मिश्री इन सबके बराबर का कपड़छन चूर्ण सुबह शाम दूध से ३/३ माशे लेना।

सर्व प्रकार की खांसी के लिये—कालीमिर्च १ तोला पीपल १ तोला, जवाखार आधा तोला और अनार के फल की छाल २ तोला। इन सबका चूर्ण कर ८ तोला गुड में मिलावे। २४/२४ रत्ती की गोलियां बनाकर एक गोली मुख पर रखकर चूसते रहने से सर्व प्रकार की खांसी दूर होती है।

प्रदर, प्रमेह, कमजोरी के लिये—असगन्ध, पठानीलोध, इमली के बीज ये तीनों बराबर लेकर इनके बराबर मिश्री लेवे। सबका चूर्ण बनाकर रखना। खुराक ६ माशे से १ तोला तक। ऊपर से गर्म किया हुआ ठंडा दूध पीवे।

अश्वगन्धादि चूर्ण—असगन्ध ५ तोला, विधारा ५ तोला, मिश्री १५ तोला, अकरकरा २ तोला इन सबका चूर्ण घी मे भूनकर मिश्री मिलावे। चूर्ण को चिकने बर्तन में रक्खे। ६ माशे से १ तोला तक लेवे। ऊपर से गर्म दूध पीना। यह चूर्ण धातु कमी, प्रमेह, धातुविकार और दुर्बलता के लिये उपयोगी है।

गर्भावस्था पर—चावल के धोवन मे जायफल घिसकर इसमें नीबू का रस और मिश्री मिलाकर पिलाने से गर्भिणी स्त्री का जी मचलाना अथवा वमन होना बन्द हो जाता है। यह हानिकारक नहीं है, अतः जब जरूरत हो प्रयोग किया जा सकता है।

लवंगादि पाचन—लौंग ५, कालीमिर्च २१, पोदीना, मुलहठी और सौंफ ये तीनों ५-५ माशे। इन औषधियो को कूटकर १६ गुने पानी मे पकाना। जब चौथाई जल शेष रहे तब मल छानकर मधुरता योग्य मिश्री डाल पीना। यह मात्रा पूर्ण युवक के लिये है। बालक के लिये अवस्थानुसार घटाना। गुण पाचक, स्वेदप्रवर्तक, वातघ्न।

पुत्र प्राप्ति हेतु— पिप्पली शृंगबेरश्च, मरिचं केशरं तथा।
घृतेन सह पातव्यं, वन्ध्यापि लभते सुतम् ॥

अर्थात्—पीपल, सोंठ, कालीमिर्च और केशर इनके चूर्ण को घी के साथ सेवन से वन्ध्या स्त्री भी पुत्र प्राप्त करती है।

गर्भ स्थापनार्थ—बिनौले के बीज की मज्जा आधा तोला, असगन्ध चूर्ण एक माशे लेकर ऋतु स्नानोत्तर प्रातः ही गोघृत के साथ पान करने से गर्भ-स्थिति होती है। एक माह के प्रयोग से अनेक स्त्रियां लाभ उठा चुकी हैं। प्रायः २-३ महीने तक इसे दिया जाता है। प्रतिदिन एक ही मात्रा दी जाती है।

शक्ति व पुष्टि के लिये—ईसबगोल दो भाग, छोटी इलायची के बीज एक भाग और मिश्री तीन भाग। इनके एकत्र चूर्ण की मात्रा १ से १॥ तोला तक फांककर ऊपर से गौदुग्ध १० तोले तक पिया जाय।

नेत्र ज्योति व वृध्दों के लिये—असगन्ध के महीन चूर्ण को आंवले के रस के साथ मात्रा क्रमवृद्धि से एक तोले तक नित्य सेवन करें।

तिमिर रोग नाशक—हरड़, बहेड़ा, आंवला, कमलगट्टा और मुलहठी इन सबका चूर्ण कर बराबर की लोह भस्म मिलाकर मात्रानुसार सेवन करे तो यह तिमिरहर लोह जैसे चन्द्र अन्धकार को दूर करता है वैसे तिमिर रोग नष्ट होता है।

बिवाई के लिये—१ धतूरे के बीज और जवाखार को कडुवे (सरसों के) तैल में पकाकर मर्दन करे तो बिवाई अच्छी होगी। २. जायफल पीसकर लेप करना।

मूत्रकृच्छ्र व पथरी के लिये—आधा तोला जवाखार को गौ की छाछ के साथ पिलाना।

मस्सों के लिये—थूहर का दूध मस्सों पर लगाने से बवासीर के मस्से नष्ट होते है। नीम और पीपल से पत्तों का लेप करने से भी मस्से नष्ट होते हैं। इतना ही नहीं सहंजनेके पत्तों को महीन पीसकर लेप करने से भी मस्से नष्ट होते है।

घुटनों की पीड़ा नाशक—आधे तोला कौंच के बीज दही के साथ ७ या १४ दिन तक खाने से घुटनों की पीड़ा दूर हो।

कण्ठ सुधार—तज, कालीमिर्च, कुलंजन, बच, अकरकरा इन्हें बराबर ले कूट छानकर रख ले। नित्य डेढ़ माशा चूर्ण खाने से कण्ठ साफ होता है।

बच कुलंजन बावची, चौथा नागरपान।
इनका जो सेवन करे, कंठ कोकिला जान।।

पुराने अतिसार के लिये—चार माशे मोचरस पीसकर तथा उसमें मिश्री मिलाकर खाना।

नींद लेने के लिये—थोड़ा सा जायफल घी में घिसकर पलकों पर लगाना।

अजीर्ण हेतु—जिस पुरुष को घी या तैल आदि चिकने पदार्थ से अजीर्ण की शंका हो, वह भोजन के समय पहले सोंठ और भोजन के अन्त से हरड़ खावे।

खूनी बवासीर हेतु—नागकेशर पिसी छनी ६ माशे, पिसी मिश्री १ तोला और मक्खन १ तोला मिलाकर नित्य सबेरे सेवन करना।

मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी के लिये—अपामार्ग के क्षार को जवाखार मे मिलाकर शीतल जल से सेवन करना।

भयंकर मूत्रकृच्छ्र में—अभ्रक भस्म को भुई आंवला, गोखरू, बड़ी इलायची के बीज और खाड के साथ घृत मे मिलाकर चाटना चाहिये।

सुजाक के लिये—केले का रस निचोड़ कर रस एक तोला और कलमीशोरा आधे माशा मिला कर पीना। जलन व सूजन नष्ट होती है।

मूत्र बन्द होने पर—नाभि के आसपास कलमीशोरा व काली मिट्टी मिलाकर लेप किया जाय। इन्द्रिय के छिद्र में कपूर रखा जावे। पेशाब खुलकर आयेगा।

मूत्र रोकने का उदावर्त—तीन माशे जवाखार और ३ माशे बच को पानी में पीसकर पिलाने से दूर होगा।

अजीर्ण आदि के लिये—सेंधानमक, सोठ और कालीमिर्च का ६ माशा चूर्ण नित्य गाय की

छाछ के साथ १५ दिन तक सेवन करने से अजीर्ण, मन्दाग्नि, पांडु और अर्श भी नाश होकर भूख लगेगी।

वातार्श के लिये—गौ की छाछ मे सेंधा नमक डालकर बहुत दिनों तक पीना।

अम्लपित्तादि के लिये—भोजन के बाद आंवले का रस पीने से अम्लपित्त, वमन, अरुचि, दाह, तिमिर, मोह और मूत्र रोग दूर होता है। यह प्रयोग शक्तिदायक भी है।

अजमोदादि चूर्ण—अजमोद, वायबिडङ्ग, सेंधानमक, देवदारु, चित्रकमूल, पीपलामूल, सौंफ, पीपल और कालीमिर्च एक एक तोला। छोटी हरड ५ तोला। विधारा १० तो० और सोंठ १० तो० सबको मिला कपड़छन चूर्ण करे। मात्रा- १ से ४ माशे। दिन में दो बार गर्म जल से लेना। गुण-यह चूर्ण आमवात, सन्धिवात, ग्रध्रसिवात, कमर गुदा पीठ और पेट में शूल, उदरवात, वातविकार, शोथ और कफ दोष को दूर करता है।

चोपचीन्यादि चूर्ण—चोपचीनी १६ तो०, मिश्री ४ तो०, पीपल[१] पीपलामूल[२] कालीमिर्च[३] लौग[४] अकरकरा[५] खुरासानी अजवाइन[६] सोंठ[७] वायविड़ंग[८] और बालचीनी[९] ये ९ एक-एक तो० ले कपड़छन चूर्ण करो। मात्रा-३-६ माशा। गर्म किये गये ठंडे जल या घी से लेना। गुण-यह चूर्ण उपदंश, सुजाक, व्रण, कोढ़, संधिवात, रक्तविकार और गर्मी को नष्ट करता है तथा वीर्य की शुद्धि करता है।

खूनी बवासीर—नागकेशर पिसी छनी ६ माशे, पिसी मिश्री १ तो० और मक्खन १ तो० मिलाकर नित्य सबेरे खाने से निश्चय से चली जाती है।

वीर्य शोधक चूर्ण— बबूल को विना बीजवाली कच्ची फली, बबूल की कोपल और बबूल का गोद इन तीनों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण बनाना। मात्रा-४-६ माशे। ऊपर से मिश्री मिला दूध पीना। यह चूर्ण वीर्य का पतलापन, स्वप्नदोष, शुक्रमेह, पेशाव के साथ वीर्य जाना आदि धातु दोष को दूर कर वीर्य को शुद्ध और पुष्ट करता है।

खूनी बवासीर के लिये—१. सूखे आंवलों के छिलको का महीन चूर्ण चार माशे और मिश्री चार माशे मिलाकर खाना।

२ माजूफल सात नग लेकर पीस छान लो और उसकी सात पुड़ियाँ बनालो। मूंग की दाल और चावल की खिचड़ी पकाकर थाली मे परोसो। थाली की थोड़ी सी खिचड़ी मे गड्ढा कर उसमें एक पुड़िया और डेढ़ तो० गोघृत मिलाकर खाओ। सात दिन ऐसी खिचड़ी खाने से खूनी बवासीर जड़ से जाती रहती है।

स्वप्नदोष नाशक योग—स्वर्णबंग, मूंगाभस्म, गिलोयसत दो-दो रत्ती। शतावर का चूर्ण ४ रत्ती। विधायरे का चूर्ण १ माशा, शुद्धशिलाजीत दो रत्ती। ऊपर से मिश्री मिला गर्म दूध पीना।

विशेष—विधायरे की लकड़ी बड़ी कठिनाई से कुटती है। उसे कूटकर कपड़े में छानना। इसी तरह शतावर को कूटकर छानना। शिलाजीत सूखा हो तो पीसना। गीला हो तो मिलाकर गोली बनाना। कमजोर व्यक्ति आधी मात्रा लें।

पंचकोल चूर्ण—पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ इन पांचों को बराबर लेकर चूर्ण बनाना। इस चूर्ण को गर्म पानी के साथ पीने से मंदाग्नि, शूल, गोला, आम, कफ, अरुचि अथवा आमवात ये सब नष्ट होते हैं।

सिद्धार्थ चूर्ण—सोंठ, अजमोद, हल्दी, दारुहल्दी, सेंधानमक, बच, मुलेठी, कूट, पीपल और जीरा इन दसों को बराबर लेकर और कूट पीसकर छानना। घृत में मिलाकर नित्य सवेरे चाटने से साक्षात् सरस्वती मुख में निवास करती है। इस चूर्ण के सेवन से उन्मादरोगी का चित्त सही हो जाता है।

सर्व प्रकार के मूत्रकृच्छ्र में—१. आंवले के ६ माशे चूर्ण में एक तोले गुड़ मिलाकर खाना।

२. छह माशे जवाखार और छह माशे मिश्री मिलाकर सेवन करना।

३. खिरेंटी की जड़ का काढ़ा बनाकर पीना।

४. मट्ठे के साथ चार माशे शुद्ध गन्धक खाना।

५. छह माशे जवाखार और इतना ही गुड़ मिलाकर खाना।

दांतों को मजबूत बनाने के लिये—फिटकरी ८ माशा और नमक ४ माशा पीस छानकर दांतों पर मलना।

नपुंसकतानाशक योग—जस्ता भस्म को जायफल, जावित्री, इलायची, मिश्री और गाय के दूध के साथ सेवन करना।

स्वर्ण भस्म के प्रयोग—१. बोल बन्द हो जाने पर बुलाने के लिये एक चावल भस्म को तीन चम्मच चाय के साथ पिलाना। २. कान्ति बढ़ाने के लिये असली केशर के साथ भस्म का सेवन करना। ३. बुद्धि के लिये बच के साथ और ४. बल धातु के लिये गाय के दूध के साथ भस्म सेवन करना।

श्वास व कफ के लिये—सरसों के तेल मे सेंधानमक मिलाकर छाती पर मलने से श्वास रोग दब जाता है और कफ की गाठें बनकर निकल जाता है।

अजीर्ण के लिये—चित्रक की जड़, सेंधानमक, हरड़ और पीपल ये चारों बराबर लेकर चूर्ण बनालो। ३ से ६ माशे तक चूर्ण खाकर ऊपर से गर्म पानी पीना। अजीर्ण दूर होकर खूब भूख लगेगी। नीबू के रस मे केशर घोंटकर पीने से भी अजीर्ण नष्ट होता है।

जुकाम के लिये—गाय के दूध में जायफल घिसकर नाक पर लगाना। इससे जवानी की फुन्सियां भी नष्ट होती हैं।

अफरा व दस्तकब्ज में—यदि पेट फूला हो और दस्तकब्ज हो तो नीबू के रस मे जायफल घिसकर चाटने से दस्त साफ होकर पेट हलका हो जाता है।

सिर दर्द के लिये—१. असली चन्दन का तेल लगाना।

२ आध पाव सोये की पट्टी मस्तक पर बांधना ।

३. दालचीनी का तेल लगाना (खास कर वायु के सिर दर्द में)

४. सौ बार धोये हुये गाय के घृत की मालिश करना ।

५. कायफल, मिर्च, अरंड की जड़ और कूट सबको बराबर पानी से पीसना तथा गरम करके सिर पर लेप करना ।

रुचिवर्धक चूर्ण—सफेदजीरा, कालीमिर्च, अनारदाना, सेंधानमक, मिश्री इन पांचों को बराबर लेकर चूर्ण बनाना । यह खाने में सुस्वादु है ।

सन्तान प्राप्ति हेतु— १. असगन्ध का काढ़ा मन्दी-मन्दी आंच पर पकाकर ऋतुवर्ती स्त्री पीवे तो जिसके कभी सन्तान न हुई हो उसके भी होवे ।

२. केवल नागकेशर का दो या तीन माशे चूर्ण बछड़े वाली गाय के दूध के साथ लेना ।

३. बिजौरे नींबू के बीज बछड़े वाली गाय के दूध के साथ पीना । (चौथे दिन)

४. नागकेशर और बिजौरे की जड़ के चूर्ण को दूध के साथ सेवन करना ।

अधिक पेशाब हेतु—दही की लस्सी में जवाखार मिलाकर पीने से बहुत पेशाब उतरता है ।

कमर दर्द हेतु— १. रेंडी के बीज को पीसकर और सोंठ मिलाकर दूध के साथ सेवन करना ।

२ चोपचीनी और असगन्ध के चूर्ण में बराबर मिश्री मिलाकर खाना ।

स्मृति व स्वर के लिये—हलदी, बच, कूठ, पीपल, सोंठ, जीरा, अजमोद, मुलेठी और सेंधा-नमक इन नौ को समान लेकर कपड़छन चूर्ण बनाना । कम से कम २१ दिन तक नित्य प्रातः घृत में मिलाकर चाटना ।

अग्नि प्रदीपक योग—खट्टे अनार के दाने ८ तोले, खांड बारह तोले, त्रिसुगंधि (दालचीनी, इलायची, तेजपात) एक तोला । इनका चूर्ण मात्रानुसार खाया जावे तो अरुचि भी नष्ट होती है । पीनस, ज्वर, खांसी में आराम होता है ।

समशर्कर चूर्ण—इलायची, दालचीनी, नागकेशर, कालीमिर्च, पीपल और सोंठ इन छहों को क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६ भाग लेना । सबका चूर्ण करके बराबर खाड़ मिलाना । इसके सेवन से जठराग्नि प्रदीप्त होती है ।

असगन्ध चूर्ण के प्रयोग—पन्द्रह दिन तक दूध के साथ, घी के साथ, तेल के साथ या केवल उष्ण जल के साथ सेवन किया जाय तो जिस प्रकार जल की वृष्टि से छोटे धान्यों की पुष्टता होती है उसी प्रकार शारीरिक पुष्टता होती है ।

आमाशय की वायुनाशक प्रयोग—चित्रक, इन्द्रजौ, पाढ़, कुटकी, अतीस और हरड़ का चूर्ण कुछ गर्म जल से लेना ।

कफ खांसी के लिये—हरड़, पीपल, सोंठ और कालीमिर्च इनका चूर्ण गुड़ में मिलाकर खाने से कफ, खांसी नष्ट होकर अग्नि अत्यन्त दीप्त होती है ।

पीपल चूर्ण का प्रयोग—दुगुने गुड़ के साथ सेवन करने से जीर्णज्वर, मन्दाग्नि, खांसी, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृदयरोग, पांडु और कृमिरोग नष्ट होते हैं।

सूजन आदि के लिये—सोंठ और पीपल के चूर्ण को गुड़ में मिलाकर खाने से सूजन, आमाजीर्ण तथा शूल दूर होता है और मूत्राशय शुद्ध होता है।

स्तन पीड़ा हेतु—१. इन्द्रायन की जड़ का लेप किया जाय।

२. हलदी और धतूरे के पत्ते का लेप करना।

शक्तिशाली पुत्र हेतु—जो गर्भवती स्त्री ढाक के एक पत्ते को दूध में पीसकर पीवे तो बलवान पुत्र होवे।

भयंकर खांसी के लिये—कालीमिर्च एक तोला, पीपल दो तोला, अनार चार तोला, गुड़ ८ तोला और जवाखार आधे तोला इनका चूर्ण खाना। जिस खांसी में रुधिर की वमन होती हो उसके लिये यह चूर्ण परमोत्तम है।

श्वेत कुष्ठ रोग हेतु—१ घुंघची और चित्रक को जल में पीसकर लगाना।

२. मैनसिल और चिरचिरा की राख पीसकर पानी के साथ लेप करना।

३. पीली चमेली, गजपिपरी, कसीस, बिडंग, मैनसिल, गोरोचन, सैंधव को समभाग गोमूत्र में पीसकर लेप करना।

४. गन्धक आमलासार, चित्रक, कसीस, हरताल और त्रिफला इनका चूर्ण गोमूत्र में लेप बनाकर लगाना।

बिच्छू के काटे पर—१. नीलाथोता को नीबू के रस में पीसकर लगाना।

२. नौसादर और हरताल को जल में पीसकर प्रयोग करना।

अंडकोष के लिये— एरण्डी का तेल दूध में मिलाकर पीने से अंडकोष की पीड़ा दूर होती है।

केन्सर रोग के लिये—१. तुलसी के ५|७ पत्ते दही में डालकर खाना।

२. गेहूँ के कोमल पौधों को पीसकर फिर उसमे मिश्री मिलाकर ठंडाई जैसा बनाकर पीना।

कान बहते हों तो—समुद्रफेन को पीसकर कान में डालना। ऊपर से छना हुआ नीबू का रस डालना। कान पर जब झाग आवे तो रुई से झाग पोंछ देना। पश्चात् फिटकरी के पानी से कान साफ करना। अन्त मे कान को पोंछकर सरसों का तेल डालना ऊपर से रुई लगा देना।

अनेक रोगों की दवा—अजवाइन का सत, पीपरमेन्ट और कपूर तीनों को बराबर लेकर शीशी में बन्द करना। तीनों का मिलकर पानी हो जायेगा। इससे अमृतधारा कहते हैं। यह पेट दर्द, शिर दर्द, जीमचलाना आदि में प्रयोग की जाती है। मुँह के छाले में भी लगाई जाती है।

जले हुये पर—चूने के पानी द्वारा खूब फेंटा गया गोले का तेल लगाना अथवा सरसों का तेल लगाकर ऊपर से पिसी हुई मेंहदी (सूखी) बुरकना। अवश्य आराम होगा।

दाद खाज खुजली—नीबू के रस में कालीमिर्च घोंटकर लेप करने से आराम होगा।

इकतरा तिजारी बुखार के लिये—कड़ुवे नीम के २१ पत्तों के साथ ६ माशे गुड़ को घोटकर गोली बनाना। दो दिन या तीन दिन तक दो-दो गोली ताजे पानी से लेना। अवश्य आराम होगा।

गला बैठना—अधिक बोलने या गर्मी के मौसम में गला बैठ जाय तो धनियां व मिश्री को चाटना।

समस्त ज्वर रोगों के लिये—एरण्ड के तेल मे सेंधानमक और सोंठ के चूर्ण को मिलाकर चटाना। ऊपर से मदोष्ण गाय का दूध पिलाना चाहिये।

चतुर्बीज का चूर्ण—मेथी, हालों (चन्द्रशूर), कालाजीरा और अजवाइन इन चारों को चतुर्बीज (चारदाना) कहते हैं। इनका चूर्ण खाने से वायु के रोग, अजीर्ण, शूल, अफरा, फसली का शूल और कमर की पीड़ा नष्ट होती है। हालों के क्षुप खेतों मे बोये जाते हैं। देखने में धनिये के समान पत्ते और पौधे होते है। फूल आसमानी रंग के होते हैं। बीज काले और छोटे होते हैं।

तक्र (छाछ) के प्रयोग—वायु के रोग के लिये सोंठ और सेंधानमक मिला हुआ खट्टा तक्र उत्तम है। पित्तवस्था वाले के लिय बूरा मिला हुआ मीठा तक्र श्रेष्ठ है। कफ वृद्धि में सोंठ, काली मिरच और पीपल मिला हुआ तक्र श्रेष्ठ है। हींग, जीरा तथा सेंधा नमक मिला हुआ घोल अत्यन्त वात नाशक, बवासीर तथा अतीसार नाशक, रुचिकारक, पुष्टिदायक, बल-वर्द्धक और बस्तिशूलनाशक है। गुड़ डाला हुआ घोल मूत्रकृच्छ्र पर उत्तम है और चित्रकयुक्त घोल पाण्डु रोग पर लाभदायक है। तक्र के विषय मे यहाँ तक लिखा है—

न तक्रसेवी व्यथते कदाचित्, न तक्रदग्धा प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय, तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥

अर्थात्—छाछ का सेवन करने वाला कभी किसी रोग के पीड़ित नहीं होता। तक्र से नष्ट हुये रोग फिर से उत्पन्न नहीं होते। जिस प्रकार देवों के आनंद हेतु अमृत है उसी प्रकार भूलोक में मनुष्य के लिये छाछ अमृत के समान लाभदायक है।

ग्रन्थि के लिये लेप—कालीमिर्च, पोहकरमूल, कूठ, हलदी और सेंधानमक इनको पीसकर लेप करने से सर्व अंग की गाँठ दूर होवें।

पीपलापाक—पीपल चार तोले चौगुने दूध मे औटावे। इसमे गाय का घी ८ तोले डाले। जब खोआ हो जाये तो १६ तोले मिश्री की चासनी कर उसमें खोआ को डाल पाक बना लेवे। जब कुछ शीतल हो जाय तब इलायची, पत्रज, नागकेशर, तज ये चारों चूर्ण कर एक एक चवन्नी भर डाले और खैर का गोंद चार तोले को घी मे भूनकर डाले। बल-अबल देखकर इसका सेवन करना। यह धातु और जठराग्नि को वृद्धिगत करता है। बलकर और हृदय को हितकारी है। अजीर्ण ज्वर, क्षय, श्वास, ताप तिल्ली, पांडुरोग इनको नष्ट करता है।

इन्द्रिय जुलाब—रेवाचीनी एक तोला और जवाखार एक तोला। इनके चूर्ण की तीन पुडिया बनाना। एक खुराक लेकर ऊपर से गाय का दूध पीना। तीन दिन में तीन पुड़िया लेना।

कमलबीज का चूर्ण—कमलगट्टे का चूर्ण छह माशा शर्करा मिश्रित दुग्ध के साथ यदि स्त्रियाँ सेवन करें तो वह गर्भस्थापक, श्वेतप्रदर नाशक है तथा स्तनों को दृढ़ करता है।

मानव जीवन की सफलता: पंडित होने से

(यह प्रवचन हमने पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज से दो-तीन बार सुना था। महत्वपूर्ण होने से इस ग्रन्थ में प्रकाशित किया जा रहा है।)

लेखक—क्षुल्लक शीतलसागर

□

प्राचीन संस्कृति से चला आया 'पंडित' यह एक बहुत ही सुहावना शब्द है। बिरले भाग्यशाली ही इस शब्द से सम्बोधित होते है। अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो पंडित बनने की कोशिश करते हैं, लेकिन बन नहीं पाते। कोई कोई ऐसे भी पंडित हैं जो इस पद को बुरा मानते है। एक बार एक पंडित जी ने सुनाया था—

पंडिताई पल्ले पड़ी, पूर्व जन्म को पाप।
औरन को उपदेश दे, कोरे रह गये आप॥

एक जगह आया है—'पंडा विद्यते यस्य स: पंडित:' अर्थात् जिसके बुद्धि हो वह पंडित है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विचारा जाय तो ऐसा कोई प्राणी है नहीं कि जिसके बुद्धि अर्थात् ज्ञान न हो। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों में भी महर्षियो ने मति और श्रुत ये दो ज्ञान माने है। अत: इस परिभाषा के अनुसार सभी प्राणी पंडित कहे जायेंगे। इसलिये मात्र ज्ञान होने से कोई पंडित नही कहा जा सकता। इसी प्रकार एक जगह पढ़ने मे आया है—

'पण्डिता: खण्डिता: सर्वे भोजराजे दिवंगते'

अर्थात्—राजा भोज के दिवंगत (स्वर्गस्थ) हो जाने के बाद कोई पंडित नहीं रहा।

राजा भोज संस्कृत भाषा का प्रकाण्ड विद्वान् था। इतना ही नहीं, उसके समय म दीन से दीन व्यक्ति भी संस्कृत भाषा का शुद्ध उच्चारण करता था और उसके स्वर्गस्थ हो जाने के बाद वह स्थिति नहीं रही। अत: संसार मे उपरोक्त उक्ति प्रसिद्ध हुई।

परन्तु यहाँ विचारणीय है कि मात्र संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान होने से भी कोई पंडित नही होता। इसी प्रकार प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, मराठी, कन्नड़, तेलगू, गुजराती आदि एक एक भाषा का अथवा दो आदि सम्पूर्ण भाषाओं का भी यदि कोई प्रकाण्ड विद्वान हो, तो भी वह पण्डित नही कहला सकता।

विश्व में अच्छे से अच्छे वक्ता-प्रवचनकर्ता होते आये है और वर्तमान मे भी हजारो है, परन्तु

मात्र घण्टों तक धाराप्रवाही प्रवचन कर देने अथवा अपनी वक्तृत्व शैली द्वारा हजारों नर-नारियों को मंत्रमुग्ध कर देने से पंडित नहीं कहला सकते । हां ! निम्न लक्षणवाला पंडित कहला सकता है—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु, यः पश्यति सः पण्डितः ॥

अर्थात्—जो पराई स्त्रियों को माता के समान, दूसरे के धन को लोष्ठ के समान और प्राणीमात्र को अपने समान समझता है, वह पण्डित है ।

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका ग्रन्थ मे आया है—'कः पण्डितो ? विवेकी' अर्थात् पण्डित कौन है ? जो विवेकी--हित और अहित का विचार रखने वाला है वह पण्डित है ।

एक बार मूर्ख का लक्षण मालूम करने के लिये राजा भोज ने भरी सभा में पण्डित कालीदास को मूर्ख कहकर बुलाया था कि 'आइये मूर्खराज ! आइये मूर्खराज !' इस पर विद्वान् कालीदास ने उत्तर दिया था--

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे, गतन्न शोचामि कृतन्न मन्ये ।
द्वाभ्यां त्रितयो न भवामि राजन् ! किं कारणं भोज ! भवामि मूर्खः ॥

अर्थात्—हे राजा भोज ! मैं खाते हुये नहीं चलता, हंसते हुये बात नहीं करता, जो हो चुका उसका शोक नहीं करता, उपकारी के उपकार को नहीं भूलता और जहां दो व्यक्ति बात करते हों वहां नहीं जाता, फिर आपने मुझे मूर्ख कहकर कैसे बुलाया ? कालीदास के उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जो चलते हुये नहीं खाता, बात करते समय नहीं हंसता, हो चुका उसका शोक नहीं करता, उपकारी के उपकार को कभी नहीं भूलता और जहां दो व्यक्ति बात कर रहे हों वहां नहीं जाता, वह पंडित है ।

परमानन्द स्तोत्र मे पंडित का बहुत ही सुन्दर लक्षण आया है । उसमें लिखा है—

सदाऽऽनन्दमयं जीवं, जानाति सः पण्डितः ।
स सेवते निजाऽऽत्मानं, परमानन्द-कारणम् ॥

अर्थात—पण्डित वह है जो कि जीव को नित्य आनन्दमय जानता है तथा परमानन्द के कारणभूत उस निज आत्मा को ही सेवता-अनुभव करता है ।

आगे उसी स्तोत्र के तेईसवें श्लोक में भी पंडित का लक्षण आया है, जो कि विशेष आदरणीय है । वहां लिखा है--

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु, जानाति सः पण्डितः ॥

अर्थात्—जिस तरह सुवर्णखान के पाषाणों में सुवर्ण, दुग्ध मे घृत और तिल मे तैल विद्यमान है, उसी तरह शरीर में भी, शिव अर्थात् शान्तस्वभावी आत्मा विद्यमान है । इसी प्रकार, जैसे काष्ठ मे अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है उसी प्रकार शरीरो में भी आत्मा विद्यमान है और ऐसा जानने वाला ही पण्डित हैं ।

सारांश यह है कि मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके, पण्डित वही कहलाने योग्य है, जिसमे उपरोक्त बातें हों।

किसी मुर्दे को ले जाते देखकर पण्डित व्यक्ति यह नही मानता कि अमुक मर गया है। वह तो सोचता है कि जिस प्रकार वस्त्र फट जाने पर या पुराने हो जाने पर बदल लिये जाते है या नये धारण कर लिये जाते है, उसी प्रकार इस मुर्दे शरीर के बेकाम हो जाने से, इसमें रहने वाला शाश्वत् आत्मा जीव भी इसे छोड़कर नये शरीर को धारण करने चला गया है। पण्डित व्यक्ति यह भी दृढ निश्चय रखता है कि किसी भी आत्मा को कोई शस्त्र छेद-भेद नहीं सकता, अग्नि जला नही सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा उसे सोख या सुखा नही सकती। हा, उक्त हेतु जो कुछ बिगाड करते हैं, वे शरीर का ही करते हैं। आत्मा का तनिक भी नही।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:' के अटल सिद्धान्तानुसार जो संसार मे जन्म लेता है वह एक दिन प्राप्त हुये शरीर को अवश्य छोड़ता है और संसार में इसी को मरण कहा है। महर्षियो ने इस मरण के अनेक प्रकार बताये हैं, जिनमें तीन मरण ही प्रशसनीय तथा श्रेष्ठ है। सो ही बताया है—

पंडिद पंडिद मरणं, च पंडिदं बालपंडिदं चैव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि, जिणा णिच्चं पसंसंति॥

अर्थात्—पंडितपंडित मरण, पण्डित मरण और बालपंडित मरण ये तीन मरण जिनेन्द्रदेव ने सदा प्रशंसनीय कहे है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अन्य जितने भी मरण के भेद हैं उनमे से किसी भी नाम में 'पंडित' शब्द नहीं आया, जबकि उपरोक्त तीनों मरणो मे यह शब्द पाया जाता है। अत: इन तीनों मरणो से अलग मरण करने वाला शास्त्रीय विचारधारा से पण्डित नही कहला सकता। हा, इतना अवश्य है कि प्रथम 'पंडितपंडितमरण' करने वाला महान् पण्डित है जिसे फिर कभी ससार म जन्म नही लेना पड़ता। दूसरा 'पंडितमरण' करने वाला मध्यम श्रेणी का पण्डित है जो कि परमहंस दिगम्बर अवस्था मे शान्तिपूर्वक शरीर का त्याग करता है और तीसरा 'बालपडितमरण' करन वाला, जघन्य श्रेणी का पण्डित है जो कि गृहस्थावस्था में रहकर व्रती अवस्था मे ही शरीर त्यागता है।

उपरोक्त कथन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि अन्य गुणों के साथ-साथ अहिंसा आदि व्रतो के नियमपूर्वक पालन करने पर ही पंडित संज्ञा प्रारम्भ होती है।

संसार का प्रत्येक मानव अपन को पण्डित कहलाने की इच्छा रखता है और वास्तव म ऐसी इच्छा रखनी भी चाहिये, क्योंकि पण्डित सज्ञा प्राप्त किये बिना सच्चे सुख की प्राप्ति का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। पर हम अपने-अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें कि पण्डितसंज्ञा प्राप्त करने के लिये जो बातें बताई है, उनमे से स्वयं म कौन-कौन विद्यमान हैं? यदि एक भी नहीं तो उन्हे जीवन मे लाने की कोशिश करें। इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

अति मनोज्ञ एवं महान अतिशय युक्त
देवाधिदेव श्री १००८ श्री पुष्पदन्त भगवान

(विराजमान श्री दि० जैन प० ब[illegible] मंदिर, अवागढ़)

पूर्वाभिमुखी
वेदी

(श्री पार्श्वनाथ दि० जैन पंचायती अटारी मंदिर, अवागढ़ की वेदियों में विराजमान भव्य प्रतिमाओं के दर्शन)

उत्तराभिमुखी
वेदी

दाहिनी ओर की वेदी

(श्री दि० जैन पंचायती बड़े मन्दिर अवागढ़ की भव्य वेदियां
(पूज्य श्री ने इन वेदियों में विराजमान मनोज्ञ प्रतिमाओं के दर्शन भावविभोर हो अनेक बार किये थे)

बाईं ओर की वेदी
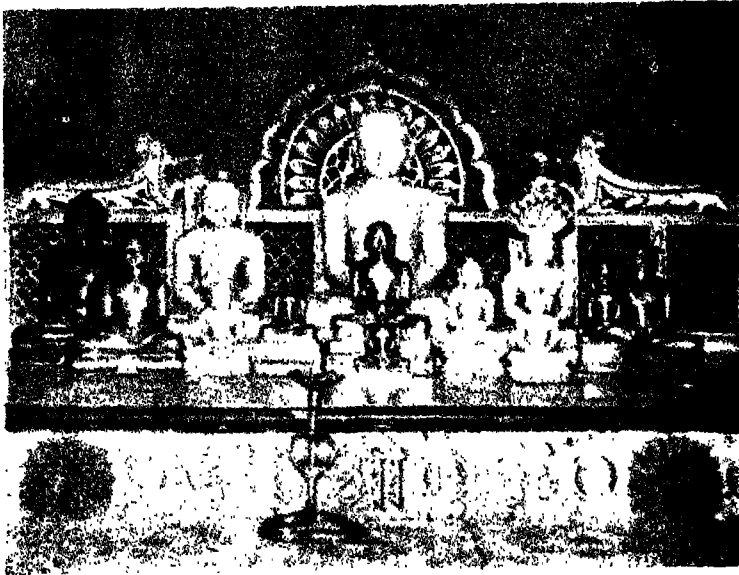
विशाल, तीन मंजिला

श्री महावीर कीर्ति स्मृति भवन
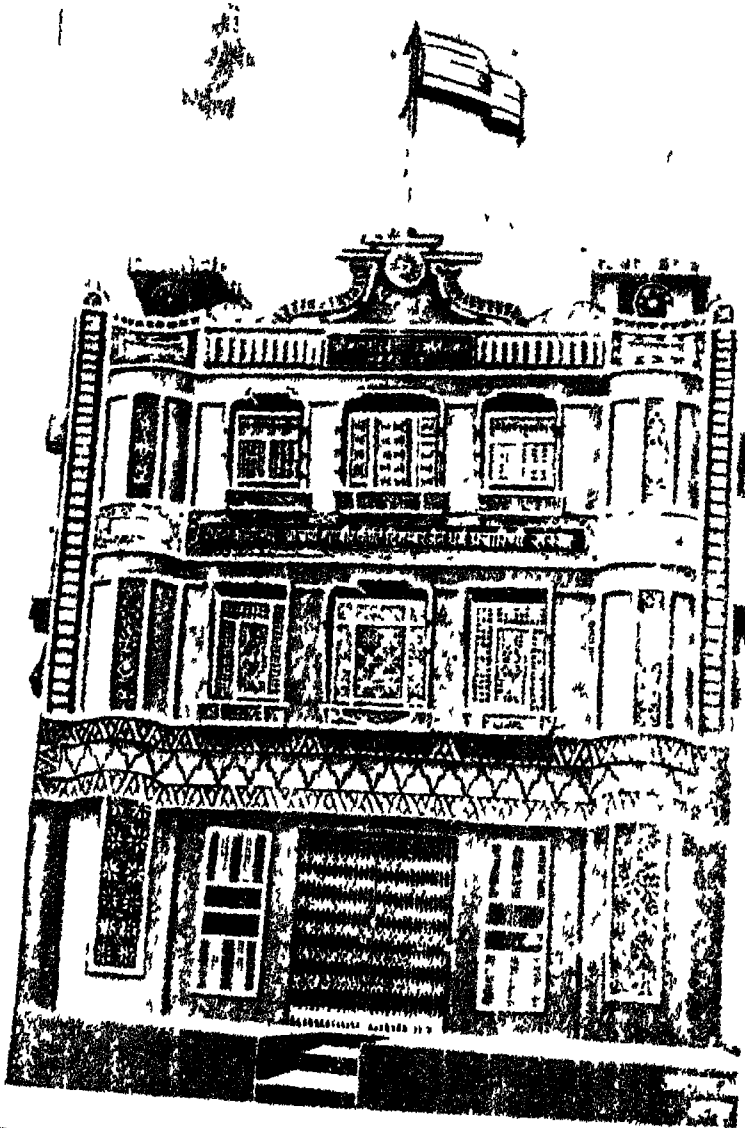
(यह भवन भ० महावीर के २५०० वे निर्वाणोत्सव एवं पूज्यश्री की चिर स्मृति बनाये रखने हेतु अवागढ़ में निर्मित हो रहा है)
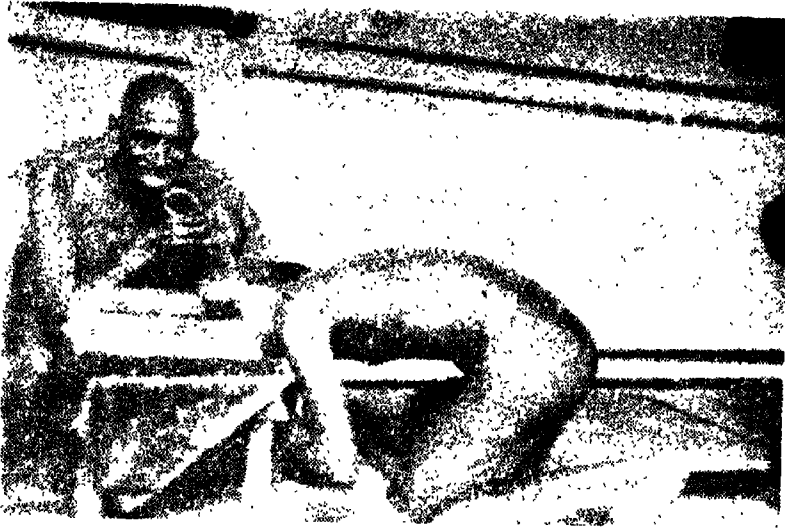
गुरु-भक्ति
का
अपूर्व दृश्य

(आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी महाराज अपनी क्षुल्लक दीक्षा के गुरु आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज से खानियां (जयपुर) में आशीर्वाद प्राप्त करते हुये)
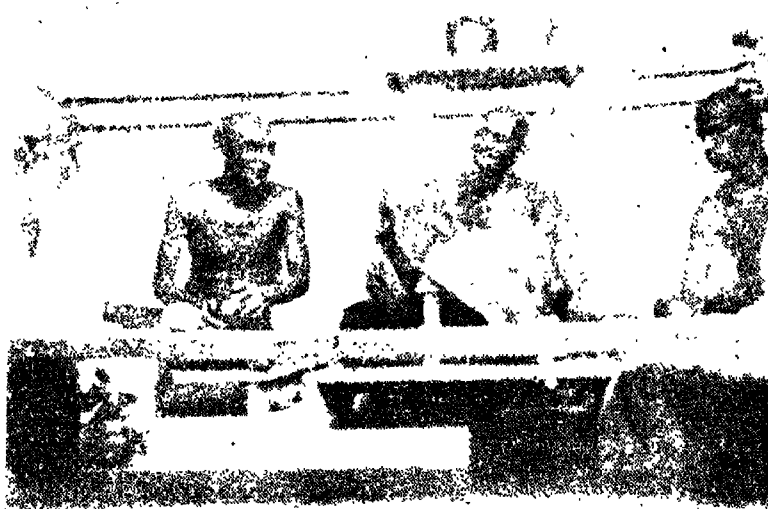
पूज्यश्री अपनी क्षुल्लक दीक्षा के गुरु आचार्य वीरसागरजी महाराज से प्रसन्न मुद्रा में तत्वचर्चा कर रहे हैं।

(सर्वार्थ सिद्धि के देवों की तरह तत्व चर्चा में निमग्न)
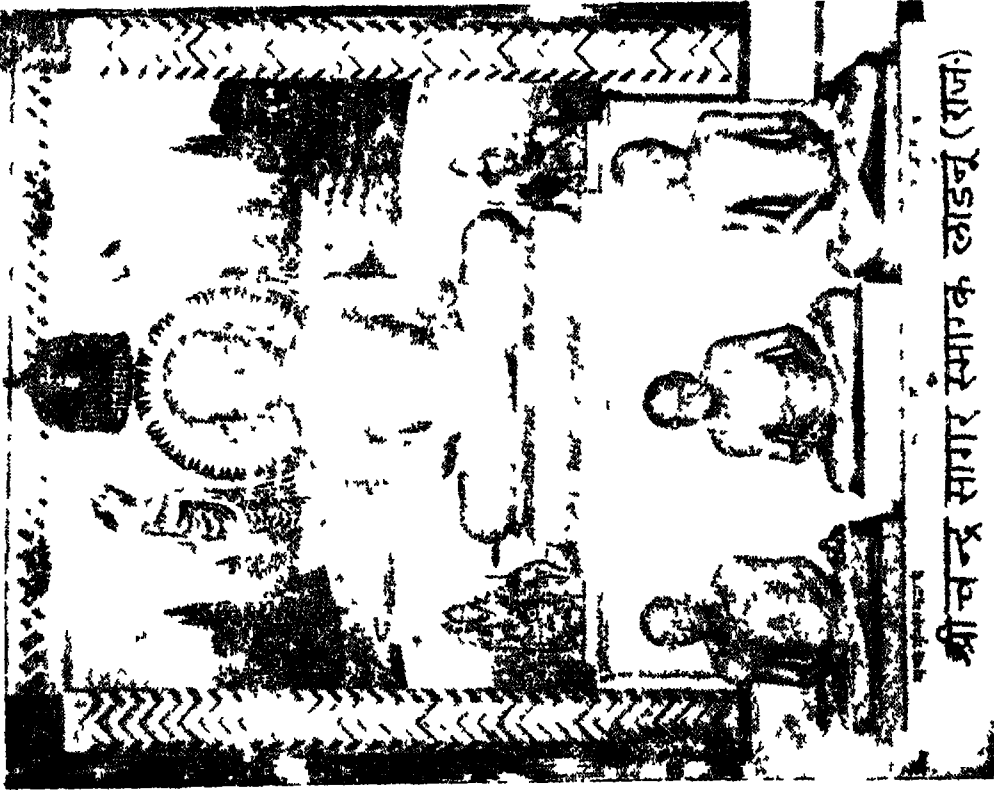
श्री चन्द्र सागर स्मारक लाडनूं (राज.)

श्री चन्द्रसागर स्मारक लाडनूं (राजस्थान) की भव्य वेदी मे विराजमान प्रतिमाओं के दर्शन

स्व० आचार्य कल्प श्री चन्द्रसागरजी
(आपसे पूज्यश्री ने सातवी प्रतिमा के व्रत धारण किये थे।)
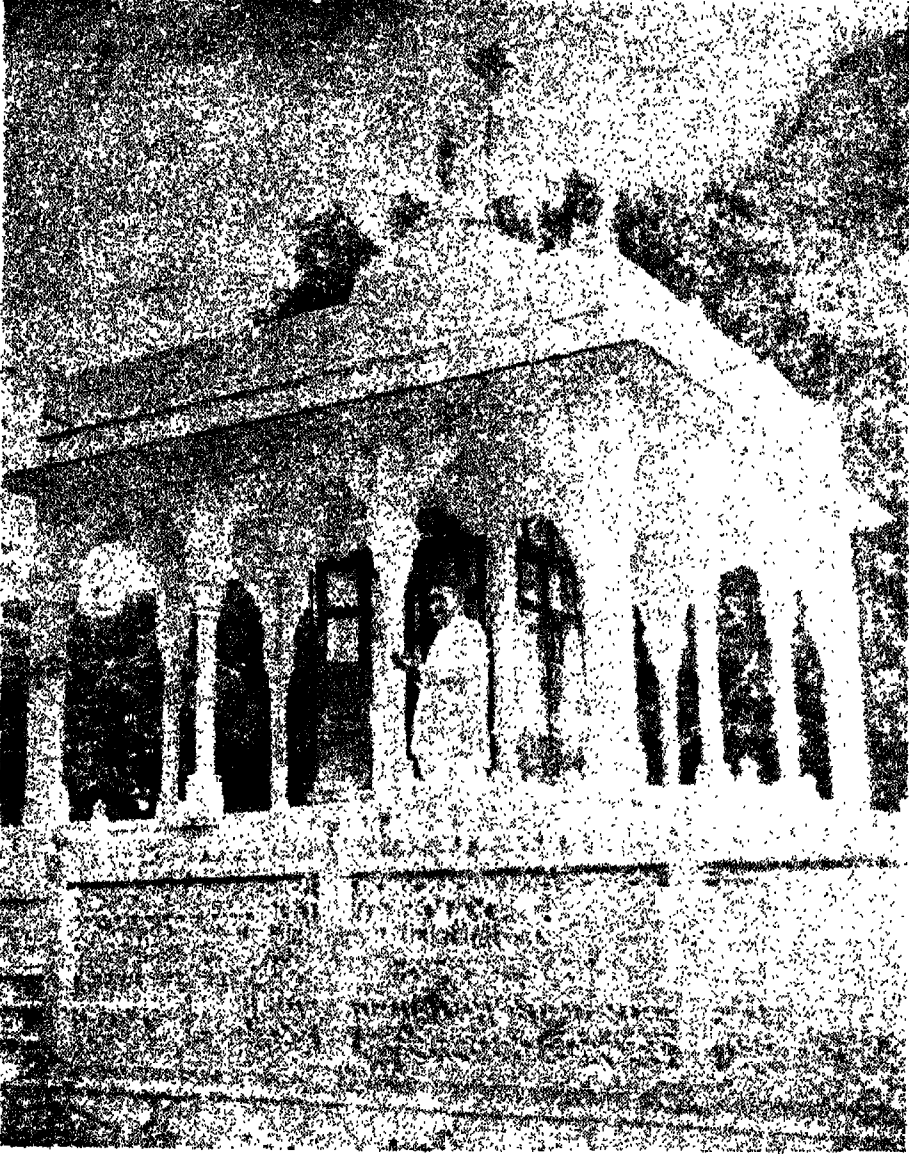
पूज्यश्री की क्षुल्लक दीक्षा के गुरु स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी
महाराज की चरण छत्री
खानियां (जयपुर) राजस्थान

अमर-सन्देश

मानव कल्याण का आधार सत्य और अहिंसा

चारित्र चक्रवर्ती पू० आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज का अंतिम आदेश एवं उपदेश

□

ॐ जिनाय नम: । ॐ सिद्धाय नम: । ॐ अर्हं सिद्धाय नम: । भरतऐरावतक्षेत्रस्थ भूत-भविष्य-वर्तमान तीस चौबीसी भगवान नमोनम: । सीमंधरादि बीस विरहमान तीर्थंकर भगवान नमोनम: । ऋषभादिमहावीर पर्यंत चौदह सौ बावन गणधर देवेभ्यो नमोनम: । चौसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वराय नमो नम: । अंतकृत केवली मुनीश्वराय नमो नम: ।प्रत्येक तीर्थंकर के समय होने वाले दश दश घोरोपसर्गविजयो मुनीश्वराय नमोनम: ।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व शास्त्र महासमुद्र है। उसका वर्णन करने वाला आज कोई श्रुतकेवली नही है। कोई केवली भी नहीं है। श्रुतकेवली उसका वर्णन कर सकता है। मुझ सरीखाक्षुद्र मनुष्य क्या क्या वर्णन कर सकता है ? यह सर्व जीवों का कल्याण करने वाला है। जिनवाणी,सरस्वती देवी अनन्त समुद्र प्रमाण है, फिर उसमें जिनधर्म को जो जीव धारण करेगा उसका कल्याण अवश्य होता है। अनन्त सुख को प्राप्त कर वह मोक्ष-प्राप्ति कर लेता है। अनन्त आगमों में एक अक्षर-एक ॐ मात्र को जो धारण करता है उस जीव का कल्याण होता है। सम्मेदशिखर में दो बन्दर लड़ते थे, णमोकार मंत्र के प्रभाव से बन्दर स्वर्ग गया। श्रेष्ठीसुदर्शन ने बैल को उपदेश दिया, वह स्वर्ग गया। सप्त व्यसनधारी अंजनचोर को णमोकार मंत्र के उपदेश से उच्च गति हुई। यह तो जाने दो, कुत्ते जैसे महानीच जाति के जीव को जीवंधर कुमार ने उपदेश दिया, वह भी देवगति मे गया। इतनी महिमा जिनधर्म की है। परन्तु इसे कोई धारण नहीं करता है।

जैनी होकर भी जिनधर्म का विश्वास नहीं। अनन्त काल से जीव पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न अलग है, जीव अलग है। दोनों ही भिन्न भिन्न होते हुए भी अपन जीव हैं या पुद्गल, इसका विचार करना चाहिए। अपन तो जीव हैं। पुद्गल नहीं। पुद्गल अलग है, जड़ है, उसमे ज्ञान नहीं है। दर्शन चैतन्य यह गुण जीव में है, स्पर्श, रस, वर्ण, गंध यह पुद्गल मे हैं। दोनों का गुणधर्म अलग है और दोनों अलग-अलग हैं।

अपन जीव है या पुद्गल ? अपन जीव हैं। पुद्गल के पक्ष मे पड़ने के कारण अपने को इस

मोहनीय कर्म ने अपने जाल में फँसा लिया है। मोहनीय कर्म जीव का घात करता है। पुद्गल के पक्ष में पड़े तो जीव का घात होता है। जीव के पक्ष में पड़े तो पुद्गल का घात होता है। अपन तो जीव हैं इसलिये जीव का कल्याण होगा, जीव को अनन्त सुख में पहुँचाना, मोक्ष को जाना, यह सब जीव में होता है। पुद्गल जीव में नहीं जाता है।

इतना समझाने पर भी यह मन भटक रहा है, पंच पापों में पड़ा हुआ है। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है, चारित्र मोहनीय कर्म के उदय ने संयम का घात किया है। इस प्रकार इन दोनों कर्मों ने अनन्त काल से जीव का घात किया है। फिर अपने को क्या करना चाहिए ?

आदेश और उपदेश :

सुख प्राप्ति जिसको करने की इच्छा हो उस जीव को हमारा आदेश है कि दर्शन मोहनीय कर्म का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करो। चारित्र मोहनीय कर्म का नाश करो, संयम को धारण करो। इन दो मोहनीय कर्मों का नाश कर अपना आत्म कल्याण करो। यह हमारा उपदेश है।

अनन्त काल से यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। किस कारण से ? एक मिथ्यात्व कर्म के उदय से। अपना कल्याण किससे होगा ? इस मिथ्यात्व कर्म के नाश से। अतः उसका नाश अवश्य करना चाहिए

सम्यक्त्व किसे कहते हैं, इसका कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ में और गोम्मटसारादि बड़े-बड़े ग्रन्थों में वर्णन किया है। इस पर कौन श्रद्धा रखता है ? अपना आत्मकल्याण करने वाला रखेगा। जीव संसार में भ्रमण करता आ रहा है यह हमारा आदेश है, उपदेश है। ॐ सिद्धाय नमः।

कर्तव्य :

फिर आपको क्या करना चाहिए ? दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिए। किससे उसका क्षय होता है ? एक आत्म चिंतन से होता है। कर्म निर्जरा किससे होती है ? आत्म चिंतन से होती है। तीर्थयात्रा करने पर पुण्यबंध होता है। प्रत्येक धर्म कार्य करने पर पुण्यबंध होता है।

आत्म चिंतन :

कर्म निर्जरा होने के लिये आत्म चिंतन साधन है। अनन्त कर्मों की निर्जरा के लिये आत्मचिंतन ही साधन है। आत्मचिंतन किये बिना कर्मों की निर्जरा होती नहीं। केवलज्ञान होता नहीं, केवलज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

क्यों पड़ते ? संसार में बाल बच्चे, भाई बन्धु, माता-पिता, ये सब पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले हैं। जीव के सम्बन्ध वाले कोई नहीं। अरे भाई! जीव अकेला ही है, अकेला ही जाने वाला है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह षट्कर्म कहे गये हैं। असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प विद्या ये छह आरम्भ कहे गये हैं। इन छह आरम्भजनित दोषों को क्षय करने के लिये छह कर्म करने की आवश्यकता है। यह व्यवहार हुआ। इससे यथार्थ में मोक्ष नहीं होता। ऐहिक सुख मिलेगा, पंचेन्द्रिय सुख मिलेगा, परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष किससे मिलता है? मोक्ष केवल आत्म-चिन्तन से ही मिलता है। बाकी किसी भी कर्म से, क्रिया से, कार्य से और किसी कारण से मोक्ष नहीं मिलता।

जिनवाणी पर श्रद्धा :

वचन, शास्त्र, अनुभव इन तीनों को मिलाकर विचार करो कि मोक्ष किससे मिलता है ? बाकी सब रहने दो। अपना अनुभव क्या ? भगवान् की वाणी के सामने उसका कोई मूल्य नहीं है। वाणी सत्य है। उस वाणी पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। उस वाणी के एक शब्द सुनने पर एक शब्द से ही जीव तिरकर मुक्ति को जायेगा ऐसा नियम है।

सत्य वाणी कौनसी है ? एक आत्म-चिन्तन। आत्म-चिन्तन से सर्व कार्य सिद्ध होने वाले हैं। उसके सिवाय कुछ भी नहीं। अरे भाई बाकी कोई भी क्रिया करने पर पुण्य बन्ध पड़ता है, स्वर्ग सुख मिलता है, संपत्ति, संतति, धनधान्य, स्वर्ग सुख यह सब होते हैं, पर मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष मिलने के लिये केवल आत्मचिन्तन है तो वह कार्य करना ही चाहिये। उसके बिना सद्गति नहीं होती, यह क्रिया करनी चाहिये।

सारांश—धर्मस्य मूलं दया, जिनधर्म का मूल क्या है ? सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य, अहिंसा बोलते हैं, पालते नहीं। रसोई करो, भोजन करो। ऐसा कहने से क्या पेट भरेगा ? क्रिया किये बिना, भोजन किये बिना, पेट नहीं भरता है। इसलिये क्रिया करने की आवश्यकता है। क्रिया करनी चाहिए, तब अपना कार्य सिद्ध होता है।

सब कार्य छोड़ो। सत्य, अहिंसा का पालन करो। सत्य में सम्यक्त्व आ जाता है। अहिंसा में किसी जीव को दुःख नहीं दिया जाता। अतः संयम होता है यह व्यावहारिक बात है। इस व्यवहार का पालन करो। सम्यक्त्व धारण करो। संयम धारण करो, तब आपका कल्याण होगा। इसके बिना कल्याण नहीं होगा।

(दिनांक ८-२-१९५५ समय ५-१५ से ५-४५ तक संध्या)

आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज का आदेश

(फीरोजाबाद सन् १९५६)

□

ओं ह्रीं श्रीं अनन्तानन्तपरमसिद्धेभ्यो नमः ।
ओं ह्रीं श्रीअर्हन्तोऽवसिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ।
ओं ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो नमः ।

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥

कानजीभाई का प्रवचन और प्रचार दिगम्बर जैन आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।

इस निकृष्ट कलिकाल पंचमकाल में धर्म पर अनेक संकट आ रहे हैं । मन्दिर-प्रवेश का महान् संकट अभी तक सामने खड़ा है । उसके निवारणार्थ परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती योगीन्द्र चूड़ामणि सिद्धान्त पारंगत आचार्यवर्य श्री १०८ श्री शान्तिसागरजी महाराज ने तीन वर्ष तक अन्न का त्याग कर बम्बई हाईकोर्ट से धर्म की विजय करायी थी । आज एक दूसरा उससे भी भयानक धर्म संकट कानजीभाई के धर्मविरुद्ध प्रचार का खड़ा हो गया है । यह संकट हरिजन मन्दिर प्रवेश से भी अधिक धर्मघातक है । कानजीभाई के साहित्य प्रचार से दि० जैन सिद्धान्तों का मूलोच्छेदन किया जा रहा है । इससे समाज, धार्मिक श्रद्धा और धार्मिक क्रियाकाण्ड को छोड़ता जा रहा है । इससे उसका बहुत भारी अहित होगा ।

कानजीभाई मन्दिर बनवा रहे हैं, प्रतिष्ठायें करा रहे हैं, स्वयं देव-दर्शन करते रहते हैं और तीर्थयात्रा कर रहे हैं । समाज को इस प्रभाव तथा आकर्षक प्रलोभन में नहीं आना चाहिए क्योंकि यह सब प्रपंच नाटकीय पद्धति से अपनी ओर समाज को खींचने का एक दिखावामात्र है क्योंकि जो व्यक्ति शुभोपयोग पूर्वक की जाने वाली पूजा को मिथ्यात्व और संसार का कारण बता रहे हैं, इसी प्रकार मुनिदान और तीर्थयात्रा को भी शुभराग कहकर उन धर्म कार्यों को भी संसारवर्धक बता रहे हैं । इतना ही नहीं किन्तु महाव्रतधारी संयमाचरण करने वाले समस्त मुनिराजों को द्रव्यलिंगी मानते हैं और उनका सामना होने पर भी उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं । अपने शिष्यों को भी उन्हें नमस्कार करने

से रोकते हैं। व्यवहारूप चारित्र को भी मिथ्यात्व बताते हैं। भला उस व्यक्ति के इस प्रकार के साहित्य प्रचार से दि० जैन धर्म का नाश क्यों नहीं होगा ? तथा समाज शिथिलाचारी और पथभ्रष्ट हुये बिना नहीं रह सकता है। कानजीभाई जीवों के मारने में किसी प्रकार हिंसा नहीं बताते हैं। वे कहते है कि जड़ शरीर से आत्मा को पृथक करने में कोई हिंसा नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि जीवों की रक्षा और दया पालने का भाव ही हिंसा है।

ऐसे व्यक्ति का उपदेश सुनना भी महापाप है। फिरोजाबाद मे अभी हमने यही बात कही थी कि ऐसे व्यक्ति का शास्त्र विरुद्ध प्रवचन दिगम्बर जैन शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाले किसी भी भाई को नहीं सुनना चाहिये। कानजीभाई के भाषणों और उनके साहित्य प्रचार से अनेक भोले भाई देवपूजा, मुनिदान, तीर्थयात्रा आदि धर्म क्रियाओं को छोड़ भी चुके हैं और ग्रहण किये हुये व्रतों को छोड़कर होटलों मे खाने लगे हैं। इन सब भयंकर दुष्परिणामों को देखकर हम अपने समस्त मुनिजन, त्यागीगण और श्रावक श्राविकाओं को यह आदेश दे रहे है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है कि—

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥

अर्थात् जहां धर्म का नाश होता हो धार्मिक क्रियाकाण्ड का लोप होता हो, शास्त्रों के अर्थ को बदलकर अनर्थ किया जाता हो, ऐसी परिस्थिति मे बिना पूछे भी समाज को सावधान कर देना चाहिये। इसी के साथ आचार्य शुभचन्द्र ने यह भी कहा है कि—

पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन ।
वचः शंकाकुलं पापं दोषाढ्यं चाभिसूचकम् ॥

अर्थात् जो वचन धर्म मे शंका पैदा करते हों, पापरूप हों, दोषों से युक्त हों तथा चित्त मे क्षोभ पैदा करने वाले हों ऐसे वचनों को न तो कहना चाहिये और न सुनना चाहिये। निमित्त और उपादान का स्वरूप दि० जैन सिद्धान्तानुसार क्या है, इस बात को कानजीभाई ने नहीं समझा है। इसका वे उल्टा ही प्रवचन करते हैं। इससे भगवान कुन्दकुन्दाचार्य आदि आचार्यों के वचनों का और उनके आम्नाय का मूलोच्छेद होता है। क्योंकि संसार और मोक्ष दोनों ही निमित्त और उपादान पर निर्भर हैं। दोनों में से किसी भी एक को छोड़ देने से कोई कार्य नहीं हो सकता। तथा—

यद्वा शुद्धोपलम्भार्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः ।
सत्क्रियां कांचिदभ्यस्येच्छुद्धोपयोगसिद्धिम् ॥

भाव—अथवा शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोग की सहायक बाह्य शुभ क्रियाओं का भी वह अभ्यास करे।

[illegible] देवमानोऽपि [illegible] ।
[illegible] ॥

६२ 卐 श्री आ० महावीरकीर्ति

उत्तर—जैसे पारे के सेवन करने वालों को पथ्याचरण आवश्यक है क्योंकि पारे का सेवन करके यदि पथ्य का पालन नहीं किया जाय तो बीमारी के साथ-साथ स्वास्थ्य का भी नाश करनेवाली है। वैसे ही शुद्ध परिणति की साधक शुभ क्रियाओं का भी पालन करना शुद्धोपलब्धि में सहायक होने से आवश्यक है।

कानजीभाई का भेष और उनकी चर्या—

कानजीभाई अव्रती श्रावक कहे जाते हैं परन्तु उनका भेष अभी तक श्वेताम्बरों का है। श्वेताम्बर शास्त्रों मे अर्धफालक और फालक दीक्षा का विधान है। अर्धफालकी दीक्षा में लुंगी (तैमद) पहनी जाती है और फालक में ऊपर का वस्त्र परिधान किया जाता है। कानजीभाई तैमद पहिनते हैं। उन्होंने अपने श्वेताम्बरी साधुवेश को अभी छोड़ा नहीं है। सौराष्ट्र देश मे अनेक स्थानों मे उनकी चरणपादुका भी स्थापित करायी गयी हैं। उनकी पूजा भी होती है, आरती भी उतारी जाती है और स्तुति भी बोली जाती है।

परमपूज्य श्रुतकेवली, सद्गुरुदेव और केवली तथा भावी तीर्थंकर इत्यादि नामों से उन्हें सम्बोधित किया जाता है। थाली मे उनके पैर धोये जाते हैं।

अब आप लोग विचार करें कि दि० जैन धर्मानुसार क्या यह अव्रती श्रावक की क्रिया हो सकती है? कभी नही। इसका खास मन्तव्य यह है कि इस स्थानकवासी भेष मे और इस प्रकार की क्रिया मे कानजीभाई अपने को दि० साधु कहलवाना चाहते हैं। वास्तव मे वे किसी प्रकार से भी जैन नही है किन्तु आर्य समाजियो के दयानन्द स्वामी के समान एक नया ही पंथ चलाना चाहते हैं। दयानन्द स्वामी और कानजीभाई मे विशेषता इतनी है कि दयानन्द स्वामी संस्कृत के विशिष्ट विद्वान थे, परन्तु कानजीभाई संस्कृत को थोड़ा भी नहीं जानते। यही कारण है कि उन्होंने समयसार की हिन्दी टीका को पढ़कर उलटा अर्थ कर डाला है तथा न्यायशास्त्र को नही पढ़ने के कारण वे केवल उपादान को ही कर्ता मान बैठे हैं। निमित्त भी कर्ता होता है इस बात को वे जानते ही नहीं हैं। आचार्यवाक्य मे कहा गया है कि—

> कारणद्वयसाध्यं, न कार्यमेकेन जायते।
> द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं, किमेकेनोत्पद्यते॥

अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारणों से ही कार्य होता है। कोई भी कार्य अकेले निमित्त से नहीं हो सकता है। माता और पिता दोनो के संयोग के बिना क्या अकेली माता या अकेले पिता से सन्तान कभी हो सकती है? कभी नही हो सकती। श्रावक से लेकर मुनि तक समस्त धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध निमित्त कारणों पर निर्भर है। परन्तु कानजीभाई उन सब निमित्त कारणों का लोप करते हैं। वे निमित्त कारणों को अकिंचित्कर बतलाते है। यह उनकी समस्त दि० जैन शास्त्रों से

प्रकट करते हैं। हमें पूर्ण आशा है कि समस्त धार्मिक समाज वीतराग गुरु चरणों पर दृढ़ रहकर उनके शुद्ध आदेश का पूर्णतः पालन करेगा।

आपके शुभचिन्तक:—

१. कुमारी ब्रह्मचारिणी (नवदीक्षित दि० जैन)
२. ब्र० चांदमल चूड़ीवाल, नागौर (राज०)
३. ब्र० दीपचन्द बड़जात्या, नागौर (राज०)
४. डा० नेमिचन्द्र जैन, बनारस
५. ज्योतिचन्द्र जैन, बनारस
६. मदनलाल चूड़ीवाल, नागौर (राज०)
७. महेन्द्रकुमार जैन, हूण्डला (उ० प्र०)

●●

卐 श्री वीतरागाय नमोनमः 卐

परम पूज्य श्री १०८ श्री आचार्यवर्य श्री वीरसागरजी महाराज का आदेश

आजकल अपने को दिगम्बर जैन घोषित करने वाले कुछ दिगम्बर जैनाभास लोग आध्यात्मिकता के नाम पर दिगम्बर जैन आगम के विरुद्ध ऐसी रीति से विर्धला प्रचार कर रहे हैं कि जिससे आगम के रहस्य को नहीं समझने वाले भावुक-लोग उनके धर्म विरुद्ध चक्र में फंसते जा रहे हैं और दिगम्बर जैनागमोक्त आर्ष प्रणाली के विरुद्ध जनता को भी अपनी ओर ले जाने में प्रयत्नशील हो रहे है।

अत: हम समस्त दिगम्बर जैन आगम पर श्रद्धा रखने वाले समाज को आदेश देते हैं कि वे इस प्रकार के वातावरण से अलग रहें और दिगम्बर जैन आगम के रहस्य के विशेषज्ञ और प्रौढ़ विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर सदैव से चले आये दिगम्बर जैनधर्म के श्रद्धान से अविचलित रहते हुये देवशास्त्र गुरु की पूजा भक्ति और सदाचरण आदि दिगम्बर जैनागमोक्त श्रावक की षडावश्यक क्रियाओं का अक्षुण्ण पालन करते रहें।

हम दिगम्बर जैन धार्मिक विद्वानों को भी आदेश देते हैं कि वे श्री दिगम्बर जैन आगम और सदाचार की रक्षा के लिये प्रयत्न करें और ऐसे लोगों को दिगम्बर जैन चतुरनुयोगमय आगम का रहस्य जैन जनता की समझता में समझावें।

शुभमिती पौष कृष्णा तृतीया
वि० सं० २०१३
दि० २०—१२—१९५६
खानिया (जयपुर) राज०

आचार्य श्री के आदेश से
ब्रह्मचारी सूरजमल जैन (संघस्थ)

आचार्यश्री की अमरवाणी

(स्वर्गीय आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के कुछ प्रेरणाप्रद बोध वाक्यों को अमरवाणी के रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।)

लेखक : क्षुल्लक शीतलसागर

१. वे अपने उपदेश में सुनाया करते थे—

णमोकार सा मन्त्र नहीं, वीतराग सा देव।
सम्मेदशिखर सी यात्रा नहीं, आत्मदेव सुदेव॥

२. एक बार उन्होंने सुनाया था—

जो खोखा हो चुका तिनका, भला वह कब खरा होगा।
जो सूखा पेड़ हो जड़ से, भला वह कब हरा होगा॥
नदी पेड़ों व पहाड़ों का, सारा गर्व हरती है।
मगर सागर से मिल करके, वह अपना नाश करती है॥

३. वे कभी-कभी सुनाया करते थे—

उत्तम खेती मध्यम बणज।
अधम चाकरी निश्चय मरण॥

इसका वे दो तरह से अर्थ बताते थे—

(अ) जीवन निर्वाह के लिये खेती करना उत्तम है, वाणिज्य (व्यापार) करना मध्यम है और चाकरी (नौकरी) करना अधम (जघन्य) है। चाकरी करना निश्चय से मरण ही है।

(आ) अपनी आत्मा का उद्धार करना उत्तम खेती है, दूसरों के उपकार में लगना मध्यम वाणिज्य है और पंचेन्द्रिय विषयों का दासपना वास्तव में मरण ही है।

४. तप का महत्व स्पष्ट करते हुये वे बताते थे—

यद् दूरं यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितं।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमं॥

अर्थात्—जो कार्य देरी से तथा कठिनाई से सिद्ध होने वाला है और जिसका फल बहुत काल बाद मिलने वाला है वह भी तपस्या के बल से साध्य है। दुनियां में ऐसा कोई कार्य नहीं जो तप से सिद्ध न हो।

५. वे अधिकांश रूप में सुनाया करते थे—

वित्तं हि नष्टं किंचिन्न नष्टं, स्वास्थ्यं हि नष्टे किंचिच्च नष्टं।
वृत्तं हि नष्टं सर्वं विनष्टं, तस्माच्च वृत्तं परिरक्षणीयं॥

इसी का अनुवाद वे आंग्ल भाषा में निम्न प्रकार सुनाया करते थे—

वेल्थ इज लोस्ट नथिंग इज लोस्ट।
हेल्थ इज लोस्ट समथिंग इज लोस्ट।
इफ कैरेक्टर इज लोस्ट एवरीथिंग इज लोस्ट।

अर्थात्—यदि किसी का धन नष्ट हो गया तो कोई चिन्ता की बात नहीं। वह भाग्य और परिश्रम् द्वारा फिर से प्राप्त किया जा सकता है। यदि किसी का स्वास्थ्य बिगड़ गया तो कुछ चिन्ता की बात है क्योंकि शरीर का निरोगी रहना पहला सुख है परन्तु स्वास्थ्य भी योग्य उपचार और औषधियों से प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यदि कोई व्रतशील संयम से पतित हो गया तो समझना कि उसका सर्वस्व ही विनष्ट हो गया। अतएव व्रतशील संयम की यत्नपूर्वक रक्षा की जानी चाहिये।

६. विषय को मनोरंजक बनाने हेतु वे सुनाते थे—

घर में पारस बेचें तेल।

ये देखो दुनियां के खेल।

इसका वे दो प्रकार से अर्थ समझाते थे—

(अ, दुनियां के खेल (नाटक, विचित्रतायें) तो देखो कि घर मे पारसमणि पड़ा है फिर भी अज्ञानता से तेली हो बने हुये हैं। पारसमणि का स्पर्श कराके तो लोहे का सुवर्ण बनाया जा सकता है।

(आ) इस ससार की विचित्रतायें तो देखो कि पारसमणि के समान मानव जीवन प्राप्त हो जाने पर भी विषय वासनाओं से लिपटा हुआ है। इस पर्याय से तो मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

७. एक बार उन्होने दोनो पहलुआ स मतलब को गांठने वाले एक कवि की स्तुति का नमूना सुनाया था—

आनीता नटवन्मया तव पुरः, श्रीपार्श्व या भूमिका।

व्योमाकाशखराम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधिः ॥

प्रीतो यद्यसि तां निरीक्ष्य भगवन्! मत्प्रार्थितं देहि मे।

नो चेद् ब्रूहि कदापि मानयमिमां, मामीदृशीं भूमिकां ॥

अर्थात्-हे पार्श्वनाथ भगवान! नट के समान मैंने आपको प्रसन्न करने के लिये बहुरूपिया बनकर चौरासी लाख वेश दिखाये। उन अभिनयो को देखकर यदि आप प्रसन्न हो गये हो तो मुझे मनोवांछित अर्थ को मांगने के लिये आज्ञा प्रदान कीजिये। हां! यदि आप उन रूपों को देखकर प्रसन्न नही हुये हैं तो मुझको उन नापसन्द चौरासी लाख वेशों को नही धरने की इजाजत दीजिये।

८. लौकिक सात सुखो के विषय मे वे निम्न छन्द सुनाया करते थे—

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख हो घर में माया।

तीजा सुख सुलक्षण नारी, चौथा सुख सुत आज्ञाकारी ॥

पंचम सुख पंच सब मानें, छट्ठा सुख विद्या पहिचाने।

सप्तम सुख भक्ति जो होई, जग में पूरण सुखिया सोई ॥

९. उनके द्वारा सुनाया जाने वाला निम्न दोहा विशेष स्मरणीय है—

लीक लीक गाड़ी चले, लीकहि चले सपूत।

लीक छोड़ तीनहि चलें, कायर क्रूर कपूत ॥

मंगल-कामना

□

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः

काले-काले च सम्यग्विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।

दुर्भिक्षं चौर-मारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके

जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्व-सौख्य-प्रदायि ॥

— सारी प्रजा का कल्याण हो, राजा (शासक पक्ष) बलवान और धार्मिक हो । समय-समय पर इन्द्र अनुकूल वर्षा करें, व्याधियों का नाश हो । प्राणी-लोक में अकाल, चोरी, महामारी आदि का क्षणभर के लिये भी प्रकोप न हो, सबको हमेशा सुख देने वाला जिनेन्द्र भगवान का यह धर्मचक्र प्रसारित होता रहे ।

—वादीभकेसरी मक्खनलालजी शास्त्री

श्री आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ

का

खण्ड १, २, ३ के अतिरिक्त सभी मुद्रण, महाराजश्री के बहुरंगी चित्र सहित सभी चित्र, आवरण साज-सज्जा व जिल्द का कार्य :—

सेवा सदन मुद्रणालय,

दुर्गानगर, फीरोजाबाद फोन : ७०२

द्वारा सम्पन्न किया गया है।